ध्वनि-सिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन

डॉ० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

ध्वनि-सिद्धान्त
तथा
तुलनीय साहित्य-चिन्तन

(साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में ध्वनि-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य से विविध समीक्षा-सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन एवं तुलनात्मक दृष्टि से ध्वनि-सिद्धान्त का अपेक्षित विवेचन)

लेखक

डॉ० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०,
हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

ध्वनि-सिद्धान्त
तथा तुलनीय साहित्य-चिन्तन

प्रकाशक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रथम संस्करण : १९७२

पुस्तकालय संस्करण : २५-०० रुपये
साधारण संस्करण : २२-५० रुपये

मुद्रक
श्री माहेश्वरी प्रेस, गोलघर,
वाराणसी-१

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्राक्कथन

□

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि में अधिक सहायक होती है। इसी कारण स्वातन्त्र्य आन्दोलन के समय एवं उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी जैसे देश-मान्य नेताओं ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश में शिक्षा सम्बन्धी जो कमीशन या समितियाँ नियुक्त की गयीं उन्होंने एकमत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया।

इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी—श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव। हम सब जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीकी, अपितु मानविकी के क्षेत्र में भी विश्व में इतनी तीव्रता से नये अनुसन्धानों और चिन्तनों का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढंग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा पाने वाले अञ्चलों के पिछड़ जाने की आशंका है। भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की यह योजना उसके शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य अकादमियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। 'मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तकों के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओं में बिखरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध कर रही है। इस योजना के साथ राज्य के सभी महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं। मेरा विश्वास है कि सभी शिक्षा-शास्त्री एवं शिक्षा-प्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापकों से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थों को छात्रों तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करें जिससे बिना और विलम्ब के विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

जगदीश नारायण अवस्थी
शिक्षामंत्री,
अध्यक्ष : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रस्तावना

□

भारतीय आचार्यों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। वैयाकरणों ने उसे शब्द का पर्यायवाची माना है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'ध्वनिः शब्दः' ऐसा कहा है। किन्तु साहित्यशास्त्रियों को उससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अनुस्वान या अनुरणन अर्थ में उसका प्रयोग किया। जिस प्रकार काँसे की थाली को बजाने पर कुछ देर तक झंकार होती रहती है, उसी प्रकार किसी शब्द या वाक्य को बोलने पर उससे–जिस अर्थ की प्रतीति तुरन्त होती है, उसके अतिरिक्त किसी नये अर्थ की व्यञ्जना भी उसके पश्चात् होती है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द का प्रतिपादन प्रबल तर्कों और उदाहरणों के साथ किया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनसे पूर्व के आचार्य ध्वनि से अपरिचित थे। जो लोग 'सौन्दर्यम् अलङ्कारः' कहकर काव्य में सौन्दर्य का महत्त्व प्रतिपादित करते थे, वे भी ध्वनि के महत्त्व से परिचित थे, भले ही उन्होंने ध्वनि शब्द का प्रयोग न किया हो। इसलिए इन आचार्यों ने सामान्य बातों को शास्त्र या वचस् कहा है और विशेष भङ्गिमा से युक्त भणिति को काव्य। यह विशेष भङ्गिमा या वक्रता अपने भीतर ध्वनि को भी समेटे है। फिर भी शास्त्रीय दृष्टि से इसका विशद प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने किया जिसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे यह सिद्धान्त सम्पूर्ण काव्यशास्त्र पर छा गया और फिर किसी आचार्य ने उसका खण्डन करने का साहस नहीं किया। विशिष्ट ध्वनि-काव्य के सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद सम्पूर्ण काव्य-समीक्षाओं का वह मानदण्ड बन गया। आगे चलकर सभी भारतीय भाषाओं के आचार्यों ने इसी आधार पर काव्य समीक्षायें लिखीं।

फिर भी विगत कुछ वर्षों से, जब से यूरोपीय कला और साहित्य का प्रभाव भारतीय काव्य पर विशेष रूप से पड़ने लगा, काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं में अन्तर हुआ है। यदि भारत के समग्र साहित्य को सामने रखकर देखा जाय तो ऐसा लगेगा कि प्रत्येक युग का कवि कथन की वक्रता पर जितना ध्यान देता रहा है, उतना अन्य किसी बात पर नहीं। आधुनिक युग में हिन्दी की प्रगतिवादी कविताओं को छोड़कर शेष सभी विधाओं में वक्रत्व पर ही कवि की दृष्टि केन्द्रित रही है और आज की नयी कविता का तो प्राण ही वक्रत्व है; भले ही उसे किसी नाम से पुकारा जाय। ध्वनि और वक्रोक्ति एक दूसरे के सहायक हैं अथवा उनमें से एक के भीतर दूसरे का अन्तर्भाव हो सकता

है; यह विचारणीय है, किन्तु इतना निश्चित है कि काव्य के आदि युग से लेकर आज तक जिस काव्य को उच्च स्थान मिला उसमें शब्द और अर्थ की वक्रता एवं व्यञ्जना अवश्य विद्यमान रही है। इसलिए ध्वनि-सिद्धान्त को सामने रखकर उपलब्ध साहित्य का समीक्षण स्वयं में बहुत महत्त्व रखता है।

डॉ० अवस्थी ने जिस प्रौढ़ता से इस विषय का विवेचन किया है और जिस गहराई एवं सूक्ष्मता से सम्पूर्ण काव्य को जाँचा-परखा है, वह समीक्षा के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इस विषय में इस कोटि का कोई ग्रन्थ अभी तक पाठकों के समक्ष नहीं आया है। अतः स्वाभाविक ही है कि इस कृति के प्रति मेरे मन में साहित्य-समीक्षा की अन्य कृतियों की अपेक्षा कुछ अधिक ममत्व और आदर का भाव हो। अकादमी भी अपने इस प्रकाशन में गौरव का अनुभव करती है।

मेरा विश्वास है कि डॉ० अवस्थी का यह सर्वथा मौलिक ग्रन्थ सभी समालोचकों की श्लाघा का भाजन बनेगा।

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल,
१७ जनवरी, १९७२

आभार

□

"यह ग्रन्थ परम्परागत गुरुओं की ज्योतिष्मती मणिमाला को समर्पित है, जिनके प्रतिनिधि

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री

(प्रधानाचार्य, बलदेवसहाय-संस्कृत-महाविद्यालय, कानपुर)

मेरी वैचारिक निष्ठा के अन्यतम आधार हैं।"

डॉ० भगीरथ मिश्र, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर का मैं अनुशिष्य हूँ अतः उनसे जो कुछ मैं प्राप्त कर सका वह मेरे लिए अधिकृत था; जो न ले सका उसमें मेरी सीमाएँ थीं।

डॉ प्रेमशंकर, रीडर, हिन्दी विभाग, सागर से प्राप्त स्निग्ध साहाय्य उसी संरक्षकत्व का अङ्ग है जो अनुज होकर भी उन्होंने मुझपर सहज ही पा लिया।

प्रो० मल्लिकार्जुनन्, रीडर, अंगरेजी विभाग, सागर के प्रति मैं ऋणी हूँ जिनसे आंग्ल-समीक्षा के विषय में मैं सदैव कुछ पाता रहा हूँ।

श्रीमती निर्मला पाण्डेय, मनोविज्ञान विभाग, महिला महाविद्यालय, सागर का मैं कृतज्ञ हूँ; उन्होंने मनोविज्ञान विषयक अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये और उस अध्याय को मनोयोग-पूर्वक पढ़कर कुछ सुधार किये।

डॉ० अयोध्याप्रसाद श्रीवास्तव, रीडर, भौतिकी विभाग, सागर मेरे प्रतिवेशी एवं विद्वान् सुहृद् हैं। उन्होंने तो कई वैज्ञानिक तथ्यों का इस प्रकार सुधार किया कि उसे कलम पकड़कर लिखाना कहा जा सकता है। निश्चय ही मेरी वैज्ञानिक चेतना में उनकी अपूर्व देन है।

डॉ० जगदम्बासिंह राठौर, वनस्पति विज्ञान, सागर के साथ अनेकधा वार्तालाप करके विज्ञान-क्षेत्र के क्रान्तिकारी तथ्यों को अवगत कर सका जिसे मैं मैत्री का अनुदान ही मानता हूँ।

डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री, संचालक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को मैं निरन्तर खेद देता रहा हूँ। ग्रन्थ-पूर्ति-हेतु उन्हें कितनी बार अवधि-वृद्धि करनी पड़ी है। यद्यपि मैंने उनकी वैदुषी का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं किया, पर उससे आतंकित होकर ग्रन्थ को यथाशक्ति विषयानुरूप बनाने में अप्रत्यक्ष प्रेरणा ली ही है।

अन्त में यही कहूँगा कि जिन ग्रन्थों से सहायता ली है, या जिनके दिये हुए संस्कारों से पृथक्, प्रस्तुत ग्रन्थ का अस्तित्व ही न होता, उन सबके ऋषि-ऋण की मुक्ति का ही तो यह प्रयास है।

आभारी
लेखक

भूमिका

□

ध्वनि-सिद्धान्त अपने-आपमें इतना परिपूर्ण समीक्षा-दर्शन है कि भारतीय समीक्षक जाने-अनजाने उसी के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके अपनी बात कह पाते हैं। इसके विरोधियों ने भी उन प्रश्नों को ही समाहित करने की चेष्टा की है जिन्हें ध्वनिकार ने सामने रखकर काव्यालोचन के मान स्थापित किये थे। आज हिन्दी के स्नातकोत्तर शिक्षार्थी को किसी-न-किसी रूप में ध्वनिमत का अध्ययन करना पड़ता है, परन्तु उसके साथ ही उसी गौरव के साथ प्रायः अन्य मत भी पढ़ा दिये जाते हैं जिससे छात्र यह निर्णय नहीं कर पाता कि अन्ततः किस सिद्धान्त को केन्द्र मानकर अन्य मतों को तुलना में लिया जाय। यह प्रश्न तब और जटिल हो जाता है जब विविध समीक्षा-पद्धतियों को 'सम्प्रदाय' नाम देकर उन्हें परस्पर-विरोधी के रूप में उपस्थित करके सभी को समान महत्त्व देते हुए पश्चिम की प्रणाली से विद्यार्थी के मानस-तन्तुओं में पोह दिया जाता है। बिम्ब, प्रतीक, कल्पना, विरेचन, अनुकरण, निर्वैयक्तिकता आदि को पूर्णतया पाश्चात्य परिवेश में लेकर अपनी परम्परा से विमुख रहना एक प्रकार की रिक्तता उत्पन्न करता है। आधुनिकता और वैज्ञानिकता के नाम से विद्यार्थी दोनों से वञ्चित रह रहा है क्योंकि विज्ञान से अपरिचय या अल्प-परिचय के कारण तथा शास्त्रों के रहस्य से पलायन करने से सर्वथा अवैज्ञानिक पीढ़ी की मानसी सृष्टि बढ़ती जा रही है। उक्त अव्यवस्था बाजारू नोट्स् ने विशेष पैदा की है और शिक्षक तथा शिक्षार्थी को कान्दिशीक कर दिया है।

इस ग्रन्थ को लिखते समय उक्त प्रश्नों को ध्यान में रखा गया है। ध्वनिमत को केन्द्र मानकर भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षासरणियों को यथापेक्ष परखा गया है जिससे सहज ही ध्वनि-सिद्धान्त अपने प्राञ्जल रूप में विद्यार्थी को सुलभ हो सकता है। लेखक ने पढ़ाते समय छात्रों की कठिनाइयों को समझा है—कठिनाइयाँ शास्त्रीय अवधारणाओं को यथावत् न समझ पाने की रही हैं। यही कारण है, सिद्धान्तों के आन्तरिक मतभेदों पर बल नहीं दिया गया है और न ही विभिन्न आचार्यों तथा ग्रन्थों की भीड़ जुटायी गयी है क्योंकि ऐसा करने से मुख्य तथ्य-कथ्य से ध्यान हट जाता और आनुषङ्गिक बातों में अध्येता बहक जाता।

काव्यालोचन के ग्रन्थ संस्कृत से हिन्दी तक विपुल हैं। रीतिकाल में आचार्यों और कवियों का ध्यान ध्वनिमत की ओर प्रचुरता से गया था और तत्सम्बन्धी ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये थे। हिन्दी-समीक्षा का आधुनिक काल पश्चिमी प्रभावों से आक्रान्त रहा है अतः ध्वनि को भी मत-विशेष की ही मान्यता दी जा रही है और उसी सामग्री को मनचाहा मोड़ दिया जा रहा है। उधर पाश्चात्य चिन्तन अधिकतर ध्वनिमत के निकट आता गया है और इधर हम दूर हटते गये हैं। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता है। लेखन में ध्यान यह रखा गया है कि ध्वनिमत की समस्त विशेषताएँ उभरकर सामने आयें; साथ ही तुलनीय मतों का स्वरूप यथावत् स्पष्ट रहे।

भारतीय काव्य-चिन्तन में जो मत-भेद रहे हैं, वे या तो गवेषणात्मक सरणि में आये हैं या दृष्टिकोणों में अन्तर रहा है, अथवा दार्शनिक मान्यताएँ विविध रही हैं। प्रथम कोटि में अलंकार, रीति-गुण और ध्वनि-सिद्धान्त आते हैं जिनमें एक ही प्रकार के काव्य-तत्त्वों का काव्य में उपयुक्त स्थान निर्धारित करने का अनुसन्धान होता रहा है। दूसरी कोटि में वक्रोक्तिमत आता है जो व्यञ्जना-विरोधी होकर भी ध्वनिकार के द्वारा उठायी हुई समस्याओं का अपने ढंग से समाधान करता है। रस-सम्बन्धी विविध मान्यताएँ दार्शनिक मतभेद के कारण प्रकट हुईं। पश्चिम का दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक चिन्तन ऐसी ही विविधता में प्रस्फुट हुआ है और काव्य-समीक्षा में दृष्टिभेद उपस्थित हुए हैं। हिन्दी के चिन्तक दार्शनिक मतवादों से दूर रहकर काव्य-तत्त्वों का परिशीलन करते हुए देखे जाते हैं। इन सबको एक पुस्तक में समग्रतया समेटना असम्भव था, अतः यथापेक्ष सामग्री के आधार पर सैद्धान्तिक निरूपण की संक्षिप्त सरणि ही अपनायी जा सकी है।

ग्रन्थ-लेखन में उदाहरणों का चयन एक समस्या थी। परम्परागत संस्कृत उदाहरण यथास्थान संगत रहे हैं जिनका अनुवादमात्र करके काम चलाया जा सकता था, परन्तु उससे हिन्दी के अध्येता को कठिनाई हो सकती थी। अतः हिन्दी-काव्यों से ही उदाहरण लिये गये हैं जिनका अनुसन्धान अपने-आपमें बड़ा कार्य कहा जा सकता है। दूसरी बड़ी समस्या यह थी कि पाश्चात्य चिन्तन की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक अवधारणाओं को ध्वनिमत के सन्दर्भ में किस प्रकार लाया जाय। इसे भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जायगा कि हिन्दी में कदाचित् प्रथम बार एक साथ इन्हें जुटाने का प्रयास किया गया है। रस और शब्दशक्ति के आधार पर पश्चिमी काव्यचिन्तन को प्रस्तुत करना अत्यावश्यक समारम्भ है जिसका सूत्रपात ही इस ग्रन्थ द्वारा हो पाया है, आगे तत्सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थों की अपेक्षा है।

इस प्रकार के एक ग्रन्थ की आवश्यकता को डॉ० भगीरथ मिश्र, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय ने अनुभव किया। मैं उनका शिष्य रहा हूँ अतः मुझसे ग्रन्थ-रचना का प्रस्ताव वे बराबर करते रहते थे। जब मध्यप्रदेश-हिन्दी-ग्रन्थ अकादमी ने भी यह भार मुझपर डाला तो मैंने ऋषि-ऋण से मुक्ति का उपक्रम समझकर यथाशक्ति पूरा किया है। इससे छात्रों तथा शिक्षकों का यदि कोई हित हो सका तो मैं अपने को कृतकार्य समझूँगा। जहाँ तक विद्वानों द्वारा ग्रन्थ को मान्य करने की बात है, मैं समझता हूँ, मतवादों के कलि-प्रधान युग में यदि वह पूर्णतः समर्थन न पा सके तो भी उसकी कोई-न-कोई विशेषता सर्वमान्य होगी और लेखक महिमभट्ट के शब्दों में सन्तोष कर सकेगा :

कस्यापि कोऽप्यतिशयोस्ति स येन लोके
ख्यातिं प्रयाति, न च सर्वविदस्तु सर्वे।
किं केतकी फलति, किं पनसः सपुष्पः,
किं नागवल्ल्यपि च पुष्पफलैरुपेता॥

—बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

विषयानुक्रमणी

प्राक्कथन
प्रस्तावना
आभार
भूमिका

प्रथम खण्ड

(ध्वनि-सिद्धान्त)

प्रथम अध्याय : (ध्वनिपूर्व काव्य-चिन्तन की परम्परा) ३–४४

१. विषय-प्रवेश ३
२. भरत मुनि का काव्य-सिद्धान्त : ५
(क) छन्द, (ख) लक्षण, (ग) दोषाभाव तथा गुण,
(घ) अलंकार, (ङ) रीति, (च) रस
३. भरत के काव्य-लक्षण ८
४. भरत का गुण-विवेचन १९
५. भरत का रस-विचार २३
६. भरत का भाव-विचार ३०
७. भावों के वर्ग तथा रसात्मक भाव ३१
८. रस-भाव-विषयक निष्कर्ष ३२
९. भामह का काव्यचिन्तन ३३
१०. भामह और रस ३४
११. भामह और गुण ३४
१२. भामह और रीति ३४
१३. भामह और कल्पना ३४
१४. भामह और वक्रोक्ति ३५
१५. भामह के अनुसार 'अलंकार' शब्द का अर्थ ३५
१६. वामन का काव्य-चिन्तन ३६
१७. वामन और रीति ३७
१८. वामन और गुण ३७
१९. वामन और रस-सिद्धान्त ४४

द्वितीय अध्याय : (ध्वनि-सिद्धान्त के स्रोत एवम् आधार) ४५–९०
१. 'ध्वनि' शब्द के विविध अर्थ ४५
२. ध्वनि-मत के विविध स्रोत : ४६
(क) व्याकरण में ध्वनितत्त्व ४६
(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में व्यञ्जना का महत्त्व ४७
(ग) भामह और व्यञ्जना ४७
(घ) आचार्य वामन और व्यञ्जना ५०
(ङ) शब्दशक्ति-परक चिन्तन ५२
३. शब्दशक्तियों का स्वरूप ५६
४. अभिधा ५७
५. लक्षणा ५९
६. लक्षणा के भेद ६०
७. लक्षणा-भेदों का परस्पर समावेश ६३
८. व्यन्जना ६७
९. व्यञ्जना की परिभाषा ६८
१०. व्यन्जना के भेद ६९
११. शब्दशक्त्युत्थ अभिधामूला व्यन्जना ६९
१२. अर्थशक्त्युत्थ अभिधामूला व्यन्जना ७३
१३. उभयशक्त्युत्थ अभिधामूला व्यन्जना ७५
१४. अभिधामूला व्यञ्जना पर विशेष ७६
१५. आर्थी व्यन्जना की हेतुभूत विशेषताएँ ७८
१६. व्यञ्जना-स्थापन ८०
१७. अभाववाद की समीक्षा ८१
१८. व्यन्जना की अर्थगत विशेषताएँ ८७
१९. निष्कर्ष ८८

तृतीय अध्याय : (ध्वनिमत में काव्य का स्वरूप तथा वर्ग-विभाजन ९१–११५
१. काव्य-स्वरूप-निरूपण की परम्परा ९१
२. ध्वनिमत में काव्य का स्वरूप-विवेचन ९४
३. ध्वनिमत में काव्यों का वर्गविभाजन १०६
(क) आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य मम्मट १०६
(१) ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य १०६
(२) गुणीभूतव्यंग्य अथवा मध्यम काव्य १०९
(३) चित्रकाव्य अथवा अवरकाव्य ११०
(ख) आचार्य विश्वनाथ ११२
(ग) पण्डितराज जगन्नाथ ११३
४. निष्कर्ष ११५

चतुर्थ अध्याय : (ध्वनि-काव्य के भेद) ११६–१७६

१. व्यंग्य अर्थ की दृष्टि से ध्वनिकाव्य के भेद ११६
२. अविवक्षितवाच्य ध्वनि के भेद ११६
३. विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि के भेद ११७
४. असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के भेद ११७
५. रसनिष्पत्ति ११८
६. रसनिष्पत्ति के चार मत १२२
(१) उत्पत्तिवाद (आरोपवाद) १२२
(२) अनुमितिवाद १२४
(३) भुक्तिवाद १२८
(४) व्यक्तिवाद (व्यञ्जना-सिद्धान्त) १३०
७. रस का स्वरूप १३२
८. रस-ध्वनि काव्य १३२
९. रस-सम्बन्धी कतिपय निष्कर्ष १३७
(क) रस की अलौकिकता १३७
(ख) करुण, बीभत्स, भयानक और रौद्र का रसत्व १४०
(ग) वासनात्मक स्थायी भाव १४३
(घ) यौगिक प्रत्यय और रस १४३
१०. भावध्वनि काव्य १४४
११. सात्त्विक भाव १५५
१२. विभाव, भाव और अनुभाव १५६
१३. रसाभास-ध्वनि काव्य १५८
१४. भावाभास-ध्वनि काव्य १६२
१५. भावोदय-ध्वनि काव्य १६२
१६. भावशान्ति-ध्वनि काव्य १६३
१७. भावसन्धि-ध्वनि काव्य १६४
१८. भाव-शबलता-ध्वनि काव्य १६४
१९. लक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनिकाव्य १६५
२०. व्यंग्य-परक ध्वनिकाव्य-भेदों का निष्कर्ष १६६
२१. व्यञ्जक पद आदि के आधार पर ध्वनि काव्य के भेद : १६८
(१) अविवच्चितवाच्य ध्वनिकाव्य १६८
(२) विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनिकाव्य १६९
(३) लक्ष्य-क्रमव्यंग्य १६९
(४) असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य १७१
(५) प्रबन्धगत अलंकार ध्वनि और रूपकतत्त्व १७३
२२. उपसंहार १७५

पञ्चम अध्याय : (गुणीभूत-व्यंग्य) १७७–२००
१. गुणीभूत-व्यंग्य काव्य १७८
(१) अगूढ़-व्यंग्य काव्य १७८
(२) अपराङ्ग-व्यंग्य काव्य १७९
(३) वाच्य-सिद्ध्यङ्ग-व्यंग्य १८२
(४) अस्फुट-व्यंग्य १८३
(५) सन्दिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य १८३
(६) तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य १८३
(७) काकु से आगत व्यंग्य १८४
(८) असुन्दर-व्यंग्य १८४
२. प्रसिद्ध अलंकारों में गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति १८५
३. अलंकारों का आधार : अतिशयोक्ति १९२
४. अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति १९६
५. गुणीभूत-व्यंग्यरूप अलंकार १९६
६. गुणीभूत-व्यंग्य अलंकार और चित्र-काव्य १९९
७. निष्कर्ष २००

षष्ठ अध्याय : (विविध मान्यताओं का ध्वनिमत में समन्वय) २०१–२३२
१. ध्वनिमत में अलंकार २०२
२. ध्वनिमत में गुण २०४
३. गुणों का स्वरूप २०६
४. रचना और गुण २०७
५. ध्वनिमत में रीति तथा गुण २०८
६. ध्वनिमत में दोष-निरूपण २१०
(१) रसदोष २११
(२) अर्थदोष २१३
(३) शब्ददोष २१९
(क) वाक्यदोष २२०
(ख) पददोष २२४
७. ध्वनि-सिद्धान्त और औचित्यमत २२७
८. निष्कर्ष २३२

द्वितीय खण्ड

(तुलनीय साहित्य-चिन्तन)

सप्तम अध्याय : (न्यायमत और ध्वनि-सिद्धान्त) २३५–२५६
१. अनुमान और रस २३७
२. रस-सामग्री २३९

३. रसात्मक भाव की असत्यता तथा परोक्षता	२४०
४. समीक्षा	२४१
५. न्याय में काव्य का स्वरूप	२४२
६. विविध ध्वनियों का अनुमान में अन्तर्भाव	२४३
७. काव्य-बोध में अनुकृति : प्राच्य तथा पाश्चात्य	२४७
८. न्यायमत में अनुकृति	२४९
९. न्यायमत की समीक्षा	२५१
१०. अनुकृति : सदृश-विधान अथवा तादात्म्य-विधान	२५२
११. अनुकृति और विरेचन	२५४
१२. उपसंहार	२५६
अष्टम अध्याय : (भट्टनायक का रस-निष्पत्ति-सिद्धान्त)	**२५७–२७८**
१. भट्टनायक का समय	२५७
२. भट्टनायक और काव्यस्वरूप	२५७
३. अभिधा	२५८
४. भावना व्यापार	२५९
५. मीमांसा और काव्य की भावना में अन्तर	२६०
६. भोजकत्व व्यापार	२६१
७. भट्टनायक और सांख्य	२६२
८. भट्टनायक के काव्यमत का सारांश	२६३
९. भट्टनायक द्वारा अन्य मतों का खण्डन	२६३
१०. साधारणीकरण और उसके विविध आयाम	२६४
(क) साधारणीकरण और सार्वजनिकता	२६४
(ख) साधारणीकरण और जनसाधारणता	२६४
(ग) साधारणीकरण और समाजवाद	२६५
(घ) साधारणीकरण और मनोविज्ञान	२६५
(ङ) साधारणीकरण और अभिव्यञ्जनावाद	२६७
(च) साधारणीकरण और चैत्त प्रत्यय	२६७
(छ) साधारणीकरण चित्तदशा है या काव्य-व्यापार : कुछ प्रश्न	२६८
११. भोजकत्व व्यापार पर कुछ प्रश्न	२६९
१२. साधारणीकरण का पुनर्मूल्याङ्कन	२७१
१३. उपसंहार	२७८
नवम अध्याय : (वक्रोक्तिमत और ध्वनि-सिद्धान्त)	**२७९–२९५**
१. वक्रोक्ति	२८०
२. वक्रोक्ति-परमाचार्य कुन्तक	२८०
३. वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्	२८२
४. वक्रोक्ति क्या है ?	२८३

५. वक्रोक्ति के भेद २८४
६. समीक्षा २९३

दशम अध्याय : (तात्पर्यवाद और ध्वनि-सिद्धान्त) २९६–३०२
१. तात्पर्य क्या है ? २९६
२. तात्पर्य और ध्वनि २९८
३. भट्टनायक का भावकत्व, तात्पर्य और ध्वनि २९९
४. समीक्षा ३०१

एकादश अध्याय : (भक्तिरस-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त) ३०३–३१२
१. गौड़ीय सम्प्रदाय का भक्तिरस ३०३
(१) शम भक्तिरस ३०३
(२) सख्य भक्तिरस ३०३
(३) दास्य भक्तिरस ३०४
(४) वत्सल भक्तिरस ३०४
(५) मधुर भक्तिरस ३०५
२. गौण भक्तिरस ३०६
३. भक्तिरस की मूल मान्यता ३०८
४. भक्तिरस-निष्पत्ति ३०९
५. रस और द्रुति ३१०
६. ध्वनिमत में रतिभाव और भक्तिरस ३११
७. शान्तरस और भक्तिरस ३१२
८. निष्कर्ष ३१२

तृतीय खण्ड

(प्रकीर्णक)

द्वादश अध्याय : (ध्वनि-सिद्धान्त के मनोदार्शनिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक निकष) ३१५–३६२
१. न्याय-वैशेषिक ३१५
२. सांख्य-योग ३१६
३. मीमांसा-दर्शन ३१८
४. वेदान्त-दर्शन ३१९
५. शैवदर्शन ३२२
६. काव्य-बोध का वैज्ञानिक स्वरूप ३२६
७. विज्ञान में आत्मा का स्वरूप और रसात्मक आत्मानुभूति ३२८
८. व्यञ्जना-शक्ति और वैज्ञानिक प्रतीक ३३२
९. ध्वनि-सिद्धान्त और मनोविज्ञान ३३२

१०. मनोविज्ञान में व्यञ्जकत्व-शक्ति के तत्त्व ३३३
११. विविध मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय : ३३४
(१) संरचनावाद ३३५
(२) प्रकार्यवाद ३३५
(३) व्यवहारवाद ३३६
(४) साहचर्यवाद ३३७
(५) मनोविश्लेषण ३३७
(६) पूर्णाङ्गवादी मनोविज्ञान ३४०
(७) व्यक्तित्ववादी मनोविज्ञान ३४१
(८) गेस्टाल्ट मनोविज्ञान ३४२
(९) क्षेत्रगति मनोविज्ञान ३४४
(१०) ऊर्जा-मनोविज्ञान या शक्ति-मनोविज्ञान ३४५
१२. ध्वनि-सिद्धान्त और कतिपय मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ : ३४५
(१) मूलप्रवृत्ति और वासना ३४५
(२) प्रवृत्ति ३४६
(३) संवेग ३४६
(४) प्रभाव ३४७
(५) स्थिरभाव ३४८
(६) अनुभूति ३४९
(७) समानुभूति ३५०
(८) आनन्दानुभूति ३५०
१३. काव्यशास्त्रीय भाव और मनोविज्ञान ३५१
१४. कतिपय भावों का मनोवैज्ञानिक पर्यालोचन ३५२
१५. रस-ध्वनि का मनोवैज्ञानिक स्वरूप ३५७
१६. निष्कर्ष ३६१

त्रयोदश अध्याय : (पाश्चात्य-समीक्षा और ध्वनि-सिद्धान्त) **३६३–४०७**
१. प्लेटो का अनुकरण-सिद्धान्त ३६३
२. अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त : ३६६
(१) अनुकरण ३६६
(२) विरेचन ३६९
(३) साधारणीकरण ३७२
(४) रसानुभूति ३७३
३. डेमेट्रियस का शैली-सिद्धान्त : ३७४
(१) शील और शैली ३७५
(२) शैली और रीति ३७५
(३) शैली और दोष ३७६

(४) शैली और रस ३७६
(५) शैली और अलंकार ३७६
(६) शैली और व्यञ्जना ३७६
४. लांजिनस का उदात्त तत्त्व ३७७
५. कालरिज् का काव्य-सिद्धान्त और ध्वनिमत : ३७८
(१) गुणात्मक ससम्बन्धिकता ३७९
(२) रसानुभूति ३७९
(३) व्यञ्जना-शक्ति ३८२
६. हर्बर्ट स्पेन्सर का शैली-दर्शन ३८३
७. आई० ए० रिचर्ड्स् का समीक्षा-सिद्धान्त : ३८५
(क) काव्य की भाषा ३८५
(ख) अर्थ-विचार ३८५
(ग) अनुभूति और प्रयोजन ३८६
(घ) शब्दशक्ति ३८७
(ङ) कल्पना ३८८
८. अभिव्यञ्जना और व्यञ्जना : ध्वनि-सिद्धान्त और एक्सप्रेशनिज्म की तुलना ३९२
९. काव्य-भाषा की इङ्गितरूपता और ध्वनिमत ३९७
१०. टी० एस० इलियट का क्लासिक-वाद : ३९९
(१) निर्वैयक्तिकीकरण ४००
(२) अनुभूति के स्तर ४०१
(३) काव्य की परिभाषा और उपयोगिता ४०३
(४) कल्पना और प्रौढ़ोक्ति ४०४
११. निष्कर्ष ४०६

चतुर्दश अध्याय : (हिन्दी-काव्य-चिन्तन और ध्वनि-सिद्धान्त) **४०८–४५३**
१. आचार्य कुलपति मिश्र ४०९
२. देवदत्त कवि 'देव' ४१०
३. आचार्य श्रीपति ४११
४. आचार्य भिखारीदास 'दास' ४१२
५. प्रतापसाहि ४१२
६. लछिराम ४१२
७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ४१३
८. डॉ० श्यामसुन्दर दास ४२८
९. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ४२९
१०. डॉ० नगेन्द्र ४३४
११. डॉ० भगीरथ मिश्र : ४३९
१२. विम्ब ४४४

१३. प्रतीक ४४६

१४. डॉ० मिश्र : रस और मनोविज्ञान ४४९

१५. डॉ० मिश्र और रस ४५०

१६. विवेचना ४५०

पञ्चदश अध्याय : (परिशेष परिशीलन) ४५४–४८४

१. योगदर्शन की चित्तभूमियाँ ४५५

२. योगमनोविज्ञान ४५९

३. योग में चित्त का स्वरूप ४६१

४. मधुमती भूमिका और रसभूमि ४६१

५. विशोका और रसभूमि ४६७

६. अस्मिता और रसभूमि ४६८

७. रस-सन्दर्भ में योगभूमियों का आग्रह क्यों ? ४६८

८. रसभूमि और ध्वनि-सिद्धान्त ४७०

९. जयशंकर प्रसाद का काव्य-सिद्धान्त ४७२

१०. कुमारस्वामी के काव्य-सम्बन्धी विचार ४७५

११. अरविन्द के काव्य सम्बन्धी विचार ४७६

१२. समाजवादी वस्तुवाद ४७७

१३. विप्रलम्भ शृंगार और करुण (करुण-विप्रलम्भ) ४८०

१४. तात्पर्यवृत्ति का परिशेष ४८१

१५. भक्तिरस और रसाभास ४८३

१६. निष्कर्ष ४८४

षोडश अध्याय : (निर्वहण) ४८५–५०२

१. काव्य-बोध : सौन्दर्य ४८६

२. काव्य की व्यञ्जनाशक्ति ४८७

३. रस ४८८

४. साधारणीकरण ४८९

५. रस-निष्पत्ति ४९२

६. वस्तु और अलंकार ४९७

७. रीति और गुण ४९८

८. वक्रोक्ति ४९८

९. मनोविज्ञान ४९९

१०. हिन्दी-समीक्षक ५००

११. कवि, सहृदय और समीक्षक ५००

१२. ध्वनिसिद्धान्त की सीमाएँ ५०१

१३. उपसंहार ५०१

चतुर्थ खण्ड

(सन्दर्भ) ५०३–५६८

प्रथम अध्याय	५०५
द्वितीय अध्याय	५११
तृतीय अध्याय	५१५
चतुर्थ अध्याय	५१९
पंचम अध्याय	५२२
षष्ठ अध्याय	५२३
सप्तम अध्याय	५२५
अष्टम अध्याय	५२७
नवम अध्याय	५३२
दशम अध्याय	५३४
एकादश अध्याय	५३५
द्वादश अध्याय	५३७
त्रयोदश अध्याय	५४४
चतुर्दश अध्याय	५५६
पञ्चदश अध्याय	५५९
षोडश अध्याय	५६७

परिशिष्ट (ग्रन्थ-सूची) ५६९–५७६

प्रथम खण्ड

ध्वनि-सिद्धान्त

ध्वनिपूर्व काव्य-चिन्तन की परम्परा

१

विषय-प्रवेश :

भारत में काव्य-चिन्तन की लम्बी परम्परा रही है। वह अलंकार, रीति-गुण, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि चिन्तन-धाराओं में विविधता लेकर प्रस्फुटित हुई और आज अनेक सजातीय एवं विजातीय चिन्तनों से सम्पृक्त होकर जिस रूप में फलित हुई है उसका लम्बा इतिहास है। उन्हें इन्हीं चिन्तनों में सीमित मानकर देखना साहित्य-मनीषा के ऐतिहासिक आयामों की उपेक्षा होगी क्योंकि कवि और काव्य शब्द वैदिक परिवेश में भी बड़े महत्त्व के रहे हैं। वेद भी एक प्रकार के काव्य हैं जिनकी उपस्थापना तत्त्वदर्शी ऋषियों द्वारा हुई है और वे ऋषि ही वेदों के कवि हैं। ऋग्वेद में क्रान्तदर्शी को कवि कहा गया बताया जाता है और उसका दूसरा अर्थ स्तुति-कर्ता भी है क्योंकि मन्त्र स्तुतिरूप हैं।[१] 'कवि' के प्रयोग ऋषि, बहुश्रुत विद्वान् अर्थों में किये गये हैं।[२] विधाता के अर्थ में 'कवि' शब्द का प्रयोग 'मनीषी' का पर्याय होकर आया है जो शाश्वत काल के लिए अर्थों को यथातथ रूप में प्रस्तुत करता है।[3]

उक्त तथ्यों के आधार पर (अधुनातन परिवेश में) कवि वह है जो बहुश्रुत, क्रान्तदर्शी एवं रचयिता है, जो शाश्वत तथ्यों को शब्दों में अभिव्यक्ति देता है। शाब्दिक अभिव्यक्ति का तत्त्व 'कवि' शब्द में स्वतः निहित है क्योंकि 'कु शब्दे' धातु से 'कवि' शब्द निष्पन्न है।

'काव्य' शब्द ऋग्वेद में भी ऐसी विशेष वाणी के अर्थ में आया है जो स्तुत्यात्मक हो, और उसके मधुमती (सरस) होने की बात भी कही गयी है।[४] शतपथ में तीनों वेदों को विद्या और छन्दस् को काव्य कहा गया है।[५] इससे स्पष्ट है कि छन्दोमयी सरस शब्दमयी अभिव्यक्ति ही वेदों में काव्य है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य में काव्य को तीन अर्थों में लिया है—(१) कवियों अर्थात् मेधावियों का कर्म या कौशल, (२) कवि-सम्बन्धी तथा (३) शब्दनीय वाणी।[६] इनमें तृतीय अर्थ बड़े महत्त्व का है। 'कु' उकारान्त धातु है जिससे 'अवश्य-कर्तव्य' अर्थ में यह कृदन्त रूप बनता है—'अवश्य-कवनीयं काव्यम्'—जिसकी शब्दमयी अभिव्यक्ति अनिवार्य हो उठे, वह काव्य है।[७] इससे कवि-निहित रचनात्मक भावोद्रेक का स्पष्ट संकेत मिलता है जो काव्य-चिन्तन के लिए सुदृढ़ भूमिका प्रस्तुत करता है। छन्द उसका शैलीपक्ष है और मधुमत्ता या सरसता उसका भावपक्ष है जिनका वैदिक उल्लेख समीक्षा की प्राचीनता सिद्ध करने को पर्याप्त है।

रसतत्त्व को वेदों में अत्यन्त व्यापक रूप में मान लिया गया है—वह कण-कण में व्याप्त पदार्थ है जिससे समस्त जगत् की सृष्टि होती है, वही अन्तरात्मा का भावक तत्त्व है।[८] अथर्ववेद में कवि-वाणी को विविध रूपों में विराजमान, काम-दुहिता धेनु कहा गया है जिससे काव्य की सरसता पर प्रकाश पड़ता है और वहाँ उसके मधुमती, प्रीतियुक्त होने की प्रार्थना की गयी है जिससे सरसता एवं मनस्तुष्टि जैसे काव्य के प्रेषणीय तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है।[९] सम्भवतः अथर्व को इस रसतत्त्व का महान् उपस्थापक माना गया अतएव भरत मुनि ने वहीं से इसके ग्रहण की चर्चा की है।[१०]

इस प्रकार काव्य कवि की वह अनिवार्य वाङ्मयी अभिव्यक्ति है जिसमें प्रीतिकर रसतत्त्व (अन्तरङ्ग पक्ष) और छन्दस्तत्त्व (बहिरङ्ग पक्ष) विद्यमान रहते हैं। भरत ने इसीलिए काव्य को छन्दोनिरूपण के सन्दर्भ में ही वर्णनीय ठहराया है। उन्होंने छन्दस् को व्यापक अर्थ में लेकर शब्दमात्र को छन्दस् बतलाया है। भरत ने 'व्यञ्जना' शक्ति का भी प्रकारान्तर से उल्लेख करते हुए कहा है, अभिनयों द्वारा वाक्यार्थ की व्यञ्जना होती है और वाणी ही नाट्य का शरीर है।[११] इसी आधार पर आगे चलकर आचार्य भामह ने काव्य को गद्य-पद्य भेदों में विभक्त किया है।[१२]

रामायण में रस के अतिरिक्त उदार एवं मनोरम चरित, शब्द और अर्थ को काव्य-तत्त्वों में गिना गया है जिसमें छन्दस्तत्त्व का भी ग्रहण है, और काव्य द्वारा यशःप्राप्ति को प्रकारान्तर से प्रयोजन भी कह दिया गया है। वहीं कवि की दृष्टिगत उदारता का भी उल्लेख है।[१३] इससे कवि और काव्य के स्वरूप की प्राचीन मान्यता स्पष्ट हो जाती है।

यह महामुनि भरत से आरम्भ होनेवाले क्रमबद्ध काव्य-चिन्तन की पूर्वपीठिका है जो ऊपर प्रस्तुत की गयी और जिससे प्रमाणित हो जाता है कि शास्त्र-नियमित होने के पूर्व भी समीक्षा का एक सरल रूप चला आ रहा था जिसमें काव्य के आवश्यक तत्त्व समाविष्ट थे, जिसको लेकर आचार्यों ने काव्य को परिभाषित करके काव्य-शास्त्र की सीमाओं में समझने-समझाने का प्रयास किया। निश्चय ही भारत की परम्परा काव्य को बड़े ही उदात्त चेतना-स्तर की वस्तु मानती रही है जो वैदिक मान्यता में स्पष्ट है। योगी अरविन्द ने उन्हीं सीमा-रेखाओं में काव्य को विचारणीय मानते हुए कहा है—'सामान्यतः कविता दो छोरों में प्रवाहित होती है, जिसमें एक छोर कवि-कर्तव्य-प्रधान कल्पना है और दूसरा विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण है। इन दोनों से ऊपर उठकर काव्य एक आध्यात्मिक धरातल की ओर गति लेता है जहाँ दोनों छोरों का अन्तर अतिक्रान्त हो जाता तथा भेद तिरोहित हो जाता है।[१४]

इस सन्दर्भ में 'आध्यात्मिक' शब्द वैज्ञानिक चिन्तन का विरोधी नहीं है, प्रत्युत उसी का अतिसूक्ष्म परिवेश प्रस्तुत करता है। सूक्ष्म ही स्थूल का उपादान है, अतः विचार-जगत् को स्थूल में परिबद्ध करना न केवल तर्कहीन है, प्रत्युत अनर्थकारी भी है। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने स्पष्ट कहा है—"ज्ञान को केवल एक छोटे से समुदाय तक सीमित कर देने से जनसाधारण की दार्शनिक प्रवृत्ति की हत्या होती है, जो आध्यात्मिक दरिद्रता उत्पन्न करती है।"[१५]

भरत मुनि का काव्य-सिद्धान्त :

काव्य का शास्त्रबद्ध परिशीलन कब से आरम्भ हुआ, भरत के पूर्व की परम्परा कितनी लम्बी रही है, यह सब आज स्पष्ट विदित नहीं रहा है। इतना ही कहा जा सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र में संगीत, नृत्य आदि के समान ही काव्य की विवेचना हुई है जो नाट्य का अङ्ग मानकर प्रस्तुत की गयी है। नाट्यशास्त्र की स्वयं ही भरत से पूर्व की परम्परा रही है जिसका उल्लेख पाणिनि ने शिलाली के नटसूत्र द्वारा किया है। पाणिनि का समय ई० पू० ५वीं शताब्दी है जबकि भरत को ई० पू० २०० से लेकर प्रथम शताब्दी ई० के बीच ठहराया जाता है। इससे स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र की भी भरत-पूर्व परम्परा रही होगी जिसका प्रासङ्गिक वर्णन भरत में मिलता है। आज भरत की काव्य-विषयक शास्त्रीय स्थापनाएँ ही प्राचीनतम मान्यता के रूप में हमारे सामने हैं।

नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में वाचिक अभिनय का विवरण प्रस्तुत करते हुए वर्ण विचार, लघु-गुरु-विचार, मात्रा-विचार तथा छन्दोविचार किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में छन्दों का विस्तृत विवेचन करते हुए उन्हें काव्यों में प्रयोजनीय कहा गया है और काव्यों के छत्तीस लक्षणों की प्रस्तावना की गयी है।[१६] सोलहवें अध्याय में काव्य के छत्तीस लक्षणों, दस गुणों और दोषों का विवरण है, साथ ही अलंकारों का भी संक्षिप्त उल्लेख है। वहीं पर रसानुसार वर्णयोजना का भी विचार किया गया है जिससे रीतितत्त्व पर प्रकाश पड़ता है, यद्यपि रीतियों का नामकरण भरत में नहीं मिलता। इस प्रकार भरत द्वारा निर्दिष्ट काव्य-तत्त्वों पर संक्षिप्त विचार अपेक्षित हो जाता है क्योंकि उससे आगामी चिन्तकों की विवेचना-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है।

(क) छन्द :

ऊपर देखा जा चुका है कि वैदिक काल में तीनों वेदों को विद्या और छन्दस्तत्त्व को काव्य कहा जाता था। इससे स्पष्ट है कि 'छन्दस्' काव्य का अविभाज्य अङ्ग माना गया था। भरत मुनि ने भी छन्दों का विवेचन काव्य के सन्दर्भ में ही किया है और शब्द मात्र को छन्द बताया है। भरत ने यद्यपि पद्यों का संक्षिप्त विवेचन भी किया है, तथापि उनकी दृष्टि में समस्त वाणी छन्दों में ही बँधकर चलती हैं। छन्द से उनका तात्पर्य लयात्मक वाणी से जान पड़ता है, अतः काव्य में गद्य-पद्य दोनों का समावेश ही है और इस दृष्टि से नाट्य भी काव्यरूप ले लेता है। (इसी परम्परा का परिणाम था कि भामह ने काव्य के गद्य और पद्य दो भेद स्पष्ट किये थे।)

(ख) लक्षण :

भरत ने काव्य के छत्तीस लक्षणों की विस्तृत व्याख्या की है—विभूषण, अक्षर-संहति, शोभा, अभिमान, गुण-कीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याञ्चा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, निर्भासिन, संशय, आशीर्वाद, प्रियोक्ति, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चाताप, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनय और परिदेवन। इनका रसानुसार प्रयोग होना चाहिए।[१७]

गुणों और अलंकारों से पृथक् लक्षणों का क्या महत्त्व है, इसपर व्याख्याताओं में ऐकमत्य नहीं है। इस मतभेद का विस्तृत विवरण अभिनवभारती में प्रस्तुत किया गया है। कुछ मनीषी मानते हैं कि काव्य की चेतना रस है, गुण रस के धर्म हैं, जबकि अलंकार उनसे पृथक् काव्यशरीर के धर्म हैं। उसी शरीर के धर्म लक्षण भी हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि जिस प्रकार शरीर में श्यामता, मन्दगामिता आदि लक्षण रहते हैं और अलंकारों द्वारा उन्हीं को विभूषित किया जाता है, उसी प्रकार काव्य में छत्तीस लक्षण होते हैं जिनको विभूषित करने का कार्य अलंकार करते हैं। अर्थात् शरीर में लक्षण भी रहते हैं और अलंकार भी, परन्तु लक्षण शरीर में ही सिद्ध होते हैं, अङ्गभूत होते हैं, जबकि अलंकार बाहरी तत्त्व हैं जो उनकी शोभा बढ़ाते हैं। उदाहरणार्थ विशालाक्षी होना लक्षण है और कज्जल आदि से उसी को पुष्ट किया जाता है। इस मत में गुण और लक्षण में अन्तर नहीं रह जाता अतः भरत के मन्तव्य का परिज्ञान नहीं हो पाता—निश्चय ही भरत का अभिप्राय इससे पृथक् रहा है।

दूसरे व्याख्याता के अनुसार नाट्य की सन्धियों में व्याप्त रसतत्त्व के उपयोगी वर्णनीय पदार्थ ही लक्षण हैं, अर्थात् रसोपयुक्त वचन-रचना ही लक्षण है। यह मान लिया जाय तो सम्पूर्ण वर्ण्य विषय ही लक्षण-सीमा में आ जाता है जिससे उनकी पृथक् सत्ता को परिभाषित करना ही असंभव है।

तीसरे वर्ग के व्याख्याता गुण, अलंकार और लक्षण में अन्तर स्पष्ट करते हैं। रसादि की व्यञ्जना में समर्थ योजना कवि-प्रतिभा का निदर्शन है, अतः प्रतिभा का प्रथम परिस्पन्द, जो रसानुभूति का जनन करता है, गुण है। अमुक शब्द से अमुक वस्तु का वर्णन किया जाय, यह वर्णनविधा अलंकार है। अलंकार कवि की प्रतिभा का द्वितीय परिस्पन्द (स्फुरण) है। कवि की प्रतिभा का तृतीय परिस्पन्द ही लक्षण है जिसके अनुसार कवि देखता है कि शब्दों से शब्दों का और अर्थों से अर्थों का उचित संघटन हो। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के उपस्कारक (परिष्कार करनेवाले) तत्त्व लक्षण हैं। इस व्याख्या के अनुसार लक्षण कवि की बुद्धि से सम्बद्ध हैं—अर्थात् शब्द और अर्थ के उचित संनिवेशवाली कवि-प्रतिभा का प्रस्फुटन ही जब काव्य में दिखायी पड़ता है तो वह लक्षण कहा जाता है। इस व्याख्या से भी भरत का मन्तव्य स्पष्ट नहीं हो पाता। भरत लक्षणों को काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व मानते हुए उन्हें प्राथमिकता देते हैं, जबकि इस व्याख्या में उन्हें तृतीय श्रेणी के विचार-तत्त्व से सम्बद्ध माना गया है।

चौथा वर्ग मानता है कि लक्षणों का सम्बन्ध कवि के अभ्यास से है। पाँचवाँ वर्ग कहता है कि लक्षण प्रबन्ध की वस्तु है। छठे वर्ग की मान्यता है कि कवि का जो विशेष अभिप्राय काव्य से प्रकट होता है, वही लक्षण है। सातवें वर्ग के व्याख्याता लक्षण का सूक्ष्म अर्थ देते हैं। उनकी मान्यता में गुणों ओर अलंकारों की समुचित योजना ही लक्षण है। एक आठवाँ वर्ग भी है जो मानता है कि गुणों और अलंकारों से पृथक् काव्य के कथ्य में जो नैसर्गिक सुन्दरता रहती है, उसका मूल कारण ही लक्षण है जो काव्य का शरीर है और अर्थरूप है। इस मत में शरीर से पृथक् लक्षण की सत्ता ही नहीं मानी गयी है। इसी मत से मिलती जुलती व्याख्या देनेवाला एक नवाँ वर्ग भी है जो कहता

है कि लक्षण वे हैं जिनके आधार पर काव्य को अन्य वाङ्मय से पृथक् समझा जा सकता है।

आचार्य अभिनव ने उक्त व्याख्याओं को इस आधार पर अमान्य बताया है कि भरत ने लक्षणों की परिभाषाओं में जो विशेषण रखे हैं उनकी संगति इन मतों से नहीं हो पाती। अतः उन्होंने रसानुसार लक्षणों के प्रयोग की भरत-कृत मान्यता के सन्दर्भ में लक्षणों को समझने का प्रयास किया है।

काव्य का मुख्यार्थ रस है। काव्य की संरचना में तीन व्युत्पत्तियों का योग रहता है—(१) वर्णनीय, (२) शब्दनीय और (३) कविकर्म। इन व्युत्पत्तियों की स्थिति तीन तत्त्वों पर अवलम्बित है—(१) अभिधेय अर्थ, (२) अभिधान शब्द और (३) अभिधाशक्ति। काव्य के इन तत्त्वों के साथ तीन व्यापार संलग्न रहते हैं—(१) शब्द-व्यापार, (२) अभिधायक-कवि-व्यापार और (३) प्रतिपाद्य-वस्तु-व्यापार। इन तत्त्वों के अनुसार गुणों, अलंकारों और लक्षणों की स्थिति समझनी चाहिए। शब्दों के श्रवण से ही जो रसाभिव्यक्ति की क्षमता देखी जाती है, वह शब्दगुण है औरजो परस्पर वर्णों के सम्बन्ध से नाद-सौन्दर्य घटित होता है, वह शब्दालंकार है। अर्थबोध के साथ जो रसाभिव्यक्ति की क्षमता प्रकट होती है, वह अर्थगुण है और बाह्य वस्तु के या अप्रस्तुत के योग से जो अर्थ-सौन्दर्य आता है वह अर्थालंकार है। लक्षण तो तीनों ही अभिधान-व्यापारों—शब्द-व्यापार, अभिधायक-व्यापार और प्रतिपाद्य-व्यापार—में रहनेवाले तत्त्व हैं। अमुक शब्द द्वारा अमुक आशय के साथ अमुक बोधजनन हेतु कवि की प्रवृत्ति होती है और तभी वह रसयुक्त काव्य-रचना कर पाता है, यही **अभिधान-व्यापार लक्षण है।**

अतः अभिनव के अनुसार 'लक्षण' वह अभिधान-व्यापार है जो चित्तवृत्ति-रूप रस को लचित करता और रसोपयोगी विभावादि की विचित्रता सम्पादित करता है। एक रस की अपेक्षा दूसरे रस में विभावादि गुण और अलंकार भिन्न होते हैं क्योंकि वे जिस रस में उपयुक्त हैं वहाँ वे लक्षण के अनुसार हैं, अन्यथा अनुपयुक्त होकर वे काव्य का कुलक्षण सिद्ध करते हैं।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गुण और अलंकार तो काव्य के तत्त्व हैं पर **लक्षणों के बिना** कोई काव्य ही नहीं बनता, जैसे आँख, नाक, मस्तक आदि मनुष्य के लक्षणों में आते हैं; आँखों का बड़ा होना आदि गुण हैं और कज्जलरेखा आदि अलंकरण।

(ग) दोषाभाव तथा गुण :

भरत ने दस गुणों का परिगणन करने के पूर्व दोषाभाव को गुण बताया है।[१८] इस प्रकार गुण दो भागों में विभक्त मानने चाहिए—(१) दोषाभाव-रूप गुण तथा (२) श्लेषादि गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति।[१९]

(घ) अलंकार :

नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया गया है—उपमा, दीपक, रूपक और यमक। उन्हें 'काव्यालङ्कार' कहा गया है।[२०]

(ङ) रीति :

भरत ने रीति शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है परन्तु काव्योपयोगी अक्षर-योजना के सन्दर्भ में 'पद-बन्ध' शब्द का प्रयोग किया है जिससे रीति तत्त्व का आभास मिलता है।[२१] और भरत ने 'प्रवृत्ति' पर जो विस्तृत विचार किया है, वह भी रीति का नामान्तर है।

(च) रस :

उक्त तत्त्वों के काव्य में प्रयोग से रसतत्त्व की सृष्टि ही अभिप्रेत रहती है। लक्षणों का उपयोग रसानुसार ही मान्य ठहराते हुए भरत मुनि ने रस पर बड़ा बल दिया है।[२२] उन्होंने भावों और रसों का विस्तृत विवेचन नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्यायों में किया है। उनको काव्याङ्ग मानते हुए विवेचित किया गया है।[२३]

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में काव्यतत्त्व का सविस्तार विवरण देखा जाता है जिससे प्रमाणित होता है कि भरत को कोई विशाल काव्य-चिन्तन-परम्परा सुलभ थी जिसे नाट्य-शास्त्र में प्रसंगवश उन्होंने प्रस्तुत किया है। वे प्रायः काव्य और नाट्य को पर्याय जैसा मानकर भी यत्र-तत्र निरूपण करते हैं जिससे प्रतीत होता है कि उनके समक्ष नाट्य भी काव्यरूप ही था और आगे चलकर वैसा ही मान्य भी किया गया है। भरत द्वारा प्रति-पादित ३६ लक्षणों और १० गुणों का बड़ा महत्त्व है। यद्यपि लक्षणों का आगामी काव्य-शास्त्रीय चिन्तन में उल्लेख नहीं मिलता, तथापि मनीषियों ने जो विविध काव्य-परिभाषाएँ दी हैं उनका आधार किसी न किसी रूप में लक्षण रहे हैं, अतः उनका परिचय यहाँ अपेक्षित है।

भरत के काव्यलक्षण :

ऊपर ३६ लक्षणों का उल्लेख किया गया है। वे वस्तुतः काव्य-रूप देनेवाले तत्त्व हैं। आवश्यक नहीं, एक ही काव्यात्मक वाक्य में सभी का समावेश हो, परन्तु एक ही स्थान पर अनेक लक्षण घटित हो सकते हैं। हिन्दी के उदाहरणों द्वारा उनकी विवेचना इस प्रकार की जा सकती है।

१. विभूषण :

वह काव्यलक्षण 'विभूषण' है जिसमें विविध अलंकारों तथा गुणों का समावेश हो। उदाहरणार्थ :

"मधु मैं गड़ि बूड़ि गयीं पखियाँ
अँखियाँ मखियान सौं लागी रहैं।
अति नील महाजल झीलर मैं
झखियाँ झखियान सौं लागी रहैं॥
उनि देवी सी देव ठगी रखियाँ
सखियाँ सखियान सौं लागी रहैं।
प्रिय प्रीतम प्यारे के प्रेम पगी
अँखियाँ अँखियान सौं लागी रहैं॥" (देव)

यहाँ मालाबद्ध तीन उपमाओं द्वारा आँखों के लगने का रूपचित्र प्रस्तुत किया गया है और अन्त में 'पाग में पग जाने' की बात कहकर भावात्मक संवेदनीय तत्त्व को स्थूल बनाकर अधिक हृदयंगम होने के योग्य किया गया है। श्लेष, समता, माधुर्य, प्रसाद, सुकुमारता, कान्ति आदि गुण भी विद्यमान हैं।

२. अक्षरसंहृति :

जहाँ अल्प अक्षरों की संश्लिष्ट रचना द्वारा विचित्र अर्थ का वर्णन होता है, वहाँ 'अक्षरसंहृति' नामक लक्षण मानना चाहिए। वस्तुतः गम्भीर अर्थवाली प्रत्येक समास-शैली इस लक्षण का उदाहरण है; प्रत्येक उत्तम कविता में यह लच्चण प्रायः आ जाता है। एक उदाहरण :

कौन करुण रहस्य है, तुममें छिपा छविमान !
लता वीरुध दिया करते जिसे छायादान। (कामायनी)

यहाँ 'कौन' से अनिर्वचनीयता का, 'छविमान' से तटस्थ पर व्याकुल सौन्दर्याभिलाष का बोध होता है। छोटे तथा थोड़े शब्दों में ही विचित्र भावाभिव्यक्ति की गयी है।

३. शोभा :

पूर्वसिद्ध अर्थों की प्रस्तावना द्वारा असिद्ध अर्थ के साधन में जो विलक्षण चमत्कार आता है, वही शोभा है :

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन,
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन। (कामायनी)

पद्य के पूर्वार्ध में जाने-माने तथ्य का उल्लेख करके उसके सादृश्य द्वारा जड़-चेतन तत्त्वों की एकता सिद्ध करने का काव्यात्मक प्रयास किया गया है।

४. अभिमान :

विविध कार्यों तथा उपायों से धारण या वारण करने पर भी स्थिरता आने की असंभावना का वर्णन जहाँ हो वहाँ 'अभिमान' नामक लक्षण होता है।

सब बातों में खोज तुम्हारी
रट-सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के
बनता छुई-मुई है। (कामायनी)

५. गुण-कीर्तन :

अनेक पदार्थों के गुणों का इस प्रकार कथन किया जाय कि उनके दोष प्रसङ्ग में न आएँ तो वह लक्षण गुण-कीर्तन होता है। जैसे,

विश्वमाधुरी जिसके सम्मुख
मुकुर बनी रहती हो।

वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है!
यह तुम क्या कहती हो?　(कामायनी)

यहाँ ऐन्द्रिय सुख का गुणगान करके उसकी क्षणभङ्गुरता का दोष ढक दिया गया है।

६. प्रोत्साहन :

उपमानयुक्त (अप्रस्तुत-युक्त), उत्साहकर, स्पष्ट एवं प्रसिद्ध अर्थों से समन्वित कथन में 'प्रोत्साहन' लक्षण होता है।

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पग-तल में,
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।　(कामायनी)

७. उदाहरण :

जहाँ एक शब्द से ही अनेक अर्थ बिना कहे ही सिद्ध होते देखे जायँ वहाँ 'उदाहरण' नामक लक्षण होता है।

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।　(अज्ञेय)

यहाँ एक शब्द 'सहमा' से ही दीपक की लघुता, अपर्याप्तता, क्षीणता आदि का स्वतः बोध हो जाता है।

८. निरुक्त :

जहाँ शब्द का यौगिक अर्थ के आधार पर प्रयोग किया जाता है, जिससे विग्रह-जनित अर्थ से अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है, वह 'निरुक्त' नाम का लक्षण होता है। यह 'तथ्य-निरुक्त' तथा 'अतथ्य-निरुक्त', दो प्रकार का होता है।

सब कहते हैं, 'खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवन-धन की',
आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की।　(कामायनी)

यहाँ 'दर्शन' शब्द तथ्य-निरुक्ति के आधार पर प्रयुक्त है—वेदान्त आदि दर्शनों का काम सत्य को दिखाना है जो यहाँ दार्शनिक परिभाषा के आधार पर तथ्यरूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

सब उपमा कबि रहे जुठारी।
केहि पटतरिअ बिदेह-कुमारी॥　(मानस)

यहाँ सीता को उस पुरुष की पुत्री कहने की व्यञ्जना की गयी है जो विदेह—देह-रहित—हो। जनक के लिये यह तथ्य नहीं है, फिर भी शब्द उस अर्थ के देने में समर्थ

है और उससे वही काम लिया गया है—सीता के सौन्दर्य की अनिर्वचनीयता व्यक्त करने के हेतु 'अतथ्य निरुक्ति' का कवि ने उपयोग किया है :

पशुता का पङ्कज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज। (पन्त)

यहाँ भी 'अतथ्य निरुक्ति' है क्योंकि 'पङ्कज' और 'सरोज' समानार्थक पद हैं परन्तु एक स्थान पर 'पङ्कज' से मलिनता का और दूसरे स्थान पर 'सरोज' से निर्मलता आदि का बोध कराना अभीष्ट है।

९. गुणानुवाद :

हीन वस्तु की उत्तम वस्तु से तुलना करने में 'गुणानुवाद' लक्षण होता है :

उठे स्वस्थ मनु, ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कान्त,
लगे देखने क्षुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शान्त। (कामायनी)

यहाँ अरुणोदय की तुलना से मनु की असीम सजगता और दिव्यता का आभास कराया गया है।

१०. अतिशय :

जहाँ उत्तम अर्थों का वर्णन करने के अनन्तर भी अधिक वर्णन किया जाय, वहाँ 'अतिशय' लक्षण होता है :

दीरघ नैन, कटीली सु भौंह, सुधाधर आनन सुन्दरताई।
चीकने मेचक कुंचित केस रचे बिधि आन तियान की नाई॥
वा कौ बिसेस असेस इतौ, कबि की मति थाहत थाह न पाई।
ओछी कुदीठि जो देख्यौ चहै, गहिली वह ता पहिं देखि न जाई॥
(तोरुदत्त कृत 'सावित्री' से साभार छायानुवाद)

यहाँ अन्य उत्तम सौन्दर्य-गुणों से बढ़कर इस गुण का उल्लेख है कि उसकी ओर नीच दृष्टि से देखना असंभव है। यह 'अतिशय' है।

११. हेतु :

बहुत कहनेवालों के कथनों में एक अर्थ का कवि द्वारा निर्णय किया जाय और युक्ति-युक्त उपक्षेप प्रस्तुत किया जाय तो 'हेतु' लक्षण होता है—'हेतु' यहाँ युक्ति-पर्याय है :

कोऊ कहै कुच कंचन कुंभ सुधारस सौं भरि राखे हैं ओऊ।
श्रीफल, संभु, सुमेरु समान, मनोज के गेंद कहैं कोउ कोऊ॥
मो मन में उपमा असि आवति, भाखत हौं पुनि होउ न होऊ।
जीति सबै जग औंधि धरे हैं मनोज महीप के दुंदुभि दोऊ॥
(सुन्दरीतिलक, ३३३)

१२. सारूप्य :

अर्थ की छाया मात्र से परोक्ष तथ्य का आरोपण करके जहाँ उसे वास्तविक प्रमाणित किया जाय, वहाँ 'सारूप्य' लक्षण होता है :

ऊषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अम्बर में,
वह क्या है, क्या तुम देख रहे
वर्णों के मेघाडम्बर में।
अन्तर है दिन औ रजनी का
यह साधक कर्म बिखरता है,
माया के नीले अंचल में
आलोक विन्दु सा झरता है। (कामायनी)

१३. मिथ्याध्यवसाय :

जहाँ अयथार्थ (असंभाव्य) वस्तुओं द्वारा तुल्य-वर्णनीय वस्तु का निर्धारण किया जाय, वहाँ 'मिथ्याध्यवसाय' नामक काव्य-लक्षण होता है :

भरिबौ है समुद्र कौ संबुक मैं, छिति कौ छिगुनी पै उछारिबौ है।
बँधिबौ है मृनाल सौं मत्त करी, जुही फूल सौं सैल बिदारिबौ है॥
गनिबौ है सितारन कौ कबि संकर, रेनु सौं तेल निकारिबौ है।
कबिता समुझाइबौ मूढ़न कौ, सबिता गहि भूमि पै डारिबौ है॥
(नाथूराम शर्मा शङ्कर)

१४. सिद्धि :

बहुत प्रधान वस्तुओं के मध्य तुल्य योग के आधार पर अप्रधान का नाम-कीर्तन 'सिद्धि' कहा जाता है :

इन्द्र कुबेर वायु सुरसरिता कृष्ण सुदामा,
छहौं बड़े हैं तीन लोक में विश्रुत-नामा।
ईस्वरत्व में इन्द्र, धनिकजन में कुबेर हैं,
गति में वायु, पूतता में सुरसरि सुमेर हैं।
धरणीभार-हरण में यदि श्रीकृष्ण प्रथम हैं,
तो दरिद्रजनमध्य सुदामा एक असम हैं।

१५. पदोच्चय :

अनेक पदों में अनेक गुणों का ग्रथन किया जाय और उनका एक पदार्थ के साथ अन्वय हो तो उसे 'पदोच्चय' कहते हैं :

बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र-मालिका टूटी,
नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी दिखलायी देती लूटी। (आँसू)

यहाँ एक ही विरही की दशा में प्रकृति के तीन तथ्यों का अन्वय किया गया है।

१६. आक्रन्द :

अन्य के सादृश्य के माध्यम से जहाँ अपना अनुभव प्रस्तुत किया जाय और उसमें संवेदन की तीव्रता हो वहाँ 'आक्रन्द' नामक काव्य-लक्षण होता है :

देवदारु-निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध।
शिथिल अलसायी पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर-कण की सेज पर विश्रान्त।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रान्त,
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कान्त। (कामायनी)

यहाँ मनु और श्रद्धा की तीव्र संवेदना को प्रकृति पर आरोपित करके प्रस्तुत किया गया है।

१७. मनोरथ :

अन्य के बहाने से जहाँ अपने हृदय का भाव-निवेदन हो वहाँ 'मनोरथ' लक्षण होता है। (यह एक प्रकार की अप्रस्तुत प्रशंसा है :)

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील
शिथिल है, जिसपर बिखरता प्रचुर मंगल-खील,
राशि-राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रान्त
बिखरती है, तामरस सुन्दर चरण के प्रान्त। (कामायनी)

यहाँ प्रकृति की आवरण-शिथिलता के बहाने श्रद्धा ने मनु के प्रति अपने नारी-सुलभ भाव का निवेदन किया है।

१८. आख्यान :

प्रश्न होने पर अथवा बिना प्रश्न के ही जो निर्णयात्मक कथन किया जाता है, उसे 'आख्यान' कहते हैं :

कौन तुम संसृति-जलनिधि-तीर
तरङ्गों से फेंकी मणि एक ?
× × ×
कहा मनु ने—'नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय,
एक उल्का-सा जलता भ्रान्त
शून्य में फिरता हूँ असहाय। (कामायनी)

यहाँ प्रश्नपूर्वक आख्यान है।

जीवन कहता यौवन से 'कुछ
देखा तू ने मतवाले'

यौवन कहता 'साँस लिए चल
कुछ अपना सम्बल पा ले।'

यहाँ प्रश्नोत्तर कल्पित है।

१९. याञ्चा :

आदि में परुष वचन और फिर हर्षवर्धक कथन हो तो 'याञ्चा' लक्षण होता है।

सहर मँझावत पहर एक लागि जैहै
बसती के छोर पै सराइँ है उतारे की।
कहत कबिन्द मग माँझ ही पुरैगी साँझ
खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की॥
घर के हमारे परदेस को सिधारे, तातें
दया करि बूझें हम रीति राह बारे की।
कर के नदी के बर बर के तरें तू बस,
चौंकै मति चौकी इत पाहरू हमारे की॥

यहाँ पहले बटोहियों के मारे जाने की परुष सूचना देकर पथिक से स्वयंदूती द्वारा रुकने की प्रार्थना की गई है जो हर्षकर है।

२०. प्रतिषेध :

विपरीत कार्य में प्रवृत्त होने से रोकना 'प्रतिषेध' है। यह प्रतिषेध कार्यज्ञ व्यक्ति द्वारा होना चाहिए :

क्यों इतना आतङ्क ? ठहर जा ओ गर्वीले !
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले। (कामायनी)

यहाँ उत्तरार्ध से वक्ता की कार्यज्ञता, 'आतङ्क' से विपरीत कर्म और 'ठहरने' से वर्जन अर्थ आते हैं।

२१. पृच्छा :

आकार, काकु आदि से युक्त वाक्यों द्वारा जहाँ वक्ता अपने से अथवा दूसरे से प्रश्न करता-सा अभिधान करता है वहाँ 'पृच्छा' काव्य-लक्षण होता है :

'मैं हूँ' यह बरदान सदृश
क्यों लगा गूँजने कानों में ?
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में। (कामायनी)

यहाँ आत्मविषयक पृच्छा है।

मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ लेना ही हो
हन्त ! बची क्या शवता ! (कामायनी)

यहाँ दूसरे से प्रश्न किया गया है।

२२. दृष्टान्त :

ज्ञानवान् वक्ता जब पूर्वोपलब्ध तथ्य की तुलना में अपनी बात का प्रतिपादन करता है तो 'दृष्टान्त' नामक काव्य-लक्षण होता है :

प्रकृति के यौवन का शृङ्गार
करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल। (कामायनी)

२३. निर्भासन :

अनेक उपवाक्यों से घटित अनेक अर्थों का प्रतिपादक वाक्य जहाँ अनेक युक्तियों के साथ प्रस्तुत किया जाय वहाँ 'निर्भासन' होता है :

रुकती हूँ और ठहरती हूँ
पर सोच बिचार न कर सकती,
पगली सी कोई अन्तर में
बैठी जैसे अनुदिन बकती।
मैं जभी तौलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ,
भुज-लता फँसा कर नर-तरु से
झूले-सी झोंकें खाती हूँ। (कामायनी)

२४. संशय :

जहाँ वास्तविकता के ज्ञान के अभाव में ही वाक्य समाप्त कर दिया जाय तथा अनेक विचार अनिर्णीत ही रहें वहाँ 'संशय' लक्षण होता है :

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से सन्धान !
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण बीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ? (कामायनी)

२५. आशीः :

जहाँ मनोरथ से उत्पन्न अप्रार्थनीय अर्थ की प्राप्ति की कामना की जाय वहाँ 'आशीः' लक्षण होता है :

आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा,
जीवन के दोनों कूलों में
बहे वासना - धारा। (कामायनी)

२६. प्रियोक्ति :

आरम्भ में अमर्षजनक किन्तु अन्त में हर्षवर्धक आशीर्वादयुक्त कथन में 'प्रियोक्ति' लक्षण होता है :

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल। (कामायनी)

२७. कपट :

छलयुक्तियों से प्रवञ्चना द्वारा अभिभूत करना 'कपट' लक्षण है। जहाँ छल के दो तीन प्रयोग हों वहाँ 'कपट-संघात' होता है :

रच्यौ कच मौर सु मोरपखा धरि, काक-पखा मुख राख्यौ अराल।
धरी मुरली अधराधर लै सुरली सुरलीन है 'देव' रसाल॥
पितम्बर काछनी पीत पटी करि बालम बेष बनावति बाल।
उरोजन खोज निवारिबै कौ उर पैन्ही सरोजन की बनमाल॥

२८. क्षमा :

दुर्जन द्वारा क्रोधजनक वचन सुनकर, सज्जनों के मध्य भर्त्सना पाकर, मनुष्य क्रोधहीन बना रहे तो 'क्षमा' है :

परशुराम—अति रिस बोले बचन कठोरा।
कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू।
उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

राम—नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥ (मानस)

२९. प्राप्ति :

अंश मात्र देखकर जहाँ सम्पूर्ण पदार्थ का अनुमान हो वहाँ 'प्राप्ति' लक्षण होता है :

तब सरस्वती सा फेंक साँस
श्रद्धा ने देखा आसपास,
थे चमक रहे दो खुले नयन,
ज्यों शिला-लग्न अनगढ़े रतन,
यह क्या तम में करता सन-सन
धारा का ही क्या यह निःस्वन !
ना, गुहा लतावृत एक पास,
कोई जीवित ले रहा साँस। (कामायनी)

३०. पश्चात्ताप :

सहसा अकार्य करके अथवा कर्तव्य न करके जो सन्ताप अनुभव होता है वही 'पश्चात्ताप' है :

किन्तु अधम मैं समझ न पाया
उस मङ्गल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष - शोक की छाया को ! (कामायनी)

३१. अनुवृत्ति :

स्नेह या दाक्षिण्य से विनयपूर्वक सप्रयोजन जो दूसरे का अनुवर्तन (अनुरोध) किया जाता है, वह 'अनुवृत्ति' है :

राजकुमारि सिखावनु सुनहू ।
आन भाँति जनि जिय कछु गुनहू ॥
आपन मोर नीक जौ चहहू ।
बचनु हमार मानि गृह रहहू ॥ (मानस)

३२. उपपत्ति :

प्रसङ्ग-प्राप्त दोषों का शमन करना 'उपपत्ति' लक्षण है :

दु:ख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाए है जिसमें सुख गात । (कामायनी)

३३. युक्ति :

उत्तम वस्तुओं के समवाय से परस्परानुकूल सम्बन्ध-स्थापना में 'युक्ति' नामक काव्यलक्षण होता है :

कुसुम कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार ।
और पड़ती हो उसपर शुभ्र
नवल मधु राका मन की साध,
हँसी का मद-विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध । (कामायनी)

३४. कार्य :

(क) जहाँ दोष का निरसन करके गुण-योजन किया जाता है, वहाँ 'कार्य' नामक लक्षण होता है :

कर्म - यज्ञ से जीवन में
सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा। (कामायनी)

यहाँ कर्म-मार्ग के दोषों को अमान्य करके गुण बताये गये हैं।

(ख) जहाँ गुणों को अमान्य कर दोषारोपण होता है, वहाँ द्वितीय 'कार्य' लक्षण होता है।

विषम बृषादित की तृषा मरे मतीरनु सोधि।
अमित अपार अगाध जलु मारौ मूढ़ पयोधि ॥ (बिहारी)

३५. अनुनय :

अपूर्व क्रोधजनक अपराध का मार्जन करके जो सेवार्थ मधुर बचन कहा जाय उसे 'अनुनय' कहते हैं :

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा।
कर कुठार आगें यह सीसा ॥
जेहिं रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी।
मोहि जानिअ आपन अनुगामी ॥ (मानस)

३६. परिदेवन :

अन्य के दोषों का अन्य पर आरोप करना 'परिदेवन' है :

बन्धु कहइ कटु संमत तोरें।
तूँ छल बिनय करसि कर जोरें ॥
करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहिं त छाड़ु कहाउब रामा ॥ (मानस)

× × ×

ऊपर जो 'लक्षणों' का विवेचन हुआ है उससे स्पष्ट है कि उन्हीं में अलंकारों और गुणों का आधार मिल जाता है। अभिनव के अनुसार लक्षण शरीर या आकृति के स्थानापन्न हैं जिनके आधार पर ही अलंकारादि की सत्ता है। कुशल सुवर्णकारादि द्वारा कल्पित कटक-कुण्डल आदि की विलक्षणता शरीर की ही महिमा पर अवलम्बित है। उपमान-शरीर या उपमेय-शरीर की विलक्षणता लक्षण-कृत ही ठहरती है। इन्हीं के आधार पर भरत ने उपमा, दीपक और रूपक, इन तीन अर्थालंकारों का प्रयोग निर्धारित किया है जो छत्तीस लक्षणों के योग से अनेकविध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं लक्षणों के भी अनेक उपभेद हो सकते हैं जिनका परिगणन अशक्य है। इस प्रकार सैकड़ों हजारों विचित्रताओं की कल्पना सहृदय जन स्वयं कर सकते हैं।[२४]

गुणों के भी लक्षण ही आधार हैं अतएव भरत ने उन्हें लक्षणों के अनन्तर अलंकारों तथा दोषों के बाद परिगणित किया है। वस्तुतः लक्षणों का उचित विनियोग न होने से दोष घटित होते हैं। उनका सम्यक् विनियोग होने से गुण और अलंकार स्वतः आ जाते हैं। दोषों का परिहार होने पर काव्य गुणयुक्त हो जाता है और उसमें माधुर्य तथा औदार्य स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं जिससे परिगणित गुणों अथवा अलंकारों के बिना भी काव्य लक्षण-युक्त बन जाता है।[२५]

अलंकारों के सन्दर्भ में आगे चलकर भामह ने जो वक्रोक्ति को आधारभूत तत्त्व घोषित किया है वह भरत के अनन्तता-प्राप्त लक्षणों को एक नाम के अन्तर्गत लेने का प्रयास है। यदि लक्षण ही काव्य के निर्धारक तत्त्व हैं तो कुन्तक का मत सरलता से अमान्य नहीं किया जा सकता जो वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानता है। कवि-कल्पना की विलक्षण चमत्कार-सारता ही 'लक्षण' है और वही वक्रोक्ति है।

भरत का गुण-विवेचन :

महामुनि भरत ने दोषों का संक्षिप्त परिगणन करके दोषाभाव को प्रथम काव्य-गुण माना है जो दस काव्य-दोषों का अभावरूप है। इसके अतिरिक्त दस अन्य काव्यगुण बताए हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस्, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।[२६]

१. श्लेष :

वर्ण्य अर्थ-समुदाय से परस्पर सम्बन्ध रखते हुए पद जब (संश्लिष्ट होकर) आते हैं तो 'श्लेष' गुण होता है। इस गुण में विचारों की गहनता रहती है परन्तु पद-समुदाय परस्पर सम्बद्ध होकर ऐसा चित्र देते हैं कि सम्पूर्ण योजना हृदयग्राही हो उठती है :

धूम-लतिका सी गगनतरु पर न चढ़ती दीन,
दबी शिशिर निशीथ में ज्यों ओस भार नवीन।
झुक चली सव्रीड वह सुकुमारता के भार,
लद गयी पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार।
और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव।
मधुर व्रीडामिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास। (कामायनी)

यहाँ नव मिलन की परिस्थितियों में नारी का श्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वर्ण्य के विविध पक्ष प्रतीकों की गहनता लिये हुए हैं, फिर भी पदों के पारस्परिक सम्बन्धों में व्याघात न होने से काव्य की गरिमा की कहीं क्षति नहीं होती। यही श्लेष गुण है। (यह श्लेष अलंकार नहीं है)। श्लेष में पद उसी प्रकार पिरोए रहते हैं, जैसे वस्त्र में सूत्र।

२. प्रसाद :

बिना कहे हुए ही जब किसी शब्द या अर्थ की प्रतीति मनोहर शब्दार्थ-योजना के कारण हो चले वहाँ 'प्रसाद' गुण होता है :

इस करुणा-कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ? (आँसू)

यहाँ 'रागिनी' और 'स्वर' जैसे पदों के प्रभाव से हृदय का वीणा-तुल्य होना प्रतीत होता है; बिना कहे ही 'वीणा' पद की प्रतीति हो जाती है ।

मैं जभी तोलने का करती
उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ,
भुजलता फँसाकर नरतरु से
झूले-सी झोंकें खाती हूँ । (कामायनी)

यहाँ अर्थ-योजना की गरिमा से नारी की सहज समर्पण-वृत्ति का स्वतः बोध हो जाता है ।

३. समता :

रचना में समास-युक्त पद न हों, व्यर्थ पद न हों और दुर्बोध न हों तो 'समता' गुण होता है । इसमें अलंकारों और अन्य गुणों की समता भी अभीष्ट रहती है, वे परस्पर साम्य रखते हुए एक दूसरे को अलंकृत करते हैं ।

वल्लरियाँ नृत्य-निरत थीं
बिखरीं सुगन्ध की लहरें,
फिर वेणु-रन्ध्र से चलकर
मूर्छना कहाँ अब ठहरे ।
गूँजते मधुर नूपुर से
मदमाते होकर मधुकर,
वाणी की वीणा-ध्वनि सी
भर उठी शून्य में झिलकर ।
उन्मद माधव मलयानिल
दौड़े सब गिरते पड़ते,
परिमल से चली नहाकर
काकली, सुमन थे झड़ते । (कामायनी)

४. समाधि :

जब वर्ण्य अर्थ को प्रसिद्ध प्रतिभाशाली वचन से सम्पन्न किया जाता है तो 'समाधि' गुण होता ।

चेतना रंगीन ज्वाला परिधि में सानन्द,
मानती-सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द !
अग्निकीट समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले हैं न उसमें दाह ! (कामायनी)

यहाँ 'अग्निकीट' एक पौराणिक-सी कल्पना-वस्तु है जिससे वर्ण्य विषय को सम्पन्न करके संवेदनीय बनाया गया है ।

५. माधुर्य :

वाक्य इतना सुन्दर हो कि बार-बार कहने या सुनने पर उद्वेग-जनक न लगे (प्रत्युत आह्लादकर ही हो) तो उस वाक्य में 'माधुर्य' गुण होता है । अभिनव ने लम्बे समासों को उद्वेजक मानते हुए 'माधुर्य' गुण में वर्जित बताया है ।

धीर समीर सु तीर तें तीछन ईछन कैसहुँ ना सहती मैं ।
त्यों पद्माकर चाँदनी चंद चितै चहुँ ओर न चौंकती जी मैं ।।
छाइ बिछाइ पुरैनि के पात न लेटती चन्दन की चवकी मैं ।
नीच कहा बिरहा करतो सखि, होती कहूँ जु पै मीच मुठी मैं ।।

६. ओजस् :

जो रचना समास-पदों से युक्त हो, जिसमें शब्दालंकारों की विचित्रता हो, शब्द परस्पर सानुराग हों—अर्थात् एक पद की वर्ण-योजना से अन्य पद की वर्ण-योजना में साम्य-सम्बन्ध हो और उदारता (औदात्य) का गुण विद्यमान हो तो उसमें 'ओजस्' गुण होता है ।

भरे भुवन घोर कठोर रव रबि-बाजि तजि मारग चले ।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ।।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं ।
कोदण्ड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं ।। (मानस)

हिन्दी में बहुत लम्बे समास उत्तम काव्यों में नहीं मिलते । प्रस्तुत उदाहरण में शब्दालंकार-वैचित्र्य पर्याप्त है । पदों की परस्पर सानुरागता विद्यमान है—'भरे' और 'भुवन' पद 'भ' को लेकर, 'भरे' और 'घोर' रेफ को लेकर, 'घोर' और 'कठोर' पद रेफ को लेकर, 'कठोर' और 'रव' रेफ को लेकर, 'रव' और 'रवि' दोनों व्यञ्जनों को लेकर 'रवि' और 'बाजि' बकार को लेकर, 'बाजि' और 'तजि' जकार को लेकर परस्पर सानुराग हैं ।

७. सुकुमारता :

संश्लिष्ट सन्धियाँ तथा सुकुमार अर्थ से युक्त रचना हो जिसमें शब्द सुखोच्चार्य हों तो 'सुकुमारता' गुण होता है । सभी अच्छे काव्य इसके उदाहरण हैं । जैसे :

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीर ।
मन्द मन्द आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीर ।। (बिहारी)

८. अर्थव्यक्ति :

लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध एवं सुप्रतिष्ठ कार्ययोजना में 'अर्थव्यक्ति' गुण होता है—एक अर्थ जानकर आगामी अर्थ की स्वतः कल्पना श्रोता द्वारा कर ली जाय, ऐसी अर्थ-योजना इस गुण में अपेक्षित है।

अबहीं मिलिबौ, अबहीं मिलबौ, यहि धीरज ही में धिरैबौ करै।
उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही में सिरैबौ करै॥
कबि बोधा न चाड़ सरै कितहू नित ही हरवा सौ हिरैबौ करै।
कहते न बनै, सहतेई बनै, मन ही मन पीर पिरैबौ करै॥

यों तो सम्पूर्ण छन्द 'अर्थव्यक्ति' से व्याप्त है परन्तु चतुर्थ चरण विशेष रूप से इसका उदाहरण है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि श्रोता यदि भाषा-विज्ञ है तो स्वयं कह चलेगा।

९. उदारता :

इसी का दूसरा नाम 'उदात्त' भी है (औचित्य मत इससे विशेष सम्बन्ध रखता है)। इसमें लोकोत्तर भावना का समावेश रहता है जो ग्राम्यत्व के विपरीत रहता है। शृङ्गार और अद्भुत का विचित्र समायोजन देखा जाता है। शब्द और अर्थ दोनों का चरम उत्कर्ष ही 'उदारता' है।

देखि सीय सोभा सुखु पावा।
हृदयँ सराहत बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई।
बिरचि बिस्व कहँ प्रगट देखाई॥
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई।
छबि गृहँ दीपसिखा जनु बरई॥ (मानस)

१०. कान्ति :

विविध विलास-चेष्टाओं से पूर्ण जो रचना मन और श्रवण को चन्द्रवत् आह्लादित करे उसमें 'कान्ति' गुण होता है।

कंकण क्वणित रणित नूपुर थे
हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर लय का होता अभिसार। (कामायनी)

आगे चलकर आचार्य वामन ने दस गुणों को शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में प्रतिष्ठित कर बीस संख्या की है तथा उन्हीं के आधार पर रीतियों का विभाजन किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने केवल तीन गुण ही मान्य ठहराए हैं जिसपर आगे विचार किया जायगा।

भरत का रस-विचार :

नाट्यशास्त्र में रसों और भावों का विवेचन बड़े विस्तार से हुआ है। वह यद्यपि नाट्य के प्रसङ्ग में उपनिबद्ध किया गया है तथापि बीच-बीच में काव्य नाम लेने से तथा लक्षणादि-विवेचना के प्रसङ्ग में काव्य की सरसता का आग्रह करने से काव्य में रसों की प्रतिष्ठा भरत को मान्य रही है। रसनिष्पत्ति को लेकर पुरातन आचार्यों में वैमत्य रहा है और अधुनातन आचार्य भी एकमत नहीं हैं—उदाहरणार्थ डा० भगीरथ मिश्र जैसे आचार्य काव्यरस को वस्तुगत मानने के समर्थक हैं। सूत्र-शैली में वर्णित रससिद्धान्त भरत के समय में क्या समझा जाता होगा, यह आज केवल अनुमान का विषय रह गया है, अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में भरत के सिद्धान्त को यथापेक्ष बोधगम्य बनाने की दृष्टि से यथावत् अनूदित करके रखना अत्यावश्यक है। भरत के विवेचन को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) रस-सामग्री, (२) रसनिष्पत्ति, (३) रसभाव-सम्बन्ध (४) रसस्वरूप और (५) रसभेद।

१. रस-सामग्री :

भाव, विभाव और अनुभाव रस की सामग्री हैं। नाट्यरसों की संख्या आठ होने से (शान्तरस और उसके स्थायी भाव 'शम' को छोड़कर) आठ ही स्थायी भाव गिनाये गये हैं।

(क) **भाव :**—भावों के तीन वर्ग हैं—स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक।

(१) **स्थायी भाव :**—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय स्थायी भाव हैं।[२७]

(२) **व्यभिचारी भाव :**—इनकी संख्या तैंतीस है—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[२८]

(३) **सात्त्विक भाव :**—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव हैं।[२९]

(ख) **विभाव :**—'विभाव' शब्द विज्ञान-पर्याय है। वही कारण, निमित्त और हेतु है। नाट्य-प्रसङ्ग में वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों का उन्हीं से विभावन (विज्ञान या बोध) होता है।[३०] अर्थात् अभिनेय तत्त्वों—भावों—का बोध विभावों के माध्यम से तत्क्षण हो जाता है—विभावन होता है अर्थात् विशिष्ट रूप में परिज्ञान होता है।[३१] काव्य में कवि शब्द ही अभिनय-स्थानीय रहते हैं अतः वहाँ विभावों का रूप शब्द-गत रहता है।[३२]

(ग) (अनुभव के साधन ही अनुभाव हैं।) वाचिक आदि अभिनय अनुभावों से ही अनुभावित होते हैं। उनसे सर्वाङ्गपूर्ण भाव-स्वरूप प्रकट होता है।[३३]

भरत ने विभावों और अनुभावों को लोक-सिद्ध माना है अतः उनकी परिभाषा देना व्यर्थ बताया है।[३४] भावों की परिभाषा, उनके भेदों का विवेचन भावविचार के प्रसङ्ग में देखा जायगा।

२. रसनिष्पत्ति :

भरत मुनि ने रसनिष्पत्ति का विस्तृत विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि कोई अर्थ रसहीन होता ही नहीं और विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।

'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः॥

(नाट्य, अध्याय ६)

सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि जिस प्रकार विविध व्यञ्जनों, ओषधि-द्रव्यों के संयोग से (लोक में) रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के समागम (उपगम) से (काव्य में) रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों और व्यञ्जन ओषधियों से षाडव (विविध स्वाद-मिश्रित) आदि रस निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार नाना भावों से उपगत स्थायी भाव रसरूप लेते हैं।

' 'रस' शब्द का अर्थ क्या है ? आस्वाद्य होने से 'रस' कहा जाता है। रसास्वाद कैसे होता है ? जैसे नाना व्यञ्जनों से सुसंस्कृत अन्न का भोजन करनेवाले रसों का आस्वादन करते हैं और सहृदय जन (सुमनसः पुरुषाः) हर्ष आदि प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार विविध भावों के अभिनय से व्यञ्जित वाचिक, कायिक, सात्त्विक चेष्टाओं से उपलब्ध स्थायी भावों का सौमनस्य-युक्त प्रेक्षक आस्वादन करते और हर्षादि प्राप्त करते हैं।'[३५]

उक्त उद्धरण से भरत की मान्यता के कतिपय तथ्य सामने आते हैं जो 'व्यञ्जन' और 'व्यञ्जित' शब्दों के प्रयोग से प्रकट होते हैं।

१. रस व्यञ्जित स्थायी भाव का ही नामान्तर है।
२. वह रसरूप लेनेवाला स्थायी भाव रस-सामग्री से व्यञ्जित होता है।
३. आस्वादित होने से ही उसका 'रस' नाम है, अनास्वाद्य रूप में (वस्तुरूप में) वह केवल स्थायी भाव है, रस नहीं।
४. रसास्वाद मन की वस्तु है और सहृदयों का सौमनस्य ही उसका कारण है। रसिक का मन ही 'रस' का आधार है।
५. प्रकारान्तर से कह सकते हैं कि रस की व्यञ्जना होती है—भाव व्यंग्य है।
६. भोज्य-द्रव्य में भी 'व्यञ्जन' इसीलिए कहे जाते हैं कि वे रस को व्यञ्जित करते हैं।
७. भाव ही रस के भावक हैं, जैसे व्यञ्जन के भावक विविध द्रव्य होते हैं। व्यञ्जन का तात्पर्य अनुपानादि-रस है।[३६]
८. भरत को रस की 'अभिव्यक्ति' मान्य है अतएव वे 'काव्यरसाभिव्यक्ति-हेतवः' कहते हैं और भावों को 'विभावानुभाव-व्यञ्जित' मानते हैं। स्पष्ट है कि विभावों और अनुभावों से भाव व्यञ्जित होते हैं और भावों से काव्यरस की अभिव्यक्ति होती है।[३७]

३. रस-भाव-सम्बन्ध :

"जो हृदय-संवादी काव्यार्थ होता है, उसका भाव ही रस का कारण है। वह रसरूप भाव सहृदय को इस प्रकार व्याप्त करता है, जैसे सूखे काठ को अग्नि व्याप्त करती है।"[३८] जो भाव रसरूप लेता है वह स्थायी भाव है जो विभावानुभाव-व्यभिचारि-भावों से परिवृत होकर 'रस' नाम पाता है।[३९]

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भरत मुनि भाव को रस का उपादान मानते हैं। काव्य में 'भाव' नाम भी तभी सार्थक है जब वह रस को भावित करे—सहृदय के हृदय को व्याप्त कर रसास्वाद कराने में समर्थ हो। इस विषय में नाट्यशास्त्रकार के सम्मुख तीन विकल्प थे—(१) रसों से भावों की निष्पत्ति होती है, (२) भावों से रसों की निष्पत्ति होती है और (३) परस्पर-सम्बन्ध से दोनों की निष्पत्ति होती है, अर्थात् रसों से भाव तथा भावों से रस निष्पन्न होते हैं। इनमें से द्वितीय विकल्प को ही मान्य ठहराया गया है, अर्थात् भावों से रसों की निष्पत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है, न कि रसों से भावों की। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है :

१. रसों को भावित करने से ही 'भाव' नाम दिया गया है।[४०] अतः भावों से ही रसनिष्पत्ति मान्य है।
२. जिस प्रकार बहु-विध नाना द्रव्यों से व्यञ्जन भावित (निष्पन्न) होता है उसी प्रकार अभिनयों (चेष्टाओं) के साथ भाव रस को भावित करते हैं।[४१]
३. भाव के बिना रस की कल्पना नहीं हो सकती (क्योंकि रसानुकूल चित्त-वृत्तियाँ ही काव्य में भाव संज्ञा पाती हैं) और न ही कोई भाव रसवर्जित हो सकता है, अतः अभिनय में (और काव्य में भी) दोनों की परस्पर निष्पत्ति मान्य है।[४२]

स्पष्ट है कि भाव ही रसनिष्पत्ति के कारण हैं परन्तु सभी भाव रसनिष्पत्ति की क्षमता नहीं रखते अतः काव्य में उन्हीं को भाव कहा जाता है जो रसात्मक हों। इस प्रकार भावों और रसों का अन्योन्याश्रय-जैसा सम्बन्ध है।

४. रस-स्वरूप :

रसों के विविध स्वरूपों का ध्यान तथा पूजन करने की दृष्टि से वर्णों और देवताओं का निर्धारण किया गया है। देवताओं की आकृति तथा वर्ण सर्वविदित होने तथा रसानुरूप होने से रसों की आकृति एवं वर्ण मान्य ठहराये गये हैं।[४३] उनकी तालिका इस प्रकार है :

रस	वर्ण	देवता
शृङ्गार	श्याम	विष्णु
हास्य	सित	प्रमथ (शिवगण)
करुण	कपोत	यम
रौद्र	रक्त	रुद्र

वीर	गौर	महेन्द्र
भयानक	कृष्ण	काल
बीभत्स	नील	महाकाल
अद्‌भुत	पीत	ब्रह्मा
शान्त★	स्वच्छ	बुद्ध (अथवा प्रबुद्ध जन)

इस सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण रसों के परस्पर कार्य-कारण-भाव का विवेचन है। भरत ने कारणभूत चार रस—शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स माने हैं जिनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक की उत्पत्ति बतायी है।[४४]

यहाँ कुछ आधुनिक विद्वान् ऐसा मानते हैं कि भरत-मत में मूल रस चार हैं, शेष चार उन्हीं से उत्पन्न होते हैं। परन्तु इस मान्यता पर प्रश्न उठता है कि भरत ने मूल रस की कोई चर्चा नहीं की है और न ही यह तर्कसंगत है कि सर्वत्र शेष रसों की निष्पत्ति तथाकथित मूल रसों से ही होती हो। उदाहरणार्थ :

अब सुराज बछवा मिली, करन लगे सब ग्रास।
गांधी बरधा से गए, लिनलिथ गो के पास॥

यहाँ हास्य-सृष्टि शृङ्गाराभास से ही हुई है, परन्तु

ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है।

यहाँ शृङ्गार का कोई योग न होने पर भी हास्यरस विद्यमान है। इसी प्रकार दशरथ-मरण पर होनेवाले 'करुण' के मूल में कैकेयी के रौद्ररसाभास का योग माना जा सकता है परन्तु अनेक स्वाभाविक मृत्युओं के अवसर पर रौद्र-योग के बिना ही करुण देखा जाता है :

सारी बीच नारी है, कि नारी बीच सारी है, कि
नारी ही, कि सारी है, कि सारी ही, कि नारी है।

यहाँ अद्‌भुतरस की निष्पत्ति का मूल कृष्णालम्बन वीररस को कहा जायगा, परन्तु

अचल अनन्त नील लहरों पर बैठे आसन मारे,
देव ! कौन तुम ? झरते तन से श्रम-कन-से ये तारे। (कामायनी)

यहाँ भक्ति के अतिरिक्त किसी वीर की कल्पना नहीं होती फिर भी अद्‌भुत रस विद्यमान है जिसका कारण स्वाभाविक विस्मय एवं जिज्ञासा ही है। श्मशान की भयानकता में बीभत्स का योग भले हो परन्तु गहन कानन तथा अन्धतमसाच्छन्न अमानिशा की भयानकता में बीभत्स का कोई योग मान्य नहीं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिए स्पष्ट कर दिया है कि शृङ्गारादि के अनन्तर हास्यादि की योजना नाटकों में करनी चाहिए क्योंकि उनसे रञ्जकत्व गुण बढ़ जाता है।[४५]

★ शान्तवादियों के पाठभेद के आधार पर अभिनवभारती के अनुसार।

भरतमुनि ने स्वयं भी इसी तथ्य को आगे स्पष्ट किया है कि श्रृंगार की अनुकृति हास्य है, रौद्र का कर्म करुण है, वीर का कर्म अद्भुत होता है और बीभत्स-दर्शन भयानक है।[४६] इससे हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की स्वतन्त्र रस रूप में सत्ता का परिहार नहीं होता, केवल स्थिति-विशेष में उनकी उत्पत्ति श्रृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स से भी होती है। अभिनवभारती में और भी आगे बढ़कर निर्णय दिया गया है कि श्रृंगारानुकृति का अर्थ श्रृंगाराभास है जो हास्यरूप लेता है—श्रृंगाराभास ही नहीं, रौद्राभास, वीराभास और बीभत्साभास भी हास्यरूप लेते हैं; यहाँ तक कि भयानक, करुण, अद्भुत और शान्त भी जहाँ आभास (अनुकृति) रूप होते हैं वहाँ हास्यरस की सृष्टि होती है। भरत ने श्रृंगाराभास-जनित हास्य को अधिक रञ्जक मानकर केवल उसी का उल्लेख किया है।

५. रसभेद :

रस कितने प्रकार के हैं, यह प्रश्न भी शान्तरस को लेकर विवादग्रस्त हो उठा है। नाट्य में आठ ही रस भरत ने गिनाए हैं जबकि अभिनवभारतीवाली प्रति में शान्तरस का भी नाट्यशास्त्र के मूल में ही विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस पाठ में शान्तरस को सभी भावों का अधिष्ठान या आधार बताया गया है। अन्य भाव चित्त-विकार हैं जबकि 'शान्त' उन सबकी प्रकृति है।[४७] अर्थात् शान्त अवस्था चित्त की मूल अवस्था है, उस आधार के बिना कोई भाव उठ ही नहीं सकता। इस प्रकार रसों की संख्या नौ है। भरत ने इन रसों का पूर्ण विवेचन किया है जो इस प्रकार है:—

(१) श्रृंगार उज्ज्वल-वेषात्मक है। उसका स्थायी भाव 'रति' है। उसके कारण (विभाव) उत्तम प्रकृति के तरुण स्त्री-पुरुष होते हैं। उसके सम्भोग और विप्रलम्भ दो भेद हैं। नेत्र-चातुरी, भ्रूचालन, कटाक्ष, ललित-मधुर अङ्ग-विलास तथा वाक्यादि अनुभाव होते हैं। संभोग में आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर शेष तीस व्यभिचारी भाव आते हैं। विप्रलम्भ में निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य और मरण आदि भाव होते हैं। वाणी, वेष और चेष्टा द्वारा व्यक्त होने से श्रृंगार तीन प्रकार का भी हो जाता है।

करुण रस के कारण (विभाव) शाप, क्लेश, इष्टजनवियोग, विभवनाश, वध, बन्धन होते हैं। औत्सुक्य और चिन्ता से उत्पन्न करुण विप्रलम्भ श्रृंगार से सम्बन्ध रखता है और सापेक्ष होता है (श्रृंगार में आत्यन्तिक वियोग नहीं होता जबकि करुण में होता है।)

(२) हास्य रस का स्थायी भाव हास है। विकृत वेष, विकृत अलंकार, धृष्टता, चंचलता, जादू, असत् प्रलाप, विकृताङ्ग दर्शन आदि विभाव हैं। ओष्ठ, नासा, कपोल का स्पन्दन, दृष्टि का विकास तथा संकोच, स्वेद, मुखराग आदि अनुभाव हैं। अवहित्थ, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि संचारी भाव हैं। इसके तीन प्रकार से भेद प्रस्तुत किये गये हैं—

(क) आलम्बन की दृष्टि से हास्य दो प्रकार का है—(१) आत्मस्थ हास्य,

जिसमें व्यक्ति स्वयं ही अपने पर हँसता है और (२) परस्थ हास्य, जिसमें दूसरे की विकृतियों को आलम्बन बनाया जाता है।

(ख) अनुभाव की दृष्टि से ये भेद हैं—स्मित, हसित दो उत्तम प्रकृति के लोगों में होते हैं। मध्यम जनों में विहसित और उपहसित देखे जाते हैं। अधम प्रकृतिवालों में अपहसित और अतिहसित पाये जाते हैं। (१) स्मितहास्य धीर हास्य है जिसमें कपोल थोड़ा खिल जाते हैं, कटाक्षों में सौष्ठव रहता है और दाँत नहीं दीखते। (२) हसित में मुख और नेत्र उत्फुल्ल होते हैं, कपोलों में विकास आता है और दाँत थोड़े-थोड़े लक्षित होते हैं। (३) विहसित में आँखें और कपोल सिकुड़ जाते, मधुर ध्वनि होती और मुख का रंग बदलता है। (४) उपहसित में नासिका फूल उठती, दृष्टि वक्र होती, अंग और सिर में सिकुड़न आती है। (५) अपहसित अनवसर-हास्य है जिसमें आँसू आ जाते तथा कंधे और सिर काँपने लगते हैं। (६) अतिहसित में आँसू आते, उद्धत विकृत स्वर निकलता और हाथों से पसलियों को दबाकर हँसा जाता है। ये भेद अभिनयोपयोगी हैं—अर्थात् पात्र की प्रकृति के अनुसार अभिनेता को अनुभावों का अभिनय करना होता है। अनुभूति से इनका सम्बन्ध नहीं।

(ग) रसिक कभी अंग-दर्शन से, कभी वेष-दर्शन से और कभी वाक्य-श्रवण-मात्र से हास्यानुभूति करता है अतः इसके तीन भेद होते हैं जो विभावकृत हैं।

(३) करुण रस का स्थायी भाव शोक है। शाप, क्लेश, इष्टजनवियोग, विभव-नाश, वध, बन्धन, विप्लव, उपघात, संकट आदि विभाव हैं। उसके अनुभाव अश्रुपात, रोदन, मुखशोष, विवर्णता, अंगशैथिल्य, निःश्वास, स्मृतिलोप आदि हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इसके स्थूलतः तीन भेद हैं—(१) धर्महानिकृत, (२) अर्थहानिकृत और शोककृत।

(४) रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। उसकी तीन प्रकृतियाँ (आश्रय) हैं—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्य तथा वह संग्रामहेतुक होता है जिसमें घर्षण, तिरस्कार-वचन, मिथ्यावचन, आघात, वाक्यपरुषता, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि विभाव होते हैं जिनसे वह उत्पन्न होता है। ताड़न, फाड़ना, पीड़न, छेदन, भेदन, प्रहार, आहरण, शस्त्रनिपात, सम्प्रहार, रुधिराकर्षण आदि कर्म होते हैं (जो आश्रयगत हैं)। और फिर लाल आँखें, भ्रुकुटी, दन्तोष्ठपीड़न, कपोलस्फुरण, हस्ताग्रपेषण आदि अनुभाव प्रयुक्त करने चाहिए। इसके भाव सम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद, वेपथु, रोमाञ्च, गद्गद आदि हैं।

इसमें कहा जाता है कि राक्षस दानवादि का रौद्र रस होता है। क्या औरों को नहीं होता? उत्तर में कहना है कि दूसरों को भी रौद्र रस होता है किन्तु अधिकार लिया जाता है—दानवादि स्वभाव से ही रौद्र होते हैं क्योंकि बहुत बाहुओं, मुखोंवाले, कम्पमान बिखरे पीले बालोंवाले, लाल फैले नेत्रोंवाले, भयानक काले रूपवाले वे होते हैं। वे जो कुछ भी स्वाभाविक चेष्टाएँ वाचिक, आङ्गिक आदि करते हैं वह सब उनका

रौद्र ही होता है। उनके द्वारा शृंगार भी प्रायः बलपूर्वक ही सेवन किया जाता है। उनका अनुकरण करनेवाले जो पुरुष होते हैं उनमें भी संग्राम, प्रहार आदि से जनित रौद्र रस मानना चाहिए।

अंगकृत, वेषकृत और वाक्यकृत—ये तीन प्रकार रौद्र के होते हैं।

(५) वीर रस की प्रकृति (आश्रय) उत्तम पुरुष होता है और उत्साह स्थायी भाव है। असंमोह, अध्यवसाय, न्याय, विनय, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि विभावों से उसकी उत्पत्ति होती है। स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग, विलक्षणता आदि अनुभावों से उसका अभिनय होता है। धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, उग्रता, स्मृति, रोमाञ्च आदि सहकारी भाव हैं। दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर ये तीन वीर रस के भेद हैं।

(६) भयानक रस का स्थायी भय है। विकृत-रव प्राणी का दर्शन, शृगाल, उल्लू आदि का त्रास तथा उद्वेग, शून्य गृह अथवा अरण्यगमन, स्वजन के वध अथवा बन्धन का श्रवण या दर्शन या वार्तालाप—ये उसके विभाव हैं। कर-चरण का कम्पन, नेत्रों की चपलता, रोमाञ्च, मुख-वैवर्ण्य, स्वरभेद आदि अनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, गद्-गद, रोमाञ्च, वेपथु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, जड़ता, त्रास, अपस्मार, मरण आदि सहकारी भाव हैं। व्याजवश, अपराधवश और विश्रामवश तीन प्रकार से भयानक देखा जाता है।

(७) बीभत्स का जुगुप्सा स्थायी है। अभव्य, अप्रिय, अनास्वाद्य और अनिष्ट वस्तुओं के दर्शन, श्रवण और कीर्तन आदि विभावों से वह उत्पन्न होता है। सर्वाङ्ग-संकोच, मुखकुञ्चन, उल्लेखन, थूकना, उद्वेजन आदि उसके अनुभाव हैं जिनके द्वारा अभिनय किया जाय। अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, मरण आदि उसके सहकारी भाव हैं।

बीभत्स के दो भेद हैं—(१) **उद्वेगज बीभत्स** विष्ठा, कृमि आदि विभावों से उत्पन्न होता है और (२) **क्षोभज बीभत्स** रुधिर आदि से जनित होता है।

(८) अद्भुत रस का स्थायी विस्मय है। दिव्यजन-दर्शन, अभीष्ट-प्राप्ति, उपवन तथा देवकुलादि का गमन, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल आदि का दर्शन, इस प्रकार के विभाव होते हैं। नेत्र-विस्तार, अनिमेष दर्शन, रोमाञ्च, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, हाहाकार, बाँहों का, मुख का, वस्त्र का तथा अङ्गुलि का परिचालन—इस प्रकार के अनुभाव होते हैं। स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, गद्गद, रोमाञ्च, आवेग, संभ्रम, जड़ता, प्रलय आदि सहकारी भाव हैं। इसके दो भेद हैं—(१) दिव्य-दर्शन-जनित और (२) आनन्दजनित।

(९) शान्तरस मोक्षप्रवर्तक है। इसका स्थायी भाव 'शम' है। तत्त्वज्ञान, वैराग्य, हृदयशुद्धि आदि विभाव हैं। यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासन, सर्व-प्राणि-दया आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सहकारी भाव हैं।

शान्तरस सभी रसों की आधारभूत प्रकृति है। शमदशा ही मन की सहज अवस्था है जिसमें कारण उपस्थित होने पर अन्य विकाररूप भाव प्रवृत्त होते और कारण न रहने पर उसी में पुनः विलीन हो जाते हैं।[४८]

आचार्य अभिनव ने नाट्यशास्त्र में शान्तरस का विवेचन प्राचीन हस्तलेखों से प्रमाणित बताया है और कहा है कि रसास्वादमात्र शान्तप्राय होता है, केवल 'शम' के अतिरिक्त वासना से उपहित होने और उसी वासना की मुख्य चर्वणा हो जाने से अन्य रसों के नाम हैं। उन्होंने सिद्धान्त शास्त्र का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है कि अन्य शास्त्रों में भरत मुनि से पहले ही नवरसों की व्यवस्था रही है।[४९]

भरत का भावविचार :

भरत ने नाट्य शास्त्र के पूरे सप्तम अध्याय में विस्तार से भावविवेचन किया है। इतना समञ्जस एवं सर्वाङ्गपूर्ण विवरण इस बात का परिचायक है कि भरत के पूर्व रस-भाव-विचार की बहुत पुरानी परम्परा रही होगी। भरत के समक्ष परिपुष्ट तथ्य विद्यमान थे, जिनका संग्रह करते हुए उन्होंने कतिपय भ्रान्तियों का निराकरण करना चाहा है और परिस्फुट तथ्य सामने रखे हैं।

'भाव' का शाब्दिक अर्थ :

भाव शब्द सामान्यतः 'होनेवाला' अर्थ रखता है—हृदय में होनेवाली वृत्तियों की भाव संज्ञा होती है। यही मनोवैज्ञानिक पक्ष है जिसे सामने रखकर भरत ने मनोवैज्ञानिक (वैयक्तिक) भाव से काव्यभाव की पृथक् व्याख्या की है। काव्य का भाव होता नहीं, करता है—अर्थात् 'भवतीति भावः' न होकर 'भावयति इति भावः' है। अर्थात् वह पैदा न होकर पैदा करता है—स्पष्ट है कि 'काव्यभाव' रसिक में प्रस्तुत चित्तवृत्ति का प्रकाशन करता है।[५०]

इस प्रकार भरत भाव की तीन स्थितियाँ मानते हुए जान पड़ते हैं—(१) प्राणी के हृदय में होनेवाले भाव जो मनोवैज्ञानिक विवेचना के विषय हैं। 'भवन्तीति भावाः।' (२) काव्यार्थ को भावित करनेवाले भाव जो काव्य का आस्वाद कराने में समर्थ होते हैं—'भावयन्तीति भावाः'।[५१] (३) तीसरी भावस्थिति रसिक में बनती है जब भावित करनेवाले काव्यभाव से रसिक का भाव जागरण पाता है—यह जागरित भाव भावित (वासित) होता है—कविभाव से रसिक-भाव की तदाकारता आ जाती है। इस दशा में 'भाव' व्याप्ति का कार्य करता है।[५२] यही तृतीय दशा 'स्थायी' हो तो रस रूप लेती और रसिक को सर्वाङ्ग-व्याप्त कर लेती है।[५३] इनमें से प्रथम लौकिक भाव है, द्वितीय काव्यभाव है और तृतीय रसात्मक भाव है।

भाव-सामग्री :

रस-सामग्री में विभाव, अनुभाव और भाव, तीन आते हैं जबकि भाव की सामग्री में केवल विभाव और अनुभाव का समावेश है।

(१) विभाव भाव का कारण है—भावों की प्रतीति का कारण विभाव ही हैं। अर्थात् भावात्मक चेष्टाएँ विभावों से ही विज्ञात या विशिष्ट रूप में प्रतीत होती हैं अतः विभाव संज्ञा दी गई है।[५४]

(२) अनुभाव वे हैं जिनसे अभिनेय वस्तु (भाव) को अनुभव-योग्य किया जाता है (अतः अनुभाव विशिष्ट चेष्टाओं का नाम है)।[५५]

इस प्रकार विभाव भाव के कारण हैं जबकि अनुभाव भाव की प्रतीति कराते हैं। दोनों कारण हैं। विभाव विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं और अनुभाव अनुभूति कराते हैं—यही दोनों में अन्तर है। (अभिनवभारती)

भावों के वर्ग तथा रसात्मक भाव :

भावों को तीन वर्गों—स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक—में विभक्त करते हुए स्थायी भावों की रसरूपता का विवेचन भरत मुनि ने इस प्रकार किया है—

"यदि काव्यार्थ में रहनेवाले, विभावों और अनुभावों से 'व्यञ्जित' उनचास भावों द्वारा सामान्य गुणयोग से (सब भावों का गुणात्मक योग समान है, क्योंकि वे सभी भाव रस के उपादान हैं) रस निष्पन्न होते हैं, तो स्थायी भाव ही कैसे रसत्व प्राप्त करते हैं ? उत्तर में वक्तव्य है—जैसे समान लक्षणोंवाले, एक जैसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग-वाले होकर भी पुरुष कुल-शील-विद्या-कर्म-शिल्प में विलक्षण होने से राजा होते हैं, उन्हीं पुरुषों में अन्य अल्पबुद्धि जन उन राजाओं के आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के आश्रित रहते हैं। बहुतों के आश्रय होने के कारण स्थायी भाव स्वामितुल्य हैं, और अन्य भाव गुण (गौण) रूप लेकर स्थायी का आश्रय लेते हैं। स्थायी भाव रस रूप लेते हैं। व्यभिचारी भाव परिजन तुल्य हैं।

"जैसे राजा बहुजनों के परिवार से युक्त होता है और वही नाम पाता है, अन्य महान् पुरुष भी नहीं, उसी प्रकार विभाव, अनुभावों और व्यभिचारी भावों से परि-वारित हुआ स्थायी भाव 'रस' नाम पाता है।"[५६]

उक्त विवेचना का सारांश इस प्रकार है—

१. भावों का कथन नहीं होता, अभिव्यञ्जन होता है।
२. भाव व्यङ्ग्य हैं, विभाव और अनुभाव व्यञ्जक हैं।
३. रस की निष्पत्ति में भाव उपादानतुल्य हैं।
४. विविध भावों का संघातरूप स्थायी भाव हैं।
५. स्थायी भाव ही 'रस' नाम पाते हैं।
६. 'रस' स्थायी भाव की निष्पत्ति-दशा है (इसी निष्पत्ति पर आचार्यों में मतभेद रहा है)।
७. स्थायी भाव अधिकगुणयोगी हैं जबकि अन्य भाव (व्यभिचारी तथा सात्त्विक) अल्प गुणवाले हैं।
८. भावों के साथ विभावों और अनुभावों का व्यंग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध है ?
९. क्या 'व्यञ्जना' शक्तिरूप में भरत को मान्य है ?
१०. क्या 'निष्पत्ति' भी व्यञ्जना-पर्याय है ?

रस-भाव-विषयक निष्कर्ष :

भरत के अनुसार काव्यगत भाव वे ही नहीं हैं जो लोक में होते हैं अतः आधुनिक मनोविज्ञान से उनकी संगति नहीं बैठती। काव्य-रस की अभिव्यक्ति की कारणभूत चित्तवृत्तियों को ही भरत ने 'भाव' शब्द से ग्रहण किया है। ये भाव रस के कारण इसलिए बनते हैं कि इनका स्रोत वह पदार्थ रहता है जो हृदय-स्पर्शी हो अतएव भाव में सहृदय को सर्वाङ्ग-व्याप्त करने की विलक्षण शक्ति रहती है।

योऽर्थो हृदय-संवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

—नाट्यशास्त्र, ७।७

भाव की परिभाषा करते हुए भरत ने मूल वृत्तिमात्र को 'भाव' नाम नहीं दिया है—काव्य में भाव उसे कहते हैं जो विभाव से लाया जाय और अनुभाव से बोधगम्य बने, कवि के अन्तःकरण में विद्यमान भाव को जो रसिक में भावित कर दे, फलतः उसमें रस-भावन की क्षमता हो।

विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्ग-सत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥

× × ×

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।
..............................भावयन्ति रसानिमान्॥
यस्मात् तस्मादमी भावाः..............................। —वही, १–३

इससे स्पष्ट है कि मनोविश्लेषण-शास्त्र की परिभाषाएँ काव्यभाव पर खरी नहीं उतरतीं। मनोविज्ञान के अनेक भाव काव्य-भाव की सीमा में नहीं आते और अनेक स्थायी भाव काव्यशास्त्र में रस-दृष्टि से मान्य हैं पर उनका सहज वृत्ति के रूप में मनोवैज्ञानिक प्रमाण न भी मिले तो भी हानि नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र का पृथक् मनोविज्ञान है और भाव-विवेचन में उसी का काव्यगत उपयोग है।

रस-रूप ग्रहण करनेवाले भावों को भरत ने स्थायी भाव माना है—अर्थात् रसानुभूति की कालव्याप्ति में जिस भाव की व्याप्ति रहती है, जो चित्तवृत्ति रसावस्था का आधार होती है, उसे काव्य में स्थायी भाव कहते हैं। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के आश्रित रहते हैं—

स्थायिन एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।....विभावानुभाव-व्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति।... स्थायिभाव रसत्वमाप्नुवन्ति।....विभावानुभाव-व्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रस-नाम लभते। —नाट्यशास्त्र, पृ० ३४९

भावों का पृथक्-पृथक् विवेचन भरत ने लौकिक आधार पर ही किया है परन्तु रससामग्री के रूप में भाव-लक्षण स्पष्ट ही अलग माना है। उनकी दृष्टि में रसात्मक भाव और सामान्य भाव दो वस्तुएँ हैं :

"लक्षणं खलु पूर्वमेवाभिहितमेषां रस-संज्ञकानाम्। इदानीं भाव-सामान्य-लक्षण-मभिधास्यामः।" —वही, पृ० ३५०

भावों का सामान्य (व्यावहारिक) स्वरूप जानकर ही काव्य-भाव को समझा जा सकता है अतएव भरत ने विस्तार के साथ पर्यालोचन किया है। भरत मूलतः यह मानकर चले हैं कि लौकिक भावों का काव्य में अलौकिक (रसात्मक) विनियोग होता है। उन्होंने कहा भी है :

एकोनपञ्चाशदिमे यथावद्
भावास्त्रयवस्था गदिता मयैह।
भूयश्च ये यत्र रसे नियोज्या–
स्तान् श्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्याः। —वही, ७।१०८

रसात्मक विनियोग-हेतु भरत ने विस्तृत विवरण दिया है।

स्पष्ट है कि भरत का काव्य-विवेचन अपने आपमें परिपूर्ण था फिर भी समय-भेद से चिन्तन में अन्तर आना स्वाभाविक था अतएव भामह से आनन्दवर्धन पर्यन्त काव्य-चिन्तन की विलक्षण धारा बही जो बराबर नये-से-नये मोड़ लेती चली गयी। आज तक के काव्य-चिन्तन के पथाश्चिह्नों को सामने रखकर ध्वनि-सिद्धान्त की पर्यालोचना करने हेतु भामह और वामन जैसे आचार्यों को ध्वनिमत की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

भामह का काव्यचिन्तन :

देखा जा चुका है कि भरत मुनि का काव्यचिन्तन अपने आपमें पूर्ण है। प्रायः चार-पाँच सौ वर्षों तक इस दिशा में ग्रन्थ रूप से कोई चिन्तन सामने नहीं आया। ईसा की छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने 'काव्यालङ्कार' द्वारा नवीन दिशा-निर्देश किया। ऐसा नहीं था कि काव्य-विषयक विचारों का प्रयास नहीं चलता रहा। भामह से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनसे पूर्व ही भरत के चिन्तन में नया अध्याय जोड़ा जाने लगा था। भामह के समक्ष दो प्रकार के काव्य-चिन्तन उपलब्ध थे जो अलंकारों को ही काव्य-सर्वस्व मान चले थे :—

(१) कुछ मनीषी अर्थालंकारों को ही काव्यालंकार मानकर चलते थे। उनके अनुसार अर्थ ही काव्य का निर्धारक तत्त्व था।[५८]

(२) अन्य आचार्य शब्दालंकारों को ही काव्यालंकार बताते हुए अर्थालङ्कारों को काव्य के बाह्य धर्म मानते थे। इस प्रकार शब्द को ही काव्य कहना चाहिए।[५९]

उक्त दोनों मत भामह की दृष्टि में एकाङ्गी हैं। वे दोनों को समन्वित रूप में लेकर शब्दालंकार और अर्थालंकार को काव्यालंकार मानते हैं[६०] तथा शब्द और अर्थ को काव्य की परिभाषा में परस्परापेक्ष मानकर स्थान देते हैं। भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यशरीर में शब्दार्थ-साहित्य को स्थान देकर शैलीतत्त्व तथा भाषा को काव्याङ्ग मानकर परिभाषा निर्धारित की :

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ —काव्यालङ्कार, १६

काव्य की सीमा में गद्य और पद्य को समान स्थान देने से नाटक, आख्यायिका आदि का समावेश किया जा सका । सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भामह ने शब्दार्थ-साहित्य को काव्य मानकर 'काव्य' और 'साहित्य' को पर्यायरूपता प्रदान की । शब्द और अर्थ की परस्परापेक्षता एवम् उनका सहभाव ही 'साहित्य' है और वही काव्य है ।

भामह और रस :

भामह ने रसों का विस्तृत विवेचन कहीं नहीं किया है, फिर भी वे महाकाव्य में सभी रसों का विविक्त प्रयोग अनिवार्य मानते हैं ।[६१] इससे स्पष्ट है कि वे भरत मुनि का रस-विवेचन पर्याप्त मानते हैं और पुनर्विवेचना अनपेक्षित समझते हैं । वे शब्द और अर्थ के सहास्तित्व को काव्य कहते हैं अतः रस भी उनकी दृष्टि में साहित्य का अलंकरण है—वे काव्यात्मा की खोज न करके काव्यशरीर पर बल देनेवाले आचार्य हैं अतः सभी रसों की स्पष्टता में वे 'रसवत्' अलङ्कार की प्रतिष्ठा करते हैं ।[६२] वे वाणी के अलङ्कार रूप में सभी तत्त्वों की सत्ता मानते हुए रस को भी पृथक् नहीं रख पाते । यह मान्यता तर्कसंगत न होने पर भी भामह की रस-विषयक उपेक्षा नहीं सूचित करती । वे स्पष्ट कहते हैं कि काव्य-रस-युक्त शास्त्र की उपयोगिता बढ़ जाती है जैसे मधु के साथ कटु औषध पेय हो जाता है ।[६३]

भामह और गुण :

भामह ने भरत के दस गुणों के स्थान पर केवल तीन गुण माने हैं—माधुर्य, ओजस् और प्रसाद । ओजस् में समस्त पदों के प्रयोग अधिक होते हैं जबकि माधुर्य में पदों की योजना प्रायः समासरहित तथा सुखश्रव्य रहती है । प्रसाद की योजना ऐसी होनी चाहिए कि विद्वान्, स्त्री और बाल सब समझ सकें । इस प्रकार भामह ने गुणों को शैली-पक्ष में परिगणित किया है । ध्वनिवादी आचार्य भी गुणों की तीन संख्या मानते हैं परन्तु उनका सम्बन्ध रस से जोड़ते हैं जिसे आगे देखा जायगा ।

भामह और रीति :

भामह ने 'वैदर्भ' और 'गौड' नामों से दो रीतियों का अभिधान किया है । उन्होंने बताया है कि इनका अर्थ प्रचलित है जिसे विद्वज्जन जानते हैं, बुद्धिहीनों को समझाना पड़ता है ।[६४]

भामह और कल्पना :

भामह के समक्ष कल्पना का महत्त्व विद्यमान था । उस समय के आचार्य शैली-वैचित्र्य को 'कल्पना' नाम से जानते थे । कल्पना-रहित तत्त्व 'प्रत्यक्ष' होता है जबकि 'जाति' आदि विलक्षण-शब्दार्थ-योजना 'कल्पना' कही जाती है । कल्पना ही 'समारोप' है जो कवि-कर्म में आवश्यक है, अन्यथा न कोई काव्य-वृत्ति बन पाती है और न कोई

विशेषता आ पाती है कि काव्य को सामान्य शब्द से पृथक् किया जा सके।[६५] 'कल्पना' शब्द भामह ने बौद्धों से लिया होगा।

भामह और वक्रोक्ति :

भामह अलङ्कार-विन्यास का प्राण वक्रोक्ति को मानते हैं—'नितान्त' आदि शब्दों के प्रयोग मात्र से कभी अतिशय-बोध नहीं होता और न काव्य में चारुता आती है, अतः 'वक्र' शब्दों तथा अर्थों से युक्त उक्ति ही अलंकार कही जा सकती है।[६६] आगे चलकर अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक मानते हुए कहा कि जहाँ भी अतिशयोक्ति का योग होता है वहाँ सर्वत्र वक्रोक्ति रहती है जो सामान्य अर्थ को काव्यगत विशिष्टता देकर भावनागम्य बनाती है अतः कवि को वक्रोक्ति का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार संभव नहीं है।[६७]

× × ×

भामह का उद्देश्य कवि-शिक्षा रहा है। उन्होंने अपने समय के परिवेश में काव्य-तत्त्वों का विवेचन करके सामयिक कवियों को चेतावनी-सी दी है। कविता एक प्रकार के प्रशिक्षण एवं अनुशासन की अपेक्षा रखती है जो कवि एवं सामाजिक दोनों के लिए अपेक्षित है। उन्होंने भरत आदि की परिनिष्ठित पद्धति में कुछ नया जोड़ने का प्रयास किया है। वे निश्चय ही 'अलङ्कार' नाम से काव्याङ्गों की विवेचना करते हैं, परन्तु गुण, रीति, वक्रोक्ति, रस जैसे तत्त्व अलङ्कार मात्र नहीं हैं, इस तथ्य का अपेक्षित विवेचन वे नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि उनपर अलंकारवादी होने का आरोप लगाया जाता है। परन्तु जो मनीषी गुणों और रीतियों को अलंकारों से पृथक् गिनता है और वक्रोक्ति को अलंकार का आधार मानता है तथा अलंकारों से पृथक् रसों की योजना को महाकाव्य में अनिवार्य बताता है, उसे अलंकारवादी कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

भामह स्पष्ट समझते हैं कि 'राम के समान श्याम गोरा है।' वाक्य में उपमा तो है, पर वह उपमा अलंकार नहीं है क्योंकि उसमें वक्रोक्ति अथवा कल्पना का योग नहीं है। यह मान्यता उन्हें आगामी काव्यचिन्तन का प्रेरक आचार्य बना देती है और हम देखते हैं कि रीतिमत एवं वक्रोक्तिमत भामह के आधार पर ही प्रतिष्ठित हुए हैं। अलंकारादि को चारुता देनेवाला चमत्कारी तत्त्व उनसे भिन्न है, यह खोज भामह ने भी की थी और वक्रोक्ति को सर्वोपरि ठहराया था, यद्यपि अतिशयोक्ति से अभिन्न मानने से वे उसे विस्तार के साथ विवेचित नहीं कर सके। वही खोज ध्वनिमत में नया रूप लेकर प्रकट हुई।

भामह के अनुसार 'अलङ्कार' शब्द का अर्थ :

भामह शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य मानकर चले हैं अतः शब्द और अर्थ के जो भी धर्म (तत्त्व) होंगे वे सभी उनके अनुसार काव्यालङ्कार हैं। काव्य-घटक शब्द और अर्थ में ही रस, गुण, रीति, अलंकार और दोषाभाव की सत्ता है अतः ये उनकी दृष्टि में काव्य के धर्म हैं, अतएव वे इन सभी को 'अलंकार' की व्याप्ति में लेते

हैं और 'अलंकार' शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ लेते हैं। 'अलंकार' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनेकार्थक है :—

(१) 'अलंकृतिः अलङ्कारः' की व्युत्पत्ति से वह सौन्दर्य-पर्याय बनता है जिसका प्रयोग वामन ने 'सौन्दर्यमलङ्कारः'—(काव्यालङ्कार, १।१।२) कहकर किया है।

(२) 'अलंक्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः' व्युत्पत्ति से वह प्रसाधन अथवा आभूषण का पर्याय बनता है। उपमा इत्यादि को अलङ्कार इसी आधार पर कहा जाता है। गुण और रीति से भी काव्यघटक शब्दार्थ की शोभा होती है अतः व्यापक अर्थ लेने पर इन्हें तथा दोषाभाव को भी 'अलङ्कार' की सीमा में लिया जा सकता है। भामह इसी आधार पर 'काव्यालङ्कार' के भीतर इनका परिगणन कर लेते हैं।

(३) 'अलंक्रियते यः स अलङ्कारः' की व्युत्पत्ति से अलंकार्य तत्त्व (रस आदि) भी 'अलङ्कार' कहा जा सकता है। भामह इसी आधार पर रस को भी अलंकार कहते हैं, यद्यपि 'रसवत्' नाम देकर उन्होंने विवाद खड़ा कर लिया है और उससे लगता है कि वे इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'अलङ्कार' शब्द को लेने की बात नहीं सोचते। फिर भी वे अलंकार की विस्तृत सीमा में सभी का ग्रहण इसी आधार पर कर सकते हैं।[६८]

स्पष्ट है कि भामह 'अलङ्कार' शब्द की व्याप्ति में शब्द और अर्थ को छोड़कर सभी तत्त्वों का ग्रहण कर लेते हैं यद्यपि आरम्भ में वैसी प्रतिज्ञा नहीं कर सके हैं। आचार्य वामन का काव्य-शब्दार्थ को लेकर यह कथन सन्देह का निराकरण कर देता है कि 'काव्य शब्द का मुख्य अर्थ गुणालंकार-संस्कृत शब्दार्थ-समुच्चय है जबकि गौणी लक्षणा से वह केवल शब्दार्थसमुच्चय का अर्थ देता है।[६९]

भामह के चिन्तन में एक प्रकार की अस्पष्टता है। वे भरत के समान सभी काव्य-तत्त्वों का विविक्त स्वरूप नहीं दे सके हैं, इसका कारण सामयिक चिन्तन रहा हो, ऐसा हो सकता है। वे एक ओर शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों को काव्यालंकार मानते हैं और दूसरी ओर अलंकार के ही परिवेश में सभी काव्यतत्त्वों का परिशीलन करते हैं। उनका अभिप्राय अवश्य ही तत्त्वों की पृथक् सत्ता मानने का रहा है परन्तु संक्षिप्त शैली में वह पार्थक्य स्पष्ट नहीं हो पाया है।

वामन का काव्य-चिन्तन :

भामह की चिन्तन-प्रणाली का विकास आचार्य वामन में हुआ है। भामह के समान ही वे शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य का लक्षण मानते हैं, अन्तर इतना ही है कि दोषाभाव, गुण और अलंकार को उसके लिए अपरिहार्य बताते हैं।[७०] आगे चलकर वामन का ही काव्य-लक्षण ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने भी स्वीकार किया है, इतना अन्तर अवश्य है कि मम्मट की दृष्टि में अलंकारों की स्फुटता काव्य में अपरिहार्य नहीं है।[७१] भामह भी वामन के समान ही सोचते थे, अतएव उन्होंने काव्य-विवेचना में उक्त सभी तत्त्वों को स्थान दिया है और यथाशक्य विवेचन भी किया है। वामन ने उनको काव्यलक्षण में परिगणित करके भामह को विस्तृत व्याख्या दे दी है।

वामन और रीति :

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य वामन ने रीति को काव्यविवेचना में सर्वोपरि स्थान दिया है—'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालंकार-सूत्र १।२।६) कहकर उन्होंने काव्यचिन्तन को नूतन दिशा दी है। उन्होंने विशिष्ट-पदरचना को रीति की परिभाषा बताते हुए गुणों को विशिष्टता-दायक तत्त्व के रूप में मान्य किया है।[७२] आधुनिक समीक्षकों ने उन्हें रीतिवादी आचार्य बताकर उनके मत को 'रीति सम्प्रदाय' नाम दिया है जो पूर्णतया संगत नहीं कहा जा सकता। वामन ने रीति को काव्यात्मा माना तो है परन्तु उसे कहीं भी काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व नहीं कहा है—उन्होंने उसे काव्य के शरीर में ही गिना है, उनके ग्रन्थ 'काव्यालंकार-सूत्र' का प्रथम अधिकरण 'शरीर' नाम से रखा गया है जो उनके मत को एकाङ्गी नहीं ठहराता। वे वस्तुतः काव्य-शरीर की ही व्याख्या को अपना लक्ष्य बनाते हैं क्योंकि अभिव्यक्ति ही रचना का सर्वस्व है। रचना का अन्तरङ्ग तत्त्व, जो कुछ भी हो, अभिव्यक्ति से ही स्वरूपलाभ करता है।

रीति-सम्प्रदाय नाम से फैली हुई भ्रान्ति का सबसे बड़ा कारण यह है कि ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा मान्य रीति को वामन-सम्मत रीति मान लिया जाता है। ध्वनिमत में रीति का अर्थ शब्द-योजना-विशेष है जबकि आचार्य वामन के अनुसार रीति गुणों (दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों) के अनुसार स्वरूप-लाभ करती है। उनके अनुसार—

१. वैदर्भी रीति में सभी गुणों का समावेश रहता है।[७३]
२. गौड़ी रीति में केवल ओजस् और कान्ति गुण रहते हैं।[७४]
३. पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का ही योग रहता है।[७५]

इससे स्पष्ट है, कि गुण ही रीतियों के निर्धारक तत्त्व हैं, कोरी शब्द-योजना को रीति न मानकर वामन शब्दार्थयोजना को रीति मानते हैं और शब्दार्थयोजना भी गुणाश्रय होनी चाहिए।

वामन और गुण :

वामन ने भामह के मान्य गुणों की तीन संख्या अमान्य की है। वे भरत के दस गुणों को अपनी विवेचना में स्थान देते और उन्हीं के आधार पर रीतियों की व्यवस्था देते हैं। वे गुणों को शब्दगुण और अर्थगुण में विभक्त करके बीस संख्या तक पहुँचाते हैं—भरत का प्रत्येक गुण शब्दगत और अर्थगत भेद ले लेता है।

वामन के अनुसार काव्य-शोभा के कारक तत्त्व गुण हैं, अलंकार शोभा-वर्धक होते हैं, शोभाकारक नहीं—अर्थात् गुणों की सत्ता से ही काव्य स्वरूप-लाभ करता है और अलंकार गुणजनित शोभा में अतिशय लाते हैं। गुण अलंकारों के बिना भी काव्य-सौन्दर्य का कारण है जबकि अलंकार गुणों के बिना वैसा नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में गुण काव्य के अनिवार्य आन्तर तत्त्व हैं जबकि अलंकार बाह्य तत्त्व हैं।[७६] यही बात कुछ अन्तर से ध्वनिमत में भी मान्य है, वहाँ रस को मुख्य अर्थ मानकर उसके शोभाकारक तत्त्वों को गुण और शोभावर्धक तत्त्वों को अलंकार कहा गया है। ध्वनिमत में रस की सत्ता में ही गुण की सत्ता है जबकि उक्ति-वैचित्र्य के रूप में अलंकार बिना रस

के भी हो सकते हैं।[७७] वामन के गुण-विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

(क) शब्दगुण :

१. ओजस्—प्रगाढ़ शब्द-बन्ध ही ओज है। बन्ध की प्रगाढ़ता से वामन अक्षर-विन्यास की परस्पर-संश्लिष्टता का अर्थ लेते हैं। उनके उदाहरण से स्पष्ट है कि वे वर्ण-मैत्री को ओजस् में अपेक्षित मानते हैं (३।१।४)।

बंदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥ (मानस, १।१)

यहाँ पहले दकार की, फिर रकार की और अन्त में सकार और रकार की मैत्री से गाढ़ता घटित हुई है।

२. प्रसाद—बन्ध की शिथिलता प्रसाद गुण है। यह ओजस् का उलटा है, फिर भी दोष नहीं है क्योंकि ओजस् का सहवर्ती प्रसाद ही यथापेक्ष आने पर गुण कहा जाता है। यदि ओजोहीन होकर आता है तो दोष ही ठहरता है। जिस प्रकार करुण रस में सुख और दुःख का मिला जुला रूप रहता है, उसी प्रकार उक्त दोनों गुण साथ-साथ आते हैं, तभी प्रसाद गुण होता है।[७८] इसकी तीन स्थितियाँ हैं। कहीं ओजःप्रसाद की शोभा समान रहती है, उदाहरणार्थ :—

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥ (मानस)

यहाँ पूर्वार्ध में रेफ और उत्तरार्ध में भकार के आधार पर ओजस् है परन्तु उस प्रगाढ़ता का निर्वाह पूरा न होने से उसी के समकक्ष शैथिल्यरूप प्रसाद भी आ गया है। कहीं ओजस् का उत्कर्ष रहता है—

कङ्कण क्वणित रणित नूपुर थे
हिलते थे छाती पर हार। (कामायनी)

यहाँ उत्तरार्ध में शिथिलता रूप प्रसाद है अवश्य परन्तु पूरी रचना पर ओजस् का उत्कर्ष छाया हुआ है। कुछ स्थल हैं जहाँ प्रसाद का उत्कर्ष रहता है—

बिजली - माला पहने फिर
मुसक्याता - सा आँगन में,
हाँ, कौन बरस जाता था
रसबूँद हमारे मन में ? (आँसू)

यहाँ ल्, र्, ब् का ओजस् दबा रहता है; पूरी रचना में प्रसाद का उत्कर्ष है।

३. श्लेष—पदबन्ध की वह मसृणता, जिसमें बहुत-से पद एक पद जैसे लगें, श्लेष है (३।१।११)।

जय देव - मन्दिर - देहली,
सम-भाव से जिसपर चढ़ी,
नृप-हेम-मुद्रा और रंक-वराटिका। (गुप्त)

४. समता—रीति में एकरसता बनी रहे, परिवर्तन न आए तो 'समता' गुण होता है (३।१।१२)।

भरिबौ है समुद्र कौ संबुक में
छिति कौ छिगुनी पै उछारिबौ है।
बँधिबौ है मृनाल सौं मत्त करी
जुही फूल सौं सैल बिदारिबौ है॥
गनिबौ है सितारन कौ कबि संकर
रेनु सौं तेल निकारिबौ है।
कबिता समुझाइबौ मूढ़न कौ
सबिता गहि भूमि पै डारिबौ है॥

यहाँ रचना में समता विद्यमान है—शैली अपरिवर्तित रही है। अनेकत्र यह निर्वाह नहीं हो पाता है तो इस गुण की कमी खटकती है—

कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि
श्याम घन-मण्डल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै विशाल केतु तारा है॥
शङ्कर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच भावती की माँग है कि
ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है॥

यहाँ प्रथम तीन चरणों की सानुप्रास शैली का चतुर्थ चरण में निर्वाह नहीं हो पाया है।

५. समाधि—रचना के मार्ग में आरोह से अवरोह अथवा अवरोह से आरोह का क्रम हो तो उसे समाधि गुण कहते हैं।

कङ्कन किङ्किनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥ (मानस)

यहाँ पूर्वार्ध में शैली का आनुप्रासिक आरोह है जो उत्तरार्ध में उतार पर आ गया है।

दीख मंथरा नगर बनावा।
मंजुल मंगल बाज बधावा॥ (मानस)

यहाँ अवरोह से आरोह का क्रम है।

आचार्य वामन ने ओजस् और प्रसाद के मिश्रण से समाधि का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि ओजःप्रसाद गुणों का मिश्रण रहता है जैसे एक प्रवाह में दो जलधाराएँ आ जुड़ी हों जबकि समाधि में आरोहावरोह का क्रम पृथक् रहता है (३।१।१३–२०)।

६. माधुर्य—पदों का पृथक् रहना माधुर्य है (३।१।२१)।

लागे बिटप मनोहर नाना।
बरन बरन बर बेलि बिताना ॥　　(मानस)

७. सुकुमारता—पद-बन्ध की अपरुषता सुकुमारता है (३।१।२२)।

ऊपर के प्रायः सभी उदाहरण इसी श्रेणी के हैं।

८. उदारता—पदबन्ध की विकटता, जिसमें पद नर्तन-सा करते हुए प्रतीत हों, उदारता गुण है (३।१।२३)।

रनित भृङ्ग घण्टावली झरित दान मधुनीर।
मन्द मन्द आवतु चल्यौ कुञ्जर कुञ्जसमीर ॥　　(बिहारी)

९. अर्थव्यक्ति—जो पदबन्ध अर्थ की स्पष्टता लिए हुए हो उसमें अर्थव्यक्ति गुण होता है (३।१।२४)।

ऊपर के सभी उदाहरण इसी वर्ग के हैं।

१०. कान्ति—पदबन्ध की उज्ज्वलता (नवीनता) ही कान्ति है जिसके बिना काव्यबन्ध में पुरानापन भासित होता है (३।१।२५)। उदाहरण ऊपरवाले ही हैं।

अन्त में वामन ने स्पष्ट कर दिया है कि ये गुण काव्यबन्धों में संवेदनीय रहते हैं अतः इनकी सत्ता पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। ये गुण काव्य के अनिवार्य धर्म हैं अतः इन्हें भ्रम नहीं कह सकते। केवल काव्य-पाठ करते समय ही प्रतीत हों, सो बात नहीं, काव्यमात्र में इनकी सत्ता रहती है और जब तक कवि सावधान होकर इनकी योजना नहीं करता तब तक इनकी प्रतीति नहीं होती (३।१।२६–२८)।

(ख) अर्थगुण :

उपर्युक्त नामवाले गुण ही दस अर्थगुण हैं।

१. ओजस्—अर्थ की प्रौढ़ता का नाम 'ओज' है (३।२।२)। इनके अनेक रूप हैं—(१) एक पद के लिए वाक्य का प्रयोग, (२) वाक्य के लिए पद का प्रयोग, (३) वाक्यार्थ का संक्षेपण अथवा (४) वाक्यार्थ का विस्तार अथवा व्यास, और (५) वाक्यार्थ का अभिप्रायपूर्ण होना।[७१] क्रमशः उदाहरण :

जयति कपिध्वज के कृपालु कवि,
वेद - पुराण - विधाता व्यास।
जिनके अमर - गिराश्रित हैं सब
धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास ॥　　(साकेत)

यहाँ 'कृष्णद्वैपायन' पद के लिए लम्बे वाक्य का प्रयोग है। यदि 'व्यास' शब्द न होता तो निश्चय ही यह गुण पूर्णता पा लेता।

निधरक बैठि कहइ कटु बानी।
सुनत कठिनता अति अकुलानी ॥　　(मानस)

यहाँ 'कठिन' विशेषणपद न देकर उसके लिए पूरे वाक्य का प्रयोग भी प्रथम कोटि के ओज का सुन्दर उदाहरण है ।

अन्तरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन । (मानस)

यहाँ 'अन्तरजामी' पद पूरे वाक्य का अर्थ देता है कि वे हृदय में व्याप्त होकर हृदय की बात जान लेते हैं, कहने की आवश्यकता नहीं होती ।

पलनि प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि
नहिं कपोल ठहराइँ ।
अँसुवा छ्वै छतियाँ छिनकु,
छनछनाइ छपि जाइँ ॥ (बिहारी)

यहाँ आसुओं की अनेक क्रियाओं का संक्षेप में वर्णन है ।

मैं मुरलीधर की मुरली लई, मेरी लई मुरलीधर माला ।
मैं मुरली अधरान धरी, हियरा पै धरी मुरलीधर माला ॥
मैं मुरलीधर की मुरली दई, मेरी दई मुरलीधर माला ।
मैं मुरली मुरलीधर की भई, मेरे भए मुरलीधर माला ॥

यहाँ स्पष्ट है कि संक्षिप्त तथ्य के विस्तार द्वारा काव्यसौन्दर्य लाया गया है ।

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ ॥ (मानस)

यहाँ 'मृगलोचनि' पद इस सीमा तक सार्थक है कि वन में पहुँचते ही सीता की चकित-विभ्रान्त अवस्था का सुन्दर चित्र दे देता है । 'धीर' और 'भीरु' विरोधी पद हैं—जब धीर जन वन की स्मृतिमात्र से भयाक्रान्त हो जाते हैं तब स्वभाव-भीरु की वन पहुँचने पर क्या दशा होगी ? इस प्रकार पदों के सार्थक प्रयोग में 'ओजस्' का उत्तम निर्वाह हुआ है ।

२. प्रसाद :

अर्थ की विमलता, अर्थात् उपादेयमात्र अर्थ का ग्रहण अर्थगत प्रसाद गुण है (३।२।३) :

सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसाननु आइ ॥ (मानस)

यहाँ उत्तरार्ध से रावण के कुल-संहार की प्रतीति होती है । पदों का अनुपयोगी प्रयोग होने पर इस गुण का अभाव देखा जा सकता है ।

३. श्लेष :

काव्यार्थ में क्रम, वैदग्ध्य, प्रसिद्ध वर्णन-रीति और उपपत्ति की एक साथ संघटना हो तो श्लेष गुण होता है (३।२।४)—

राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम रतनाकर हिए यों उमगत है ।

त्यों ही विरहातप प्रचंड सौं उमंडि अति
दीरघ उसास कौ झकोर यौं जगत है ॥
केवट बिचार कौ बिचारौ पचि हारि जात
होत गुन-पाल ततकाल नभगत है।
करत गभीर धीर लंगर न काज कछू
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है ॥ (उद्धवशतक)

यहाँ समुद्रीय ज्वार की परिस्थितियों तथा परिणामों का क्रमबद्ध वर्णन है, रूपकीय विदग्धता (कौटिल्य) का पूर्ण निर्वाह है, वर्णन-शैली अनुल्वण (प्रख्यात) है, और युक्तिपूर्ण घटना-चित्र उपस्थित किया गया है।

४. समता :

काव्यार्थ-वर्णन विषम न हो तो 'समता' गुण होता है; यहाँ अर्थगत समरसता अभिप्रेत है (३।२।५)। 'समता' का एक अर्थ सुगमता भी है—(३।२।६) :

कागद पर लिखत न बनत, कहत सनेस लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ मेरे हिय की बात॥ (बिहारी)

५. समाधि :

सावधान चित्त में जब कवि अर्थ का दर्शन करता है तो 'समाधि' नामक अर्थगुण होता है। वामन ने अर्थ के दो भेद माने हैं—

१. अयोनि अर्थ जो कवि के अवधान मात्र से जनित होता है, अर्थात् लोक-व्यवहार से बहिर्भूत कविकल्पित अर्थ ही इस वर्ग में आता है :—

जोर न अञ्जन देहु अली, अँगुरी कटि जैहैं कटाछ की कोरन।

२. अन्यच्छायाजनित दूसरा अर्थ है जिसमें प्रचलित अर्थ के साथ कवि-कल्पना का योग रहता है—

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के,
जल-बिन्दु-सदृश ठहरे कब,
उन कानों में दुख किनके। (आँसू)

यहाँ 'मुख-कमल' का रूपक प्रचलित है जिसकी छाया के साथ कानों को पुरइन और दुःख-वचन को जल-बिन्दु के रूपक में कवि ने लिया है।

समाधि के सन्दर्भ में वामन ने अर्थ के पुनः दो भेद किए हैं—(१) व्यक्त और (२) सूक्ष्म। व्यक्त अर्थ के दो भेद ऊपर देखे जा चुके हैं। सूक्ष्म अर्थ भी दो प्रकार का होता है—(१) भाव्य अर्थ जो भावनागम्य या संवेदनीय होता है। रस, भाव आदि इसी वर्ग के उदाहरण हैं। इस अर्थ की संवेदना अत्यन्त शीघ्र होती है। (यही कारण है कि ध्वनि-मत में इसे असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य कहा जाता है) :—

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ।। (मानस)

यहाँ रतिभाव काव्य का भाव्य अर्थ है । (२) दूसरा सूक्ष्म अर्थ 'वासनीय' होता है जो अतिशय एकाग्रता से जाना जाता है :—

घामु घरीक निवारिये कलित ललित अलि-पुंज ।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुञ्ज ।। (बिहारी)

यहाँ एकान्त संभोग-स्थानवाला अर्थ सूक्ष्म है जो काव्य-वासना-सम्पन्न सहृदय ही समझ पाते हैं ।

६. माधुर्य :

उक्ति की विचित्रता ही माधुर्य गुण है :—

तैं जो कहै सखि लोनो सरूपु
सो मो अँखियान में लोनी गई लगि । (द्विजदेव)

७. सुकुमारता :

परुष अर्थ को भी अपरुष बनाकर प्रस्तुत करना सुकुमारता है (३।२।१२) ।

कौसल्याँ नृपु दीख मलाना ।
रबिकुल रबि अथयउ जिय जाना ।। (मानस)

यहाँ मरण जैसे परुष तथ्य को रूपक में अपरुष बनाया गया है ।

८. उदारता :

ग्राम्य प्रसङ्ग में भी ग्राम्यता न आने पाए तो उदारता अर्थगुण होता है (३।२।१३)—

चेतना रङ्गीन ज्वाला-परिधि में सानन्द ,
मानती-सी दिव्य सुख कुछ गा रही है छन्द ,
अग्निकीट समान जलती है भरी उत्साह ,
और जीवित है, न छाले हैं, न उसमें दाह । (कामायनी)

यहाँ कामातिरेक की ग्राम्य-दशा को भी संयत एवं अग्राम्य रूप में उपस्थित किया गया है । इसके विपरीत देव के एक छन्द में ग्राम्यता ही स्पष्ट रही है—

बैरिन मेरी कितै गईं वे कर छोरि उन्हें किन देखन तूँ दे ।
यों कहि कै उचकी परजंक तें पूरि रहीं दृग बारि की बूँदें ।।
जोरन देति नहीं मुख सौं मुख छोरन देति न नीबी की फूँदें ।
देव सँकोचन सोचन सौं मृगलोचन हाथन लाल के मूँदे ।।

९. अर्थव्यक्ति :

वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को यथावत् स्फुट करना 'अर्थव्यक्ति' है (३।२।१४)—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से,

उतर रही है,
सन्ध्या-सुन्दरी, परी-सी
धीरे धीरे धीरे। (निराला)

१०. कान्ति :

शृङ्गारादि नव रसों में से कोई भी दीप्त रूप में विद्यमान हो तो वहाँ 'कान्ति' अर्थगुण होता है (३।२।१५)। वामन ने रसकाव्य का इसी गुण में समाहार कर लिया है। उदाहरण सुलभ हैं।

वामन और रस-सिद्धान्त :

आचार्य वामन ने अभिव्यक्ति-पक्ष पर ही काव्य-चिन्तन को आश्रय दिया है। वे यह मानकर चले हैं कि रीति अथवा शैलीतत्त्व को सँभाला जाय तो रस स्वतः आ जाता है। समाधि गुण में भाव्य या संवेदनीय पक्ष का समावेश करके ध्वनि-सम्मत रसादिध्वनि को और कान्ति गुण में समस्त रसों को मान्य कर लिया है। कान्ति के सन्दर्भ में वे रसपरिपाक का भी वर्णन करते हैं—वे कहते हैं कि काव्य का उत्तम परिपाक तभी होता है जब सभी गुण स्फुट रूप में निर्वाह पाते हैं। ऐसे परिपाक की तुलना आम्र-पाक से की जाती है। जिस काव्य में वर्ण्य वस्तु क्लिष्ट हो, पदयोजना गुणहीन हो उसमें रस यदि होगा भी तो वृन्ताक-पाक-तुल्य (भाँटे के समान) होगा और वह निन्द्य होगा। गुण-हीन रचना व्यर्थ ही ठहरती है।[८०]

इस प्रकार रस को काव्य का तत्त्व मानकर भी आचार्य वामन कवि-प्रयत्न पर बल देते हुए काव्य के प्रेषक तत्त्वों पर विचार करते हैं। रीति को काव्यात्मा मानकर विचारणीय बनाने का यही कारण रहा है। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ का समुचित-गुणोपपन्न-संगुम्फन ही काव्य है और सगुण रचना से अपेक्षित रस अथवा वस्तु स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

× × ×

भरत मुनि के काव्यविषयक विस्तृत चिन्तन की दो महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ भामह और वामन जैसे आचार्यों में मिलती हैं। शब्द और अर्थ को समुदित रूप में काव्य-परिभाषा माननेवाले ये दो आचार्य ध्वनि-पूर्व काव्य-विवेचन के स्रोत रहे हैं। भरत ने काव्य के अन्तरङ्ग पच्च पर रस-भाव-विवेचन द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला है जबकि अन्य ध्वनिपूर्व आचार्यों ने उसके अभिव्यक्तिपक्षीय स्वरूप की विस्तृत विवेचना की है। ध्यान से देखा जाय तो दण्डी आदि आचार्यों का चिन्तन इसी को विस्तार देता रहा है। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के साथ-साथ जो विचार पनपे वे समानान्तर दार्शनिक चिन्तन के रूप में आते गये, परन्तु ध्वनिमत में जो सर्वाङ्गपूर्ण काव्य-व्याख्या हुई, वह अनभिभूत बनी रही। इस तथ्य को सामने रखकर ध्वनि के आधारभूत तत्त्वों एवं स्रोतों पर आगामी अध्याय में विचार किया जा रहा है।

ध्वनि-सिद्धान्त के स्रोत एवम् आधार २

ध्वनि-सिद्धान्त काव्य-विवेचना के क्षेत्र में परिपूर्ण शास्त्र का रूप लेकर प्रकट हुआ। 'ध्वनि' शब्द इतना अधिक गूँज गया कि उसके विरोधी भी उन तथ्यों की उपेक्षा न कर सके जिनकी स्थापना आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में की थी और ध्वनिवादियों के लिए वह ग्रन्थ आकर-ग्रन्थ बन गया। काव्य-स्वरूप-विवेचन की एक ऐसी पद्धति ध्वनिमत द्वारा प्रस्तुत की गयी जिसकी समानता में कोई ठहर न पाया। इसे समझने के लिए 'ध्वनि' शब्द के अर्थ पर प्रथम विचार अपेक्षित है।

'ध्वनि' शब्द के विविध अर्थ :

ध्वनि-शब्द 'ध्वन शब्दे' धातु से 'इ' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। यही कारण है कि पतञ्जलि ने 'ध्वनि' को शब्दपर्याय बताया है—'प्रतीत-पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।' (महाभाष्य १)—अर्थात् अर्थबोधक ध्वनि ही लोक में 'शब्द' कहा जाता है। इससे 'ध्वनि' शब्द के दो पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं—(१) शब्द-पक्ष जो ध्वनन-कारक है और (२) अर्थ-पक्ष जो ध्वनित या प्रतीत होता है (व्याकरण मत में 'स्फोट' भी ध्वनित होता है जिसपर आगे विचार होगा)। यदि एक अर्थ दूसरे अर्थ का बोधक हो तो पूर्व अर्थ को भी ध्वनि कहा जा सकता है, और दूसरे को भी ध्वनि कहते हैं, अतः इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं तज्जनित अर्थ की विवेचना अपेक्षित है। 'ध्वनि' शब्द पाँच प्रकार से व्युत्पन्न कहा जा सकता है :

(क) ध्वननं ध्वनिः—भाववाच्य कृदन्त है। जब कहा जाता है कि अमुक वस्तु या अर्थ की 'ध्वनि' हुई तो इसी व्युत्पत्तिवाले ध्वनि शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

(ख) ध्वनति इति ध्वनिः—ध्वनित करनेवाला (व्यञ्जक) ध्वनि है। यह कर्तृवाच्य कृदन्त है। अर्थ को ध्वनित करनेवाला शब्द इसी व्युत्पत्ति से 'ध्वनि' कहा जाता है और एक अर्थ यदि दूसरे अर्थ का ध्वनन करता हो तो ध्वननकर्ता अर्थ भी इसी प्रकार 'ध्वनि' कहा जा सकता है।

(ग) ध्वन्यते यः स ध्वनिः—जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। यह कर्मवाच्य कृदन्त है। प्रतीयमान अर्थ के लिए इसका प्रयोग होता है। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' में इसी व्युत्पत्तिवाले ध्वनि शब्द का प्रयोग है।

(घ) ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। यह करण-वाच्य कृदन्त है। इस व्युत्पत्ति से शब्दशक्ति को 'ध्वनि' कह सकते हैं।

'ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।' कहकर भट्टनायक ने इस ओर संकेत किया है।

(ङ) ध्वन्यते यस्मिन् स ध्वनिः—जिसमें ध्वननकार्य सम्पन्न हो वह ध्वनि है। यह अधिकरण-वाच्य कृदन्त है। इस व्युत्पत्ति से उस काव्य को 'ध्वनि' कहते हैं जिसमें व्यंग्यार्थ की मुख्यता रहती है :

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः॥
यथार्थःशब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत - स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

ध्वन्यालोक, १।१३

आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ने तृतीय का अन्तर्भाव प्रथम में मानकर काव्य-व्यापार को ध्वनन क्रिया से अभिन्न मानते हुए 'ध्वनि' कहा है। चतुर्थ का अन्तर्भाव द्वितीय में करके काव्य को 'ध्वनि' नाम दिया है।[1] इस प्रकार वाचक पद, वाच्य अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार और व्याङ्ग्यप्रधान काव्य, सभी को 'ध्वनि' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वाच्य-वाचक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जना, सभी का समाहार काव्य में होता है, अतः वह भी ध्वनि है।[2]

ध्वनि-मत के विविध स्रोत :

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं, परन्तु उनके प्रेरणा-स्रोत अनेक रहे हैं। ध्वनिमत का समस्त वैभव 'व्यञ्जना' नामक शब्द-व्यापार पर अवलम्बित है और 'व्यञ्जना' तथा 'ध्वनि' शब्द व्याकरण के परिनिष्ठित शब्द हैं। शब्द तथा अर्थ से सम्पृक्त कोई विवेचना व्याकरण की उपेक्षा करके सम्भव नहीं है। इसके साथ ही काव्य-चिन्तन की पुरातन परम्परा भी इस सिद्धान्त का स्रोत रही है। जिन आचार्यों ने अलङ्कार-परक अथवा रीतिपरक विवेचना की है, वे भी इस मत के सङ्केत किसी न किसी रूप में देते हुए देखे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में ध्वनि के स्रोतों पर अपेक्षित विचार प्रसङ्गानुगत है।

(क) व्याकरण में ध्वनितत्त्व :

साहित्य में 'ध्वनि' के व्यवहार हेतु व्याकरण को ही स्रोत मानते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—'यह सिद्धान्त निर्मूल नहीं है, ध्वनि को काव्यात्मा मानने की उक्ति पूर्वाचार्यों से समर्थित है। वैयाकरण ही आदि मनीषी हैं, क्योंकि सभी विद्याओं का मूल व्याकरण है। व्याकरण के आचार्य श्रवण-ग्राह्य वर्णों के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार करते हैं। उन्हीं के मत का अनुसरण करनेवाले साहित्य-मनीषी वाच्यार्थ तथा वाचक-पद के मिश्ररूप शब्दमय काव्य को इसलिए 'ध्वनि' नाम देते हैं कि दोनों में 'व्यञ्जकत्व' की समानता है।'[3] प्रस्तुत मान्यता से स्पष्ट है कि ध्वनिमत की स्थापना का प्रमुख स्रोत व्याकरण-दर्शन रहा है। आचार्य मम्मट ने ऐसे ही सन्दर्भ में कहा है :—

'व्याकरण के मनीषियों ने उस शब्द के लिए 'ध्वनि' नाम का व्यवहार किया है जो प्रधान शब्द का व्यञ्जक रहता है—प्रधान शब्द स्फोट है, वह वैखरी शब्द के द्वारा व्यंग्य रहता है। उन्हीं के मत का अनुसरण करनेवाले काव्य-चिन्तक उस शब्दार्थयुगल को 'ध्वनि' संज्ञा देते हैं जो वाच्यार्थ को अभिभूत करके 'व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो।'[४]

उक्त उद्धरणों का निष्कर्ष इस प्रकार है :—

१. व्याकरण-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना 'व्यञ्जना' शब्द-शक्ति की है। वहाँ प्रत्येक श्रुति-ग्राह्य शब्द (वैखरी) व्यञ्जक होता है (वाचक तो स्फोट रहता है)। इस शब्द का व्यंग्य स्फोट शब्द रहता है जिससे अर्थ-बोध होता है। व्याकरण में शब्द के दो प्रकार हैं—विकृत शब्द और अविकृत शब्द। उच्चार्यमाण एवं श्रूयमाण शब्द विकृत शब्द है, क्योंकि उसमें लय के अन्तर से (काल-भेद से) संक्षेप अथवा विस्तार हो सकता है—एक ही शब्द द्रुत, मध्य तथा विलम्बित लयों में बोला जाय तो बराबर समय नहीं लेगा अतएव सभी वैखरी शब्द वैकृत कहे जाते हैं। अर्थबोध इस वैकृत शब्द से नहीं होता, प्रत्युत अविकृत शब्द या स्फोट से होता है जो उक्त लय-भेद से भिन्न नहीं होता—सदा एकरस रहनेवाला स्फोट आन्तर शब्द है।

वक्ता जब शब्द का उच्चारण करता है तब श्रूयमाण शब्द की उत्पत्ति के पहले ही एक नादरूप शब्द होता है जिसे मध्यमा-नाद कहते हैं। उसी से स्फोट व्यक्त होता है और उसके बाद वैकृत शब्द की आघातजन्य उत्पत्ति होती है। श्रोता का क्रम उलट जाता है—वह वैकृत शब्द को पहले सुनता है, तब मध्यमा-नाद उद्भूत होता और उससे स्फोट शब्द व्यक्त होता है, तदनन्तर अर्थबोध होता है। 'मध्यमा' श्रवण-योग्य न होकर भी कान बन्द करने पर सुना जानेवाला नाद-विशेष है।[५] इस प्रकार वैकृत शब्द परिवर्तन-शील तथा उत्पत्ति-विनाश-शील होता है, जबकि स्फोट शब्द अपरिवर्तित रहता हुआ अर्थ-बोध कराता है।[६]

२. उक्त तथ्य के आधार पर दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि बाह्य वैकृत ध्वनियाँ मूल शब्दरूप में श्रव्य न होकर शब्दज शब्द के रूप में श्रव्य होती हैं। मूल शब्द वह है जो आघातक्षण में संयोग-वियोग द्वारा उत्पन्न होता है परन्तु श्रोता उस मूल शब्द से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि-शृङ्खला में से किसी को सुनता है जो कान तक तरंगायित होकर आती है। वस्तुतः 'रणन' श्रुतिगम्य नहीं होता, असंख्य अनुरणनों में से कोई एक श्रव्य बनता है।[७]

३. इस प्रकार व्यञ्जना की एक शृङ्खला चलती है। शब्दज शब्द अनन्त होते हैं जो ध्वनितरंगों से श्रवण-ग्राह्य बनते हैं। उनमें का प्रत्येक शब्द मूल शब्द का व्यञ्जक है—मूल रणनरूप को व्यक्त करता है। वह रणनरूप वैखरी नाद भी मध्यमा-नाद का व्यञ्जक है। मध्यमा-नाद से स्फोटात्मक शब्द की व्यञ्जना होती है जिससे अर्थ-बोध होता है।[८]

४. उक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्याकरण-मत में 'व्यञ्जना' शब्द-शक्ति या शब्द-व्यापार है जो शब्दनिष्ठ है और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का वही निर्धारक तत्त्व है।

न्यायमत में व्यञ्जना शब्द-शक्ति अमान्य है जबकि नव्य व्याकरण-मत उसे सर्वोपरि स्थान देता है। काव्य-चिन्तन में 'व्यञ्जना' का यही आधार रहा है।

५. 'ध्वनि' शब्द भी किंचित् अर्थ-परिवर्तन के साथ व्याकरण से ही काव्यशास्त्र में ग्राह्य हुआ है। व्याकरण में वैखरी शब्द को इसलिए 'ध्वनि' कहा जाता है कि उसके द्वारा स्फोट शब्द की व्यञ्जना होती है। काव्यशास्त्र में व्यञ्जक शब्द अथवा अर्थ अथवा दोनों के समवाय को ध्वनि कहते हैं—व्याकरण का पारिभाषिक शब्द यहाँ अर्थ-विस्तार के साथ प्रयुक्त हुआ है।

६. काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' अनेक प्रकार से प्रयुक्त होता है—व्यञ्जना-व्यापार, व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द अथवा व्यञ्जक अर्थ, और व्यञ्जक शब्दार्थ युगल-रूप काव्य के लिए यहाँ 'ध्वनि' शब्द चलता है, जैसा कि देखा जा चुका है।

(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में व्यञ्जना का महत्त्व :

काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' और 'व्यञ्जना' की मान्यता का मुख्य स्रोत व्याकरण रहा है जिसमें श्रूयमाण वाणी से स्फोट की व्यञ्जना का विवरण है परन्तु भरत ने अनेक अवसरों पर शब्द और अर्थ द्वारा अर्थ-विशेष की व्यञ्जना की बात कही है।

१. भरत के अनुसार कवि को चाहिए कि काव्य-वाणी में यत्न करे क्योंकि विविध अभिनयों और नट की वेष-रचना तक से वाक्यार्थ की 'व्यञ्जना' होती है।[९]

२. उनका स्पष्ट कथन है कि अभिनयों से स्थायी भाव व्यञ्जित होते हैं। भोज्य पदार्थ में जो स्थान 'व्यञ्जन' का है वही भाव के सन्दर्भ में भावाभिनय का है क्योंकि वही रसव्यञ्जना करता है।[१०]

३. भरत का मत रहा है कि उनचास भाव काव्य-रस की अभिव्यक्ति के कारण हैं और वे भाव भी विभावों तथा अनुभावों से 'व्यञ्जित' होते हैं।[११]

यद्यपि नाट्यशास्त्र में शब्द-शक्तियों की विवेचना नहीं है तथापि उक्त तथ्यों की विद्वानों ने अपने-अपने दर्शनों के आधार पर व्याख्या की है, परन्तु यदि भरत के शब्दों को आदर दिया जाय तो 'व्यञ्जना' शक्ति उन्हें भी मान्य रही कही जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

४. जब भरत कहते है कि भाव रसों को 'भावित' करते हैं—भावों से रसों की भावना होती है[१२] तो उक्त विवरण के अनुसार 'भावित' और 'भावना' शब्दों को क्रमशः 'व्यञ्जित' और 'व्यञ्जना' का पर्याय मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

५. ऐसी स्थिति में 'रस-निष्पत्ति' से भी 'रस-व्यञ्जना' अथवा 'रसाभिव्यक्ति' अर्थ लेना अधिक समीचीन है।

(ग) भामह और व्यञ्जना :

भामह की प्रतिपादन-शैली ऐसी है कि उसमें शब्दशक्तिपरक व्याख्या का अवसर नहीं है—शब्दशक्तियों के आधार के बिना शब्द और अर्थ का स्वरूप ही नहीं बनता, इस अनिवार्यता के रहते हुए भी भामह केवल अलंकार-परक व्याख्या का दृष्टिकोण अपनाते

हैं। उनके सम्पूर्ण विवेचन में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध (शक्ति) का स्पष्ट उल्लेख नहीं आया है, केवल 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' में संकेत है। संभवतः वे मानते हैं कि काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में वैसा आवश्यक नहीं है—वह तो शब्दमात्र की वस्तु है अतः काव्य पर भी लागू होगी ही। ऐसी स्थिति में 'व्यञ्जना' को लेकर वे क्या चाहते थे, स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी कतिपय स्थापनाओं पर विचार करें तो 'व्यञ्जना' के संकेत खोजे जा सकते हैं।

१. भामह रसवत् अलंकार में श्रृंगारादि रस की स्पष्टता मानते हैं। यह 'रस' काव्यशब्दों से किस प्रकार प्रतीत होता है, उन्होंने नहीं बताया। भरत-परम्परा से जो अति-विवेचित तथ्य थे, उन्हें भामह विवेच्य नहीं बनाते अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रसविषयक सभी मान्यताएँ एवं स्थापनाएँ यथावत् उन्हें भी मान्य हैं। इस प्रकार 'व्यञ्जना' शब्दशक्ति उन्हें भी मान्य हो सकती थी, यदि वे शब्द-शक्तियों के आधार पर विवेचन करते।

२. देखा जा चुका है कि भामह कवि-कल्पना को बड़ा महत्त्व देते हैं। उन्होंने 'कल्पना' के स्वरूप का अपेक्षित विवेचन नहीं किया है। वे इतना अवश्य कहते हैं कि कल्पना के बिना न काव्य-वृत्ति हो सकती है और न सामान्य शब्द से काव्यशब्द में कोई विशेषता ही आ सकती है।[१३] इससे प्रमाणित होता है कि जिस जात्यादि-योजना को वे कल्पना मानकर चले हैं, जो बौद्धमत है, उससे अर्थ-व्यञ्जना ही होती है जो काव्य को विशेषरूपता प्रदान करती है।

३. भामह यह भी कहते हैं कि 'नितान्त' आदि विशेषणों या क्रियाविशेषणों से काव्यार्थ में कोई विशेषता या चमत्कार या चारुता संभव नहीं है, अतः ऐसी उक्ति ही अलंकार है जिसमें शब्द और अर्थ 'वक्र' हों। यही 'वक्रोक्ति' है जो 'अतिशयोक्ति' (अतिशायिनी उक्ति अथवा विशिष्ट उक्ति) के रूप में अलंकार का सर्वस्व है।[१४] प्रश्न उठता है कि यह वक्र उक्ति किस शब्दव्यापार से काव्य में चमत्कार ला पाती है? शब्द-शक्ति के आधार पर उत्तर खोजा जाय तो व्यञ्जना मान्य हो जाती है।

४. भामह ने अपनी विवेचना का माध्यम शब्दशक्तियों को न बनाकर भी 'व्यञ्जना' के संकेत दिये हैं। वे 'शुद्ध दृष्टान्त' अलंकार उसे कहते हैं जिसमें दृष्टान्तमात्र से साध्य और साधन की व्यञ्जना हो सकती हो—जैसे 'तू ही भरत है, दिलीप है, तू ही पुरुरवा है, तू ही प्रद्युम्न है और तू ही नरवाहन है।' इन उपमानों से विभिन्न नरेशों के गुणों की एकत्र व्यञ्जना हुई है। वे कहते हैं कि 'इनमें से यदि एक ही पद रखा जाय तो वर्ण्य व्यक्ति के वे समस्त गुण कैसे व्यञ्जित होंगे? अतएव विस्तार से भय करनेवाले कवि भी इन सभी का प्रयोग करते हैं।[१५]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भामह यदि शब्दशक्तियों के आधार पर विवेचना करते तो निश्चय ही 'व्यञ्जना' नामक काव्य-व्यापार का परिगणन करते।

५. शब्दशक्ति-विवेचन प्रस्तुत न करके भी अन्तिम अध्याय में भामह ने 'अभिधा' और 'व्यञ्जना' का नाम प्रकारान्तर से लिया है। उन्होंने न्याय-मत और स्फोटवाद की

अवतारणा करते हुए कहा है कि 'चाहे शब्द का अर्थ से सम्बन्ध नित्य हो अथवा नश्वर, इसके निश्चय में प्रमाणभूत सभी मनीषियों को नमस्कार है।'[१६] उन्होंने बौद्धों के अपोहवाद का इसी सन्दर्भ में खण्डन भी किया है।[१७] आगे चलकर कहा है कि 'शब्द क्या है, वाच्य क्या है ? यह मार्ग दुस्तर है।'[१८] तदनन्तर भामह ने कवियों को प्रायोगिक उपदेश देते हुए कहा है—'ऐसे शब्द कहने चाहिए जो परम्परागत, श्रुति-सुखद और अर्थ-युक्त हों, व्यञ्जन की चारुता, अन्य अलंकार को अतिशयित कर जाती है।[१९] यहाँ 'व्यञ्जन' शब्द 'श्रुतिसुख' विशेषण के साथ वर्णार्थक है और 'अर्थ' के साथ व्यञ्जना-शक्तिपरक है।

इस प्रकार भामह की दृष्टि में दो शब्दशक्तियाँ मान्य ठहरती हैं—अभिधा और व्यञ्जना। व्याकरणमत लक्षणा को अभिधा-विशेष ही मानता है। अतः भामह की मान्यता व्याकरणानुगत जान पड़ती है।

(घ) आचार्य वामन और व्यञ्जना :

रीति तथा गुण के आधार पर काव्य-समीक्षा-सिद्धान्त का प्रवर्तन करनेवाले आचार्य वामन जिस दृष्टिकोण से काव्य पर विचार करते हैं, उसमें शब्दशक्ति-विवेचन अनिवार्य नहीं रहा है। यों 'अभिधा' शब्दशक्ति तो सर्वमान्य है ही और उन्होंने 'लक्षणा' का प्रसङ्गवश प्रयोग किया है, जब उन्हें कहना पड़ा है कि प्रचलित लाक्षणिक शब्दों का ही प्रयोग काव्य में करना चाहिए और वह भी एकत्र अधिक लाक्षणिक प्रयोग न करना चाहिए। वे इस विषय में व्याकरण मत के समीप हैं कि लाक्षणिक शब्द रूढ़ होकर वाचकवत् हो जाता है, पर यदि अनेक रूढ़ लक्षणवाले शब्द आते हैं तो उनको 'वाचक' शब्द के समान कर पाना कठिन रहता है।[२०]

इससे इतना स्पष्ट है कि अभिधा (वाचकत्वशक्ति) और लक्षणा (अप्रसिद्ध शक्ति) वामन को पूर्णतया मान्य थीं। वे लाक्षणिक प्रयोग को 'उपचरित प्रयोग' कहते हैं जो परम्पराप्राप्त है, साथ ही अभिधेयार्थ की भी चर्चा करते हैं। इन दोनों—वाच्य और लक्ष्य—अर्थों के अतिरिक्त अर्थ की बात करते हुए भी वामन शब्दशक्तिमूलक नाम नहीं प्रस्तुत करते। उदाहरणार्थ—'पुष्प-माला' शब्द पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'माला' शब्द ही 'पुष्परचना' का वाचक है अतः सत्कवि द्वारा प्रयुक्त उक्त शब्द में 'पुष्प' पद उत्कृष्टता की प्रतीति कराता है। 'रत्नमाला' आदि में 'माला' शब्द लाक्षणिक (उपचरित) है।[२१] इस लम्बे प्रसङ्ग में 'प्रतीति' के लिए 'प्रतिपत्ति' का प्रयोग हुआ है।[२२] उक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

(१) 'माला' का अभिधा-बोध्य अर्थ 'पुष्परचना' विशेष है।

(२) उसका लक्ष्यार्थ लड़ी या श्रेणी है।

(३) 'पुष्पमाला' कहने पर काव्य में पुष्पों के 'उत्कर्ष' की 'प्रतिपत्ति' होती है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रतिपत्ति (प्रतीति या बोध) किस शब्द-शक्ति से होती है—पुष्प शब्द 'उत्कृष्ट पुष्प' जैसे अर्थ का वाचक नहीं, अतः उसकी शब्दशक्ति अभिधा नहीं हो सकती। क्या लक्षणा से उसकी 'प्रतिपत्ति' होती है ? यह भी संभव नहीं। जहाँ

'उत्कर्ष' अर्थ की प्रतिपत्ति न होती हो और कोई 'पुष्पमाला' कहता हो तो पुनरुक्ति दोष माना जाता है, अतः लक्षणा न होगी, क्योंकि लक्षणा के लिए आवश्यक है कि तात्पर्य-बोध में बाधा पड़े (जैसा कि आगे देखेंगे)। अतः स्पष्ट है कि यह 'प्रतिपत्ति' वामन के अनुसार वही वस्तु है जिसे ध्वनिमत में 'व्यञ्जना' कहा जाता है। नाम का अन्तर भले हो।

आचार्य वामन के काव्य-विवेचन का सार सामने रखकर इस विषय पर विचार किया जाय तो कतिपय तथ्यों पर प्रकाश पड़ सकता है।

१. वामन 'सौन्दर्य' को ही काव्य का प्रयोजन बताते हैं।
२. उस सौन्दर्य की निष्पत्ति के कारण तीन हैं :
(१) दोषाभाव, (२) गुण और (३) अलङ्कार। इनमें से गुणाभाव ही दोष हैं :
'गुण-विपर्ययात्मानो दोषाः' (२।१।१)। अतः केवल गुण और अलंकार ही 'सौन्दर्य' के कारण बचते हैं। अलंकार सौन्दर्य-पोषकमात्र हैं जबकि 'गुण' सौन्दर्य-कारक या शोभाजनक काव्यधर्म हैं, अतः काव्य का सर्वस्व गुण ही हैं, ऐसी वामन की मान्यता है।
३. दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों के योग से रीतियाँ बनती हैं।
४. काव्य चित्र है तो रीतियाँ उसकी रेखाएँ हैं।[२३] अतः जब वामन रीति को काव्यात्मा कहते हैं तब उनका अभिप्राय काव्य के उपदानभूत सर्वस्व से होता है, न कि जीव-चेतना जैसी आत्मा से उनका अभिप्राय है। यही कारण है कि रीति-निरूपण अध्याय का नाम वे 'शारीर अधिकरण' रखते हैं। उनका 'शारीर' शब्द आत्मार्थक भी हो सकता है।
५. भामह के समान ही वामन भी शब्दार्थ-साहित्य को काव्यरूप मानते हैं यदि वे शब्दार्थ गुणालङ्कारयुक्त हों। गुणालङ्कार ही काव्य-सौन्दर्य के कारण हैं। दूसरे शब्दों में, सुन्दर-शब्दार्थ ही काव्य हैं—सौन्दर्य काव्यगत धर्म है। काव्य का सौन्दर्य सहृदय को प्रभावित करके आनन्दित करता है, यह तथ्य वामन ने वैदर्भी-विवेचन के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है।[२४]
६. आचार्य वामन गुणों को सौन्दर्य का कारण और अलङ्कारों को पोषक कारण मानकर चलते हैं, अतः सौन्दर्य तत्त्व की व्यञ्जना का प्रश्न नहीं उठता।

इस प्रकार 'व्यञ्जना' शब्दशक्ति का योग वामन की विवेचना-प्रणाली में कहीं आवश्यक नहीं जान पड़ता, फिर भी गुण-विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने कुछ ऐसे तथ्य रखे हैं जो बिना 'व्यञ्जना' (या तत्सदृश) शब्दशक्ति के उपपन्न नहीं हो पाते। कुछ तथ्य द्रष्टव्य हैं :

१. ओजोगुण में अर्थ की प्रौढ़ता अपेक्षित रहती है और प्रौढ़ता का एक रूप यह भी है कि वाच्यार्थ 'साभिप्राय' हो—अर्थात् उससे अर्थान्तर का 'उपक्षेप' होता हो।[२५] जैसे :

तात जनक - तनया यह सोई।
धनुष - जग्य जेहिं कारन होई॥
सो सबु कारन जान बिधाता।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥ (मानस)

यहाँ शुभद अंगों के स्पन्दन और धनुर्याग जैसे अर्थों से इस अर्थान्तर का उपक्षेप होता है कि 'सीता राम की ही प्राप्या हैं।' यह उपक्षेप 'व्यञ्जना' नहीं तो और क्या है।

२. समाधिगुण की परिभाषा करते हुए वामन ने सूक्ष्म और स्फुट दो प्रकार के अर्थ माने हैं। सूक्ष्म अर्थ के पुनः दो भेद बताये हैं—भाव्य तथा वासनीय।[२६] भावक (रसिक) द्वारा अवधानपूर्वक ग्राह्य भावात्मक संवेदनीय तत्त्व (रसादि) ही भाव्य अर्थ है। यह 'भाव्य' 'व्यंग्य' का ही नामान्तर लगता है जो भाव के साथ भाव्य नाम लेकर आया है; अन्ततः काव्य से भाव की भावना ही होगी जो व्यञ्जना ही है। वासनीय अर्थ भी अभिधेय अथवा लाक्षणिक न होकर कुछ और ही होता है जो 'वस्तुरूप व्यंग्य' का नामान्तर है।

३. दीप्तरसत्व को कान्तिगुण कहा गया है—अर्थात् कान्तिगुण में रस दीप्त होता है। 'दीप्त' और 'व्यक्त' यहाँ पर्याय हैं और 'दीप्ति' व्यञ्जना ही है। 'जिस काव्य के शृंगारादि रस दीप्त रहते हैं वह दीप्त-रस है'[२७] कहकर वामन ने काव्य को दीपक (दूसरे शब्द में व्यञ्जक) माना है।

आचार्य वामन की विवशता यह है कि वे शब्द-शक्ति को अपने परिशीलन में स्थान नहीं देते, अन्यथा कोई-न-कोई काव्य शक्ति उन्हें मान्य करनी होती। उसे वे व्यञ्जना नाम न देते तो भी उसका परिवेश वैसा ही होता।

(ङ) **शब्द-शक्ति-परक चिन्तन :**

काव्य-सम्बन्धी तत्वचिन्तन के वृत्त में शब्द-शक्तियों का अप्रतिम स्थान है। शब्द और अर्थ के सहभाव से बननेवाला काव्य शब्दार्थ-विवेचन के बिना अपूर्ण है और शब्दार्थ-विवेचन शब्द और अर्थ के विविध सम्बन्धों के पर्यवेक्षण की अपेक्षा करता है। शब्द-तत्व और उससे सम्बद्ध अर्थतत्व जहाँ भी विवेच्य हुए हैं वहाँ शक्ति-विवेचन की अनिवार्यता रही है। कोई दर्शन तत्सम्बन्धी विवेचन का त्याग करके अपनी स्थापनाओं में समर्थ नहीं हुआ। भारत में व्याकरण के अतिरिक्त मीमांसा, न्याय, बौद्ध दर्शन और शैवागम में एतद्विषयक विवेचना को महत्व मिला है—मीमांसा दर्शन तो व्याकरण के ही समकक्ष होकर शक्ति-विवेचन करता है। पश्चिम में प्लेटो, अरस्तू, क्रोचे, हेगेल, रसेल जैसे विचारक किसी-न-किसी रूप में भाषा-विषयक विचार करते देखे जाते हैं। रसेल ने तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर गहन चिन्तन किया है। यह बात दूसरी है कि विविध दर्शनों की मूल मान्यताओं में अन्तर रहने से प्रस्तुत विचार में भी दृष्टिकोण का भेद रहा है। अपने यहाँ व्याकरण, मीमांसा, न्याय और बौद्ध दर्शन इस विवेचना में एकमत नहीं हैं।

१. बौद्ध दर्शन अभाव-परक अर्थ-चिन्तन प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार शब्द का अर्थ 'अपोह' होता है—अर्थात् शब्द द्वारा अन्य अर्थों का अपोहन (निराकरण) हो

जाता है जिससे एक शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। 'घट' कहने पर पट, मठ, अश्व आदि अर्थों का अपोहन होता है; तब जो एक अर्थ बचता है उसी को उस शब्द का अर्थ कहा जाता है।[२८] बौद्धमत में शब्द अन्य अर्थों के अपाकरण का कार्य पहले करता है और उसका वही मुख्य व्यवसाय है—अर्थबोध गौण रह जाता है। भामह ने इसपर प्रश्न उठाया है कि यदि 'गो' शब्द अन्यापोहन में ही परिसमाप्त हो गया तो अर्थबोध के लिए क्या दूसरी ध्वनि की अपेक्षा होगी ?[२९] महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि शब्द से अर्थ-बोध पहले ही हो जाता है, अन्यापोहन का कार्य तो बाद में स्वतः हो जाता है जो अर्थ-बोध का ही अंग है, न कि शब्द का अर्थ।[३०]

२. मीमांसा-दर्शन में अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शक्ति भी मान्य है—तात्पर्यवृत्ति, जो वाक्य के अर्थ (तात्पर्य) का बोध कराती है। इस आधार पर मीमांसकों के दो मत बन गये हैं :—

(अ) अभिहितान्वयवाद—इसके प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं। उनकी मान्यता है कि शब्द अपने अर्थ का अभिधायक (वाचक) है और अर्थ उससे अभिहित (उक्त, वाच्य) होता है। वाक्यगत पद अलग-अलग अपने अर्थों का अभिधान करते हैं और फिर उन 'अभिहित' अर्थों का 'अन्वय' होने से वाक्यार्थ बनता है—यही 'अभि-हितान्वय' अथवा अभिहित अर्थों के परस्पर सम्बन्ध की बोधिका वृत्ति 'तात्पर्य-वृत्ति' कही जाती है। इसको अन्वय-शक्ति या वाक्य-शक्ति भी कहा जा सकता है।[३१]

(आ) अन्विताभिधानवाद :—इसके प्रवर्तक आचार्य प्रभाकर हैं। उनके मत से वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है।[३२] वे यह मानकर नहीं चलते कि कोई पद पहले अनन्वित पदार्थ का बोध करा देता है और फिर उन अन्वय-हीन पदार्थों का अन्वय होता है। उनकी स्थापना है कि प्रत्येक पद अन्वित अर्थ का ही बोधक होता है—अर्थात् अन्वय सहित अर्थ ही पद का वाच्य होता है अतः अलग से अन्वय शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इसपर प्रश्न उठता है कि एक ही पद अनेक वाक्यों में अनेक पदों से अन्वय लेने की क्षमता रखता है, तो एक पद कितने अन्वय अपने में रख सकता है ? उदाहरणार्थ :—

घोड़ा चलता है।
घोड़ा बैठा है।

यहाँ प्रथम वाक्य में 'घोड़ा' चलने के साथ और दूसरे में बैठने के साथ अन्वित है। पहले से अन्वित अर्थ हो तो 'घोड़ा' पद का क्या अर्थ हो सकता है—वह चलने के साथ अन्वित होकर अर्थ दे तो बैठने के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता और बैठने के साथ अन्वित रहे तो चलना छूट जाता है। इसी प्रकार अनन्त पदों का अनन्त वाक्यों में अनन्त पदों के साथ अन्वय का प्रश्न खड़ा होगा।

इसपर प्राभाकरों का कहना है कि कोई पदार्थ चलने या बैठने जैसे विशिष्ट अर्थों के साथ अन्वित नहीं रहता—वह तो सामान्य के साथ अन्वित होकर पदार्थ बनता है, अभिहित होता है, फिर विशेष वाक्यों में जब विशेष सम्बन्ध आते हैं तो सामान्य सम्बन्ध अवच्छादित हो जाता है और उसका स्थान विशिष्ट सम्बन्ध ले लेता है।[३३]

ध्वनिमत में इन दोनों पर अपेक्षित विचार आता है जिसे यथावसर देखा जायगा। वस्तुतः प्रथम मत अधिक प्रचारित हुआ है और समझने में सरल भी है। इस प्रकार मीमांसा में तीन शब्दशक्तियों तक की स्वीकृति है—'व्यञ्जना' अमान्य है।

शब्द के अर्थ को लेकर भी उक्त दो मीमांसक मतभेद रखते हैं। कुमारिल मत में 'जाति' ही अर्थ है। उनका कहना है कि बालक जब 'गो' शब्द सुनता है तो उसे जाति का ही पहले बोध होता है जिससे वह सभी गायों को जान जाता है। गोव्यक्ति का बोध कार्य देखकर कर लेता है—अतः जाति ही पदार्थ (पद का अर्थ) है, व्यक्ति आक्षिप्त अर्थ है। इसके विपरीत प्रभाकरमत में 'व्यक्ति' ही पदार्थ है क्योंकि कार्य का वही आधार है—जाति (गोत्व आदि) तो व्यक्ति में स्वतः विद्यमान है।[३४] 'लक्षणा' शब्द-व्यापार मीमांसा में भी मान्य है।

३. न्यायमत में केवल दो शब्दवृत्तियाँ हैं—शक्ति (अभिधा) और लक्षणा। वहाँ 'व्यञ्जना' का कार्य अनुमान से होता हुआ माना गया है। न्याय में 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' को पद का अर्थ माना जाता है।[३५] व्यञ्जना और अनुमान के विषय में यथावसर विचार किया जायगा।

४. व्याकरणमत को समझने में उपर्युक्त मतान्तर सहायक हैं। वैयाकरण न तो बौद्धों का अपोहवाद मानता है, न मीमांसा के अभिहितान्वय अथवा अन्विताभिधान को आदर देता है, न ही न्यायमत के अनुमान को शब्द-क्षेत्र में उपयुक्त समझता है। 'जाति' अर्थ है या 'व्यक्ति' अथवा दोनों, इसपर भी उसका मत विविक्त है। साहित्यचिन्तन पर, विशेषतः ध्वनिमत पर व्याकरण का स्पष्ट प्रभाव रहा है, अतः इसे समझने का यथापेक्ष प्रयास किया जा रहा है।

(अ) वाक्य और वाक्यशक्ति—व्याकरण में वाक्य ही भाषा की अखण्ड इकाई है। वाक्य-घटक पद वर्णसाम्य के आधार पर कल्पित कर लिये जाते हैं—जिस प्रकार साम्य के आधार पर पदों में वर्णों की और सन्ध्यक्षरों में वर्णांशों की कल्पना की जाती है। उदाहरणार्थ, 'ए' इत्यादि के घटक 'अ+इ' कहे जाते हैं, 'घ' के घटक ग्+ह' माने जाते हैं फिर भी उन वर्णों की अखण्डता मान्य रहती है। गो, गगन आदि में सादृश्यवश गकारांश को वर्ण संज्ञा दी जाती है जबकि पद अखण्ड होकर ही सार्थक होते हैं। इसी प्रकार, अश्व चलता है; अश्व घास खाता है, गाय घास चरती है आदि में अश्व, घास आदि पदों की कल्पना उच्चारण-साम्य-वश कर ली जाती है, वस्तुतः वाक्य ही अखण्ड है।[३६]

इस प्रकार, मूल शब्दशक्ति भी वाक्यशक्ति ही है। पूरा वाक्य पूरे वाक्यार्थ का बोधक होता है और उस वाक्य में रहनेवाला वाक्यार्थ-सम्बन्ध ही शब्दशक्ति है।

व्याकरणमत में वाक्य-शब्द वाक्य-स्फोट का व्यञ्जक होता है, अतः 'व्यञ्जना' वृत्ति अत्यावश्यक है—वाक्यस्फोट ही शक्ति (अभिधा) का आश्रय रहता है। पहले शब्दों से स्फोट की व्यञ्जना होती है, फिर उससे अर्थ-बोध होता है। वैखरी-शब्द व्यञ्जक है और स्फोट-शब्द वाचक है।[३७] व्याकरण में लक्षणा को अप्रसिद्ध शक्ति (अप्रसिद्ध अभिधा) ही माना जाता है। 'सर्वे सर्वार्थ-वाचका' का सिद्धान्त व्याकरण में मान्य है—प्रसङ्गवश

किसी शब्द का कोई अर्थ हो सकता है। कोई अर्थ मुख्य और कोई गौण होता है। मुख्य या प्रचलित अर्थ को लेकर शब्दशक्ति 'अभिधा' कही जाती है जबकि गौण अर्थ की अपेक्षा में वही 'लक्षणा' कहलाती है। कोई शब्द किसी एक ही अर्थ में प्रतिबद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए जब 'मूर्ख' को 'बैल' कहा जाता है तो 'बैल' शब्द का 'पशु-जाति' अर्थ मुख्य है, 'मूर्ख' अर्थ गौण या अप्रसिद्ध है। प्रसङ्गभेद के कारण ही सभी अर्थ एक साथ बोधगम्य नहीं होते, अन्यथा विविध अर्थ एक शब्द से ही आते हैं।[३८]

इस दृष्टि से विचार करने पर व्याकरण में अभिधा और व्यञ्जना दो शक्तियाँ ही मान्य ठहरती हैं—लक्षणा अप्रसिद्ध अभिधा का ही नाम है अतः स्पष्टता हेतु उसे भी मान्य किया जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने लक्षणा को 'आरोपित शक्ति' कहा है[३९] काव्यशास्त्र में लक्षणा पर विस्तृत विचार है, फिर भी उसे अभिधा से नितान्त भिन्न नहीं माना जाता।

(आ) वाच्य अर्थ—देखा जा चुका है कि संज्ञा पदों के अर्थ को लेकर मीमांसकों में दो दल हो गये हैं—एक 'जाति' को और दूसरा व्यक्ति को अर्थ मानता है और न्याय में दोनों को पद का अर्थ माना जाता है। व्याकरण-मत इस तथ्य पर सर्वथा मौलिक विचार करता है। एक संज्ञा-पद से जितना कुछ बोधगम्य होता है, वह सब उस पद का ही अर्थ है। उदाहरणार्थ 'गाय दूध देती है।' वाक्य में 'गाय' शब्द से गोत्व जाति, गो-व्यक्ति, स्त्रीलिङ्ग, एकत्वसंख्या, कर्तृकारक और स्वतः गो-शब्द इन छह अर्थों का बोध होता है अतः सभी उसके अर्थ हैं। उक्त उदाहरण में 'गाय' शब्द जाति-प्रधान है जो गायों के लिए आया है, परन्तु 'गाय बैठी है' वाक्य में व्यक्ति-प्रधान प्रयोग है।

'राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।' (मानस)

में 'राम' शब्द-प्रधान अर्थ देता है—शब्दोच्चारण ही प्रधान अर्थ है।[४०]

यहाँ द्रष्टव्य है कि लिङ्ग, वचन, कारक, शब्द आदि वाच्यों से भी व्यंग्य अर्थ आता है अतः वाच्यरूप में इन सबका काव्यगत उपयोग होता है जिसपर आगे विचार किया जायगा।

उक्त प्रकार से नाम-पद के छह अर्थ हैं जिनमें से प्रथम को 'स्वार्थ' कहते हैं। शब्द-प्रवृत्ति की दृष्टि से यह स्वार्थ चार प्रकार का हो जाता है—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (व्यक्ति) तथा इस आधार पर कुछ शब्द जातिवाचक, कुछ गुणवाचक, कोई क्रियावाचक और अन्य व्यक्तिवाचक होते हैं। इन्हीं चार को 'प्रवृत्तिनिमित्त' भी कहते हैं।

× × ×

संक्षेप में ऊपर शब्दशक्तिविषयक मतों पर विचार हुआ है। उससे यह स्पष्ट है कि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नाम की शब्दवृत्तियाँ व्याकरण में किसी-न-किसी प्रकार मान्य रही हैं। काव्य-चिन्तन में ध्वनिमत इनका विवेचन आवश्यक ठहराता है। ध्वनिमत व्यङ्ग्य अर्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चलता है अतः व्यञ्जना पर विस्तृत विचार किया जाता है और व्यञ्जना को समझने हेतु शेष दो शब्द-व्यापारों का

विचार आवश्यक हो जाता है । इस दृष्टि से आगे शब्दशक्तियों पर विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है ।

शब्दशक्तियों का स्वरूप :

प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय-वस्तु से इन्द्रिय-संयोग अनिवार्य रहता है, अनुमान में उस वस्तु के साथ इन्द्रिय-योग होता है जिसके द्वारा वस्तु अनुमित होती है परन्तु शब्द-बोध की प्रणाली उन दोनों से सर्वथा भिन्न है । यहाँ इन्द्रिय (श्रवण) का सम्बन्ध केवल शब्द से बनता है और फिर आन्तरिक रूप से अर्थबोध होता है । शब्दजनित अर्थबोध सर्वथा बौद्ध प्रत्यय है, आवश्यक नहीं कि उस शब्द की बाह्य उपस्थिति भी हो । गाय के विषय में शब्द से कुछ भी कहा जाय तो अर्थ-ज्ञान में गाय का प्रत्यक्ष या अनुमान आवश्यक नहीं होता, इसीलिए सभी दर्शनों में शब्द-प्रमाण की पृथक् गणना की गयी है । कभी-कभी ऐसी वस्तु का भी शब्दबोध (या बौद्ध प्रत्यय) हो ही जाता है जिनकी सत्ता जगत् में नहीं होती—उदाहरणार्थ, वन्ध्यापुत्र, शश-शृङ्ग जैसे पदार्थ बाह्य जगत् में असम्भव हैं फिर भी शब्द में उनकी सत्ता होती है और बुद्धि में कुछ-न-कुछ बिम्ब बनता ही है ।[४१] ऐसे प्रत्ययों को योगशास्त्र में 'विकल्प' कहा गया है ।[४२] शब्दतत्त्व की यह विचित्रता निश्चय ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर अवलम्बित है, वह सम्बन्ध निश्चित सत्तावाले अर्थ से तो होता ही है, कल्पित या भ्रान्त अर्थ से भी हो सकता है जिसका बौद्ध अस्तित्वमात्र हो ।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शब्द-व्यापार, शब्दवृत्ति और शब्दशक्ति नामों से जाना जाता है । शब्द स्वयं मानवीय व्यापार है और अर्थबोध में शब्द-व्यापार काम करता है—शब्द ही तो कर्णकुहर से होकर मानस प्रत्यक्ष लेता है और फिर अर्थज्ञान का व्यापार करता है । जब शब्द अर्थ का बोधक है तो उस बोध के व्यापार का वही आश्रय (कर्ता) है । व्यापार और वृत्ति पर्यायशब्द हैं । इस प्रकार शब्द, अर्थ और व्यापार यहाँ परस्परसापेक्ष त्रिक है और अनादिकाल से मनुष्य की सम्पत्ति बना हुआ है ।[४३]

शब्दव्यापार ऐसा तत्त्व है जो 'अर्थ' को विविधता प्रदान करता है । उदाहरणार्थ :

१. बालक तेजस्वी है ।

२. बालक घर का दीपक है ।

इन दो वाक्यों में से प्रथम द्वारा जिस अर्थ को 'तेजस्वी' शब्द से अभिधेय रूप में लाया गया है, वही अर्थ दूसरे वाक्य में 'दीपक' शब्द से लक्ष्य बना है जिसके साथ 'अतिशय तेजस्वी' का व्यङ्ग्य अर्थ भी जुड़ता और चमत्कार लाता है । एक ही अर्थ की शक्ति-जनित विविधता ही काव्य के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है ।

शब्द-व्यापार से शब्द में भी अन्तर आता है :

१. घर में दीपक जलता है ।

२. बालक घर का दीपक है ।

प्रथम वाक्य में दीपक स्वार्थ का वाचकमात्र है, जबकि द्वितीय में वही शब्द लाक्षणिक है । इस प्रकार शब्द और अर्थ के व्यापारजनित भेदों को समझना चाहिए ।

शब्दशक्ति	शब्द	अर्थ
अभिधा	वाचक, अभिधायक	वाच्य, शक्य, अभिधेय
लक्षणा	लाक्षणिक	लक्ष्य
व्यञ्जना	व्यञ्जक	व्यङ्ग्य

उदाहरणों से स्पष्ट है कि एक ही शब्द सन्दर्भ-भेद से वाचक, लाक्षणिक या व्यञ्जक हो सकता है और इसी प्रकार एक ही अर्थ वाच्य, लक्ष्य या व्यङ्ग्य रूप ग्रहण करता है। यह प्रयोगकर्ता पर आश्रित है। उदाहरणार्थ :

१. अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा-सी देह। (बिहारी)
२. यह बिनसत नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु। (बिहारी)

यहाँ प्रथम दोहे में 'नग' वाचक है जबकि द्वितीय में लाक्षणिक है जिससे अर्थ भी क्रमशः वाच्य एवं लक्ष्य हैं। इसी प्रकार

१. तब सिवँ तीसर नयनु उघारा। (मानस)
२. सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा। (मानस)

यहाँ प्रथम 'शिव' शब्द वाचकमात्र है अतः अर्थ देकर समाप्त हो जाता है, जबकि द्वितीय 'शिव' शब्द व्यञ्जक है जिससे व्यञ्जना होती है कि 'कल्याण (शिव) का विरोध तो अकल्याण-कारक होता ही है।'

जिस प्रकार कोई धनुर्धर अल्पशक्तिवाला होता है तो उसका वाण लक्ष्य तक पहुँचकर केवल वर्म का छेदन करता है, दूसरा धनुर्धर अधिक शक्ति से वाण मारता और वर्मच्छेद के साथ मर्मविदारण भी कर देता है। तीसरा और शक्ति लगाता है तो उक्त दोनों क्रियाओं के साथ प्राणहरण भी कर लेता है। इसी प्रकार शब्द-प्रयोक्ता के शब्द की शक्ति उत्कर्ष-पूर्ण अर्थ देने में समर्थ होती है तो चमत्कार लाती है।

इस प्रकार अर्थबोधक शब्दव्यापार अथवा शब्दार्थ-सम्बन्ध को शब्दशक्ति कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। अभिधा को शक्ति या वाचकत्व भी कहते हैं। लक्षणा को उपचार, भक्ति या अप्रसिद्ध शक्ति भी कहा जाता है। व्यञ्जना, व्यञ्जकत्व, द्योतन, प्रतीति, गमकत्व, द्योतकत्व आदि पर्याय हैं। इन शक्तियों के भेदोपभेदों तथा उनके स्वरूपों पर पृथक्-पृथक् विचार प्रसङ्ग-प्राप्त है।

अभिधा :

अभिधा की परिभाषा करने के पूर्व अर्थबोध की प्रणाली पर ध्यान देना अपेक्षित है। सामान्यतः शब्द और अर्थ में तादात्म्य-प्रत्यय हो चलता है—अर्थात् गोशब्द और गोपदार्थ में एक प्रकार का अभेद स्थापित हो जाता है। इस आरोपित अभेद को 'संकेत' कहते हैं।[४४] उदाहरणार्थ—बार-बार 'गाय लाओ, गाय बाँधो, गाय दुहो' आदि सुनकर और कार्य करते देखकर बालक 'गाय' शब्द और 'गाय' अर्थ में एकत्व स्थापित कर लेता

है; यही संकेत-ज्ञान शब्द-बोध का कारण है। संकेत ही शब्द और अर्थ के उस सम्बन्ध का नियामक है जिससे शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्य कहते हैं। अर्थात् संकेतित अर्थ को 'वाच्य' और उसके बोधक पद को 'वाचक' नाम दिया जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार शब्द के साथ एक अनादि इच्छा-शक्ति जुड़ी रहती है—'अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो' यही इच्छा संकेत है। पदज्ञान के साथ संकेत-ज्ञान होने पर ही अर्थ-ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में, संकेतित अर्थ ही वाच्य है, संकेतित अर्थ का बोधक शब्द वाचक है और संकेतित अर्थ का बोधक शब्द-व्यापार 'अभिधा' है।

इस प्रकार संकेतित अर्थ का बोधक व्यापार 'अभिधा' शक्ति है। संकेतित अर्थ ही मुख्य अर्थ है, इसी को प्रसिद्ध अर्थ भी कहा जाता है। यही शब्द का अभिधा नामक व्यापार मुख्य व्यापार है।[४५] अभिधा के चार भेद हैं :—

१. रूढ़ि :—प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग से रहित शब्द जो अर्थ देता है उस अर्थ और उस शब्द को रूढ़ कहते हैं और उनके सम्बन्ध रूप में आनेवाली अभिधा 'रूढ़ि' कही जाती है। उदाहरणार्थ, कुन्जी, ताला, पोथी, कलम आदि रूढ़ शब्द हैं जो रूढ़ अर्थ देते हैं और वहाँ अभिधा 'रूढ़ि' होती है। लड़ाकू, पिछलग्गू, धुरजिया, पण्डिताऊ आदि में शब्द के अवयव अर्थ देते हैं अतः यहाँ रूढ़ि शक्ति नहीं है। काव्य में इस शक्ति का उपयोग तभी चमत्कारी होता है जब लक्षणा के माध्यम से किसी विशेष अर्थ की व्यञ्जना होती है।

सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।
जौ हौं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥ (मानस)

यहाँ 'राम' शब्द रूढ़ है जिसके 'प्रसिद्ध वीर पुरुष' अर्थ में लक्षणा है और 'वीरता का अतिशय' व्यंग्य है। केवल रूढ़ अर्थ काव्योपयोगी नहीं होता, प्रसंग में उसे लाया जाना अनिवार्य होता है, यह दूसरी बात है।

२. योगशक्ति—जहाँ शब्द के अवयवों की सार्थकता से पूरा शब्द अर्थ देता है वहाँ 'अभिधा' योगशक्ति कही जाती है। ऐसे शब्द और अर्थ 'यौगिक' कहलाते हैं। पालक, राजकुमार, राजभवन, ग्रामीण आदि यौगिक हैं जिनमें योगशक्ति की सत्ता है। काव्य में इसकी चमत्कारी उपादेयता तभी होती है जब उससे अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती हो :

राजकुमारि सिखावनु सुनहू। (मानस)

यहाँ 'राजकुमारी' पद यौगिक है जिससे आभिजात्य के साथ मर्यादापूर्ण आचरण, उत्तम बुद्धि आदि की व्यञ्जना होती है।

३. योगरूढ़ि :—इसमें योगशक्ति और रूढ़ि दोनों का समावेश देखा जाता है। शब्द अपनी रचना में यौगिक होकर भी अर्थ की दृष्टि से रूढ़ हो जाता है। वहाँ 'रूढ़ि' द्वारा 'योग शक्ति' पर इस प्रकार आवरण पड़ जाता है कि रूढ़ अर्थ ही वाच्य बन जाता है। रूढ़ि एक प्रकार की लोकप्रसिद्धि है। 'पङ्कज' शब्द ऐसा ही योगरूढ़ शब्द है जो सभी पदार्थों का, जो कीचड़ में पैदा हों, बोध नहीं कराता प्रत्युत केवल कमल का बोध

कराता है। 'सरोज' भी ऐसा ही शब्द है। ऐसे शब्द मूलतः यौगिक होकर प्रयोगों में रूढ़ ही रहते हैं।

'रूढ़िर्योगापहारिणी' के सिद्धान्त के अनुसार योगरूढ़ शब्दों में रूढ़ि द्वारा योग शक्ति नियन्त्रित हो जाती है। परन्तु कवि-प्रयोगों में कभी-कभी रूढ़ि का आवरण क्षीण हो जाता है तो यौगिक अर्थ का भी चमत्कार दृश्य हो उठता है, उस दशा में काव्योपयोगी अर्थ (यौगिक अर्थ) की मधुर व्यञ्जना होती है :

जड़ता का पङ्कज बना दिया तुमने मानवता का सरोज। (पन्त)

यहाँ रूढ़ रूप में 'पङ्कज' और 'सरोज' पर्याय हैं, परन्तु कवि ने यौगिक अर्थ की व्यञ्जना द्वारा पङ्क की मलिनता और सर की निर्मलता का अर्थ व्यक्त किया है।

४. यौगिक रूढ़ि—इस शक्ति को प्रायः योगरूढ़ि में ही गिना जाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि योगरूढ़ि में शब्द का यौगिक अर्थ प्रचलन में आता ही नहीं, जबकि यौगिक रूढ़ में रूढ़ और यौगिक दोनों अर्थ प्रचलन में रहते हैं—जैसे, 'गोपाल' कृष्ण अर्थ में रूढ़ हो गया है, फिर भी गायों का पालन करनेवाले का अर्थ यौगिक रूप में भी देता है और प्रचलित है। ऐसा ही शब्द 'विदेह' भी है जो एक राजवंश का रूढ़ अर्थ देता है, फिर भी 'विदेहमुक्ति' जैसे प्रयोगों में 'देहरहित' का यौगिक अर्थ भी देता है। काव्य में ऐसे प्रयोग तब बड़े चमत्कारी होते हैं जब रूढ़ अर्थ प्रासङ्गिक रहता है और यौगिक अर्थ व्यङ्ग्य होकर आता है।

केहिं पटतरिअ बिदेहकुमारी। (मानस)

में 'विदेह' का प्रासङ्गिग मुख्य अर्थ 'जनक' है, परन्तु 'देहरहित' का अर्थ व्यङ्ग्य होकर चमत्कार लाता है—जो देहधारी से उत्पन्न ही नहीं हुई, उसकी तुलना किसी वस्तु से कैसे संभव है। शास्त्रों में 'अश्वगन्धा' शब्द इसका उदाहरण दिया गया है जो अश्व की गन्ध से युक्त होने के साथ ओषधि-विशेष है।

लक्षणा :

१. नदी में नहाता है।
२. नदी पर मकान है।

इन वाक्यों में प्रथम का 'नदी' शब्द अपने वाच्य अर्थ (प्रवाह) के लिए प्रयुक्त है जबकि द्वितीय का 'नदी' पद 'प्रवाह' अर्थ में तात्पर्य नहीं दे पाता—प्रवाहरूप नदी पर मकान असंभव है।

३. भारत में दिल्ली नगर है।
४. भारत सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न है।

तृतीय वाक्य में 'भारत' अपने मुख्य अर्थ (देश-विशेष) के लिए प्रयुक्त है जबकि चतुर्थ में वैसा नहीं है—कोई देश प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं होता, उसका शासन प्रभुत्वशाली होता है अतः तात्पर्य में अटकाव आता है। द्वितीय वाक्य में 'नदी' का अर्थ 'नदी-तट'

लिया जाता है और चतुर्थ में 'भारत' से 'भारतीय शासन' का बोध होता है तब तात्पर्य बैठ जाता है। इन अर्थों को वाच्य अर्थ से पृथक् कोटि का पाते हैं और इनके बोध हेतु सामान्य शब्दकोशीय अर्थ अपर्याप्त रहता है। इन अर्थों के बोध की प्रणाली वाच्य अर्थ के बोध की प्रणाली से भिन्न रहती है। भिन्न अर्थबोध की जो प्रक्रिया काम करती है उसे 'लक्षणा-बीज' कहा जाता है। लक्षणा-बीज तीन होते हैं :

१. मुख्यार्थ-बाध या तात्पर्यानुपत्ति प्रथम बीज है। अर्थात् इसमें वाच्य अर्थ लेने से तात्पर्य में बाधा या असंगति आती है।

२. मुख्यार्थ-योग या वाच्यार्थ से सम्बन्ध दूसरा बीज है। अर्थात् वाच्यार्थ से तात्पर्य की संगति लाने हेतु ऐसा दूसरा अर्थ लिया जाता है जिसके साथ वाच्य अर्थ का सम्बन्ध हो।

३. रूढ़ि अथवा प्रयोजन तीसरा बीज है। अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ लेकर तात्पर्य-संगति करने में या तो लोकप्रसिद्धि कारण होती है या फिर वक्ता किसी प्रयोजन की व्यञ्जना हेतु वैसा लाक्षणिक प्रयोग करता है। चतुर्थ वाक्य में 'भारत' से 'भारतीय शासन' का अर्थ लेने की रूढ़ि है जबकि द्वितीय वाक्य में 'नदी' से 'नदी-तट' अर्थ लेने में वक्ता का उद्देश्य है कि मकान में पवित्रता, शीतलता स्नानादि की सुविधा विद्यमान है।

इस प्रकार लक्षणा वह शब्दशक्ति है जो मुख्य अर्थ से तात्पर्य अनुपपन्न होने पर रूढ़िवश अथवा प्रयोजनवश मुख्यार्थ-सम्बन्धी अन्य अर्थ का बोध कराती है।[४६]

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि 'रूढ़ि' अभिधा का भी एक भेद है। लक्षणा की रूढ़ि उससे भिन्न है। अभिधा की रूढ़ि मुख्य अर्थ देती है जबकि लक्षणा की रूढ़ि से मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ प्रकट होता है। अभिधा में अर्थ-बोध में कोई बाधा नहीं आती जबकि रूढ़ि-लक्षणा में मुख्यार्थ-बाध की शर्त काम करती है। यह स्पष्ट रहना चाहिए कि अभिधा प्रसिद्ध शब्दशक्ति है अतः प्रचलित अर्थ देती है जबकि लक्षणा अप्रसिद्ध शक्ति होने से अप्रचलित अर्थ देती है।

लक्षणा के भेद :

शास्त्रों में लक्षणा पर विस्तृत विचार हुआ है। उसके भेदों और उपभेदों का गणितीय रीति से वर्ग-विवेचन किया गया है। लक्षणा के वर्ग कई प्रकार से विभक्त किये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं :

(क) तृतीय लक्षणा-बीज की दृष्टि से—(१) रूढ़ा, (२) प्रयोजनवती।

(ख) द्वितीय लक्षणा-बीज (मुख्यार्थ-सम्बन्ध) की दृष्टि से—(१) शुद्धा लक्षणा, जिसमें सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध लक्षणा-बीज हो और (२) गौणी लक्षणा जिसमें सादृश्य-सम्बन्ध बीज हो।

(ग) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के तादात्म्य की दृष्टि से—(१) सारोपा और (२) साध्यवसाना।

(घ) लक्ष्यार्थ के वृत्त में मुख्यार्थ के ग्रहण और अग्रहण की दृष्टि से—(१) उपादान-लक्षणा (अजहल्लक्षणा), (२) लक्षण-लक्षणा (जहल्लक्षणा) और (३) जहदजहल्लक्षणा ।

(ङ) व्यङ्ग्य अर्थ की दृष्टि से—(१) अव्यङ्ग्या, (२) गूढ़-व्यङ्ग्या और (३) अगूढ़-व्यङ्ग्या ।[४७] (ये भेद प्रथम वर्ग में ही विवेचनीय हैं) । इस प्रकार कुल चार वर्ग-विभागों में लक्षणा का विचार किया जा रहा है ।

(क+ङ) आरम्भ में ही उदाहरण देकर रूढ़ि और प्रयोजन के आधार पर बननेवाले लक्षणा-भेदों को समझा जा चुका है । यहाँ विचारणीय है कि रूढ़ा लक्षणा लोक-प्रसिद्धि के आधार पर होती है अतएव व्यङ्ग्य-रहित होती है जबकि प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यङ्ग्य रहता है अतः वह 'सव्यङ्ग्या' कही जाती है । व्यङ्ग्य अर्थ कहीं गूढ़ होता है, कहीं अगूढ़ । इस आधार पर 'गूढ़-व्यङ्ग्या' और 'अगूढ़-व्यङ्ग्या' दो भेद बनते हैं ।

बिजली-माला पहने फिर
मुसक्याता-सा आँगन में,
हाँ, कौन बरस जाता था
रसबूँद हमारे मन में ? (आँसू)

यहाँ 'बिजली-माला' शब्द मुख्य अर्थ में तात्पर्य नहीं दे पाता अतः प्रेयसी की अङ्ग-कान्ति का लक्ष्यार्थ देता है जिससे अङ्गों का 'प्रभातिशय' व्यक्त होता है जो गूढ़ है—केवल सहृदय ही उसे समझ पाते हैं । इस प्रकार 'रसबूँद बरसने' से 'भावोद्रेक का उत्पादन' लक्ष्यार्थ आता है और 'आनन्दातिशय' व्यङ्ग्य है जो गूढ़ है अतः गूढ़व्यङ्ग्या लक्षणा का सुन्दर उदाहरण है :

अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा । (आँसू)

यहाँ 'मधुर' शब्द का लक्ष्यार्थ 'मनोरञ्जक' है जिससे 'सुखातिशय' की व्यञ्जना होती है परन्तु यह व्यङ्ग्य गूढ़ नहीं है, वाच्य अर्थ के समान हो गया है क्योंकि अर्थ अतिशय प्रचलित हो गया है । अतः इस शब्द को 'अगूढ़-व्यङ्ग्या लक्षणा' का उदाहरण कहा जायगा । उपादेयता की दृष्टि से 'गूढ़व्यङ्ग्या' का ही काव्य में महत्त्व है ।

(ख) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के द्विविध सम्बन्ध होते हैं :

१. सादृश्य-सम्बन्ध गुणों के आधार पर होता है । ऊपर 'बिजली-माला' और 'अङ्ग-ज्योति' में 'आभा' गुण के आधार पर सादृश्य सम्बन्ध बनता है । स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुण मध्यवर्ती रहता है, अतः यह

सम्बन्ध शुद्ध न होकर गुण की मध्यस्थता से बनता है। इस लक्षणा को 'गौणी लक्षणा' कहते हैं। इसी को 'उपचार' नाम से भी जाना जाता है।

२. सादृश्येतर सम्बन्ध को 'शुद्ध सम्बन्ध' कहते हैं, क्योंकि वहाँ वाच्य और लक्ष्य में सीधा सम्बन्ध रहता है—किसी गुण की मध्यस्थता नहीं होती। इस सम्बन्धवाली लक्षणा 'शुद्धा लक्षणा' कही जाती है :

'जौ हौं राम त कुल सहित कहिहि दसाननु आइ।' (मानस)

यहाँ राम द्वारा अपने को 'राम' बताया गया है, जिससे तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, अतः 'प्रख्यात-वीर-राम' लक्ष्य अर्थ आता है। 'राम' सामान्य नाममात्र है जबकि लक्ष्यार्थ उसका विशेष रूप है। दोनों में गुण-कृत सादृश्य-सम्बन्ध न होकर सामान्य-विशेषभाव-कृत अभेद सम्बन्ध है, अतः शुद्धा लक्षणा है।

(ग) हम देखते हैं कि सर्वत्र वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में एक प्रकार का अभेद स्थापित हो जाता है। 'नदी पर मकान है' वाक्य को लें तो नदी और तट में अभेद प्रतीत होता है। इस प्रतीति के दो पक्ष हैं; प्रथम 'नदी' है जिसमें तट का अभेद स्थापित हुआ है; यह 'विषयी' कहा जाता है जबकि 'तट' 'विषय' नाम से जाना जाता है। विषय और विषयी के प्रयोग को लेकर लक्षणा के दो भेद बनते हैं :

(१) सारोपा—जहाँ विषय और विषयी दोनों ही प्रयुक्त रहते हैं, वहाँ 'आरोप' होता है। यह आरोपवाली लक्षणा 'सारोपा' कही जाती है :

राम नाम सुन्दर करतारी।
संसय बिहग उड़ावनिहारी॥ (मानस)

यहाँ 'राम नाम' और 'करतारी' (क्रमशः विषय और विषयी) में अभेद स्थापित हुआ है। दोनों का वाक्य में प्रयोग होने से यह आरोप है, अतः सारोपा लक्षणा है।

(२) साध्यवसाना—जहाँ केवल विषयी के प्रयोग से विषय का बोध होता है, वहाँ देखा जाता है कि विषयी द्वारा विषय निगीर्ण (आत्मसात्) कर लिया गया है। ऐसी स्थिति को 'अध्यवसान' या 'अध्यवसाय' कहा जाता है और ऐसी लक्षणा को 'साध्यवसाना' नाम दिया जाता है। 'बिजली-माला' वाला उदाहरण ऐसा ही है। उसका वर्ण्य-विषय प्रेयसी की 'अङ्गच्छटा' है पर कवि ने उसका प्रयोग न करके विषयी का ही प्रयोग किया है।

रूपक अलङ्कार में सारोपा और अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि में साध्यवसाना लक्षणा का उपयोग होता है।

(घ) लक्ष्यार्थ के वृत्त में कहीं मुख्यार्थ का ग्रहण होता है, कहीं नहीं होता, कहीं अंशतः ग्रहण होता है। इस आधार पर लक्षणा के तीन भेद किये जाते हैं :

(१) उपादान-लक्षणा या अजहल्लक्षणा या अजहत्स्वार्था—जब लक्ष्यार्थ अपने में वाच्यार्थ को समाहित रखता है, त्याग नहीं करता, तो प्रस्तुत लक्षणा-भेद मान्य होता है।

जौ हौं राम त कुल-सहित कहिहि दसाननु आइ।

में 'राम' के लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ भी सम्मिलित है। कभी-कभी जब कहा जाता है—रोटी बन रही है—तो 'रोटी' शब्द वाच्यार्थ में भोज्य-विशेष का अर्थ देता है, जबकि उसका लक्ष्य भोज्य-सामान्य होता है और उसमें वाच्यार्थ भी समाविष्ट रहता है।

(२) लक्षण-लक्षणा या जहल्लक्षणा या जहत्स्वार्था—जब लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का पूर्ण परित्याग होता है, तब यह लक्षणा होती है। 'नदी पर मकान है' में लक्ष्यार्थ तट ही कथ्य रहता है, मकान से प्रवाहरूप वाच्यार्थ का सम्बन्ध न होने से त्याग किया जाता है। ऊपर 'बिजली-माला' वाला उदाहरण ऐसा ही है।

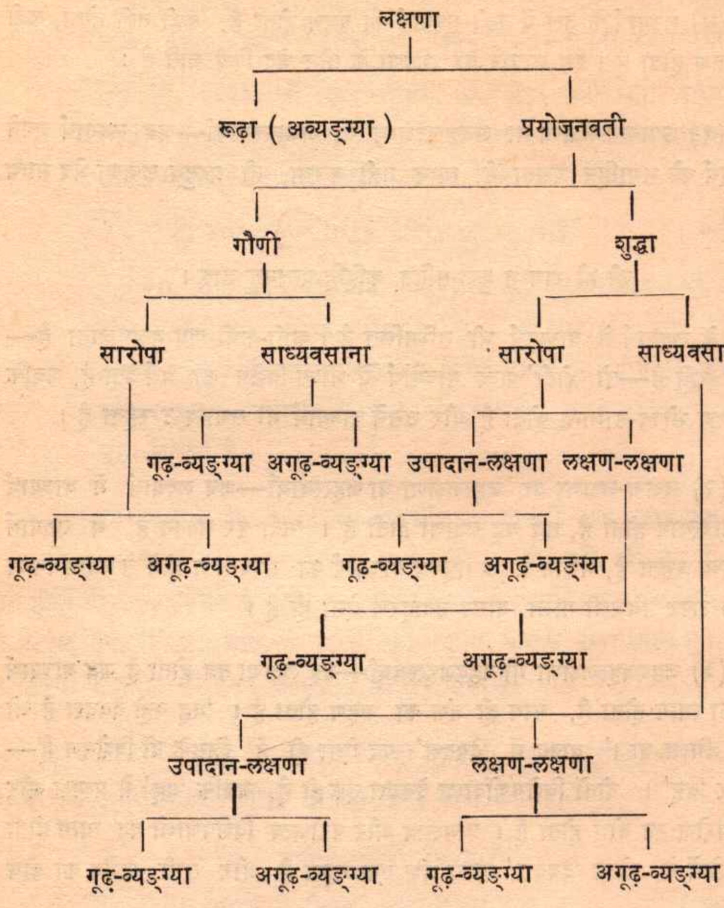
(३) जहदजहल्लक्षणा या जहदजहत्स्वर्था—यह लक्षणा तब होती है जब वाच्यार्थ के अंश का त्याग होता है, साथ ही अंश का ग्रहण होता है। 'यह वही देवदत्त है जो काशी में मिला था।' वाक्य में 'देवदत्त' पद ऐसा ही है, जिसके दो विशेषण हैं—'यह' और 'वह'। दोनों विशेषणोंवाला देवदत्त एक ही है, जबकि 'यह' से प्रत्यक्ष और 'वह' से परोक्ष का बोध होता है। प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व विशेषणांशों का त्याग होता है, पर दोनों से बोध्य 'देवदत्त' वाला अंश एक रहता है और तभी अभेद का बोध होता है।

तात जनक-तनया यह सोई।
धनुषजग्य जेहिं कारन होई॥ (मानस)

यहाँ 'जनकतनया' का ही दो सर्वनाम पदों से भी बोध होता है—'यह' और 'सोई'। पहले से 'प्रत्यक्ष-जानकी' और दूसरे से 'परोक्ष किन्तु चर्चित जानकी' का बोध होता है। विशेषण अंशों का त्याग करके 'जानकी' अर्थ एकरूप बचा रहता है। वेदान्त में इस लक्षणा का महत्त्व है और काव्य में भी इसके प्रयोग देखे जाते हैं—व्यवहार में भी यह आती है।

लक्षणा-भेदों का परस्पर समावेश :

ऊपर लक्षणा का वर्गविभाजन कई प्रकार से देखा गया है। ये सभी वर्ग मिश्रित रूप में देखे जाते हैं। तालिका द्रष्टव्य है :



आचार्य मम्मट के अनुसार जो तालिका दी गयी है उसमें व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर जो भेद बनते हैं वे सामान्य हैं तथा 'रूढ़ा' का काव्य में उपयोग नहीं है, अतः प्रयोजनवती के मुख्य छह् भेद इस प्रकार हैं (जहदजहल्लक्षणा काव्यप्रकाश में नहीं है) :

(१) गौणी सारोपा :

गिरा अलिनि मुख पङ्कज रोकी ।
प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥ (मानस)

(२) गौणी साध्यवसाना :

झञ्झा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद-माला,

पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला। (आँसू)

(३) शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना :

राम तोर भ्राता बड़ पापी। (मानस)

यहाँ 'राम' का लक्ष्यार्थ 'विनय-विशिष्ट राम' है जिसमें वाच्यार्थ का भी उपादान है।

(४) शुद्धा उपादानलक्षणा सारोपा :

जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही। (कामायनी)

यहाँ रति आकर्षण का कारण है जबकि उसे आकर्षण-रूपा कहा गया है, अतः सारोपा है, आकर्षण-कारण में 'आकर्षण' भी सम्मिलित है, अतः उपादानलक्षणा है।

(५) शुद्धा लक्षण-लक्षणा साध्यवसाना :

प्रत्येक नाश विश्लेषण की
संश्लिष्ट हुए बन सृष्टि रही। (कामायनी)

यहाँ 'नाश' का लक्ष्यार्थ 'नश्वर' है जिसमें 'नाश' का वाच्यार्थ गृहीत नहीं है, अतः लच्चण-लच्चणा है। विषय का ग्रहण न होने से साध्यवसाना है।

(६) शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा :

आरम्भिक वात्या उद्‌गम मैं
अब प्रगति बन रहा संसृति का। (कामायनी)

यहाँ 'मैं' विषय का ग्रहण है, अतः सारोपा है और 'प्रगतिकरण' लक्ष्यार्थ है जिसे 'प्रगति' शब्द से लिया गया है, प्रगतिकरण में 'प्रगति' का समावेश न होने से लक्षण-लक्षणा है।

उक्त भेद 'रूढ़ा लक्षणा' में भी होते हैं जिन्हें जोड़ने पर बारह प्रकार की लक्षणा काव्यप्रकाश में मान्य हो जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने 'गौणी' के उक्त दो भेदों के साथ भी 'उपादान लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' के भेद जोड़े हैं, अतः वे भी चार हो जाते हैं, यों सोलह भेद बनते हैं :

१. रूढ़ा गौणी सारोपा उपादान-लक्षणा
२. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा
३. ,, ,, साध्यवसाना उपादान-लक्षणा
४. ,, ,, ,, लक्षण-लच्चणा
५. प्रयोजनवती गौणी सारोपा उपादान-लक्षणा
६. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा
७. ,, ,, साध्यवसाना उपादान-लक्षणा
८. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा

९. रूढ़ा शुद्धा सारोपा उपादान-लक्षणा
१०. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा
११. ,, ,, साध्यवसाना उपादान-लक्षणा
१२. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा
१३. प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा उपादान-लक्षणा
१४. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा
१५. ,, ,, साध्यवसाना उपादान-लक्षणा
१६. ,, ,, ,, लक्षण-लक्षणा

इनमें गूढ़-व्यङ्ग्या तथा अगूढ़-व्यङ्ग्या के भेद प्रयोजनवती के आठ भेदों में जोड़ने से प्रयोजनवती के सोलह भेद हो जाते हैं और रूढ़ा के आठ भेदों के साथ चौबीस संख्या वनती है। सभी को अनावश्यक समझकर विस्तार नहीं किया गया है।

× × ×

लक्षणा के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि एक समय जो 'प्रयोजनवती गूढ़-व्यङ्ग्या लक्षणा' रहती है, वही कालान्तर में व्यङ्ग्यार्थ के अतिप्रचलित हो जाने पर 'अगूढ़-व्यङ्ग्या' के क्षेत्र में जा पहुँचती है। दूसरा परिवर्तन फिर घटित होता है, जब उसका प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य पूर्णतया क्षीण हो जाता है और वह 'रूढ़ा (अव्यङ्ग्या) लक्षणा' भर रह जाती है। तीसरे परिवर्तन में वह लक्षणा न रहकर 'रूढ़ि अभिधा' बन जाती है—यह सब अर्थातिशय की महिमा से होता चलता है। उदाहरणार्थ, 'कुशल' शब्द को लिया जा सकता है। पहले यह शब्द ऋषियों के आश्रमों में 'कुश लानेवाले' के अर्थ में, अभिधा के साथ, चलता था जिसमें सूक्ष्मदर्शी होना एक आवश्यकता थी। फिर सूक्ष्म-निरीक्षण के आधार पर 'दक्षता का अतिशय' प्रयोजन लेकर यह शब्द लक्षणापरक हो गया और प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य गूढ़ बना रहा। आगे चलकर यही शब्द अगूढ़ (प्रकट) व्यङ्ग्य के साथ चला और फिर शुद्ध 'अव्यङ्ग्या रूढ़ा लक्षणा' के क्षेत्र में आकर 'दक्ष' अर्थ को लाक्षणिक रूप में देने लगा। कालान्तर में केवल 'रूढ़ि' रह गयी जिससे इसे दक्ष-पर्याय शब्द का स्थान मिला और लक्षणा का स्थान अभिधा ने लिया।

यही कारण है कि व्याकरण में लक्षणा को अप्रसिद्ध अभिधा ही कहा जाता है। प्रसिद्धि-वश वह अभिधा ही ठहरती है। कभी-कभी शब्द के सम्बन्ध से भी लक्षणा देखी जाती है—'द्विरेफ' भ्रमर के अर्थ में इसलिए चलता है कि 'भ्रमर' शब्द में दो रेफ प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार 'काक' के अर्थ में 'द्विक' चलता है। लिपि के आधार पर लक्षणा का उदाहरण 'द्विठ' शब्द है जो विसर्ग के अर्थ में चलता है, उसमें (8) लिपिगत दो ठकारों का समावेश है। ऐसे सभी शब्दों में अब 'अभिधा' ही मान्य हो गयी है, क्योंकि शब्दकोषों में ये अर्थ वाच्य मान लिये गये हैं।[४८]

ऊपर देखा गया कि अर्थ-परिवर्तन की दिशा लक्षणा से अभिधा की ओर होती है। प्रयोजनवती लक्षणा जब रूढ़ा हो जाती है तब उसका व्यङ्ग्य अर्थ प्रकट नहीं रह

पाता जिसका परिणाम होता है कि अव्यङ्ग्या रूढ़ा लक्षणा के रूप में उसका तब तक प्रचलन रहता है जब तक मूल वाच्य अर्थ भी प्रचार में रहता है। मूल अर्थ का प्रचार समाप्त होने पर रूढ़ा लक्षणा रूढ़ि अभिधा बन जाती है और तब पहले का लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ में बदल जाता है। इस प्रकार शक्ति-परिवर्तन, अर्थ-परिवर्तन का आधार है जिसका निर्धारण लोक-प्रचलन से ही जाना जाता है।

काव्यशास्त्र में लक्षणा-विवेचन का उद्देश्य व्यञ्जना की स्थापना में है, अतः आगे व्यञ्जना-व्यापार पर विचार किया जा रहा है।

व्यञ्जना :

शब्द का एक व्यापार (शक्ति) एक अर्थ देकर कृत-कार्य हो जाता है। दूसरे अर्थ-बोध के लिए दूसरे व्यापार की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार तीसरे अर्थ के लिए तीसरा व्यापार अपेक्षित होता है। इसी दृष्टि से विचार करने पर :

(१) जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, या मैं दो न समाहिं॥ (कबीर)

यहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर एक अन्य अर्थ प्रतीत होता है। 'प्रेमातिरेक की दशा में प्रेमी और प्रेमालम्बन में एकत्व स्थापित होता है।' अभिधा वाच्यार्थ देकर विरत हो जाती है, तब उक्त द्वितीय अर्थ के बोध हेतु दूसरा शब्द-व्यापार स्वीकार्य होगा।

(२) यह बिनसत नगु राखि कै जगत बड़ो जसु लेहु।
जरी विषमजुर ज्याइऐ आइ सुदरसनु देहु॥ (बिहारी)

यहाँ 'नग' शब्द का वाच्यार्थ 'रत्न' है जो प्रसङ्ग में उपपन्न नहीं होता, अतः गौणी लक्षणा से उसका 'प्रेमिका' अर्थ आता है। लक्षणा प्रयोजनवती है, अतः 'प्रेमिका का सौन्दर्यातिशय बताना' प्रयोजन है। इस प्रयोजन की प्रतीति हेतु अभिधा और लक्षणा के अनन्तर तीसरे व्यापार की अपेक्षा है।

दोहे की दूसरी पंक्ति में 'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद आये हैं जिनका विरह-निवेदन के प्रसङ्ग में अभिधा द्वारा क्रमशः 'विषम विरह-संताप' और 'नायक का उत्तम दर्शन' अर्थ वाच्यरूप में प्रकट होते हैं। परन्तु वाच्यार्थ प्रकट करके जब अभिधा शान्त हो जाती है तो उन शब्दों से अन्य अर्थ भी आते हैं—विषमज्वर = एक प्रकार का रोग और सुदर्शन = एक प्रकार का औषध। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय कोटि के अर्थों से रूपक अलंकार प्रतीत होता है—'जिस प्रकार विषमज्वर रोग में वैद्य सुदर्शन चूर्ण देकर रोगी को स्वस्थ करता है उसी प्रकार आप उस विरहसन्ताप में जली हुई को अपना दर्शन दीजिए और जिलाइए।' इस प्रकार के अलंकारात्मक अर्थ के बोध हेतु यहाँ भी अभिधा से भिन्न शब्द-व्यापार अपेक्षित है।

(३) इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं।
जो तर्जनी देखि मरि जाहीं॥ (मानस)

यहाँ 'तर्जनी' का व्युत्पत्ति से अर्थ आता है—जिससे तर्जन (फटकार) किया जाय—यह अर्थ यौगिक है, परन्तु शब्द अँगूठे के पास वाली अँगुली के अर्थ में रूढ़ हो गया है। प्रसङ्ग में यही रूढ़ अर्थ अभिधा से निकलता है, परन्तु काव्य-चमत्कार-जनक यौगिक अर्थ भी आता है जिससे प्रतीत होता है कि 'तर्जन मात्र से लक्ष्मण जैसे वीर आतङ्कित नहीं हो सकते।' ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ से भिन्न अपर अर्थ की प्रतीति के लिए इतर व्यापार मान्य होना चाहिए।

(४) जीवन जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह। (कामायनी)

यहाँ 'शीतल दाह' भी लाक्षणिक है जिससे वाच्य के अनन्तर 'राग की तीव्रता' का लक्ष्यार्थ-बोध होता है और तीसरी कोटि में 'व्याकुलता के साथ आनन्द का मिश्रण और उसकी विचित्रता' जैसा अर्थ आता है जिसके लिए तीसरे शब्द-व्यापार की मान्यता आवश्यक है। इतना ही नहीं, 'जीवन' पद की द्व्यर्थकता से उपमा अलंकार भी प्रतीत होता है—'जिस प्रकार दाह होने—आग लगने—पर लोग जल की पुकार करते हैं (जीवन=जल) उसी प्रकार इस विचित्र अनुभूति में हृदय प्राणों की गरिमा से व्याप्त हो गया है।' इसके लिए भी अभिधा से पृथक् किसी व्यापार की अपेक्षा है।

(५) मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा,
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा। (आँसू)

यहाँ वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति के अनन्तर तत्क्षण एक संवेदना जग जाती है जो भावरूपा होती है—इस संवेदन को 'रस' कहा जाता है। वाच्यार्थ से पृथक् इसकी प्रतिपत्ति या निष्पत्ति के लिए अभिधा से भिन्न शब्द-शक्ति आवश्यक है।

(६) क्यों इतना आतङ्क! ठहर जा! ओ गर्वीले!
जीने दे सबको, फिर तू भी सुख से जी ले। (कामायनी)

यहाँ वाच्य से भिन्न वस्तुरूप अर्थ आता है—'समस्त मानवता के कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है।' और उसकी प्रतीति के लिए वाचकत्वशक्ति से पृथक् किसी शक्ति की अपेक्षा है।

व्यञ्जना की परिभाषा :

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि कहीं अभिधा के अनन्तर और कहीं लक्षणा के अनन्तर दूसरी या तीसरी अर्थ-कक्षा आती है। उस अर्थ-कक्षा का प्रत्यय करानेवाली शब्द-शक्ति 'व्यञ्जना' है। दूसरे शब्दों में, 'लक्षणा के प्रयोजन का बोध करानेवाली, वाच्य अर्थ से संवेदनीय भावबोध करानेवाली, योगरूढ़ शब्द में रूढ़ वाच्यार्थ से भिन्न यौगिक अर्थ-प्रत्यय करानेवाली, अनेकार्थक शब्दों में प्रासङ्गिक वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का बोध करानेवाली, शब्द या अर्थ से वस्तुरूप या अलंकार-रूप अर्थ देनेवाली व्यापक शब्द-शक्ति का नाम 'व्यञ्जना' है।'[४१]

परिभाषा से 'व्यञ्जना' शक्ति की चमत्कारक विविधता एवं व्यापकता का परिचय मिलता है। इसे स्पष्ट करने हेतु उसके भेदों तथा उपभेदों पर विचार अपेक्षित है।

व्यञ्जना के भेद :

व्यञ्जना के भेदों पर मुख्यतः दो प्रकार से विचार किया जाता है—(१) व्यंग्य अर्थ की दृष्टि से और (२) व्यञ्जक स्रोत की दृष्टि से। प्रथम प्रकार से व्यञ्जना के तीन भेद किए जाते हैं :

(क) वस्तुव्यञ्जना :—ऊपर उदाहरण १, २, ३, ६।
(ख) अलंकारव्यञ्जना :—ऊपर उदाहरण २, ४।
(ग) रस-भाव-व्यञ्जना :—ऊपर उदाहरण ५।

काव्य में अन्तिम अर्थ-व्यञ्जना प्रायः सर्वत्र रहती है अतः अर्थ की चमत्कार-जनित प्रधानता के आधार पर उक्त भेद किये जाते हैं।

व्यञ्जक स्रोत की दृष्टि से व्यञ्जना का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता और व्याप्ति का पता लगता है। मुख्य तीन ही भेद हैं :—

(क) लक्षणामूला व्यञ्जना—ऊपर उदाहरण २।
(ख) अभिधामूला व्यञ्जना—ऊपर के शेष उदाहरण।
(ग) व्यञ्जनामूला व्यञ्जना।

कभी-कभी एक व्यंग्य अर्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक होता है :

पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

यहाँ सबके एक साथ डेरा डालने से हृदय की अव्यवस्थित दशा व्यक्त होती है और उससे दूसरी व्यञ्जना होती है कि प्रेमी प्रेयसी के विरह में इतना व्याकुल है कि उसके हृदय में अन्य प्रेमालम्बन को स्थान नहीं मिल सकता।

× × ×

उक्त तीनों प्रकार की व्यञ्जनाओं को तीन बड़े भागों में पुनर्विभक्त किया जाता है—(१) शब्द-शक्त्युत्थ व्यञ्जना, (२) अर्थशक्त्युत्थ व्यञ्जना और (३) उभय-शक्त्युत्थ व्यञ्जना। लक्षणामूला तथा व्यञ्जनामूला व्यञ्जनाएँ अर्थशक्त्युत्थ ही होती हैं अतः अभिधामूला व्यञ्जना को ही यहाँ तीनों वर्गों में देखा जा रहा है।

शब्दशक्त्युत्थ अभिधामूला व्यञ्जना :

(क) कुछ शब्द अनेकार्थक होते हैं। ऐसे शब्दों की अभिधाशक्ति ही अनेक अर्थों का बोध कराती है। परन्तु प्रसङ्ग में एक ही अर्थ मुख्य रह पाता है, शेष अर्थ प्रसङ्गानुगत नहीं रहते। इस प्रक्रिया को 'वाच्यार्थ-नियन्त्रण' कह सकते हैं। उदाहरणार्थ :

माधवी निशा की अलसायी
अलकों में लुकते तारा-सी,

क्या हो सूने मरु-अञ्चल में
अन्तःसलिला की धारा-सी। (कामायनी)

यहाँ 'माधवी' शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो लता-विशेष और द्वितीय वसन्त-सम्बन्धी। प्रस्तुत प्रसङ्ग में द्वितीय अर्थ ही लिया जाता है, प्रथम वाच्यार्थ का नियन्त्रण हो जाता है। ऐसे शब्दों की शक्ति से उत्पन्न व्यञ्जना पर आने के पूर्व उन तत्त्वों पर विचार आवश्यक है जो अभिधाशक्ति एवं वाच्यार्थ का नियन्त्रण करते हैं जिस कारण श्रोता अनेकार्थक शब्दों से कोई एक ही वाच्यार्थ ग्रहण करता है। ये नियन्त्रणकारी तत्त्व इस प्रकार हैं :

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-स्मृति-हेतवः॥

—वाक्यपदीय, २।३१७-१८ (काव्यप्रकाश, २।१९ पर भी)

अर्थात् अनेकार्थक शब्द के अर्थ में सन्देह उपस्थित होने पर प्रासङ्गिक अर्थ का निर्णय करनेवाले तत्त्व हैं—संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग (चिह्न-विशेष), अन्य शब्द की समीपता, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (स्त्रीलिङ्ग-पुंलिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग), स्वर, चेष्टा आदि। इन्हें सोदाहरण देखा जा रहा है :

(१) संयोग—'शङ्ख-चक्र-सहित हरि' कहा जाय तो 'हरि' शब्द का 'विष्णु' अर्थ में अभिधा-नियन्त्रण हो जायगा क्योंकि शङ्खचक्र का संयोग विष्णु में ही माना जाता है, उस शब्द के अन्य अर्थों—सिंह, वानर, सूर्य आदि के साथ वैसा संयोग प्रचलित नहीं है।

(२) वियोग—जिसके साथ किसी वस्तु का संयोग प्रचलित रहता है, उसी के साथ उस वस्तु के वियोग की भी संगति रहती है, अतः 'शङ्ख-चक्र-रहित हरि' कहने से भी 'विष्णु' का ही वाच्यार्थ-बोध होगा। यहाँ 'वियोग' अभिधा-नियामक है।

(३) साहचर्य—'राम-लक्ष्मण को बालकों ने देखा।' 'राम' के अर्थ बलराम, परशुराम और दशरथपुत्र हैं और इसी प्रकार 'लक्ष्मण' के दशरथपुत्र और धृतराष्ट्र-पुत्र अर्थ हैं। परन्तु परस्पर-सहचार दशरथपुत्रों का ही प्रसिद्ध है, अतः दोनों में एक ही, दशरथपुत्र का, अर्थ लिया जाता है, शेष अर्थों का नियन्त्रण हो जाता है।

(४) विरोध—'राम-रावण का युद्ध हुआ' यहाँ दशरथपुत्र राम का ही रावण से विरोध प्रसिद्ध है, अतः अभिधा एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है।

(५) अर्थ (प्रयोजन)—'भक्तों को मुक्ति देनेवाले घनश्याम का नमन करो।' यहाँ मुक्ति का प्रयोजन कृष्ण या राम से ही सम्भव है, अतः 'काले बादल' का अर्थ न होकर 'ईश्वर' अर्थ ही लिया जायगा।

(६) प्रकरण—'मोहन अपनी बारी पर काम करता है।' जैसे वाक्यों में प्रकरण ही नियामक है कि 'बारी' से 'खेत' अर्थ लिया जाय या 'क्रम' अर्थ।

(७) चिह्न—'कुपित काम' कहने पर 'कोप' चिह्न से 'काम' का अर्थ 'मदन' में नियन्त्रित होता है जिससे 'कर्म' अर्थ नहीं लिया जाता।

(८) अन्य-शब्द-सन्निधि—'राम रघुवंशी' कहने पर 'रघुवंशी' पद का सामीप्य नियामक है जिससे 'राम' पद दशरथ-पुत्र का ही अर्थ देता है।

(९) सामर्थ्य—'कोकिल मधु-मत्त हैं' कहने पर 'मधु' शब्द वसन्त अर्थ में इसलिए नियन्त्रित हो जाता है कि कोकिल को 'मद्य' द्वारा मत्त नहीं देखा जाता—वह सामर्थ्य वसन्त में ही है।

(१०) औचित्य—गारौ भयौ पंच मैं पुनीत पच्छ पाइ कै। (कबितावली)

यहाँ 'गारौ' के दो अर्थ हो सकते हैं—गारा या मिट्टी का गिलावा और गौरव। औचित्यवश दूसरे अर्थ (गौरव) में अभिधा नियन्त्रित होती है।

(११) देश—'भारत में इन्दिरा का शासन है।' यहाँ भारत देश 'इन्दिरा' को प्रस्तुत प्रधान मन्त्री के अर्थ में नियन्त्रित करता है अतएव 'लक्ष्मी' अर्थ वाच्य नहीं रह पाता।

(१२) काल—'चित्रभानु की विभा विभावरी में देखिए।' यहाँ विभावरी (रात्रि) काल में 'चित्रभानु' से 'अग्नि' अर्थ ही लिया जायगा, सूर्य नहीं। काल अभिधा-नियामक है।

(१३) व्यक्ति (लिङ्ग)—'बड़ी चूक हुई।' में स्त्रीलिङ्ग प्रयोगवश 'चूक' का 'भूल' अर्थ में अभिधा-नियन्त्रण है। 'दही बड़ा चूक है।' वाक्य में 'चूक' खट्टे पदार्थ में नियन्त्रित है क्योंकि पुंलिङ्ग है।

(१४) स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित)—इनके द्वारा अभिधा-नियमन केवल वेदों में प्रचलित है। आद्युदात्त 'क्षय' शब्द निवासार्थक है और अन्तोदात्त 'क्षय' नाशार्थक है।

(१५) चेष्टा—'इतने बड़े-बड़े आम' आदि में हाथ की चेष्टा से 'इतना' शब्द के अर्थ का नियमित बोध होता है।

× × ×

उक्त रीति से अभिधा का नियन्त्रण होने पर भी कवि-कौशल से जब कभी अनेकार्थक शब्द का अन्य अर्थ प्रतीत होता है तब वह अप्रस्तुत अर्थ वाच्य न होकर व्यङ्ग्य रहता है जिसका शब्द-व्यापार 'व्यञ्जना' है।[५०] इस व्यञ्जना से दो प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ आते हैं—वस्तुरूप व्यङ्ग्य और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य। अतः वस्तु-व्यञ्जना और अलङ्कार-व्यञ्जना दो भेद किये जा सकते हैं।

(१) वस्तुव्यञ्जना :

इस यान्त्रिक जीवन में थी
ऐसी क्या कोई क्षमता,

जगती थी ज्योति भरी सी
तेरी सजीवता ममता। (आँसू)

यहाँ यान्त्रिक, जीवन, क्षमता, सजीवता आदि शब्द विरह-वर्णन के प्रसंग में नियन्त्रित होकर प्रस्तुत अर्थ देते हैं—हे प्रिय, विरह में मेरा जीवन यन्त्रवत् परिचालित है, उसमें अन्य कोई शक्ति शेष नहीं, केवल तुम्हारी आत्मीयता ही सजीवता बनकर ज्योतिपूर्ण होकर जगमगा रही है जिससे जीवन चल रहा है। परन्तु उक्त शब्दों का अन्य अर्थ भी व्यञ्जना से आता है जिससे यान्त्रिकतावादी डार्विन-दर्शन पर प्रहार किया गया है—यदि जीवन यन्त्रवत् है, उसमें पृथक् जीवन-शक्ति नहीं है तो वह चालित कैसे होता है। निश्चय ही निःसीम चेतन-तत्त्व का अपनापन उसे सजीव एवं प्रकाशपूर्ण किये रहता है, तभी वह गति लेता है।

(२) अलंकार-व्यञ्जना :

जीवन जीवन की पुकार है,
खेल रहा है शीतल दाह। (कामायनी)

यहाँ यों तो नियन्त्रित अभिधा से 'जीवन' प्राण-धारण का और 'दाह' रागतत्व का वाचक है परन्तु व्यञ्जना से उनके अन्य अर्थ भी लिये जाते हैं—जल और अग्नि-दाह, जिससे उपमा या रूपक अलंकार की व्यञ्जना होती है—जिस प्रकार आग लगने पर जल की पुकार मचती है, उसी प्रकार रागात्मक भावना के उदय में प्राण-धारण की लालसा तीव्र हो जाती है।

× × ×

(ख) योगरूढ़ अथवा यौगिक रूढ़ शब्दों में रूढ़ि अभिधा प्रधान रहती है जो यौगिक अर्थ को तिरोहित कर देती है—दूसरे शब्दों में, रूढ़ शक्ति योगशक्ति को नियन्त्रित करती है। उस अवस्था में प्रासंगिक (प्रस्तुत) अर्थ तो रूढ़िवाला ही रहता है परन्तु अप्रस्तुत यौगिक अर्थ भी झलक उठता है। तब भी व्यञ्जना शब्द-शक्ति ही काम करती है।[५१] इसके भी उक्त प्रकार से दो भेद हैं :—

१. वस्तुव्यञ्जना :

केहि पटतरिअ बिदेह-कुमारी। (मानस)

यहाँ 'विदेह' शब्द यौगिक-रूढ़ है। प्रसंगवश रूढ़ अर्थ 'जनकराज' लिया जाता है, परन्तु व्यञ्जना से उसका यौगिक अर्थ 'देहरहित' भी प्रतीत हो चलता है जिससे वस्तु-व्यञ्जना होती है—देहरहित की पुत्री की उपमा किसी सदेह से नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है।

२. अलंकार-व्यञ्जना :

सब कहते हैं—"खोलो खोलो
छवि देखूँगा जीवन-धन की"
आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की। (कामायनी)

यहाँ 'दर्शन' शब्द का यौगिक अर्थ 'देखना' है जबकि रूढ़ अर्थ 'वेदान्त योग आदि शास्त्र' है। प्रसंग में रूढ़ि द्वारा योगशक्ति का नियन्त्रण होने से विभिन्न दर्शनशास्त्रों की भीड़ का अर्थ ही प्रस्तुत एवं वाच्य रूप में आता है, परन्तु व्यञ्जना से यौगिक अर्थ भी प्रकट होता है जिससे उपमा अथवा रूपक अलंकार बनता है। जिस प्रकार देखने-वालों की भीड़ में लोग एक-दूसरे के लिए बाधा बन जाते हैं, यद्यपि सब देखने के लिए ही इकट्ठे होते हैं, उसी प्रकार विविध दर्शनशास्त्र एक ही सत्य तत्त्व को जानना चाहकर भी आवरण बन जाते हैं जिससे सत्य तत्त्व का रहस्य समझ में नहीं आ पाता।

अर्थशक्त्युत्थ अभिधामूला व्यञ्जना :

जब शब्द की अनेकार्थता या योगरूढ़ता नहीं होती, प्रत्युत अर्थ-योजना ही ऐसी होती है कि उससे अन्य अर्थ की व्यञ्जना प्रकट होती है तो 'अर्थशक्त्युत्थ व्यञ्जना' कही जाती है। जैसे :

सुख आहत, शान्त उमङ्गें,
बेगार साँस ढोने में,
यह हृदय समाधि बना है,
रोती करुणा कोने में। (आँसू)

यहाँ अर्थ से ही एक अप्रस्तुत बिम्ब निष्पन्न होता है—किसी पर प्रहार किया गया हो, कुछ व्यक्ति हत (शान्त) हुए हों, शव ढोये जा रहे हों, उनकी समाधि बना दी गयी हो और समाधि के किनारे कोई सुन्दरी बैठकर रोती हो।

व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक अर्थ :

प्रस्तुत व्यञ्जना में दो प्रकार से अर्थों का समावेश देखा जाता है—प्रथम व्यञ्जक अर्थ होता है जो द्वितीय व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना कहता है। व्यञ्जक अर्थ अपने में वाच्य अर्थ होता है जिसके चार भेद मुख्य हैं :

१. स्वतः-संभवी वस्तु—वह अर्थ जो लोक-प्रसिद्ध हो, स्वतः-संभवी वस्तु कहा जाता है।

२. स्वतः-संभवी अलंकार—ऐसा अलंकार जो व्यवहार में भी महत्त्व रखता है, केवल कविकल्पना नहीं है, स्वतःसंभवी अलङ्कार है।

३. प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु—वह वस्तु, जिसका अस्तित्व केवल कवि-कल्पना पर स्थित है, कवि की प्रौढ़ोक्ति (कल्पना) से निष्पन्न कहा जाता है। इसका व्यावहारिक अस्तित्व नहीं होता।

४. प्रौढ़ाक्ति-सिद्ध अलङ्कार—कवि-कल्पना-मात्र से ही अस्तित्व में आनेवाला अलङ्कार प्रौढ़ाक्ति-सिद्ध है।

ये चारों प्रकार के व्यञ्जक अर्थ, जो व्यङ्ग्य अर्थ प्रकट करते हैं, वे कभी वस्तु-रूप में, कभी अलङ्कार रूप में देखे जाते हैं, जिससे व्यञ्जना के आठ प्रकार बनते हैं।

१. स्वतः-संभवी वस्तु से वस्तु की व्यञ्जना :

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥ (मानस)

यहाँ वर्णित वस्तु स्वतः-संभवी है जिससे 'वन में पहुँचने पर सीता के अतिशयित भय' रूप वस्तु की व्यञ्जना होती है।

२. स्वतः-संभवी अलङ्कार से वस्तु की व्यञ्जना :

लोचन-मग रामहि उर आनी।
दीन्हे पलक-कपाट सयानी॥ (मानस)

यहाँ रूपक अलङ्कार स्वतः-संभवी है जिससे सीता द्वारा राम को ध्यान-दशा के एकान्त में देखने की व्यञ्जना होती है, जो वस्तु-रूप है।

३. स्वतः-संभवी वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना :

जाके या बियोग-दुख हू में सुख ऐसो कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू में दुःख मानैं हम। (रत्नाकर)

यहाँ वर्ण्य वस्तु प्रेम की स्वतः-संभवी वस्तु है जिससे विषम अलङ्कार की व्यञ्जना होती है कि ब्रह्म-सुख की वियोग-दुःख में भी बराबरी नहीं हो सकती।

४. स्वतः-संभवी अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना :

भरतहि होइ कि राजमदु बिधि-हरि-हर-पदु पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि छीर-सिन्धु बिनसाइ॥ (मानस)

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार स्वतः-संभवी है जिससे अतिशयोक्ति अलङ्कार की व्यञ्जना होती है—काँजी की बूँदों से क्षीरसागर का फटना और बिधि-हरि-हर-पद पाकर भरत को राज्याभिमान होना, समान हैं। यह असम्बन्ध में सम्बन्धवाली अतिशयोक्ति है।

५. प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु की व्यञ्जना :

बजी नफीरी, और नमाजी भूल गया अल्ला ताला,
गाज गिरी, पर ध्यान सुरा में, मस्त रहा पीनेवाला।
शेख, बुरा मत मानो इसको, सच कह दूँ तो मसजिद को,
अभी युगों तक 'सिजदा' करना सिखलाएगी मधुशाला।
(बच्चन, मधुशाला)

कवि ने कल्पना से जो वस्तु-योजना की है उससे वस्तु की व्यञ्जना होती है—धर्मसाधना अथवा योगसाधना में सिद्धि पाने के लिए मदिरा की-सी तन्मयता अपेक्षित है।

६. प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु की व्यञ्जना :

मैं जभी तोलने का करती
उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ,
भुजलता फँसाकर नर-तरु से
झूले-सी झोंकें खाती हूँ। (कामायनी)

पूर्वार्ध में तोलने के उपक्रम से तुल जाने का विरोधाभास अलङ्कार है और उत्तरार्ध में उपमा है। दोनों कवि-कल्पना-प्रसूत हैं जिससे वस्तु की व्यञ्जना होती है—पुरुष के प्रति आकृष्ट होने पर स्त्री समर्पण के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाती।

७. प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना :

पशु कि हो पाषाण, सबमें नृत्य का नव छन्द,
एक आलिङ्गन बुलाता सभी को सानन्द। (कामायनी)

यहाँ कल्पना-जनित वस्तु से अतिशयोक्ति की व्यञ्जना होती है—नारी-सौन्दर्य से अचेतन भी प्रभावित होकर चेतन आचरण कर चलते हैं।

८. प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यञ्जना :

नैंकु उतै उठि बैठिए कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नहँ दी छिनकु महँदी सूकन देहु॥ (बिहारी)

यहाँ स्वेद-सात्त्विक की नखों तक की व्याप्ति और महँदी के छूटने में अतिशयोक्ति अलङ्कार है जिससे नायिका के प्रेमातिशय की व्यञ्जना होती है जो स्वतः अतिशयोक्ति है।

उभय-शक्त्युत्थ अभिधा-मूला व्यञ्जना :

जब एक ही रचना में कुछ अनेकार्थक और कुछ एकार्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिससे दोनों प्रकार की व्यञ्जनाओं से कोई अलङ्कार बनता है, तब वहाँ उभय-शक्त्युत्थ अभिधामूला व्यञ्जना होती है। यह केवल अलङ्काररूपा एक ही प्रकार की होती है।

सील-सनी सुरुचि सुबात चलैं पूरब की
औरै ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी
उर घनश्याम के अधीर अकुलाने तैं॥
आसाछन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर माँहि
बृज मैं सुदिन बारि-बृन्द हरियाने तैं।
नीर को प्रबाह कान्ह नैनन कैं तीर बह्यो
धीर बह्यौ ऊधौ उर अचल रसाने तैं॥ (उद्धवशतक)

यहाँ बहुत से शब्द अनेकार्थक हैं—(१) सील = उत्तम प्रकृति, शील और सीलन, शीतलता (२) बात = वार्ता और वायु (३) पूरब = अतीत और पूर्वदिशा (४) घनश्याम = कृष्ण और काला बादल (५) आशा = अनुकूल सम्भावना और दिशा (६) दुर्दिन = दुष्काल, सङ्कट और मेघावृत दिवस (७) बारि = वाटिका और बालाएँ। साथ ही, शेष सभी शब्द अनेकार्थक नहीं हैं। सम्पूर्ण रचना से रूपक अथवा उपमा अलङ्कार की व्यञ्जना होती है :—

'जिस प्रकार शीतलतापूर्ण पूर्वदिशा की वायु चलती है तो आकाश मेदुर हो जाता है—मेघों के उत्पन्न होने की एक स्निग्ध अवस्था आ जाती है जिससे आकाश की आभा बदल जाती है, आकाश में अचानक बिजली चमकने लगती और बादल बरसने हेतु जल

से बोझिल हो उठते हैं, सभी दिशाएँ मेघाडम्बर से आच्छन्न हो जाती हैं जिससे अन्तरिक्ष आवृत दिखाई पड़ता है, फलस्वरूप पृथ्वी में सुकाल की स्थिति आ जाती है और वाटिकाएँ हरी भरी हो उठती हैं, अतिवृष्टि होने पर किनारे-किनारे अधिक जल-प्रवाह बहने लगता है तो पर्वत तक दलक उठते हैं, जिससे झरने फूट पड़ते और शिलाओं में निहित वस्तुएँ जलधारा में बह चलती हैं :—

'उसी प्रकार जब ब्रजवासियों के सत्स्वभाव से पूर्ण अतीत की वार्ता चल पड़ी तो कृष्ण की आँखें डबडबा उठीं और उनसे विचित्र ज्योति प्रकट हुई जिसको उद्धव ने पहले कभी न देखा था। अचानक कृष्ण के विरह-विकल हृदय से स्मृतियों की चकाचौंध उत्पन्न हुई, फलतः देवताओं की आशाएँ (राक्षसों के दमन की संभावनाएँ) धूमिल हो गईं, देवलोक में सङ्कट दिखायी पड़ने लगा जबकि व्रजमण्डल में गोप-बालाओं में प्रफुल्लता व्याप्त हो गयी, भगवान् के नेत्रों के कोनों से अश्रुप्रवाह बह चला जिसका परिणाम हुआ कि योगी उद्धव के कठोर हृदय से भी धैर्य तितर-बितर होने लगा।'

स्पष्ट है कि उपमेय-दल प्रासङ्गिक होने से वाच्य है जबकि उपमानदल व्यञ्जना से आता है।

अभिधामूला व्यञ्जना पर विशेष :

१. उक्त प्रकार की सभी व्यञ्जनाओं से जो व्यंग्य अर्थ आता है उस अर्थ का चमत्कार अन्य अर्थ की अपेक्षा में अतिशायी होने पर उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य कहा जाता है, चमत्कार की गौणता में मध्यमकाव्य या गुणीभूत-व्यंग्य काव्य होता है, और व्यंग्यार्थ पूर्णतः तिरोहित हो जाय तो अवर काव्य या चित्र-काव्य माना जाता है। इसपर आगामी अध्यायों में विचार किया जायगा।

२. अभिधामूला व्यञ्जना को व्यंग्यार्थ की दृष्टि से विभाजित करने पर निम्नलिखित भेद मान्य होंगे :

(क) लक्ष्यक्रम व्यञ्जना :—इसमें व्यंग्य अर्थ के पूर्व वाच्य अर्थ का बोध होता है और दोनों का पूर्वापर-क्रम स्पष्ट रहता है। ऊपर सभी उदाहरण इसी वर्ग के हैं जिनमें पहले वाच्य या प्रासंगिक अर्थ आता है, फिर उससे व्यंग्य अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। क्रम लक्षित होता रहता है। ऊपर की शब्दशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ व्यञ्जना दो वर्गों में विभक्त हो जाती है, जिसमें लक्ष्यक्रमवाला वर्ग ऊपर देखा जा चुका है। दूसरा वर्ग 'असंलक्ष्यक्रम' नाम से जाना जाता है।

(ख) असंलक्ष्य-क्रम व्यञ्जना :—इस वर्ग में वे व्यञ्जनाएँ आती हैं जिनका व्यंग्य अर्थ संवेदनीय या भावात्मक होता है। वहाँ वाच्य अर्थ के अनन्तर तत्क्षण व्यंग्यार्थ प्रतीत हो जाता है जिससे दोनों का पूर्वापर-क्रम लक्षित नहीं हो पाता—जैसे, सौ पत्ते नीचे ऊपर रखकर सुई से छेदे जायें तो पत्तों में छेद का क्रम तो रहेगा पर ऐसा क्रम लक्षित न होगा, लगेगा कि सब पत्ते एक साथ ही छिदे हैं।

माखे लखन कुटिल भइँ भौहें।
रद-पट फरकत नयन रिसौहें॥ (मानस)

यहाँ वाच्य अर्थ के अनन्तर तत्क्षण लक्ष्मण के क्रोधभाव की व्यञ्जना हो जाती है जिससे क्रम परिलक्षित नहीं होता ।

३. उक्त लक्ष्यक्रम व्यञ्जना को अनुरणनात्मक व्यञ्जना भी कहा जाता है । जैसे घण्टा बजने के बाद देर तक अनुरणन होता रहता है, वैसा ही चमत्कार इन व्यञ्जनाओं द्वारा निष्पन्न होता है । इनके द्वारा बोधित व्यंग्य अर्थ को तीन प्रकारों में विभक्त देखा गया है—(क) शब्दशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक, (ख) अर्थ-शक्त्युत्थ अनुरणनात्मक और (ग) उभयशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ।

४. उक्त प्रकार की अनेक व्यञ्जनाएँ एक ही रचना में घटित हो सकती हैं । उस दशा में किस व्यञ्जना का अर्थ प्रधान है, इसका निर्णय कवि-प्रयास की प्रधानता के आधार पर किया जाता है । उदाहरणार्थ, ऊपर उभयशक्त्युत्थ व्यञ्जना का उदाहरण लें तो उसमें विप्रलम्भ श्रृङ्गार की उतनी ही सबल व्यञ्जना है जो 'असंलक्ष्यक्रम' वर्ग में आती है जबकि लक्ष्यक्रम उभयशक्त्युत्थ व्यञ्जना पर कवि का प्रयास अधिक लगता है—विशिष्ट शब्दार्थ-योजना में कवि ने अतिरिक्त प्रयत्न किया है, अतः वही प्रधान चमत्कारी व्यञ्जना कही जानी चाहिए ।

५. अलंकार और अलंकार्य :—इसी प्रसंग में प्रश्न उठता है कि अभिधा से आनेवाला वाच्य अलंकार और व्यञ्जना से निष्पन्न व्यंग्य अलंकार में क्या अन्तर है । दोनों को 'अलंकार' कहने से भ्रम स्वाभाविक है । कुछ अलंकार-चिन्तक दोनों को एक ही कोटि का मानकर वाच्यालङ्कार को सामान्यतः अलङ्कार कहते और दूसरे को प्रतीयमान अलङ्कार की संज्ञा देते हैं । परन्तु प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अलङ्कार काव्य का प्रधान चमत्कारी है, अतः उसे अलङ्कार कहना सङ्गत नहीं । वस्तुतः

(क) काव्य में अलङ्कार वे हैं जो प्रधानीभूत चमत्कारक काव्यार्थ को अलंकृत करते हैं । जिससे अलंकृत किया जाय वह प्रसाधन ही अलङ्कार है । मुख्य वस्तु कभी 'अलङ्कार' नहीं होती, वह तो अलङ्कार्य है । कोई भी व्यङ्ग्य अर्थ काव्य का प्रधान अर्थ है, अतः वह जब तक गौण नहीं होता, अलङ्कार कोटि में नहीं आ सकता ।

(ख) व्यङ्ग्य अर्थ को 'अलङ्कार' नाम देने का कारण प्रचलन है । वाच्यरूप में जो अलङ्कार नाम से जाने जाते हैं वे ही यदि व्यङ्ग्य रूप में आयें तो भी सुबोध होने के कारण प्रसिद्धिवश 'अलङ्कार' नाम से कह लिये जाते हैं—वस्तुतः वे 'अलङ्कार्य' हैं । आचार्यों ने 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय' से ऐसा माना है कि अलङ्कार्य भी 'अलङ्कार' नाम से अभिहित किया जाता है । जैसे, पहले कोई ब्राह्मण था, पर अब श्रमण हो गया तो भी उसे प्रचलन-वश ब्राह्मण कह दिया जाता है, इसी प्रकार वाच्य-दशा में 'अलङ्कार' नाम-वाले काव्यतत्त्व को व्यङ्ग्य-दशा में अलङ्कार्य रूप लेने पर भी सादृश्यवश अलङ्कार कहा जाता है ।

(ग) वामनाचार्य ने 'अलङ्कार' शब्द के दो अर्थ लिए हैं—भाववाचक मानकर उन्होंने उसे सौन्दर्य-पर्याय माना है, जबकि करण-वाच्य ठहराते हुए उपमादि के अर्थ में लिया है । व्यङ्ग्य रूप 'अलङ्कार' के लिए व्युत्पत्ति बदलकर अर्थ मान्य किया जा सकता

है—अलङ्क्रियते इत्यलङ्कारः। अर्थात् जिसे अलंकृत किया जाय, वह 'अलङ्कार' है। इस प्रकार अलङ्कार के तीन अर्थ होंगे—भावार्थक सौन्दर्य-पर्याय, करणार्थक प्रसाधन-पर्याय और कर्मार्थिक अलङ्कार्य-पर्याय। इनमें से व्यङ्ग्यालङ्कार के लिए अन्तिम अर्थ लेना उचित होगा।

आर्थी व्यञ्जना की हेतुभूत विशेषताएँ :

अर्थ की व्यञ्जकता के लिए ऐसी विशेषताएँ अनिवार्य होती हैं जिनमें से एक अथवा अनेक के होने पर अर्थ की व्यञ्जना संभव होती है। आर्थी व्यञ्जना से तात्पर्य उन सभी व्यञ्जनाओं से है, जो अर्थशक्त्युत्थ अभिधामूला, लक्षणामूला अथवा व्यञ्जना-मूला होती हैं। इन व्यञ्जनाओं के जिन तत्त्वों की जो विशेषताएँ कारणभूत रहती हैं, वे इस प्रकार हैं :

१. वक्ता की विशेषता :

प्रात झुकामुकी भेख छपाइ कै गागर लै घर ते निकरी ती।
जानि परी न कितीक अबार है, जाइ परी जहाँ होरी धरी ती॥
'ठाकुर' दौरि परे मोहि देखि कै, भाजि बची री बड़ी सुघरी ती।
बीर की सौं जो किवार न देउँ तौ, मैं होरिहारन हाथ परी ती॥

यहाँ 'सुरत-गोपन' को व्यञ्जना इसलिए होती है कि कहनेवाली कुलटा है। अतः वक्ता के कुलटा होने की विशेषता व्यञ्जना का कारण है।

२. श्रोता की विशेषता :

बाल, कहा लाली भई लोयन कोयन माँहि।
लाल, तिहारे दृगन की परी दृगन मैं छाँहि॥ (बिहारी)

याँ श्रोता नायक है जो रात में अन्यत्र विलास करके प्रातः नायिका के समीप आया है। उसके अपराध की विशेषता से व्यञ्जना होती है कि वह अन्य स्त्री के सहवास में रहा है।

३. काकु की विशेषता :

काली आँखों की तारा में,
मैं देखूँ अपना चित्र धन्य,
मेरा मानस का मुकुर रहे,
प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य। (कामायनी)

विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि को 'काकु' कहते हैं। यहाँ मनु की उक्ति में काकु विद्यमान है जिसकी विशेषता से व्यञ्जना होती है कि मनु श्रद्धा के प्रति एकान्त अनुराग रखने में असमर्थ हैं।

४. वाक्य की विशेषता :

देखा क्या तुमने कभी नहीं
स्वर्गीय सुखों पर प्रलय-नृत्य ?

फिर नाश और चिर-निद्रा है
तब इतना क्यों विश्वास सत्य ? (कामायनी)

यहाँ वाक्य की विशेषता से व्यञ्जना होती है कि नश्वर जगत् में अपना सुख-भोग ही सार है ।

५. वाच्यार्थ की विशेषता :

मधु बरसती विधु-किरन हैं काँपती सुकुमार,
पवन में है पुलक मन्थर, चल रहा मधुभार ।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर प्राण ? (कामायनी)

समस्त वाच्यार्थ ही वैलासिक लालसा की व्यञ्जना करता है । वाच्यार्थ की योजना की ही यह विशेषता है ।

६. अन्य-सन्निधि की विशेषता :

न सखी घर साँझ सबेरे रहैं,
घनश्याम घरी-घरी घेरे रहैं । (पद्माकर)

यहाँ सूने घर में मिलन-संकेत की व्यञ्जना है जो प्रच्छन्न प्रेमी के सामीप्य की विशेषता से आती है ।

७. प्रस्ताव की विशेषता :

घामु घरीक निवारिये कलित-ललित-अलि-पुंज ।
जमुना-तीर तमाल-तरु मिलित-मालती-कुंज ।। (बिहारी)

यहाँ स्वयंदूती का प्रस्ताव ही अपनी विशेषता रखता है जिससे उपयुक्त संकेत-स्थल की व्यञ्जना होती है ।

८. देश की विशेषता :

ऊपर के उदाहरण में देश की भी विशेषता है । अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है :

शिथिल अलसायी पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर-कण की सेज पर विश्रान्त ।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रान्त,
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कान्त । (कामायनी)

यहाँ स्थान-वर्णन की विशेषता से विलासेच्छा एवं संकेत-स्थल की उपयुक्तता व्यक्त होती है ।

९. काल की विशेषता :

ऊपर के उदाहरण में देश के साथ काल की भी विशेषता है :

कहलाने एकत बसत अहि-मयूर, मृग-बाघ ।
जगत तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ ।। (बिहारी)

यहाँ काल की विशेषता से विलासेच्छा की व्यञ्जना होती है जो स्वयंदूती के वक्ता होने, उसके प्रस्ताव आदि से भी पुष्ट होती है ।

१०. चेष्टा की विशेषता :

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम ।
हरि सनमुख करि आरसी हिएँ लगायी बाल ॥ (बिहारी)

यहाँ नायक द्वारा कमल से सिर को छुलाने की चेष्टा से नायिका के प्रति चरण-स्पर्श की व्यञ्जना की गयी है । उत्तर में नायिका ने दर्पण को हृदय से लगाने की चेष्टा द्वारा व्यक्त किया है कि तुम हृदय में बसते हो ।

व्यञ्जना-स्थापन :

व्याकरण के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में 'व्यञ्जना' जैसी शब्दशक्ति का उल्लेख नहीं मिलता, अतः स्वाभाविक है कि उसके शब्दशक्ति होने पर शास्त्रों में सविस्तार विचार किया जाय । ध्वनि और व्यञ्जना को काव्यशास्त्र में प्रवर्तित करनेवाले प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्थापित करते हुए न केवल व्यञ्जना की स्थापना की, अपितु व्यञ्जना-विरोधी मतों को भी सामने रखकर प्रत्यालोचना की । ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनिविरोधियों को तीन दलों में विभक्त किया गया है ।[५२]

१. अभाववादी :

ऐसे विचारक व्यञ्जना अथवा ध्वनि का काव्य में अस्तित्व पूर्णतः अमान्य कर देते हैं । वे समय-प्रसिद्ध काव्य-विवेचना-सरणियों के इतने भक्त हैं कि किसी नवीन चिन्तन का स्वभावतः विरोध कर चलते हैं । अभाववादियों को ध्वनिकार ने तीन दलों में रखा है—

(क) काव्य का शरीर शब्दार्थ-साहित्य है । शब्दगत चारुता के कारण अनुप्रासादि अलंकार और अर्थ-चारुता के हेतु उपमादि अलंकार हैं । वर्ण-योजना के गुण माधुर्यादि होते हैं जो बोधगम्य हैं । वर्ण-योजना रूप वृत्तियाँ—उपनागरिका, परुषा और कोमला—भी प्रकाश में आ चुकी हैं । वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियाँ भी काव्य-विवेचन में महत्त्व ले चुकी हैं । ऐसी स्थिति में काव्य-विवेचन के सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त भामह, वामन जैसे आचार्यों ने प्रस्तुत ही कर दिये हैं । उन सबसे भिन्न 'ध्वनि' क्या है ?

(ख) दूसरों का कहना है कि ध्वनि का अस्तित्व नहीं है । जो रीति, अलंकार आदि प्रसिद्ध प्रस्थान या काव्य-विवेचन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं उनका उल्लंघन करनेवाली रचना काव्य ही नहीं हो सकती । सहृदयों के हृदय को आह्लाद देनेवाली शब्दार्थमयी रचना ही काव्य है जो प्रचलित मार्गों से भिन्न काव्य-परिभाषा से संभव ही नहीं । ध्वनिवादी लोग अपने मन से कुछ सहृदय कल्पित करके साक्षी देना चाहें तो क्यों कुछ लोगों की प्रसिद्धि से चलाया हुआ काव्य-व्यवहार समस्त विद्वानों को मनस्तुष्टि दे सकेगा ?

(ग) कुछ अभाववादी ध्वनि के अभाव की घोषणा में कहते हैं कि यदि ध्वनि में कोई चारुता या चमत्कार है तो उसका रीति, गुण, अलंकार में ही अन्तर्भाव हो जायगा। ऐसी स्थिति में अपूर्व नामकरण व्यर्थ है। यह कुछ कहने के लिए कहना हुआ जो तत्त्व-हीन है। इसके अतिरिक्त वाणी के असंख्य मार्ग हैं। मान लिया जाय कि काव्याचार्यों से कोई छोटी-सी बात (प्रकार) छूट गयी हो, इस दशा में 'ध्वनि-ध्वनि' का उद्घोष करके मिथ्या-सहृदयता से आँखें मूँदकर नाच उठना अकारण है। हजारों मनीषियों ने विविध अलंकार-मार्ग निर्दिष्ट किये हैं और करते जा रहे हैं। उनकी यह दशा नहीं देखी जाती। अतः 'ध्वनि' प्रवादमात्र है—उसमें कोई विचार-योग्य तत्त्व नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में अलंकार और वक्रोक्ति का नाम भी आया है जिससे स्पष्ट है कि ध्वनिकार के समक्ष वक्रोक्ति-मत भी दबा चल रहा था।[५३]

२. लक्षणावादी :

ध्वनि का नामोल्लेख न करके भी कतिपय आचार्यों ने 'लक्षणा' का नाम इस प्रकार के सन्दर्भ में लिया है जिससे प्रतीत होता है कि यदि ध्वनि नाम सामने होता तो वे उसे लक्षणा में ही अन्तर्भुक्त करते। ऐसे आचार्य उद्भट, वामन आदि हैं।

३. अगोचरतावादी :

कुछ आचार्य 'ध्वनि' को मान्य करके भी उसे परिभाषित करने में असमर्थ रहते हैं अतः उसे वाणी से परे सहृदयों के हृदय में अनुभूतिमात्र का विषय बताते हैं। अर्थात् वे ध्वनि का स्वरूप-विवेचन न करके उसे कोई काव्य-रहस्य मानकर चलते हैं।

उक्त तीनों मतवाद उत्तरोत्तर ध्वनि-सिद्धान्त के निकट आते गये हैं। प्रथम कोटि के आचार्य पूर्वाग्रही हैं, वे प्रचलित काव्य-मतों से भिन्न कुछ भी सुनने को तैयार नहीं। दूसरे 'ध्वनि' के निकट तो आ जाते हैं पर नामोल्लेख नहीं कर पाते। तीसरी कोटि के आचार्य 'ध्वनि' को मान्यता तो देते हैं किन्तु स्वरूप-विवेचन नहीं कर पाते।

अभाव-वाद की समीक्षा :

ध्वनि अथवा व्यञ्जना-शक्ति का अस्तित्व अमान्य करनेवालों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उनकी विस्तृत आलोचना करते हुए अन्य अनेक पक्ष सामने रखे हैं। उन्हें दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) व्यञ्जना को अन्य शब्द-शक्तियों में अन्तर्भूत करनेवाले आचार्यों के मतों को 'प्रसिद्ध-शक्ति-समावेश-वाद' का नाम दिया जा सकता है।

(ख) कुछ आचार्य उसका शब्दशक्तियों में अन्तर्भाव न मानकर प्रतीति की अन्य विधाओं में अन्तर्भाव मानते हैं, उनके मतों को 'शब्दशक्ति-भिन्न-प्रतीति-वाद' कहा जा सकता है।

प्रथम वर्ग के आचार्य व्यञ्जना का अन्तर्भाव अभिधा, तात्पर्यवृत्ति अथवा लक्षणा में से किसी एक में करते हैं, अतः तीन उपवर्ग बनते हैं। दूसरे वर्ग में वे आते हैं जो

प्रत्यक्ष, स्मृति अथवा अनुमान में से किसी एक में अन्तर्भाव मानते हैं, अतः यहाँ भी तीन उपवर्ग हो जाते हैं। इन छहों का खण्डन ध्वनिमत की स्थापना हेतु अपेक्षित है जो आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है। आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तपाद के अनुसार उनकी क्रमशः समीक्षा इस प्रकार है।

१. अभिधावाद (अन्विताभिधानवाद) :

ऊपर इस मत का परिचय दिया जा चुका है। प्रभाकर-मत में वाच्यार्थ से भिन्न किसी वाक्यार्थ (अथवा अन्य अर्थ) की कल्पना नहीं हो सकती। इस विषय में दो तर्क उपस्थित किये जाते हैं—(अ) ''यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।'' अर्थात् प्रधान अर्थ ही शब्द का वाच्यार्थ होता है, जिसके प्रतिपादन के लिए ही शब्द-प्रयोग होता है। (आ) ''सोऽयमिदोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।'' अर्थात् जिस प्रकार धनुर्धर द्वारा छोड़े हुए वाणों में से किसी का दीर्घ व्यापार होता है जिससे प्रतिपक्षी का केवल वर्मच्छेद (कवच का छेदन) हो पाता है, वही वाण दीर्घतर व्यापार से वर्मच्छेद के अतिरिक्त मर्मच्छेद (हृदय-विदारण) भी करता है और उसी के दीर्घतम व्यापार से वर्मच्छेद, मर्मच्छेद और प्राणहरण तत्काल घटित होते हैं, उसी प्रकार अभिधा ही एकमात्र शब्द-शक्ति है जिसके दीर्घ, दीर्घतर, दीर्घतम रूपों से साङ्केतिक या वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ कहे जानेवाले सभी अर्थ आ जाते हैं—तदर्थ पृथक् शक्ति-कल्पना व्यर्थ है।

ये ऐसे मनीषी हैं जो अभिधा को एकमात्र शक्ति मानते हैं—तात्पर्यवृत्ति, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों का विरोध करते हैं। अभिधा का ही सारा प्रसार मान लेने पर अर्थ की चार कक्ष्याएँ बनेंगी—पदों का वाच्यार्थ, वाच्यार्थों का समन्वित वाक्यार्थ, कहीं-कहीं तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर लक्ष्यार्थ और उन सबसे ऊपर व्यङ्ग्यार्थ। एक ही नाम रखने पर भी अर्थों का कक्ष्याभेद मान्य होगा। आचार्य अभिनव ने प्रश्नोत्तर-रीति से समीक्षा की है :

(क) जिस दीर्घतर अभिधा-व्यापार पर इतना बल दिया जा रहा है, उससे क्या एक ही अर्थ आता है ? ऐसा होता नहीं है। उदाहरणार्थ :

पुर बाहिर पथ करत गतागत के नहिं हेरइत कान।
तोहर कुसुमसर कतओ न संचर, हमर हृदय पँच बान॥ (विद्यापति)

यहाँ निश्चय ही दो अर्थ हैं—एक अर्थ से नायिका कहती है कि काम का प्रभाव किसी और स्त्री पर नहीं पड़ता, मुझपर ही वह पूर्णतः प्रभावी हुआ है। दूसरा अर्थ भिन्न-विषयक है—नायिका अपना प्रेमगर्व व्यक्त करती है कि अन्य स्त्रियाँ जड़ हैं जिनमें सौन्दर्य के असीम चाकचिक्य की ग्रहणशीलता नहीं है—मैं ही उस अनन्त सौन्दर्य की राशि को आत्मसात् कर सकी हूँ।

(ख) ऐसी स्थिति में अभिधावादी को अनेक अर्थों की सत्ता स्वीकार होगी। तब प्रश्न उठेगा कि क्या ये अनेक अर्थ सजातीय हैं—एक ही अभिधा-व्यापार की जाति में आते हैं ? ऐसी स्थिति में अनेक अभिधाएँ माननी होंगी, क्योंकि एक ही शब्दव्यापार एक साथ अनेक अर्थ नहीं दे सकता।

(ग) यदि कहा जाय कि अनेक अर्थ विजातीय हैं, तब तो ध्वनि-सिद्धान्त की ही बात आ जाती है—ध्वनिवादी भी विजातीय अर्थों में से किसी को वाच्य, किसी को लक्ष्य और किसी को व्यंग्य मानता है। नामभेद न करके उन सभी को वाच्यार्थ मानने का तर्क निष्प्रयोजन है।

(घ) अब कहा जाय कि चौथी कक्ष्या में आनेवाला अर्थ ही पूरे वाक्य से तत्काल प्रतीत होता है—अर्थात् जिसे ध्वनिवादी व्यंग्यार्थ कहता है वह अर्थ ही प्रधान वाक्यार्थ है जो अभिधा द्वारा ही झटपट आ जाता है, तो प्रश्न उठता है कि बिना संकेत के ही वैसा अर्थ अभिधा से कैसे आ जाता है। उदाहरणार्थ :

होइहि जौ कर कीट अभागा। (मानस)

यहाँ प्रथम कक्ष्या में 'जौ' और 'कीट' के वाच्यार्थ—'अन्नविशेष' और 'जन्तु-विशेष' आते हैं। द्वितीय कक्ष्या में पूरे वाक्यार्थ का तात्पर्य आता है कि 'विभीषण जौ का कीड़ा बन जायगा।' परन्तु एक मनुष्य का कीड़ा होना तात्पर्य में अनुपपन्न ठहरता है अतः तृतीय कक्ष्या में लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ आता है जिससे 'जौ' का अर्थ 'राम' और 'कीट' का अर्थ 'विभीषण' निकलता है। तब चौथी कक्ष्या में प्रधान (व्यंग्य) अर्थ आता है—'जिस प्रकार जौ के पीसने का प्रयास करने और पिसने पर 'घुन' स्वयं पिस जाता है उसी प्रकार राम को ही मारने का प्रयास रावण को करना होगा, उसके साथ भी विभीषण अनायास ही मारा जायगा।' यही अन्तिम अर्थ प्रधान है और उसी को अभिधावादी वाच्य मानता है। यहाँ प्रथम तीन अर्थ अन्तिम अर्थ के निमित्त हैं और अन्तिम अर्थ नैमित्तिक (फलरूप) है। अतः पहले अन्तिम अर्थ का बोध बिना निमित्त-बोध के कैसे संभव है—पहले कारण होता है, उसके बाद फल आता है। हेतु और फल का यह पूर्वापरभाव अमान्य कर दिया जाय, ऐसा संगत नहीं।

(ङ) मीमांसा में भी अर्थ की समीपता और दूरी का सिद्धान्त मान्य है। सुनते ही प्रतीत होनेवाले अर्थ की अपेक्षा चिह्न द्वारा, वाक्य द्वारा अथवा प्रकरण आदि द्वारा आनेवाले अर्थ दूरी के कारण दुर्बल माने जाते हैं।'[५४] इसका कारण यही है। अर्थबोध की प्राथमिकता तथा परवर्तिता के आधार पर ही दूरी और समीपता का न्याय मीमांसा में चलता है। उक्त चारों अर्थकक्ष्याओं का पूर्वापरभाव उसी प्रकार मान्य है।

(च) जहाँ तक 'असंलक्ष्यक्रम' व्यञ्जना-प्रकार का सम्बन्ध है, वहाँ भी वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में क्रम रहता है जो शीघ्रता के कारण प्रकट नहीं होता—जैसा स्पष्ट किया जा चुका है।

अभिधावादी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की सीमा-रेखा अंकित नहीं करता और न ही दोनों में अन्तर करता है जबकि अन्तर अनेक प्रकार से देखा जाता है—

(अ) कभी वाच्य विध्यात्मक (स्वीकार-बोधक) होता है जबकि व्यंग्यार्थ निषेध-रूप होता है—'उस झाड़ी में जाओ, वहाँ सिंह बैठा है।' वाक्य में जाने को स्वीकारात्मक रूप में कहा गया है जबकि व्यंग्य से निषेध आता है।

(आ) कभी वाच्य निषेधात्मक होता है पर व्यंग्य विधिरूप आता है—'तुम मूर्ख नहीं हो' कहनेवाले वक्ता का भी आशय श्रोता को मूर्ख कहना हो सकता है।

(इ) कभी-कभी वाच्यार्थ स्वीकारात्मक होता है पर व्यंग्यार्थ स्वीकार और निषेध दोनों से भिन्न होता है :

जात हैं तो अब जान दै री, छिन में चलिबै की न बात चलैहैं।
त्यौं पदमाकर पौन के झूँकनि क्वैलिया कूकनि कौं सहि लैहैं॥
ये उलहे बन बाग बिहार निहारि निहारि जबै अकुलैहैं।
जैहैं न फेरि, फिरे घर ऐहैं, सु गाउँ के बाहिर पाउँ न दैहैं॥ (पद्माकर)

यहाँ यों तो बातें विध्यात्मक रूप से कही गई हैं पर व्यंग्य अर्थ स्वीकार और निषेध दोनों से पृथक् 'नायिका का प्रेमगर्व' है।

(ई) कभी निषेधात्मक वाक्य से ऐसा व्यंग्यार्थ आता है जो विधि-निषेध दोनों नहीं होता :

तूँ रहि, हौं ही, सखि, लखौं, चढ़ि न अटा, बलि, बाल।
सबहिनु बिनु ही ससि उदै, दीजतु अरघ अकाल॥ (बिहारी)

यहाँ नायिका के मुख के चन्द्र-तुल्य होने तथा सौन्दर्यातिशय की व्यञ्जना की गई है।

(उ) विषय-भेद :—प्रायः वाच्य और व्यंग्य में विषयगत एकता नहीं रहती—दोनों के उद्देश्य या विषय भिन्न होते हैं।

(ऊ) अलङ्कार-व्यञ्जनाओं में भी वाच्य से व्यङ्ग्य का भेद स्पष्ट रहता है जिस-पर विचार किया जा चुका है।

(ऋ) रस-भाव-व्यञ्जना के क्षेत्र में तो निश्चय ही वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का भेद स्पष्ट रहता है।

× × ×

२. तात्पर्यवाद (अभिहितान्वयवाद) :

अभाववादियों का एक वर्ग ऐसा है जो तात्पर्यवृत्ति में व्यञ्जना का अन्तर्भाव मानता है। ऐसे आचार्य यह मानते हैं कि जिसे व्यङ्ग्य अर्थ कहा जाता है, वह तात्पर्यार्थ से भिन्न अस्तित्व नहीं रखता (इस मत पर आगे भी विचार किया जायगा)। इस मतवाद पर निम्नलिखित आपत्तियाँ हैं :

(अ) तात्पर्यवृत्ति वाक्य-घटक पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्धों का बोध करानेवाली शक्ति है। वाक्यार्थ अथवा तात्पर्य जानने के बाद ही व्यञ्जना का अवसर आता है। अतः व्यञ्जनाशक्ति का तात्पर्यवृत्ति में अन्तर्भाव मान्य नहीं हो सकता।

(आ) यदि प्रधान अर्थ तक तात्पर्य-वृत्ति की ही व्याप्ति मान ली जाय तो लक्षणा-

शक्ति भी अमान्य होनी चाहिए जबकि अभिहितान्वयवादी लक्षणावृत्ति को मानकर चलते हैं।

(इ) यदि कहा जाय कि प्रधान अर्थ में और सम्बन्धबोध में उभयत्र तात्पर्यवृत्ति ही काम करती है तो नाम का ही विवाद बचता है। सम्बन्धबोधक तात्पर्यवृत्ति से भिन्न तात्पर्यवृत्ति को 'व्यञ्जना' नाम देना अधिक सङ्गत है क्योंकि इससे उसके वैविध्य एवं चमत्कार सुगम किये जा सकते हैं।

× × ×

३. लक्षणावाद :

लक्षणा पर ऊपर विचार किया जा चुका है। यहाँ केवल यह द्रष्टव्य है कि लक्षणा में व्यन्जना का अन्तर्भाव करके व्यञ्जना शक्ति का अभाव मानना तर्क-संगत नहीं है।

(अ) जहाँ लक्षणा का सर्वथा अभाव होता है, वहाँ भी चमत्कारी अर्थ रहता है।

स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवनि करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौं नीर॥ (बिहारी)

यहाँ रस-व्यन्ना के चमत्कार में लक्षणा का कोई सन्दर्भ नहीं है। इसी प्रकार अभिधामूला व्यन्जना के जितने भी भेद गिनाये गये हैं उनमें लक्षणा के बिना ही व्यङ्ग्य अर्थ की उपलब्धि होती है।

(आ) यह भी आवश्यक नहीं कि जहाँ लक्षणा हो वहाँ सर्वत्र चमत्कारी अर्थ (ध्वनि) की उपलब्धि हो। रूढ़ा लक्षणा का व्यन्जना से कोई सम्बन्ध नहीं बनता। लक्षणा का यह रूढ़ा भेद वस्तुतः अभिधा के निकट आ जाता है।[५५]

(इ) प्रयोजनवती लक्षणा के प्रयोजन का बोध भी लक्षणा से संभव नहीं। लक्ष्यार्थ के वृत्त से पृथक् प्रयोजन का वृत्त है :

कौन हो तुम वसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार,
घन-तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार। (कामायनी)

यहाँ वसन्त, पतझड़, घनतिमिर, चपला, तपन और बयार शब्दों के वाच्यार्थ क्रमशः ऋतुराज, शिशिर, मेघों का अन्धकार, बिजली, ग्रीष्म और वायु हैं; लक्ष्यार्थ की कोटि में 'आह्लादक, शून्यता, निराश दशा, आशा-सञ्चार, व्यथा-सन्ताप और शान्ति-दायक' जैसे अर्थ आते हैं जिनका बोध तीन शर्तों पर टिका रहता है—वाच्यार्थ से तात्पर्य की अनुपपत्ति, वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सादृश्य-सम्बन्ध और लक्ष्यार्थ से निष्पन्न होनेवाला प्रयोजन। उक्त सभी प्रतीकों से प्रयोजन रूप में अतिशय सुखदायकता का बोध होता है

जो तीसरी कोटि का अर्थ है। दूसरी कोटि का अर्थ-बोध हो चुकने पर लक्षणा के बीज समाप्त (चरितार्थ) हो जाते हैं। प्रयोजन की कोटि का अर्थ-बोध कराने में लक्षणा समर्थ नहीं है क्योंकि उसकी तीनों शर्तें (बीज) वहाँ लागू नहीं होतीं। अतः उसके लिए अतिरिक्त शब्दशक्ति की अपेक्षा है।

(ई) स्पष्ट है कि लक्षणा सदैव शब्द के वाचकत्व (अभिधा) के अधीन रहती है—वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध ही लक्षणा का विषय रहता है। व्यङ्ग्य अर्थ के लिए शब्द को व्यञ्जक होना ही चाहिए, अन्यथा लक्षणा के रहने पर भी व्यङ्ग्य अर्थ नहीं आ सकता। 'नेता लोग जा रहे हैं' वाक्य में लक्षणा द्वारा नेताओं के साथ चलनेवाले उन लोगों का भी बोध हो सकता है जो नेता न होकर उनके अनुयायी हैं परन्तु इतने से व्यङ्ग्य अर्थ नहीं आ सकता।

(उ) इतना अवश्य है कि लक्षणामूला व्यञ्जना से आनेवाले व्यङ्ग्य अर्थ का कारण लक्षणा होती है जो अभिधा और व्यञ्जना के मध्य में आती है। इससे लक्षणा और व्यञ्जना को एक नहीं किया जा सकता।

(ऊ) मान भी लें कि जहाँ लक्ष्यार्थ के बाद प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ की निष्पत्ति होती है वहाँ लक्षणा का ही क्षेत्र-विस्तार है, तो भी अभिधामूला व्यञ्जना का विशाल क्षेत्र बच रहता है जहाँ लक्षणा का प्रवेश तक नहीं होता।

× × ×

४. प्रत्यक्षवाद :

शब्द से आनेवाला वाच्य अर्थ भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता—शब्द का श्रवणेन्द्रिय से भले ही प्रत्यक्ष हो, पर अर्थ का उससे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में लक्ष्यार्थ या व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यक्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

× × ×

५. स्मृतिवाद :

कुछ विचारक व्यङ्ग्यार्थ को स्मृति में अन्तर्भूत मानकर उसे शब्दशक्ति से बाहर की वस्तु बताते हैं। रसस्मृति का ऐसा ही सिद्धान्त भट्टनायक ने खण्डित किया है जिसपर आगे विचार किया जायगा। अनुभव में आये हुए तथ्यों को ही स्मृतिगम्य बनाया जा सकता है, जबकि व्यङ्ग्यार्थ प्रथमानुभूत तथ्य नहीं होते अतः स्मृति में उनका समावेश कथमपि संभव नहीं।

× × ×

६. अनुमानवाद :

न्यायमत में काव्य-बोध की प्रक्रिया को शब्दशक्ति से पृथक् अनुमान की वस्तु माना जाता है जिसपर आगे विवेचन होगा। यहाँ द्रष्टव्य है कि अनुमान में उपयुक्त सामग्री व्यञ्जना-स्थल में सम्भव नहीं हो पाती अतः दोनों का क्षेत्र पृथक् एवं स्पष्ट है।

अनुमान के लिए हेतु और साध्य की व्याप्ति अनिवार्य होती है—अर्थात् जिस साधन के द्वारा जिस साध्य का अनुमान किया जाता है उन दोनों को एक ही पक्ष (स्थान) में विद्यमान होना चाहिए, दोनों का अनिवार्यतः सम्बन्ध रहना चाहिए, जैसे, धुएँ से आग का अनुमान तभी होता है जब दोनों एक स्थल में विद्यमान हों और साथ ही यह भी ज्ञात रहना चाहिए कि साधन और साध्य (धूप और अग्नि) का एकान्त सम्बन्ध रहता है—जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग अवश्य रहती है, इस साहचर्य-नियम को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति के अपूर्ण होने पर अनुमान की कल्पना नहीं हो सकती। काव्य में व्याप्ति की अनिवार्यता न होने से अनुमान असंगत रहता है। उदाहरणार्थ :

सहर मँझावत पहर एक लागि जैहै,
बसती के छोर पै सराइ है उतारे की।
कहत कबिन्द मग माँझ ही पुरैगी साँझ,
खबरि उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की॥
घर के हमारे परदेस को सिधारे, तातें,
दया करि बूझैं हम रीति राह बारे की।
करकैं नदी के बर बर कैं तरैं तू बस,
चौंकै मति, चौकी इत पाहरू हमारे की॥

यहाँ प्रच्छन्न-कामुकी स्वयंदूती वाक्चातुरी से पथिक को आगे जाने में भयानकता का कृत्रिम आरोप व्यक्त करती है, पति के प्रवासी होने की सूचना देकर एकान्त सूनापन तथा निर्विघ्न मिलन प्रकट करती है और नदीतटवर्ती वटवृक्ष को संकेतस्थल बताना चाहती है। यह सब व्यञ्जना शक्ति से आनेवाला अर्थसमूह है। अनुमान के लिए आवश्यक व्याप्ति यहाँ खरी नहीं उतरती—वाच्यार्थ की परिधि में आये हुए तथ्य कोई परोपकार की भावना से भी कह सकता है—जहाँ-जहाँ ऐसे शब्द आयें वहाँ सर्वत्र उक्त प्रतीयमान अर्थ की सत्ता अनिवार्यतया व्याप्त नहीं कही जा सकती। अनुमान का आधार प्रत्यक्ष अनुभव होता है जिसका यहाँ अभाव है।[५६]

व्यञ्जना की अर्थगत विशेषताएँ :

सामान्य अर्थ या वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की विशेषताएँ व्यञ्जना-शक्ति की सत्ता प्रामाणित करती हैं।

(१) वाच्य अर्थ का बोध शब्द और अर्थ का अनुशासन जाननेवाले कर लेते हैं परन्तु व्यङ्ग्यार्थ-बोध उन्हीं को हो पाता है जो काव्य-तत्त्व-ज्ञ होते हैं।[५७]

(२) कवि के व्यञ्जक शब्द और अर्थ यत्नपूर्वक जाने जा सकते हैं—यह पहचानने का अभ्यास करना होता है कि कौन-सा शब्द या अर्थ या दोनों व्यञ्जक-कोटि में आते हैं। कवित्व की परिणति केवल वाच्य-वाचक-योजना-मात्र नहीं है।[५८]

(३) वाच्य अर्थ साधन या उपाय है जिससे व्यङ्ग्यार्थ की काव्य द्वारा उपलब्धि होती है—व्यङ्ग्य अर्थ ही साध्य या उपेय तत्त्व रहता है। जैसे, प्रकाश चाहनेवाले को

दीपशिखा के लिए यत्न करना होता है पर दीपशिखा साधन मात्र है, इसी प्रकार वाच्यार्थ का साधन-रूप में ही उपयोग होता है।[५९]

(४) जिस प्रकार विविध पदों के अर्थों के माध्यम से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के माध्यम से व्यंग्यार्थ की उपलब्धि होती है—वाच्य व्यंग्य का माध्यम होकर ही काव्य में आता है। जिस प्रकार वाक्यार्थ-बोध होने पर पदार्थों की सत्ता लीन हो जाती है—उनका वाक्यार्थ में समर्पण हो जाता है, उसी प्रकार से व्यंग्यार्थ की निष्पत्ति होने से वाच्यार्थ आत्मसमर्पण करता है।[६०]

(५) जिस प्रकार पदार्थ-बोध अनिवार्यतः वाक्यार्थ-बोध कराता है और कोई वक्ता या श्रोता पदों के अर्थ इसीलिए उपादेय मानता है कि उनसे वाक्यार्थ बनता है, उसी प्रकार सहृदयजन वाच्यार्थ से विमुख रहते हैं—उसे साधन रूप में ग्राह्य बनाते हैं। उनकी तत्त्वदर्शिनी बुद्धि में तत्क्षण काव्यार्थ की विश्रान्ति नहीं होती है, व्यंग्यार्थ ही चरम विश्रामस्थल है।[६१]

(६) द्रष्टव्य है कि वाक्यार्थ-बोध-क्षण में पदार्थ-बोध तिरोहित हो जाता है—तभी अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति संभव होती है। यह बात व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में लागू नहीं—वहाँ व्यंग्यार्थ-बोध के क्षण में वाच्यार्थ-बोध तिरोहित नहीं होता क्योंकि वाच्यार्थ के आभास को लेकर ही व्यंग्यार्थ प्रकट होता है। अतः दीपशिखा का उक्त दृष्टान्त ही संगत है। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार पदार्थ-समूह वाक्यार्थ-बोध का साधन है, उसी प्रकार वाच्यार्थ (अथवा लक्ष्यार्थ) व्यंग्य-बोध का साधन रहता है।[६२]

निष्कर्ष :

वक्ता, श्रोता एवं प्रकरण आदि की विशेषता से अवसर-विशेष पर कहा हुआ कोई वाक्य या पद अथवा पदांश एक विशाल अर्थवृत्त लेकर उपस्थित होता है। उस अर्थवृत्त में अर्थच्छायाओं की अनेकरूपता देखी जाती है। समग्र अर्थवृत्त का विश्लेषण एकरस मानकर नहीं किया जा सकता अतः विविध खण्डों में देखने की प्रणाली ही अर्थ-तत्त्व को पूर्णतः बोधगम्य बना सकती है। इस प्रक्रिया में शब्द और अर्थ के विविध सम्बन्ध काम करते हैं जिन्हें शब्द-व्यापार या शब्दवृत्ति अथवा शब्दशक्ति का नाम दिया जाता है। अर्थ की विविधता मान्य होने पर निश्चित है कि शब्दशक्ति की अनेकता मान्य की जाय। इस विषय में नैयायिक मनीषी केवल दो शब्दशक्तियों—अभिधा और लक्षणा—को ही मानकर चलते हैं, कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक उक्त दो के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति को तीसरा शब्दव्यापार मानते हैं, वैयाकरण अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों को मान्य करते हैं, वे तात्पर्यवृत्ति नहीं मानते, उसका काम वे वाक्य-शक्ति से चलाते हैं—उनका अभिमत है कि सम्पूर्ण वाक्य ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोधक होता है।

मीमांसानुयायी आचार्य व्यञ्जना का काम तात्पर्यवृत्ति से लेने के पक्षपाती हैं, जबकि देखा गया है कि तात्पर्यवृत्ति की सीमाएँ केवल पदार्थों के परस्पर-सम्बन्ध के

निर्धारण तक रहती हैं अतः पूरे वाक्य या पद या पदांश से आनेवाले अर्थतत्त्व की—जो अन्य शब्दशक्तियों की सीमा में नहीं आता—व्याख्या तात्पर्य-वृत्ति के आधार पर असंभव है। उदाहरणार्थ :

दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात। (कामायनी)

यहाँ समूचे वाक्य से 'उत्साह' भाव व्यक्त होता है जो उन पदार्थों के सम्बन्ध रूप तात्पर्य की सीमा से परे है। इसके साथ ही यह अर्थ कि—'आनन्दतत्त्व नग्न रूप में नहीं आना चाहता अतः दुःखरूपी झीना आवरण पहने रहता है, इससे दुःख को ही सत्य मान बैठना भूल है, आवरण में छिपे हुए सुखतत्त्व को ही देखना सच्ची जीवनदृष्टि है।' एक वस्तुरूप अर्थ है जो तात्पर्य से नहीं आ सकता। इसी में गौण रूप से उपमा अलंकार भी व्यक्त होता है—जिस प्रकार सभ्य व्यक्ति वस्त्रों से आवृत होकर ही प्रकट होता है उसी प्रकार सुख भी दुःखावृत होकर आता है। इसे भी तात्पर्य-सीमा में नहीं ले सकते। इस प्रकार की अलंकार-व्यञ्जना से समासोक्ति अलंकार बनता है जिसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहा जाता है।

जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मन तव आनन-चंद-चकोरू॥ (मानस)

यहाँ 'बरोरू' पद ही राजा की अतिरिक्त विलास-प्रवृत्ति की व्यञ्जना करता है जो तात्पर्यार्थ से बहिर्भूत ही है।

रंगभूमि जब सिय पगु धारी।
देखि रूपु मोहे नर नारी॥ (मानस)

यहाँ 'पगु' और 'रूपु' शब्दों का पदांश—एकवचन—ही प्रधान व्यञ्जक हो उठा है—अर्थात् सीता ने एक ही डग रङ्गभूमि में रखा था कि उस एक मात्र रूप को असंख्य नर-नारी देखने लगे और सबके सब मोहित हो गये। इस प्रकार की व्यञ्जना का भी तात्पर्य में अन्तर्भाव संभव नहीं।

न्यायमत में व्यञ्जना को ही अमान्य नहीं किया जाता, प्रत्युत यह भी अमान्य ठहराया जाता है कि व्यंग्य कहा जानेवाला अर्थ शब्द की शक्ति से जाना जाता है—वहाँ उसे अनुमेय ठहराया जाता है जिससे वह अर्थ शब्द के अर्थ से अनुमान द्वारा जाना गया अनुमित अर्थ सिद्ध होता है। अनुमान की जटिल प्रणाली लागू करना अत्यन्त कठिन है—अनुमान में ज्ञात सम्बन्ध से अज्ञात वस्तु का बोध होता है जिसमें हेत्वाभास (Fallacy) आ जाने पर अनुमान की सम्पूर्ण प्रक्रिया असंगत हो जाती है। व्यञ्जना के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है।

इन्हीं कारणों से व्याकरणमत का अनुसरण करते हुए काव्यमत अपनाकर ध्वनि-सिद्धान्त अग्रसर हुआ है। ध्वनि-सिद्धान्त में शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—मान्य की जाती हैं। व्यञ्जना को सर्वोपरि महत्त्व देकर विचार किया जाता है अतः व्यंग्य अर्थ को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा दी जाती है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। इस आधार पर काव्य का स्वरूप और उसके भेदों का आगे विचार किया जायगा।

ध्वनिमत में काव्य का स्वरूप तथा वर्ग-विभाजन ३

काव्य-स्वरूप-निरूपण की परम्परा :

काव्य क्या है ? यह प्रश्न आज बड़ा जटिल है, परन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि काव्य शब्दजगत् की वस्तु है और यह भी निश्चित है कि सामान्य शब्द-समूह से काव्य-शब्द की कुछ विशेषताएँ होती हैं। वे विशेषताएँ क्या हैं ? शब्दगत विशेषताओं या अर्थगत विशेषताओं या उभयनिष्ठ विशेषताओं को लेकर काव्य-स्वरूप बनता है ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर से काव्य की परिभाषा स्वतः उभर आती है और भारतीय चिन्तन-धारा में इसी पर बल देकर विचार हुआ है।

भरत ने काव्य के लक्षणों, गुणों और रसों का विस्तृत विवेचन उपस्थापित किया था। उनके अनुसार लक्षण, गुण एवं रस से युक्त शब्द और अर्थ को काव्य की संज्ञा दी गयी। भरत लक्षणों का प्रयोग इसके अनुसार ही मान्य करते हैं, फलतः रसात्मकता काव्य का अन्तरङ्ग स्वरूप है और लक्षण तथा गुण उसकी बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। अलङ्कारों का सन्निवेश भी रसानुसार ही मान्य ठहराया गया है। देखा जा चुका है कि भरत ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव को रस-व्यञ्जना का कारण माना है, अतः उनकी दृष्टि में रस प्रत्यक्ष-कथन की वस्तु न होकर अभिव्यङ्ग्य तत्त्व है। भरत ने अभिव्यञ्जना तत्त्व का विविक्त रूप से विचार उपस्थित नहीं किया, अतः ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व आचार्यों की दृष्टि उसपर जम नहीं सकी जिससे विविध काव्य-परिभाषाएँ सामने आयीं। भारतीय नाट्शास्त्र के आधार पर काव्य का स्वरूप कुछ इस प्रकार निर्धारित होता है :

"लक्षण, गुण और अलङ्कार से युक्त भाषा की उस रचना को काव्य कहेंगे जिसमें विभावादि के द्वारा रस व्यक्त होता हो।"

भरत द्वारा प्रतिपादित छत्तीस काव्यलक्षणों को सामने रखा जाय तो महत्त्वपूर्ण तथ्य यह निकलता है कि गुण और अलङ्कार का आधार लक्षण-समूह रहता है, अतः परिभाषा में लक्षणों का समावेश कर लेने पर गुणालङ्कार स्वतः प्रकट हो जाते हैं, उनको अलग से काव्यपरिभाषा में गिनने की आवश्यकता नहीं रहती। लक्षणों का प्रयोग भरत ने रस-सापेक्ष ही मान्य किया है, अतः काव्य के दो पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं—(१) रस अथवा अनुभूतिपक्ष और (२) लक्षण अथवा अभिव्यक्तिपक्ष। क्योंकि लक्षणों के विषय में उनका स्पष्ट कथन है :

"सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसंतु"

अर्थात् काव्य में रसों के अनुसार ही लक्षणों का उपयुक्त प्रयोग करना चाहिए—जैसा प्रथम अध्याय में देखा जा चुका है, अतः संश्लिष्ट परिभाषा इस प्रकार बनती है :

"रसानुसार लक्षणों के प्रयोग से युक्त भाषा-रचना काव्य है।"

"सलक्षण रसात्मक रचना काव्य है।"

भरत से भामह तक आते-आते दो विचार सामने आये—(१) अलङ्कार नाम से ही काव्यतत्त्वों का परिगणन हो चला और (२) एक विवाद खड़ा हुआ कि शब्द को काव्य कहा जाय अथवा अर्थ को। मतभेद से कुछ मनीषी शब्द को काव्य मानते हुए शब्दालङ्कारों को ही काव्यालङ्कार कहते थे, जबकि दूसरे पक्ष के विचारक अर्थ को काव्य मानकर अर्थालङ्कारों को ही काव्यालङ्कार की संज्ञा देने लगे थे। इस विवाद का शमन करते हुए भामह ने समन्वय का मार्ग अपनाया और दोनों प्रकार के अलङ्कारों को काव्यालङ्कार घोषित करते हुए काव्य की परिभाषा में शब्द और अर्थ दोनों को ग्राह्य किया :

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

इस परिभाषा से इतना ही आता है कि शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। काव्य में न केवल शब्द की प्रधानता रहती है, न एकाकी अर्थ की, प्रत्युत दोनों का सम्मिलित समायोग रहता है—दोनों को अलग करके किसी एक की काव्य-संज्ञा नहीं बन सकती।

इस मान्यता पर प्रश्न उठता है कि जिन अलङ्कारों को काव्यालङ्कार कहा गया है उनकी स्थिति शब्द और अर्थ के सहभाव पर अवलम्बित है अथवा शब्दार्थ-साहित्य से ही अलङ्कारों की निष्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अलङ्कारों की सत्ता से शब्दार्थ-साहित्य स्वयं बन जाता है या शब्दार्थ-साहित्य होने पर अलङ्कार स्वतः स्फुरित होते हैं। भामह के अनुसार कहा जायगा कि शब्दार्थ-साहित्य और अलङ्कार परस्पर सापेक्ष तत्त्व हैं—एक दूसरे पर दोनों अवलम्बित हैं। ऐसी स्थिति में अलङ्कार काव्य के अपरिहार्य अङ्ग बन जाते हैं क्योंकि उनके बिना शब्दार्थ-सहभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

आचार्य भामह की मान्यता को अपेक्षित आदर देकर भी समस्या जहाँ की तहाँ रहती है। स्वयं उन्होंने अलङ्कारों से भिन्न कई काव्य-तत्त्व गिनाये हैं—(१) वे गुणों को अलङ्कारों के साथ पृथक् विवेचित करते हैं। उनका अभिप्राय गुणों को भी अलङ्कार-विशेष मानने का रहा है, पर उनके शब्दों से कुछ भी स्पष्ट नहीं है। (२) रीतियों का भी वे उल्लेख करते हैं। क्या रीतियाँ गुण एवं अलङ्कार से भिन्न काव्यतत्त्व हैं? (३) वक्रोक्ति को भामह ने सभी अलङ्कारों का आधार बताया है, तो क्या उसे अलङ्कारात्मा (या आगे बढ़कर काव्यात्मा) की संज्ञा दी जा सकती है? (४) भामह रस की स्फुटता में 'रसवत्' अलङ्कार की बात करते हैं, इससे विचित्र तथ्य सामने आता है—रस की पृथक् सत्ता भामह को भी मान्य है जबकि उसकी स्फुटतावाले शब्दार्थ में

वे 'रसवत्' अलङ्कार कहते हैं। स्पष्ट है कि स्फुटता के अभाव में 'रस' तो रहता है पर 'रसवत्' अलङ्कार नहीं हो सकता। तो क्या रस को भामह के अनुसार भी काव्य का सर्वस्व माना जा सकता है?

भामह के काव्यालङ्कार में इन प्रश्नों का उत्तर खोजना कठिन है। इतना अवश्य है कि उनकी काव्य-परिभाषा काव्य के बाह्य पक्ष या अभिव्यक्ति को लेकर है। फिर भी भामह के अनुसार शब्द, अर्थ और तत्सम्बन्धी अलङ्कार ही काव्यतत्त्व नहीं हैं अपितु रीति, गुण, वक्रोक्ति और रस-भावादि भी काव्यतत्त्व हैं जबकि उनपर अपेक्षित विवेचन नहीं हो पाया है। वक्रोक्ति को अलङ्कार में समाविष्ट भी कर सकते हैं पर शेष तीन तत्त्वों का पृथक् अस्तित्व बच रहता है। 'रस' का 'रसवत्' अलङ्कार में समावेश नहीं हो पाता, प्रत्युत शब्दार्थ द्वारा इसकी स्फुट प्रतिपत्ति 'रसवत्' है।

उक्त प्रश्नों का आंशिक समाधान आचार्य वामन देते हैं। वे गुणालङ्कार-परिष्कृत शब्दार्थ-साहित्य को काव्य नाम देते हैं। उनके अनुसार 'गुण' काव्य के अनिवार्य शोभा-जनक तत्त्व हैं जबकि अलङ्कार उस जनित शोभा के पोषक बाह्य तत्त्व हैं, अतः काव्य होने के लिए शब्दार्थ-समूह का गुणात्मक होना आवश्यक है। गुणों का स्वरूप रीतियों में प्रकट होता है, अतः रीति ही काव्य का आत्म-तत्त्व है :

रीतिरात्मा काव्यस्य।

रीतियों की सत्ता से गुणों का अस्तित्व स्वतः आ जाता है और गुणों में ही 'रस' तत्त्व का समावेश है—कान्तिगुण जहाँ होगा वहाँ रस होगा ही और 'कान्ति' प्रायः अपरिहार्य गुण है। वस्तुतः वामन 'सौन्दर्य' को ही काव्य का प्रयोजन मानकर चलते हैं और अलङ्कार (भाववाचक संज्ञा) शब्द से उसका ग्रहण करते हैं। काव्य से सौन्दर्य की उपलब्धि गुणालङ्कारों के ग्रहण और दोषों के त्याग से होती है। अतः वामन के अनुसार :

"काव्य वह रीति-सम्पन्न रचना है जिसमें दोषों के त्याग और गुणालङ्कारों के ग्रहण से सौन्दर्य की उपलब्धि होती है।"

आचार्य वामन की मान्यता पर कुछ प्रश्न किये जा सकते हैं :

(१) जो सौन्दर्य गुणों और अलङ्कारों के ग्रहण तथा दोषों के परिहार से उपलब्ध होता है, उसका काव्य में क्या स्वरूप है?

(२) वामन ने जिन काव्यतत्त्वों का उल्लेख किया है वे सब अभिव्यक्ति-पक्ष का स्वरूपमात्र देते हैं, उनसे उस भावतत्त्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता जिसके लिए उन्होंने काव्य को ग्राह्य बताते हुए 'सौन्दर्य' नाम दिया है।

(३) जब शब्द और अर्थ आते हैं तो उनकी विविधता भी विवेचित होनी चाहिए। शब्द और अर्थ के व्यापारों की विवेचना किये बिना सम्भव नहीं कि उनके वास्तव स्वरूप को जाना जा सके। वामन ने ऐसा विचार कहीं नहीं किया है।

(४) वामन यह मानकर चले हैं कि रीतियों का उचित सन्निवेश होने पर

काव्य-सौन्दर्य स्वतः सुलभ होता है, अतः उसका विवेचन आवश्यक नहीं ठहराया है। इसके विपरीत कहा जा सकता है कि काव्य-प्रयोजन के रूप में मान्य सौन्दर्य-तत्त्व का उचित निर्वाह करने से गुण और अलङ्कार स्वतः आ जाते हैं। अतएव महिम भट्ट का कथन है कि "रस-काव्य के लिए उद्यत कवि अलङ्कार जमाने में यत्नशील नहीं होता—अलङ्कार तो रस-सिद्धि के साथ स्वतःसिद्ध हो जाते हैं"।[1]

(५) यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो वामन की काव्य-विवेचन-प्रणाली जटिल है। गुणों और अलङ्कारों के संगुम्फन पर ही कवि का ध्यान केन्द्रित रहे और सहृदय-समाज उन्हीं के आधार पर काव्य-प्रशस्ति में लग जाय तो एक जड़ता की स्थिति आ जाती है जिससे काव्य के अन्तरङ्गभूत सौन्दर्य-तत्त्व की हानि ही अधिक सम्भावित है। अभिव्यक्तिमात्र को विवेच्य मानकर चलना काव्य के कोमल स्वरूप के विपरीत ठहरता है—जब अभिव्यक्ति है तो उसका अभिव्यङ्ग्य होना ही चाहिए और वही काव्य का प्राण होना चाहिए।

उक्त समस्याओं के समाधान की खोज ध्वनि-सिद्धान्त में ही सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम रीति से हुई, अतः वह अब तक प्रतिभा का कण्ठहार बना रह सका।

ध्वनिमत में काव्य का स्वरूप-विवेचन :

आचार्य वामन 'सौन्दर्य' को अलङ्करणमात्र मानकर चले थे परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने उसे काव्य के प्रधानीभूत अर्थ के रूप में प्रतिष्ठा देते हुए ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा दी और भरत-सम्मत 'रस' के आधार पर काव्य-विवेचना की। वाल्मीकि का उल्लेख करते हुए उन्होंने घोषणा की कि रस ही काव्यात्मा है जो व्यङ्ग्य (ध्वनि) रूप में उपलब्ध होता है। काव्य का शुभारम्भ ही भाव-तत्त्व के आधार पर हुआ है, अतः वही काव्य में सर्वोपरि विवेच्य तत्त्व ठहरता है।[2] विविध अलङ्कार तो वाच्यार्थ की सीमा में आते हैं जिनका विवेचन पूर्वाचार्यों ने बहुत अधिक किया था, अतः ध्वनिकार ने उन्हें छोड़ दिया है। वे ऐसा मानकर चले हैं कि प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ काव्यगत गुण, अलङ्कार, रीति आदि प्रकारों से भिन्न है और उन सबमें उसी प्रकार छाया रहता है जिस प्रकार दृश्यमान अङ्गों में उनसे भिन्न लावण्य-तत्त्व व्याप्त रहता है।[3] ध्वनिकार का अभिमत इस प्रकार समझा जा सकता है :

(१) जिस प्रकार सुन्दरी की अङ्ग-संघटना को ही सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता, वह उसी में से व्यक्त होनेवाला तत्त्व है, उसी प्रकार काव्य के चमत्कार को गुण, अलङ्कार आदि वाच्यार्थसीमा में नहीं गिना जा सकता, प्रत्युत वह उनसे प्रतीत होनेवाला तत्त्व-विशेष है।

(२) गुण, रीति, अलङ्कार और दोषाभाव काव्य के बाह्य तत्त्व हैं जो ध्वनि-मत में यथावत् मान्य हैं परन्तु उन्हें काव्य का साध्य नहीं माना जा सकता—साध्य तो वह चमत्कार है जो आन्तर तत्त्व है और उक्त बहिरङ्ग तत्त्वों में से व्यक्त होता है। वही काव्य-सौन्दर्य (अनुभूतितत्त्व) है जो सहृदयों का प्राप्य तथा काव्य द्वारा प्रेषणीय परम प्रयोजन है।

(३) यही अन्तरङ्ग सौन्दर्यानुभूति काव्यात्मा है और वही सहृदयों की प्रशस्ति का विषय है। उसे कभी वाच्यरूप में नहीं लाया जा सकता—वह प्रतीयमान रूप (व्यङ्ग्य रूप) में ही आता है। यों काव्य के दो पक्ष स्पष्ट हैं—वाच्यपक्ष जिसमें लक्ष्यार्थ भी आ जाता है और जो अभिव्यक्तिपक्ष है, तथा व्यङ्ग्यपक्ष जो काव्य का अन्तरङ्ग भावपक्ष है। द्वितीय ही काव्य-सर्वस्व है।[४]

(४) व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साध्य होकर काव्य में आता है। व्यङ्ग्य अर्थ के वस्तु, अलङ्कार और रस तीन प्रकार देखे जाते हैं। तीनों रूपों में व्यङ्ग्य वाच्य से भिन्न ठहरता है (जिसपर व्यञ्जना-स्थापन के सन्दर्भ में विचार किया जा चुका है)। यहाँ तक कि वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा व्यङ्ग्य अलङ्कार अतिशय चमत्कारी होता है :

अन्त मरैंगे, चलि, जरैं, चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली ये निरधूम अँगार॥ (बिहारी)

यहाँ पलाश-कुसुमों में निर्धूम अङ्गार की भ्रान्ति वाच्य अलङ्कार है जिससे अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्यरूप में आता है—मरण के कारण होने में अयोग्य किंशुकों को उसके योग्य बनाया गया है, अतः असम्बन्ध में सम्बन्धवाली अतिशयोक्ति है। निश्चय ही द्वितीय व्यङ्ग्य अलङ्कार प्रथम वाच्य अलङ्कार की तुलना में अधिक चमत्कार देता है—कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से वही प्रतिपाद्य है, अतः काव्य द्वारा वही प्रेषणीय है।

(५) उक्त उदाहरण में व्यंग्य अलंकार की प्रमुखता है परन्तु ध्वनिकार एक ओर रस को ही काव्यात्मा मानते हैं, दूसरी ओर प्रतीयमान के तीनों भेदों को काव्यात्मा के सन्दर्भ में उपस्थापित करते हैं जिससे एक प्रकार का विरोधाभास आता है। समस्या पर विचार करते हुए आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने समाधान दिया है। प्रधानीभूत व्यंग्य के रूप में जहाँ रसादि आते हैं वहाँ कोई विरोध नहीं है। विरोध वहीं आता है जहाँ प्रधान व्यंग्यार्थ वस्तुरूप अथवा अलंकाररूप होते हैं। वैसे स्थलों में भी चरमपरिणति रस में ही होती है। उक्त उदाहरण में यद्यपि अतिशयोक्ति प्रधान चमत्कारक है, फिर भी विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही अन्त में परिणत होता है जो व्यंग्य का व्यंग्य है। इसी प्रकार वस्तु-व्यंग्य के स्थलों में देखा जा सकता है :

कल करील की कुञ्ज में उठति अतर की बोय।
भयौ कहा भाभी तुहै परी अचानक रोय॥ (पद्माकर)

यहाँ ननद के साथ होने से प्रच्छन्न कामुक से न मिल पाने की वस्तु ही प्रधान चमत्कारी व्यंग्य है परन्तु चरम परिणति में शृङ्गार रसाभास ही आता है।

(६) उक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है, असंलक्षित-क्रम-व्यंग्य अर्थ काव्य का अपरिहार्य अन्तरङ्ग तत्त्व है जो प्रधान व्यंग्य के रूप में आता है तो रसध्वनि काव्य बनता है, अन्यथा (अन्य व्यंग्य-भेदों की प्रधानता में) लक्षित-क्रम-व्यंग्य काव्य बनते हैं जिनमें चरम आत्मभूत अर्थ रसादि-व्यंग्य ही ठहरता है। व्यंग्य अर्थ गौण या तिरोहित रहकर भी किसी-न-किसी प्रकार काव्य में अवश्य रहता है और उसी के आधार

पर काव्य की परिभाषा की जा सकती है। इस प्रकार काव्य को चार प्रकार से समझ सकते हैं :

(क) रसादि ध्वनि की प्रधानतावाला काव्य

(ख) लक्षित-क्रम-व्यंग्य की प्रधानता के साथ रसादि की परिणति लिये हुए काव्य

(ग) उक्त दोनों के गौण रूपवाला वाच्य-चमत्कारी काव्य

(घ) उक्त व्यंग्य के सर्वथा तिरोभाववाला काव्य

इनमें से प्रथम दो उत्तम काव्य की श्रेणी में आते हैं। तृतीय मध्यम और चतुर्थ अवर काव्य है।

× × ×

ध्वनिमत में व्यंग्य के आधार पर काव्यभेद तो प्रस्तुत किये जाते हैं पर मूल समस्या काव्य-परिभाषा की है। गुण, रीति, अलंकार और दोषाभाव को बाह्य तत्त्व मानकर परिभाषा में ग्राह्य न किया जाय तो काव्य-लक्षण क्या हो ?

१. 'व्यंग्यार्थ-प्रधान वाक्य काव्य है।' यह परिभाषा की जाय तो गुणीभूतव्यंग्य और अवरकाव्य परिभाषा से बहिर्भूत हो जाते हैं।

२. 'व्यंग्य-युक्त वाक्य काव्य है।' कहने से लौकिक वाक्यों को भी काव्य मानना पड़ेगा क्योंकि कुछ-न-कुछ व्यंग्य तो प्रायः सर्वत्र पाया जा सकता है। कम-से-कम अवर-काव्य जैसा व्यंग्य तो मिल ही जायगा। जब चरवाहे कहते हैं कि 'सूर्य अस्त हो गया' तो व्यंग्यार्थ आता है कि 'पशुओं को घर की ओर हाँका जाय'। अतः यह वाक्य भी काव्य-सीमा में आ जायगा। पण्डितराज जगन्नाथ इसे भी काव्य-श्रेणी में लेना चाहते हैं, जो संगत नहीं जान पड़ता। 'सूर्य अस्त हो गया' वाक्य तो उक्त अवसर पर उत्तम काव्य माना जाना चाहिए क्योंकि व्यंग्यार्थ ही प्रधान है। तब काव्य-व्याप्ति अनन्त हो जाती है जिसे परिभाषित करना एक समस्या है। पण्डितराज ने गङ्गाधर पृ० ७ पर 'गतोऽस्तमर्कः' का काव्यत्व मान्य किया है, यदि विरहिणी आदि द्वारा कहा गया हो। स्पष्ट है कि नाटक आदि में आकर ही यह वाक्य सरस चमत्कारी (रमणीय) हो सकता है।

३. ध्वनिकार ने किसी सुसम्बद्ध परिभाषा की स्थापना नहीं की है—केवल व्यङ्ग्य के आधार पर काव्य-भेद ही प्रस्तुत किये हैं। कहा जा सकता है कि उन्होंने पूर्वाचार्यों की ही परिभाषा मान्य कर ली है, और काव्य के सौष्ठव का तारतम्य व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर स्वीकृत किया है। तब प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी परिभाषा के पक्षपाती थे। ऊपर भरत, भामह और वामन के अनुसार काव्य-स्वरूप का परिचय दिया गया है, उनमें से ध्वनिकार-सम्मत परिभाषा क्या हो सकती है ? वे रीति, गुण, अलंकार किसी के विरोधी नहीं हैं, अतः परिभाषा में वामन के भी निकट हो सकते थे। वामन की परिभाषा में जिन काव्य-तत्त्वों का समावेश है, वे व्यावहारिक वाक्यों में संभव नहीं हैं, अतः इनपर अपेक्षित बल दिया जा सकता है। वामन की परिभाषा में भरत की

लक्षणा-परक परिभाषा का भी विरोध नहीं है। रही 'रस' की बात, सो वामन की गुण-परक परिभाषा में समाविष्ट है। ध्वनिकार को यदि विरोध हो सकता था तो केवल 'काव्यात्मा' को लेकर। वे रीति को (अथवा रीतियों के आधारभूत गुणों को) काव्यात्मा मानकर नहीं चलते थे, इसके अतिरिक्त अरुचि का कोई कारण नहीं दीखता।

यह मान लेने पर ध्वनि-सम्मत काव्य-विवेचन ही विशेष हो सकता है, काव्य की परिभाषा ज्यों की त्यों बनी रह सकती है। परन्तु परवर्ती आचार्य इससे सहमत नहीं थे अतएव परिभाषाओं की विविधता देखने में आई।

× × ×

४. एक सुझाव हो सकता है कि—'व्यंग्ययुक्त रचना काव्य है।' इसमें 'रचना' शब्द आधुनिक है जिसका अभिप्राय 'कलात्मक कृति' लिया जा सकता है। यह परिभाषा सभी कलाओं पर लागू होती है अतः काव्य के लिए कह सकते हैं—'व्यंग्य-युक्त शब्दार्थ-मयी रचना काव्य है।' इस दशा में 'व्यंग्य' का समावेश ही व्यर्थ है। 'शब्दार्थमयी रचना' ही पर्याप्त है। परन्तु 'रचना' के परिवेश में 'कलात्मकता' का समावेश करके ही परि-भाषा संगत हो सकती है; दूसरे, भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' का नव-संस्करण मात्र इसे कह सकते हैं। 'कला' का अर्थ लालित्य या सौन्दर्य में खोजा जायगा और इस प्रकार सामान्य वाक्य से काव्य को पृथक् रखने का प्रयास होगा। तब स्वभावतः प्रश्न उठेगा कि 'सौन्दर्य' का आधार क्या है ? आचार्य वामन गुणालंकार-दोषाभाव को सौन्दर्य का उद्‌गम मानते हैं तो आपत्ति क्या हो सकती है ? केवल नवीन शब्द देने से परिभाषा में कोई नूतनता नहीं आ सकती। कहा जाय कि कलात्मकता या सौन्दर्य से काव्य के अन्तरङ्ग लालित्य का अभिप्राय है—काव्य के प्रेषणीय तत्त्व पर बल है, तब उस अन्तरंग लालित्य को ध्वनिमत के सन्दर्भ में व्यंग्यमात्र माना जाय अथवा रसादिव्यंग्य ही परिभाषा में मान्य किये जायँ ? व्यंग्यमात्र के आधार पर परिभाषा करने में जो कठिनाइयाँ हैं उनका दिग्दर्शन हो चुका है। रसादिव्यंग्य का परिभाषा में समावेश करके बने हुए काव्य-लक्षण पर विचार अपेक्षित है।

× × ×

५. आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में रसादि व्यंग्य के आधार पर परिभाषा प्रस्तुत की है :

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

उन्होंने परिभाषा में दोषाभाव, गुण, अलंकार और रीति का समावेश न करके भी पूरक रूप में प्रस्तुत किया है।[५] इस परिभाषा को भरत मुनि का समर्थन प्राप्त है, जैसा यथावसर देखा जा चुका है। अन्य आचार्य भी इसके अनुमोदन में लिये जा सकते हैं। आचार्य अभिनव स्पष्ट ही रस को काव्यात्मा मानते हैं और आनन्दवर्धन भी इसी के पक्षपाती हैं। 'रस' कहकर एक ऐसे तत्त्व का बोध होता है जिसकी सत्ता काव्य में ही प्रतिपादित है, अतः लौकिक वाक्यों से भिन्न काव्य का अस्तित्व परिभाषित हो जाता

है ।[६] आचार्य भट्टनायक तो रस के ही पूर्णतः पक्षपाती रहे हैं और उसे लोकोत्तर मानते हैं । उनका अभिमत भी आचार्य विश्वनाथ के अनुकूल है । अभिनव तो वस्तु और अलंकार व्यंग्य का भी पर्यवसान रसध्वनि में ही मानते हैं ।[७] ध्वनि-विरोधी आचार्यों में व्यक्ति-विवेक-कार महिम भट्ट ने रस को काव्यात्मा माना है ।[८] वक्रोक्तिमत के प्रवर्तक कुन्तक 'रस' को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं, भले ही वे अभिव्यक्तिपक्ष पर विशेष बल देकर विचार करते हैं । वे 'साहित्य' शब्द में रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, वृत्ति, औचित्य एवं रस-परिपाक का समावेश करते हुए उन सबके निर्वाह हेतु शब्द और अर्थ में स्पर्धा का प्रतिपादन करते हैं ।[९]

उक्त चर्चा से केवल इतना स्पष्ट होता है कि रस को काव्यात्मा के रूप में आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया है, परन्तु क्या केवल उसी के आधार पर काव्य की परिभाषा भी बन सकती है, यह फिर भी विचारणीय रहता है । पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य विश्वनाथ पर गम्भीर आक्षेप किये हैं । वस्तु-प्रधान तथा अलंकार-प्रधान काव्यों पर परिभाषा नहीं लागू हो सकती । महाकवियों ने जल-प्रवाह, भ्रमण, उत्पतन-निपतन, बालचेष्टा आदि के वर्णन किये हैं । यदि उनमें भी रस का स्पर्श मान लिया जाय तो कोई वाक्य नहीं बचेगा जो भाव-हीन हो, फलतः सबको काव्य कहना होगा क्योंकि सभी पदार्थ किसी-न-किसी प्रकार विभाव या अनुभाव की सीमा में लाये जा सकते हैं ।

× × ×

६. पण्डितराज जगन्नाथ ने समस्या का समाधान देने का प्रयास किया है । वे अर्थ की रमणीयता को काव्य-सर्वस्व मानकर चले हैं । उनकी परिभाषा इस दृष्टि से सरल है कि 'रमणीयता' समझ लेने पर उलझन समाप्त हो सकती है । परन्तु 'रमणीयता' ही सबसे बड़ी उलझन है । उनके अनुसार वह अर्थ रमणीय कहा जायगा जो लोकोत्तर आह्लादजनक प्रत्यय का विषय बन सके । उदाहरणार्थ :

तच्यौ आँच अब बिरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि ।
नैनन कैं मग जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि ॥ (बिहारी)

यहाँ दो काव्यार्थ प्रधानीभूत कहे जा सकते हैं—प्रथम विप्रलम्भ शृङ्गार रस और द्वितीय रूपक अलंकार से व्यंग्य रूप में आनेवाली अपह्नुति कि अश्रुजल न होकर हृदय ही पिघलकर बह रहा है । दोनों अर्थ उस प्रत्यय (बोध) के विषय हैं जो सहृदय में लोकोत्तर आह्लाद का उत्पादक है ।

रमणीयता के अर्थ का विश्लेषण करके स्वयं पण्डितराज सन्तुष्ट नहीं हैं—वे 'लोकोत्तर' शब्द की व्याख्या भी करते हैं । लोकोत्तरत्व वह धर्म है जो अनुभव-साक्षिक है (सहृदय की अनुभूति ही एक मात्र प्रमाण है), उसी को चमत्कार भी कहते हैं, अतः सामान्य आह्लाद से काव्याह्लाद विलक्षण होता है । 'तुम्हारे पुत्र हुआ' अथवा 'तुम्हें धन दूँगा' कहकर भी आह्लाद उत्पन्न किया जाता है, पर वह लोकोत्तर नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह सहृदय की अनुभूतिमात्र के सहारे आह्लाद नहीं देता प्रत्युत सामान्य लौकिक आह्लाद देता है ।

अब प्रश्न उठता है कि उक्त चमत्कार का कारण क्या है। निश्चय ही लौकिक (व्यावहारिक) कारण से भिन्न कोई आन्तरिक कारण होना चाहिए जो सहृदय की विशेषता हो और जनसामान्य में उसे न पाया जाता हो। पण्डितराज का अभिमत है कि सहृदय की भावना ही उक्त चमत्कार का कारण है और भावना बारम्बार काव्यार्थ के परिशीलन से उत्पन्न एक आन्तरिक अभ्यास है।

इस प्रकार चमत्कार-जनक भावना द्वारा बोध्य अर्थ ही काव्यार्थ है अथवा चमत्कारजनक शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ की भावना ही काव्य का सर्वस्व है। सारांश यह कि काव्यार्थ द्वारा सहृदय की भावना उद्दीप्त होती है और वह लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव करता है, इस आधार पर हम काव्य की ऐसी परिभाषा कर सकते हैं जिसमें वस्तु, अलङ्कार और रस तीनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ आ सकते हैं।

अब एक समस्या रह जाती है। पण्डितराज जब काव्यार्थ होने में चमत्कार का बन्धन लगा देते हैं तो लौकिक वाक्यों से काव्य भिन्न हो जाता है परन्तु काव्य क्या है, वह शब्दरूप है या अर्थरूप अथवा उभयात्मक ? इस समस्या के समाधान में वे भामह से चली आयी परम्परा खण्डित करते देखे जाते हैं। अब तक शब्द और अर्थ के समन्वित रूप को ही काव्य नाम दिया जाता था, जबकि वे शब्द को काव्य कहते हैं—उनके अनुसार वही शब्द काव्य है जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक हो।

रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

रमणीयता पर विस्तृत विचार किया जा चुका है। अब विचारणीय है कि शब्द को ही क्या काव्य कहा जा सकता है (भले ही रमणीय अर्थ का बोधक होना उस शब्द के लिए आवश्यक हो)। आचार्य का तात्पर्य निरर्थक शब्द से नहीं है, वह सार्थक शब्द को ही काव्य कहता है पर सामान्य सार्थक शब्द भी काव्य नहीं है, उसके अर्थ में रमणीयता का होना अनिवार्य है।

पण्डितराज का अभिमत है कि काव्य पढ़ा जाता है, काव्य सुना जाता है, अतः वह शब्दरूप है। 'काव्य समझा जाता है' में काव्य का अर्थरूप में व्यवहार देखा जाता है पर वे उसे लाक्षणिक प्रयोग मानते हैं। अन्य आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि क्यों न 'काव्य समझने' के आधार पर काव्य को अर्थरूप माना जाय और 'काव्य पढ़ने' को लाक्षणिक प्रयोग कहा जाय। इस तर्क का उचित समाधान यही है कि शब्दार्थ-समुदाय को ही काव्य माना जाय। इस दशा में पण्डितराज की परिभाषा खण्डित हो जाती है। क्योंकि यदि कहा जाय :

रमणीयोऽर्थः तत्प्रतिपादकः शब्दश्च काव्यम्।

अर्थात् रमणीय अर्थ और उस अर्थ का बोधक शब्द काव्य है, उस दशा में एक ही वाक्य दो काव्यों में बँट जायगा—एक अर्थरूप और दूसरा शब्दरूप। इस आपत्ति का कथमपि समाधान हो जाय तो भी परिभाषा का यह स्वरूप पण्डितराज अमान्य करते हैं।

रमणीयौ शब्दार्थौ काव्यम्।

कहकर काम चलाना भी पण्डितराज को अभीष्ट नहीं हो सकता क्योंकि तब रमणीयता

केवल अर्थ की न होकर शब्द की भी माननी होगी जो असंगत है—लोकोत्तर चमत्कार अर्थ में ही होगा, शब्द में नहीं। यही कारण है कि नागेश भट्ट ने काव्यप्रकाश-कार के ही काव्य-लक्षण को मान्य ठहराया है।[१०]

× × ×

७. आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश ग्रन्थ में जो परिभाषा दी है उसमें ध्वनिमत का अथवा किसी मत का कोई विरोध नहीं है।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् गुणसहित, स्फुट या अस्फुट अलंकार-सहित, एवं स्फुट दोषरहित शब्दार्थ-समवाय काव्य है। इसे आचार्य वामन की परिभाषा का ही नवीन रूप कह सकते हैं। मम्मट के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ तथा पण्डितराज इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं। उनके विरोधी तर्क इस प्रकार हैं :

(क) अदोष शब्दार्थ को ही काव्य मानें तो काव्य मिलना ही असम्भव हो जायगा क्योंकि किसी-न-किसी दोष का स्पर्श सर्वत्र पाया जाता है। नितान्त निर्दोष काव्य कदाचित् ही मिल सकता है। मणि सदोष हो तो भी उसे मणि ही कहते हैं, उसी प्रकार सदोष काव्य भी काव्य ही रहता है। ऐसी स्थिति में 'अदोष' विशेषण परिभाषा में व्यर्थ है। (वस्तुतः उत्कृष्ट काव्य-लक्षण मम्मट को अभीष्ट है पर विश्वनाथ ने आलोचना की है)।

(ख) इसी प्रकार 'सगुण' विशेषण भी कोई संगति नहीं रखता। गुण तो रस के ही धर्म हैं (जैसा आगे देखा जायगा), अतः सरसता ही काव्य-धर्म हो सकता है—रस-धर्म गुणों को काव्य-धर्म कहना वैसा ही है, जैसे 'प्राणियों का देश' कहने के स्थान पर 'शौर्ययुक्त देश' कहा जाय।

(ग) सर्वत्र अलङ्कारयुक्त शब्दार्थ और कहीं-कहीं अलङ्काररहित भी शब्दार्थ काव्य होते हैं, यह मान्यता भी अनुपयुक्त है। अलङ्काररहित काव्य का उदाहरण ही असम्भव है।

ऐसे अतुल अनन्त विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग। (कामायनी)

इसे अलङ्कार-रहित कहा जा सकता है जबकि यहाँ भी विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों का संकर पाया जाता है—विभव का अभाव ही विराग का कारण हो सकता है, यहाँ उस कारण के अभाव में भी विरागरूप कार्य पाया जाता है, अतः विभावना है; विभव के रहते विराग का अभाव होना चाहिए परन्तु कारण के रहते हुए भी कार्य नहीं होता, अतः विशेषोक्ति है।

उक्त अनुपपत्तियों का आचार्यों ने समाधान भी किया है और समाधान के संकेत परिभाषा की व्याख्या में स्वयम् आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किये हैं :

(क) परिभाषा में 'अदोष' का अर्थ सर्वथा निर्दोष नहीं लिया जा सकता क्योंकि वैसी सम्भावना ही नहीं है, अतः दोषों का अस्फुट रहना अभिप्रेत है। दोषों की सत्ता काव्य के चमत्कार का अवच्छादन न करती हो, इतना ही अभीष्ट है और इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी शब्दार्थ-योजना की कल्पना की जा सकती है जिसके दोष उसकी सरसता या चमत्कार का अनुभव ही न करने देते हों तो उसे काव्य नाम नहीं दिया जा सकता।

मलय की झोंका चली,
अलियों ने भर गया गली,
पीर में हृदय उठी,
विरही चिल्लाय उठी।

यह ऐसे व्यक्ति की रचना कही जा सकती है जिसने अभी हिन्दी सीखना आरम्भ किया है। उसे लिङ्ग, परसर्ग आदि का समुचित प्रयोग ही ज्ञात नहीं। रचना में शृङ्गार-रस की सामग्री विद्यमान है पर वह दोषों के कारण उपहसनीय हो गयी है जिससे प्रधान प्रतिपाद्य पर सहृदय का ध्यान ही केन्द्रित नहीं होता। ऐसी कृति को भी 'काव्य' कहा कहा जाय तो अकाव्य कुछ भी नहीं बचता और तब परिभाषा करना ही व्यर्थ ठहरता है। जहाँ दोष आच्छादक नहीं बनता, वहाँ काव्य होने में कोई क्षति नहीं क्योंकि मुख्य बोध को बाधा न देने पर वह उसी प्रकार तटस्थ होकर अदोष हो जाता है जिस प्रकार मुख्य बोध को अलंकृत न करनेवाला अलंकार उस सन्दर्भ में अलंकार नहीं रहता। अर्थात् दोष की अल्पता में उसपर ही ध्यान केन्द्रित नहीं रहता, थोड़ा विक्षेप होता है और रसिक की भावना उसे दबाकर काव्यार्थ के बोध में लीन हो जाती है :

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व, कभी जब रहोगे न,
मैं उसके लिए बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन। (कामायनी)

यहाँ 'कभी जब रहोगे न' ऐसा वाक्य है जो नायक के दिवंगत हो जाने का दूषित अर्थ भी व्यक्त कर देता है जब कि वैसा अभीष्ट नहीं है। सहृदय एक क्षण का विक्षेप पाता है और फिर 'वात्सल्य' में लीन हो जाता है जो प्रधानीभूत काव्यार्थ है। यहाँ दोष होकर भी इतना प्रभावी नहीं है कि सहृदय को मार्गान्तरित कर सके अतः इसे सापेक्षतया 'अदोष' कह सकते हैं। इसीलिए मम्मट ने 'अदोष' का 'अस्फुट-दोष' अर्थ ही लिया है और हमें उनकी परिभाषा के शब्दों का वही अर्थ करना चाहिए जो उन्हें अभीष्ट है।

(ख) सगुण विशेषण सर्वथा संगत एवं महत्त्वपूर्ण है। आवश्यक नहीं कि सभी रचनाओं में कवि का एकमात्र लक्ष्य रसयोजना हो। रस का थोड़ा-बहुत स्पर्श ही वाक्य को रसात्मक नहीं बनाता और तब गुण-योजना उसे काव्य बना देती है :

थे डाल-डाल में मधुमय
मृदु मुकुल बने झालर-से,

रस-भार प्रफुल्ल सुमन सब
धीरे-धीरे से बरसे। (कामायनी)

यहाँ कोई स्फुट रस-प्रतीति नहीं है, फिर भी माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की योजना है अतः यह वाक्य काव्य ही है।

यद्यपि गुण रस-धर्म हैं फिर भी रस के बिना शब्दार्थ-योजना सगुण हो सकती है यदि गुण-व्यञ्जक शब्द और अर्थ लाये गये हों। ऐसे अवसरों पर 'गुण' शब्द लाक्षणिक मान लिया जाता है।[११] आचार्य मम्मट 'रस' को काव्य-परिभाषा का घटक नहीं मानते जिससे उनकी परिभाषा व्यापक हो जाती है।

(ग) काव्य-परिभाषा में 'अलङ्कार' को स्थान दिया जाय या नहीं, इस प्रश्न पर विचार शेष रहता है। वामन ने गुणों को शोभाजनक काव्य-धर्म कहा है जबकि अलङ्कारों को गुणों की अपेक्षा बाह्य माना है जो गुणों द्वारा जनित सौन्दर्य का पोषण करते हैं। मम्मट उन्हें हारादितुल्य शोभा-वर्धक मानते हैं। इस दशा में मनुष्य की परिभाषा करते समय जिस प्रकार आभूषणों का समावेश अपेक्षित नहीं, उसी प्रकार काव्य-परिभाषा में अलङ्कारों का ग्रहण व्यर्थ है। इस तर्क के विरोध में कहा जा सकता है कि गुणों की तुलना में अलङ्कारों को बाह्य बतलाने का यह अर्थ नहीं कि वे कहीं बाहर से लाये जाते हैं, प्रत्युत वे भी काव्यबोध का ही अङ्ग बनकर अवतीर्ण होते हैं। ऊपर जो उदाहरण विश्वनाथ द्वारा की हुई आलोचना के सन्दर्भ में दिया गया है, उसमें अलङ्कार की अस्फुट विद्यमानता दिखायी गयी है। वहाँ स्पष्ट रूप से विभावना अथवा विशेषोक्ति में से किसी की योजना जान-बूझकर कवि ने नहीं की है फिर भी अनजाने ही अलङ्कार का अस्फुट रूप प्रकट हो गया है। अतएव मम्मट इतना ही कहते हैं कि काव्य में यों तो अलङ्कार स्पष्ट रहते हैं पर यदि कहीं स्पष्टता न दिखे तो भी काव्य माना जाय—अलङ्कार का अस्फुट होना और अलङ्कारहीन होना दो तथ्य हैं जिनमें से प्रथम को ही परिभाषित किया गया है।

अलङ्कार का एक रूप वह भी हो सकता है जो मुख्य काव्य-बोध को अलंकृत न करता हो।। उदाहरणार्थ :

ज्यों-ज्यों पट झटकत हठत नटत नचावत नैन।
त्यों-त्यों अधिक उदारहू फगुआ देत बनै न॥ (बिहारी)

यहाँ मुख्य काव्यार्थ शृङ्गार-रसाभास है। दो अलङ्कार स्पष्ट देखे जाते हैं—एक तो उदार होने का कारण होने पर भी फगुआ देने के कार्य का अभाव वर्णित है जो विशेषोक्ति अलङ्कार है। दूसरा अलङ्कार पूर्वार्ध का अनुप्रास है। सूक्ष्मता से देखें तो प्रथम अलङ्कार काव्य-रस का पोषक होने से काव्यालंकार है जबकि दूसरे का शृङ्गार में कोई उपयोग नहीं है अतः काव्यालंकार नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसे ही अपोषक अलंकारों की योजना हो तो भी काव्यालंकार का अभाव ही (या अस्फुटता) कहा जायगा।

तोपर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तूँ मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी-समान॥ (बिहारी)

यहाँ यमक शृङ्गार-बोध का अलंकरण नहीं है फिर भी इसे काव्य ही कहेंगे, ऐसा मम्मट को अभिप्रेत है।

इस प्रकार मम्मटाचार्य की परिभाषा को दूसरे शब्दों में रखा जा सकता है— दोषों की परिहार्यता, गुणों की नितान्त ग्राह्यता तथा अलंकारों की यथापेक्ष ग्राह्यतावाले शब्दार्थों के इतरेतरयोग को काव्य कहते हैं।

× × ×

८. मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं फिर भी उनकी काव्य-परिभाषा में व्यंग्य अर्थ या व्यञ्जक शब्द का कहीं समावेश नहीं किया गया है, केवल 'गुण' शब्द का ग्रहण है जो ध्वनिमत में व्यंग्य ही रहता है। इस तथ्य पर विचार करें तो परिभाषा में निहित 'शब्दार्थौ' पर विचार करना होगा जो द्वन्द्व-समास के साथ आने के कारण बड़े महत्त्व का हो गया है। वाक्यों को हम तीन रूपों में समझ सकते हैं—

(क) शब्द-प्रधान वाक्य या प्रभु-सम्मित वाक्य ऐसे हैं जिनमें शब्द वही का वही रहना चाहिए। वेदवाक्य इसी कोटि के हैं। विधिवाक्य या संविधान के शब्द अपरिवर्तित ही रहते हैं। ऐसे वाक्य काव्य नहीं कहे जा सकते।

(ख) अर्थप्रधान या सुहृत्सम्मित वाक्य वे हैं जिनमें शब्द बदले जा सकते हैं, यदि अर्थ अपरिवर्तित रहे। इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि के वाक्य इस वर्ग में आते हैं। ऐसे वाक्य भी काव्यकोटि में नहीं आ सकते।

(ग) व्यापार-प्रधान अथवा कान्तासम्मित वाक्य काव्य की परिभाषा में आते हैं। काव्य में शब्द और अर्थ इतरेतरयोग करते हैं और व्यञ्जना-व्यापार द्वारा ऐसा अर्थ उपस्थित करते हैं जिनमें केवल शब्द या केवल अर्थ का प्राधान्य नहीं रहता प्रत्युत व्यंग्य अर्थ ही प्रधान रहता है। व्यञ्जक शब्द अथवा व्यञ्जक अर्थ परस्पर सहयोगी रहते हैं, यही 'शब्दार्थौ' के इतरेतरयोग-द्वन्द्व का रहस्य है। शब्द व्यञ्जक होकर प्रधान अर्थ व्यक्त करता है तो अर्थ उसका सहयोगी रहता है और अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द सहयोगी बनता है।[१२]

इस प्रकार व्यंग्यार्थ की चारुता (चमत्कार) ही काव्यात्मा के रूप में परिभाषित माननी चाहिए। वह चारुता शब्दार्थ-व्यापार से निष्पन्न होती है, यही काव्य की विशेषता है।[१३]

अतः व्यंग्यार्थ-समावेश के साथ मम्मट की परिभाषा इस प्रकार बनती है— "व्यंग्य-चमत्कार-सम्पन्न शब्द और अर्थ के इतरेतरयोग को काव्य कहते हैं जिसमें दोषों की परिहार्यता, गुणों की एकान्त ग्राह्यता और अलङ्कारों की यथापेक्ष ग्राह्यता का समावेश हो।"

× × ×

९. "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" पर पुनर्विचार करें तो मम्मट की परिभाषा से उसमें अल्प अन्तर ही प्रतीत होगा। 'रसात्मक वाक्य' में गुणों की सत्ता स्वतः हो जाती

है अतः 'सगुण शब्दार्थ' और 'रसात्मक वाक्य' में केवल इतना अन्तर बचता है कि मम्मट रसव्यञ्जना के चमत्कार की अविद्यमानता में भी काव्य की सत्ता मानते हैं जबकि आचार्य विश्वनाथ वैसा नहीं मानते। विश्वनाथ अभिनव का अनुसरण करते हुए मानने हैं कि जहाँ वस्तु अथवा अलङ्कार की व्यञ्जना प्रधान होती है अथवा व्यंग्य अर्थ गौण रहता है, वहाँ भी चरम परिणति रस में होती है अतएव चाहे ध्वनिकाव्य हो अथवा गुणीभूत-व्यंग्य, रस का किसी-न-किसी प्रकार संस्पर्श रहता ही है। प्रश्न केवल यह रह जाता है जहाँ रसादि-व्यञ्जना की प्रधानता नहीं है वहाँ भी उसे काव्यात्मा मानना संगत है या नहीं। आचार्य विश्वनाथ का तर्क है कि जिस प्रकार मन्त्रि-पुत्र की बरात में राजा जाता है तो प्रासङ्गिक मुख्यता वर की ही होती है, फिर भी राजा का गौरव सर्वोपरि रहता है, उसी प्रकार अन्य व्यंग्य की प्रमुखता में भी रस का चमत्कार आत्मा माना जा सकता है। यहाँ प्रश्न यही शेष रहता है कि बरात में तो फिर भी वर ही आत्मा है अतः प्रधानीभूत व्यंग्य को छोड़-कर आयात रसादि को आत्मा मानना कहाँ तक तर्कानुगत है। इसी प्रश्न का स्पष्ट उत्तर न मिल पाने से आचार्य मम्मट ने अपनी परिभाषा में रसात्मकता का समावेश नहीं किया है।

पण्डितराज का यह आक्षेप कि वस्तुवर्णन में भी रस की संस्पर्शात्मक सत्ता मान लेने पर 'गाय चलती है' आदि वाक्य भी काव्य होने लगेंगे क्योंकि सभी पदार्थ किसी-न-किसी प्रकार विभावादि के क्षेत्र में आ जाते हैं, महत्व-हीन प्रतीत होता है। विभाव, भाव और अनुभाव शब्द लौकिक नहीं हैं प्रत्युत कवि और सहृदय के भाव (वासना) को भावित करने के कारण वे नाम मिले हैं अतः काव्यगत विभावादि से व्यावहारिक वाक्यों के विभावाभासादि स्वतः भिन्न ठहरते हैं। काव्य में विभाव भाव के वे कारण हैं जो वासनात्मक भाव को रसनीय रूप में भावित करते हैं, अनुभाव उसे अनुभवयोग्य बनाते हैं और व्यभिचारी भाव रसनीयता में परिपोष लाते हैं। लौकिक क्षेत्र में रस-नीयता का प्रश्न नहीं उठता। हाँ, 'गाय चलती है' वाक्य यदि रसनीय सन्दर्भ में आता है, तब रमणीयतावादी पण्डितराज को काव्य मानने में कोई आपत्ति न होगी।

सारा विवाद 'आत्मा' को लेकर है। यदि—

"वाक्यं रसयुतं काव्यम्।"

परिभाषा की जाय तो प्रधान या अप्रधान की बात समाप्त हो जाती है। फिर भी रस-वादी इससे सन्तुष्ट नहीं। उसका तर्क है कि अनुभूति-क्षण में रस कभी अप्रधान नहीं हो सकता—वह सर्वातिशायी चमत्कारजनक तत्व के रूप में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ—

कहा मनु ने—'तुम्हें देखा अतिथि ! कितनी बार,
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार।' (कामायनी)

यहाँ 'कहा मनु ने' वाक्यार्थ प्रधान है जब कि शृङ्गार रस का व्यञ्जक वाक्यांश गौण हो गया है अतः गुणीभूत-व्यङ्ग्य है, परन्तु प्रधान वाक्य के अनन्तर जब रस-वाक्यांश में प्रवेश होता है तब रस की गौणता का पता नहीं चलता। अतः रस को काव्यात्मा मानने में कोई दोष नहीं दीखता :

गिरै कंपि कछु, कछु रहै कर पसीजि लपटाइ।
लैयौ मुठी गुलाल भरि, छुटत झुठी ह्वै जाइ॥ (बिहारी)

यहाँ अतिशयोक्ति के वाच्य-चमत्कार की तुलना में शृङ्गार रस का चमत्कार गौण है क्योंकि कवि की दृष्टि अलङ्कार सँजोने पर रही है फिर भी रसानुभूति-क्षण आने पर रस का सर्वातिशायी चमत्कार ही शेष रहेगा; यदि वैसा न हो तो पूरा वाक्य ही उपहासास्पद होगा और संवेदनहीन होने से उसे काव्य कहना ही असंभव हो जायगा। इस प्रकार आचार्यों की बड़ी संख्या रस को काव्यात्मा मानने के पक्ष में है।

प्रस्तुत परिभाषा मान लेने पर चित्रकाव्य (अवर काव्य) को काव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि वहाँ संवेदन का इतना अल्प संस्पर्श खींच-खाँचकर लाया जा सकेगा कि रसानुभूति जैसी शर्त पूरी न होगी। यही कारण है कि आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के उत्तम और मध्यम दो ही भेद मान्य किये हैं—अवर काव्य को काव्य माना ही नहीं है। परन्तु 'मध्यम' कहते ही उत्तम एक ओर और अवर दूसरी ओर आना ही चाहिए। मध्यम काव्य तो काव्य-भेदों के बीच की स्थिति है। अतः आनन्दवर्धन ने जो तीन भेदों की स्थापना की है, वह अधिक समीचीन है और तब रसात्मकतावाद से पृथक् जाकर ही परिभाषा करनी होगी। इस प्रकार आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण व्याप्ति की पूर्णता के कारण मान्य होना चाहिए।

× × ×

१०. आचार्य आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहकर कोई काव्य-परिभाषा नहीं दी है, प्रत्युत ध्वनि को उत्तम काव्य का सर्वस्व बताने का प्रयास किया है जिसके आधार पर काव्यों में तारतम्य आता है और व्यङ्ग्य अर्थ की अत्यन्त क्षीणता में अवर काव्य बनता है। इसे आधार बनाकर भामह की परिभाषा के साथ जोड़कर कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्य सहित शब्द और अर्थ का इतरेतरयोग काव्य है—व्यङ्ग्य-सहितौ शब्दार्थौ काव्यम्। परन्तु इससे व्यावहारिक लोक-वाक्यों को, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ विद्यमान होने से शब्दार्थ का इतरेतरयोग रहता है, काव्य होने से वञ्चित नहीं किया जा सकता। इस अतिव्याप्ति से बचने के लिए पुनः 'सगुण' विशेषण लाना होगा और गुण सदा व्यङ्ग्य ही होते हैं अतः 'व्यङ्ग्य-सहित' कहने की आवश्यकता नहीं रहती। सगुण शब्दार्थ-साहित्य में दोषों की प्रमुखता होने पर काव्य नहीं बनता, जैसा देखा जा चुका है, अतः किसी-न-किसी रूप में दोषाभाव को परिभाषा में लेना ही होगा। इस प्रकार ध्वनिमत में मम्मट की परिभाषा को सर्वाधिक सम्मान मिलता है।

जहाँ तक रस का सम्बन्ध है, किसी नीरस काव्य की कल्पना ही ध्वनिकार के मत में असम्भव है। अधिक-से-अधिक यही हो सकता है कि कवि रसादि-निरपेक्ष होकर रचना में प्रवृत्त हो जिससे सर्वथा रसाभाव न होने पर भी काव्य नीरस प्रतीत हो। चित्र-काव्य के सन्दर्भ में इसपर विचार किया जायगा।

ध्वनिमत में काव्यों का वर्ग-विभाजन :

आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व रचना के आधार पर दृश्य-श्रव्य-भेदों में काव्य का विभाजन स्थिर हो चुका था और आकार को लेकर महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक भेद विचारक्षेत्र में आ गये थे। इस प्रकार के वर्ग-विभाग बाह्य आधारों पर स्थित थे जो काव्य के काव्यत्व के तारतम्य पर प्रतिष्ठित न थे। कविता की रञ्जकता को मूल मानकर वर्ग-विभाजन ध्वनिमत की विशेषता रही है। चमत्कारगत उदात्तता, मध्यमता और अवरता ऐसे आधार हैं जिनपर अवलम्बित वर्ग-विभाग अनुभूति की तीव्रता, मध्यता तथा मन्दता का आश्रय लेकर चलता है। इस प्रकार का एक समीचीन वर्गीकरण आचार्य वामन ने किया था। उन्होंने वैदर्भी रीति को सर्व-गुण-सम्पन्न स्थिर किया और उसके योग से काव्य की उत्तमता मान्य की तथा गौड़ी एवं पाञ्चालीवाले काव्यों को साधारण श्रेणी का घोषित किया। ध्वनिमत के आचार्य यद्यपि रीति और गुण की सत्ता के प्रति उदासीन नहीं रहे तथापि वर्ग-विभाजन में व्यङ्ग्य अर्थ के आन्तरिक चमत्कार को ही आधार माना। इसमें रीतियों और गुणों की यथार्थ सत्ता को स्वतः मान्यता मिल जाती है। वर्ग-विभाजन को लेकर ध्वनिमत के आचार्यों में भी मतैक्य नहीं है और मत-भेद भी कुछ मौलिक आधारों पर है अतः आचार्य-क्रम में तीन प्रकार के विभाजनों पर विचार किया जा रहा है।

(क) आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य मम्मट :

ये दोनों आचार्य व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर काव्य की तीन स्थितियाँ देखते हैं। एक वह स्थिति है जिसमें व्यङ्ग्य का चमत्कार पूर्ण एवं सर्वातिशायी होता है, वाच्य-चमत्कार और शब्द-चमत्कार पूर्णतया व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति आत्म-समर्पण करते हैं। दूसरी स्थिति में व्यङ्ग्य की रमणीयता मन्थर हो जाती है, अन्य चमत्कार प्रधान प्रतीत होता है। तीसरी स्थिति वह आती है जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ पूर्णतः तिरोहित हो जाता है, कवि की दृष्टि शब्दचमत्कार या अर्थचमत्कार पर टिकी रहने से व्यङ्ग्य का संस्पर्श-मात्र रहने पर भी अनुभूति में नहीं उतर पाता। इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अवर काव्य-श्रेणियाँ बनती हैं जिन्हें क्रमशः ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य और चित्रकाव्य कहा जाता है। विवेचन इस प्रकार है :

१. ध्वनि-काव्य या उत्तम काव्य :

जिस वाक्य, पद या प्रबन्ध में वाच्यार्थ अपने को अथवा शब्द अपने वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ के प्रति उपसर्जन या गौण कर देते हैं, फलतः अन्य अर्थ की व्यञ्जना कर चलते हैं, वह उत्तम ध्वनि-काव्य होता है।[१४] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जहाँ व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार में वाच्यार्थ का अतिक्रमण कर जाता है वहाँ ध्वनिनामक उत्तम काव्य होता है।[१५]

जहाँ व्यङ्ग्य-चमत्कार की अपेक्षा शब्दार्थ-चमत्कार प्रमुख दिखते हैं वहाँ ध्वनि-काव्य नहीं हो सकता। दो उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जा सकता है :

ठौर बने ठगहारन के औ कठोर बने हिय हेरि सुखीन के।
घोर घमंड के घेर 'ब्रजेस' सदा सिरमौर बने कलुखीन के॥

मोर बने नहिं राम के रूप के जे घनआनँद जीव दुखीन के।
चोर बने पर-संपति के औ चकोर बने सदा चंदमुखीन के॥ (ब्रजेश)

यहाँ एक ओर तो कविगत निर्वेद की व्यञ्जना है और दूसरी ओर मल्लापुर-नरेश की दी हुई समस्या की पूर्ति में राजा के अन्यायी स्वरूप के प्रति आक्षेप वस्तु-व्यङ्ग्य है।[१६] दोनों ही व्यङ्ग्यार्थ प्रधान चमत्कारी हैं जिनके प्रति वाचक और वाच्य दोनों का पूर्ण समर्पण है अतः इसे ध्वनि-काव्य कहेंगे।

छोर तप-कंचुकी चकोर कुच-कोरन कौ
करन पसार के उघार तम - सारी कौ।
'काली' कबि अमर-तरंगिनी इजारी खोल
जारी कर हसन गड़ूल गुलजारी कौ॥
चाँदनी कौ चंदन चढ़ाइ सब अंगन मैं
तारन के हारन सँभार सुकुमारी कौ।
दाब कर अम्बर असंक परजंक पर
अंक भर भेंटत मयंक निसिनारी कौ॥

यहाँ रूपक और समासोक्ति अलङ्कारों का चमत्कार प्रधान हो गया है—शृङ्गार रस का व्यङ्ग्य-चमत्कार उसकी अपेक्षा गौण है अतः इसे ध्वनि अथवा उत्तम काव्य नहीं कह सकते। स्पष्ट है कि उक्त अलङ्कार वाच्य-चमत्कार है और रचना में आये हुए अनुप्रास, यमक तथा श्लेष वाचक चमत्कार हैं जिनका व्यङ्ग्यार्थ के प्रति गौण-भाव नहीं है क्योंकि प्रधान वर्ण्य रात्रि और चन्द्रमा हैं। ये वाच्य-वाचक-चमत्कार ध्वनि में नहीं आ सकते क्योंकि उसके लिये शब्द और अर्थ की व्यञ्जकता इस प्रकार अपेक्षित रहती है कि व्यङ्ग्य-चमत्कार ही प्रधान ठहरे।[१७]

यदि वाच्य का अनुयायी होकर व्यङ्ग्यार्थ अपनी प्रधानता खो देता है अथवा व्यङ्ग्य बोध होकर अप्रधान रहता है तो वहाँ ध्वनि-काव्य नहीं हो सकता। जहाँ शब्द और वाच्यार्थ (लक्ष्यार्थ भी) व्यङ्ग्य के प्रति इस प्रकार तत्पर हो जाते हैं कि किसी अलङ्कार का प्रवेश अलग से चमत्कारी नहीं लगता प्रत्युत उसका चमत्कार व्यङ्ग्य का अङ्ग बन जाता है, वही ध्वनि-काव्य का क्षेत्र है। उसमें व्यङ्ग्यों का भी परस्पर संकर (सन्देह) नहीं होना चाहिए।[१८] वह चमत्कार, जो किसी अन्य उक्ति से असम्भव हो, जहाँ शब्द द्वारा व्यक्त होता है, वहीं ध्वनि-काव्य होता है।[१९]

कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका मूल अर्थ और होता है जबकि रूढ़ अर्थ बदलकर अन्य हो जाता है—जैसे, लावण्य, भ्रमर, मदन आदि; ये शब्द मूल अर्थ की व्यञ्जना करने पर भी ध्वनि के विषय नहीं होते, अर्थात् वहाँ गुणीभूतव्यंग्य रहता है क्योंकि व्यंग्य अर्थ वाच्य की अपेक्षा गौण रहता है।[२०] उदाहरणार्थ :

लावण्य-सिन्धु लहराता
छवि-पूरनिमा थी छायी,
रत्नाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाई। (आँसू)

यहाँ 'लावण्य' से लवण की तीक्ष्णता, 'पूरनिमा' से सौन्दर्य की समग्रता और 'रत्नाकर' से मणियों की अमूल्य सुषमा की व्यञ्जना तो होती है, पर रूढ़ अर्थ के प्रति व्यंग्यार्थ गौण रहता है अतः व्यंग्य गुणीभूत है। सम्पूर्ण पद्य से व्यक्त होनेवाला रतिभाव प्रधान व्यंग्य है जिसके आधार पर ही इसे ध्वनि-काव्य कहा जायगा। उक्त शब्दों की व्यञ्जना से आनेवाले व्यंग्यार्थ वाक्यगत प्रधान व्यंग्य को अलंकृत मात्र करके सार्थक होते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट है कि कविता में यदि प्रधान चमत्कारी व्यंग्यार्थ आ जाता है तो उसके आधार पर उसे ध्वनि-काव्य की संज्ञा मिलती है। अन्य व्यंग्य यदि गौण होते हैं तो उसी के अलङ्कार बन जाते हैं। इस प्रकार ध्वनिमत में अलङ्कार का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता है जिसका पूर्णतः परिगणन सम्भव नहीं है। जहाँ स्पष्ट रूप से गुणीभूत व्यंग्य रहता है, वहाँ भी रसादि की प्रधानता होने पर ध्वनि-काव्य रूप ग्रहण कर लेता है।[२१]

छहरै सिर पै छबि मोर-पखा
उनकी नथ के मुकता थहरैं।
फहरै पियरो पट 'बेनी' उतै
उनकी चुनरी के झबा झहरैं॥
रस-रंग भिरैं अभिरैं हैं तमाल
दुवौ रस-ख्याल चहैं लहरैं।
इमि ऐसे सनेह सौं राधिका स्याम
हमारे हिये मैं सदा ठहरैं॥ (बेनी कवि)

यहाँ तीन चरणों का प्रधानीभूत व्यंग्य शृङ्गार रस है परन्तु अन्तिम चरण में कवि की उक्ति आत्मपरक हो गयी है अतः शृङ्गार व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है; फिर भी अन्तिम चरण की उक्ति से जो भक्तिभाव व्यंग्य है उसकी प्रधानता अव्याहत रहती है और शृङ्गार उसी के प्रति गौण होकर अलंकार का कार्य कर चलता है। पूरे पद्य का प्रधानीभूत अर्थ भक्तिभाव ही ठहरता है जिससे रचना ध्वनि-काव्य में आ जाती है। यह बात दूसरी है कि जो सहृदय भक्तिरसावेश अनुभव नहीं कर सकते उनकी दृष्टि में शृङ्गार का यह विच्छेद खलता है परन्तु भक्तिरस के सहृदय उलटे इसे ही उत्तम रचना मान सकते हैं क्योंकि यहाँ लौकिक-सी शृङ्गारिकता को अलौकिक भक्ति में परिणत किया गया है। ऐसी रचनाओं को लेकर कहा जा चुका है कि रस का गुणीभाव विश्लेषणकाल की वस्तु है—अनुभूतिकाल में उसकी गौणता अनुभव में नहीं आ सकती। इसलिए उक्त छन्द के तीन चरणों का शृङ्गार अनुभूतिदशा में प्रधान ही रहता है और भक्तिरस में उतरने पर अनुभूति में मोड़ आता है जिससे उसकी गौणता भक्तिरस की प्रधानता में अलंकरण बन जाती है। भक्ति-संवेदनावस्था में शृङ्गार-संवेदना प्रधान नहीं रह सकती, प्रत्युत आत्मसमर्पण कर देती है। अतः शृङ्गार की दृष्टि से यह रचना गुणीभूत-व्यंग्य है जबकि भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य से देखने पर ध्वनि-काव्य है और ऐसा ही ध्वनिकार को अभिमत रहा है।

ध्वनि-काव्य की सीमाएँ निर्धारित करने हेतु गुणीभूत-व्यङ्ग्य की प्रासङ्गिक चर्चा की गयी है। गुणीभूत-व्यंग्य काव्य का स्वरूप-विवेचन आगे किया जा रहा है।

२. गुणीभूत-व्यङ्ग्य अथवा मध्यम काव्य :

सामान्यतया गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का वह प्रकार है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के साथ अन्वित होकर अपना चमत्कार वाच्य की अपेक्षा गौण कर लेता है और वाच्यार्थ-रमणीयता प्रकर्ष ले लेती है।[२२] अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा में व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार अतिशायी न हो तो मध्यम काव्य होता है।[२३]

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे,
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे? (आँसू)

यहाँ विद्रुम से अधर, मोती से दन्तपंक्ति, शुक से नासिका का अर्थ आता है परन्तु वाच्यार्थ ही प्रधान चमत्कारी है, अतः व्यङ्ग्यार्थ अलङ्कार या गुणीभूत हो जाता है।

इस काव्य को मध्यम-वर्ग में रखने से भ्रम हो सकता है कि यह कोई निम्नकोटि का काव्य है, परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन इसकी व्याप्ति का उल्लेख करते हुए मानते हैं कि विवेक-शील जनों को आनन्ददायी जितने भी काव्य हैं उनमें गुणीभूत-व्यङ्ग्य प्रकार की ही योजना बुद्धिमान् को करनी चाहिए।[२४] व्यङ्ग्य का गुणीभूत चमत्कार वैसा ही आनन्द देता है जैसा निपुण संगीतज्ञ के राग में वादी-संवादी स्वरों के बीच दबा हुआ विवादी स्वर आनन्द दे जाता है। ऐसा अलङ्कार विरल होगा जिससे कोई-न-कोई व्यङ्ग्य अर्थ न आता हो—और तब वैसा अलङ्कार गुणीभूत-व्यंग्य का ही भेद होगा क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ की चारुता में प्रकर्ष अधिक रहता है। वाच्यालङ्कार में व्यंग्यांश का ऐसा समावेश काव्य-शोभा में महान् उत्कर्ष लाता है।[२५]

लोचन-जल रह लोचन-कोना।
जैसे परम कृपन कर सोना॥ (मानस)

कृपण के सोने से अश्रुबिन्दुओं की उपमा बड़ी मार्मिक व्यञ्जना करती है—सीता जी उत्तमा स्त्री होने के नाते अश्रु-धारा नहीं बहने देतीं। निश्चय ही गम्भीर चरित्र की यह व्यञ्जना वाच्यालङ्कार के प्रकृष्ट होने पर भी अपना प्रकाश इस प्रकार फेंकती है जैसे रङ्गीन झिल्ली में से विद्युत् का उद्योत। वस्तुतः औचित्य का निर्वाह करते हुए आनेवाले अलङ्कार प्रस्तुत वस्तु का पोषण करते हैं अतः कोई-सा व्यंग्य वहाँ आ ही जाता है। बिरले उदाहरण मिलेंगे जिनमें व्यंग्य-स्पर्श का अलङ्कारों में अभाव हो, जैसे :

कै शोणित-कलित कपाल यह
किल कापालिक काल को। (रामचन्द्रिका)

प्रभात-काल के सूर्योदय की यह उपमा कवि ने कोमल-सौन्दर्य-वर्णन के परिवेश में की है, अतः प्रस्तुत अर्थ की पोषक कोई व्यञ्जना यहाँ नहीं खोज मिलती। इसे व्यंग्यरहित अलङ्कारमात्र कहा जायगा।

इस दृष्टि से ध्वनिकार ने काव्य के तीन प्रकारों का विवरण देते हुए कहा है—भामह अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) को अलङ्कार का प्राण मानते हैं।[२६] इस अतिशयोक्ति में कवि की प्रतिभा से कहीं तो चारुता का अतिशय पाया जाता है जब कुछ स्थलों में कोरा अलङ्कार रह जाता है—अलङ्कार्य तत्त्व का पोषण उससे नहीं हो पाता। उसे हम प्रथमतः दो रूपों में पाते हैं—एक वह जिसमें शुद्ध वाच्यरूप अतिशयोक्ति रहती है, जिसमें अन्य अलङ्कार का मिश्रण होता है, दूसरा रूप वह है जहाँ अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य में आती है। व्यङ्ग्य अतिशयोक्ति के दो रूप हैं—कहीं व्यंग्य प्रधान रहता है, कहीं गौण। प्रथम वाच्यालङ्कार की अवस्था है, दूसरी ध्वनि की और तीसरी गुणीभूत-व्यंग्य की। यही बात सभी अलङ्कारों पर लागू है—वे कहीं व्यंग्य-हीन वाच्यार्थ मात्र होते हैं, कहीं व्यंग्य की प्रधानता में ध्वनि और कहीं व्यंग्य की गौणता में गुणीभूत-व्यंग्य। (इसी प्रकार कहीं शुद्ध वाच्यार्थ हो सकता है वस्तुरूप में, कहीं उससे प्रधानीभूत व्यंग्य आ सकता है ध्वनि रूप में और कहीं व्यंग्य गुणीभूत हो सकता है।[२७])

सभी उदाहरण आगामी अध्यायों में यथावसर देखे जायेंगे। ध्वनिकार का स्पष्ट अभिमत है कि ध्वनि के प्रति अतिरिक्त पक्षपात न करके युक्तिपूर्वक निर्णय करना चाहिए कि कहाँ ध्वनि है और कहाँ गुणीभूत-व्यंग्य। ऐसे प्रचुर उदाहरण मिलते हैं जहाँ ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य दोनों का मिश्रण होता है। ऐसे स्थलों में विवेक-पूर्वक निश्चय करना चाहिए कि कौन-सा भेद अधिक युक्तिसंगत है।[२८]

जय देव - मन्दिर - देहली,
सम भाव से जिसपर चढ़ी,
नृप-हेम-मुद्रा और रङ्क-वराटिका। (मैथिलीशरण गुप्त)

यहाँ व्यञ्जना से आता है—देवता के लिए राजा और रङ्क का भेद नहीं है। इस अर्थ को गुणीभूत ही मानना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यंग्य अधिक स्पष्ट रहते हैं—यही कारण है कि ऐसी चारुता को अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार कहते हैं।

गुणीभूत-व्यंग्य के भेदों पर आगे विचार किया जायगा।

३. चित्रकाव्य अथवा अवरकाव्य :

ऊपर देखा गया कि व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार कहीं प्रधान होता है और कहीं गौण। इसी आधार पर दो काव्य-भेदों—ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य—की व्यवस्था है। उन दोनों से भिन्न काव्य चित्रकाव्य होता है जिसमें कहीं शब्दालङ्कार और कहीं अर्थालङ्कार की प्रधानता रहती है—अर्थालङ्कार भी वाच्य रूप होते हैं जिसमें व्यंग्य का अभाव रहता है।[२९]

व्यंग्य-रहित का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि बिना व्यंग्य का कोई काव्य सम्भव है। चित्रकाव्य अथवा अवरकाव्य में व्यंग्य-रहितता इतनी ही हो सकती है कि उसमें व्यंग्य का स्पष्ट स्फुरण न होता हो।[३०]

ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता में इस काव्य-भेद की विरल संभावना है क्योंकि कितना भी रसनिरपेक्षभाव (या व्यंग्य से तटस्थता) से रचना की जाय, कोई-न-कोई

रस-भावादि आ ही जायगा। वस्तु पर ही काव्य रचा जायगा और वस्तु सब-की-सब जो जगत् में उपलब्ध है किसी-न-किसी भाव का अङ्ग हुए बिना नहीं रह सकती, विशेषतः विभावरूप में तो सभी पदार्थ आ सकते हैं। रसादि विशेष चित्तवृत्तियों का नाम है और ऐसी कौन-सी वस्तु होगी जो संवेदन या चित्रवृत्ति उत्पन्न न करे। इस स्थिति में चित्रकाव्य का इतना ही अर्थ हो सकता है कि रस-भावादि के निर्वाह की अपेक्षा न करके कवि जब शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार की योजना करता है तब काव्यार्थ को रसादि-शून्य कल्पित किया जा सकता है। रसादि-तात्पर्य की अपेक्षा में कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ रसभाव के विभाव बन जाते हैं। यह भी हो सकता है कि काव्य-रचना का अभ्यास करनेवाला कोई व्यक्ति चित्रकाव्य बनाता है परन्तु परिपक्व हो जाने पर वैसा नहीं करता। विश्रृङ्खल कवि-वाणी में भी चित्रकाव्य सम्भव है जहाँ भावनापेक्ष रचना हो जाती है।[31]

हरि बोले हरि ने सुन्यौ हरि आये हरि पास।
कूदि क हरि हरि माँ मिले तब हरि भए उदास॥ (अज्ञात)

यहाँ 'हरि' शब्द क्रमशः मेढक, सर्प और जल अर्थों में आया है। मेढक के बोलने को सुनकर सर्प मेढक के पास आया और जब मेढक उछलकर जल में जा पहुँचा तो सर्प उदास हो गया। निश्चय ही यहाँ शब्द-चमत्कार (यमक) को छोड़कर कोई व्यंग्य-चमत्कार कवि को अपेक्षित नहीं रहा है, यद्यपि सर्प का उत्साह और निर्वेद, मेढक का भय ऐसे भाव हैं जिनकी व्यञ्जना कही जा सकती है पर कवि की दृष्टि इसपर नहीं रही है। यह शब्द-चित्र का उदाहरण है :

एक समै ब्रिखभानु-सुता उठि प्रात गयीं सरितान की खोरन।
अंजन धोइ अँगोछि कै देह लगीं पुनि बैठि कै बार निचोरन॥
ब्रह्म भनै तेहि की उपमा जल के कनिका बहैं केस के छोरन।
मानहुँ चन्द को चूसत नाग अमी-रस च्वै चल्यौ पूँछ की ओरन॥

यहाँ कवि की दृष्टि उत्प्रेक्षा पर रही है और वह भी नायिका की सुषमा में वृद्धि नहीं करती—कोरा वाच्यालङ्कार का चमत्कार है। नायिका विभावरूप में है, अतः श्रृङ्गार रस की व्यञ्जना मानी जा सकती है पर कवि उससे उदासीन लगता है और सहृदय भी उत्प्रेक्षा में ही रमता है अतः वाच्यचित्र का उदाहरण है।

इस सन्दर्भ में हिन्दी की 'नयी कविता' का उल्लेख उचित प्रतीत होता है जिसमें कवि की दृष्टि रसनिरपेक्ष रहती है। कवि शुद्ध वस्तुवादी रहने का उपक्रम करता है, फिर भी उसका आग्रह अलङ्कार-परक नहीं होता। वह प्रतीकों का आग्रही होता है और सौन्दर्य के पुरातन मानों के प्रति विद्रोही। ऐसी स्थिति में ध्वनिमत उसे किस काव्य-भेद में मान्य करेगा? स्पष्ट है कि सधे हुए कवि प्रतीकों को इसीलिए चुनते हैं कि उनसे सधी हुई व्यञ्जना हो सके—वह व्यञ्जना भाव, अलंकार या वस्तुमात्र की हो सकती है। अतः ध्वनि अथवा गुणीभूत-व्यंग्य के व्यापक क्षेत्र में उनका समाहार निश्चय है—

काव्य के अभ्यास से शून्य नव-कवि अव्यञ्जक प्रतीक रखकर अर्थालंकार का आग्रही कहा जायगा और अर्थचित्र काव्य के वृत्त में उसकी रचना आयेगी।

सूने गलियारों की उदासी।
गोखों में पीली मन्द उजास
स्वयं मूर्छा-सी।
थकी हारी साँसें, बासी। (अज्ञेय)

यहाँ स्पष्ट ही जीवन की जर्जर गतिहीनता के प्रति सन्ध्या-वर्णन के माध्यम से निर्वेद व्यक्त किया गया है। वाच्य-चमत्कार की प्रधानता और व्यंग्य का गुणीभाव होने से मध्यम काव्य कह सकते हैं।

(ख) आचार्य विश्वनाथ :

आचार्य विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा ऊपर विवेचित की गयी है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानने के कारण वे चित्र-काव्य की सत्ता ही अमान्य करते हैं। वे केवल दो ही काव्य-भेद मानते हैं—ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य। उन्होंने काव्यप्रकाश-कार के मत का खण्डन किया है :

(१) व्यंग्याभाव में काव्य हो ही नहीं सकता।

(२) व्यंग्य का कुछ-कुछ अस्तित्व कहना भी निश्चित परिभाषा नहीं देता कि थोड़े व्यंग्य से क्या अर्थ लिया जाय।

(३) फिर वह ईषत् व्यङ्ग्य यदि रसनीय है तब तो ध्वनि या गुणीभूत-व्यङ्ग्य में ही अन्तर्भाव होगा, यदि रसनीय नहीं है तो काव्य ही नहीं हो सकता।

(४) ध्वनिकार का भी वे अपने अनुकूल अर्थ लेते हैं—व्यङ्ग्य के प्राधान्य और गुणीभाव से दो काव्यभेद व्यवस्थित हैं, उनसे भिन्न चित्र कहा जाता है (आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वह काव्य न होकर काव्य-चित्र है—चित्र-काव्य भी नहीं—वह काव्य का चित्रमात्र है. अतः जैसे, चित्र की रेखाओं में मानवाकृति आ जाती है, उसी प्रकार उसे निर्जीव, पर काव्य-सदृश, होने से काव्य कहा जानेवाला काव्य का चित्र कहना चाहिए।)[३२]

आचार्य विश्वनाथ ने कविप्रतिभा के एक ही छोर पर आस्था रखी है। उसका दूसरा छोर वह भी है जहाँ कवि रस-भाव से उदासीन रह सकता है। यह कविता का ऐसा रूप है जिसे अमान्य कर देने पर वह बिन्दु नहीं रह जाता जहाँ से उदात्त और उदात्ततर काव्य की परिकल्पना की जा सके। जब व्यङ्ग्य-सापेक्ष काव्य-दशाएँ मान्य हैं तब उनका आरम्भ-बिन्दु व्यंग्य-निरपेक्ष दशा को होना चाहिए। तार-तम्य में दो छोर कल्पनीय ठहरते हैं—एक उत्तम (चरम) बिन्दु और दूसरा अवर बिन्दु। दोनों के मध्य में गुणीभूत-व्यंग्य की प्रतिष्ठा अधिक संगत है।

रस के खींच-तानवाले स्पर्श से गुणीभूत-व्यंग्य में गिनना परिभाषा के प्रति आग्रह है जिसे आचार्य विश्वनाथ ने आस्था का जामा पहनाया है। ऊपर अर्थचित्र का

उदाहरण दिया गया है, उसमें राधा विभावरूप में उपस्थित हैं, कृष्ण का रतिभाव कल्पित किया जा सकता है पर न कवि-दृष्टि रतिभाव में रमी है और न ही रसिक-समाज को रमा पाती है—केवल अलंकार तक गति रहती है :

तोपर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तूँ मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥ (बिहारी)

में भी यमक में ही कविता समाप्त हो जाती है, वही कवि का मुख्य लक्ष्य लगता है। सहृदय भी उसके आगे नहीं जा सकता, यद्यपि आश्रय और आलम्बन बड़े आटोप के साथ वर्णित हैं।

सच तो यह है कि बड़े-बड़े कवि कोरे (व्यंग्य-हीन) अलंकार के आडम्बर का लोभ जब संवृत नहीं कर पाते तब चित्रकाव्य की सीमा में आ जाते हैं। ध्वनिकार आदि ने शृङ्गार में यमक आदि की छटा को सुकुमारता-विरोधी होने से बहिष्कार्य माना है।

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ :

पण्डितराज शब्दचित्र की अपेक्षा अर्थचित्र को उत्कृष्ट मानते हैं (दोनों के उदाहरणों से भी यह बात स्पष्ट है)। अतएव वे व्यंग्यार्थ के आधार पर काव्य के चार भेद ठहराते हैं :—

(१) उत्तमोत्तम (ध्वनिकाव्य) वह काव्य है जिसमें शब्द और वाच्यार्थ (तथा लक्ष्यार्थ) गुणीभूत रहते और किसी चमत्कारशाली अर्थ की (प्रधान रूप में) व्यञ्जना करते हैं।[33]

(२) उत्तम (गुणीभूत-व्यंग्य) वह काव्य है जिसमें व्यंग्य अर्थ अप्रधान रहकर भी चमत्कार देता है।[34]

(३) मध्यम (अर्थचित्र) वह काव्य है जिसमें व्यंग्य-चमत्कार का (चाहे हो भी, पर) सहभावो न होकर वाच्य-चमत्कार विद्यमान हो।[35]

(४) अधम (शब्दचित्र) वह काव्य है जिसमें अर्थ-चमत्कार शब्द-चमत्कार में लीन हो जाय और शब्द-चमत्कार ही प्रधान हो।[36]

पण्डितराज का महत्त्वपूर्ण तर्क है कि तीन भेदों में विभाजन करने पर अर्थचित्र और शब्दचित्र एक ही अधमवर्ग में श्रा जाते हैं जबकि दोनों के उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्दचित्र की अपेक्षा अर्थचित्र में उत्कर्ष अधिक रहता है। ऊपर आये हुए उदाहरणों में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। तारतम्य के रहते हुए भी यदि दोनों को एक श्रेणी में रखा जाय तो ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य में तो और भी अल्प अन्तर है, तब उन्हें ही अलग गिनने का पुष्ट आधार क्या है ?

अतएव उनके मत से अर्थचित्र की गणना गुणीभूत-व्यंग्य के साथ होनी चाहिए। ध्वनिकार के अभिमत मध्यमकाव्य (जिसे पण्डितराज उत्तम श्रेणी में रखते हैं) को 'जागरूक-गुणीभूत-व्यंग्य' और अर्थचित्र को 'अजागरूक-गुणीभूत-व्यंग्य' मानकर पण्डितराज ने यह स्थापना की है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने यह भी बताया है कि शब्दालङ्कार और

अर्थालङ्कार दोनों चित्रात्मकता लाते हों तो जिसकी प्रबलता दिखायी पड़े, उसी के आधार पर निर्णय करना चाहिए। यदि दोनों चित्र समान हों तो उसे तृतीय श्रेणी (अर्थचित्र) का काव्य मानना चाहिए। जैसे,

कै शोणित-कलित कपाल यह
किल कापालिक काल को।
कै टीको जरित जराय यह
दिग्भामिनि के भाल को॥ (रामचन्द्रिका)

यहाँ शब्दालङ्कार अनुप्रास और अर्थालङ्कार रूपक-पोषित सन्देह, दोनों समान हैं अतः अर्थचित्र ही मानना चाहिए।

पण्डितराज की उक्त तर्क-प्रणाली के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनके द्वारा जो चार वर्ग स्थिर किये गये हैं, उनके भीतर भी तारतम्य देखा जा सकता है और तब वर्ग अनन्त हो जायँगे। छोटे-मोटे भेद के आधार पर पृथक् वर्ग बनाना संगत नहीं लगता। उपर्युक्त केशव का पद्य शब्दचित्र से अधिक उत्कर्ष का अर्थचित्र नहीं दे पाता। सौन्दर्य-संवेदन के आवेश से रहित दोनों ही अलङ्कार-योजनाएँ ठहरती हैं। इसके पूर्व उदाहृत ब्रह्मकवि का सवैया अर्थोत्कर्ष में केशव के पद्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। तारतम्य से वर्ग-विभाग को उचित नहीं माना जा सकता।

जहाँ तक ध्वनिकार द्वारा ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य के पृथक् वर्ग मानने का प्रश्न है, वह पुष्ट आधार पर टिका हुआ है। व्यंग्यार्थ की प्रधानता और गौणता का तथ्य महत्त्व-पूर्ण अन्तर लाता है। यों ध्वनिकार गुणीभूत-व्यंग्य को कम गौरव नहीं देते, जैसा देखा जा चुका है। पण्डितराज के इस वर्गविभाजन का कारण भी उनके द्वारा प्रस्तुत काव्य-परिभाषा—रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—को कहा जा सकता है। परिभाषा में रमणीयता, अर्थ और शब्द, इन तीन तत्त्वों का समावेश है। रमणीयता कहीं प्रधानीभूत व्यंग्य में, कहीं गुणीभूत व्यंग्य में, कहीं वाच्यार्थ में और कहीं शब्दमात्र में होगी जिससे चार भेद बनेंगे। वे जब शब्द और अर्थ के समुदाय को—एक डण्ठल में लगे दो फलों के समान—काव्य का घटक नहीं मानते, तब शब्दमात्र, अर्थमात्र (वाच्य), व्यंग्य, ये तीन तत्त्व आते हैं जिनमें से अन्तिम कहीं प्रधान होगा और कहीं गौण—अतः चार में विभाजन बन जाता है।

ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार शब्दार्थ-समूह को एकीभूत रूप में—एक पन्ने के दो पृष्ठों के समान—काव्य-शरीर मानकर विचार करते हैं अतएव उन्हें शब्दचित्र और अर्थचित्र को एक ही दल में रखना पड़ा है। परिभाषा-विवेचन के सन्दर्भ में देखा जा चुका है कि मम्मट की परिभाषा अधिक समीचीन है। पण्डितराज काव्य-लक्षण में शब्द को विशेष्य बनाकर लाते हैं, अर्थ को उसका विशेषण बना देते हैं, फिर रमणीयता को अर्थ का विशेषण बनाते हैं, अतः तीनों के चमत्कार तीन वर्गों में आते ही हैं, रमणीयता (व्यंग्य चमत्कार) के गुण-प्रधान-भाव से एक भेद और बढ़ जाता है।

निष्कर्ष

देखा गया कि ध्वनि-सिद्धान्त काव्य के अन्तरङ्ग तत्त्व के रूप में व्यंग्य को मानकर चलता है और दोषाभाव, गुण तथा अलङ्कार को काव्य-परिभाषा में उचित स्थान देता है। निश्चय ही काव्य-परिभाषा कठिन सन्दर्भ है। पण्डितराज ने सरल परिभाषण का प्रयास किया, पर 'रमणीयता' की विस्तृत व्याख्या में उन्हें उलझना पड़ा। "नायंलौकिकसुखान्तरसाधारणः" कहकर उन्होंने स्पष्ट तो किया पर रमणीयता की नव्यन्यायशैली में व्याख्या सरल नहीं है। आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा एक तो चित्रकाव्य को अपने वृत्त में नहीं ले पाती और दूसरे 'रस' जैसे शब्द को परिभाषा में डालने से विभावादि पारिभाषिक शब्दावली के अधीन हो जाना पड़ा है। आचार्य मम्मट की परिभाषा काव्य-तत्त्वों में से उन्हीं को लेती है जो निर्विवाद रूप से परम्परा-मान्य रहे हैं और ध्वनिमत में यथापूर्व मान्य हैं।

जहाँ तक वर्ग-विभाजन का प्रश्न है, शब्दचित्र और अर्थचित्र को दो वर्गों में रखा जाय या एक वर्ग में अथवा उसे अकाव्य ही माना जाय, कोई बड़ा अन्तर नहीं आता। ध्वनि-सिद्धान्त की आधारभूमि व्यंग्य है और व्यंग्य की विविधता तथा उसके सौष्ठव को लेकर केवल दो भेद ही खड़े होते हैं—ध्वनि तथा गुणीभूत-व्यंग्य। और इन्हीं दो पर ध्वनिकार का विशेष आग्रह भी रहा है अतः आगामी अध्यायों में इनके विविध भेदों की विवेचना की जा रही है।

ध्वनि-काव्य के भेद

४

द्वितीय अध्याय में देखा गया है कि ध्वनि-सिद्धान्त शब्दशक्तियों को आधार मानकर चलता है और शब्दशक्तियों में व्यञ्जना को सर्वोपरि महत्त्व देता है। व्यंग्य अर्थ ही काव्य-विभाजन का आधार है, यह तृतीय अध्याय में देखा जा चुका है। व्यञ्जना के विविध भेदों के आधार पर व्यंग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्द एवम् अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। व्यंग्य अर्थ के अनुसार काव्य के ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य भेद निर्धारित होते हैं और व्यञ्जक शब्दादि के आधार पर व्यंग्य पदांशगत, पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, आदि रूपों में देखा जाता है। इन दो दृष्टियों से ध्वनिकाव्य का परिशीलन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

व्यंग्य अर्थ की दृष्टि से ध्वनि-काव्य के भेद

व्यञ्जना कहीं लक्षणामूला और कहीं अभिधामूला होती है अतः व्यंग्य अर्थ के भी दो भेद हो जाते हैं—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य। फलतः ध्वनि के भी दो भेद मान्य हैं :—

(क) अविवक्षितवाच्य ध्वनि—जहाँ वाच्य अर्थ कहना वक्ता को अभीष्ट न हो, अर्थात् लक्ष्यार्थ और उससे आनेवाला व्यंग्य ही वक्ता का अभीष्ट हो—(लक्षणा के अवसर पर यह स्थिति आती है), वहाँ अविवक्षित-वाच्य ध्वनि होती है।

(ख) विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि—जहाँ वक्ता वाच्यार्थ को कहना चाहकर भी अन्य अर्थ ही देना चाहता है जिससे वाच्य विवक्षित (कहने को अपेक्षित) होकर भी अन्य (व्यंग्य) अर्थ-बोध में तत्पर होता है, वहाँ 'विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि' होती है।

अविवक्षित-वाच्य ध्वनि के भेद

अविवक्षित-वाच्य लक्षणामूला व्यञ्जना पर प्रतिष्ठित है। लक्षणा के भेदों में उसके दो भेद—उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा—देखे गये हैं। उपादान-लक्षणा में वाच्यार्थ का भी लक्ष्यार्थ में ग्रहण होता है जबकि लक्षण-लक्षणा में वाच्यार्थ गृहीत नहीं होता, वाच्य-रहित लक्ष्यार्थ ही अपेक्षित रहता है। इस आधार पर अविवक्षित-वाच्य के दो भेद होते हैं :—

(१) अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि काव्य वह है जहाँ वाच्य अर्थ लाक्षणिक विस्तार लेकर अन्य (लक्ष्य) अर्थ में संक्रमण करता है। अर्थात् वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ में

विस्तार हो जाता है और उस लक्ष्यार्थ से आनेवाले व्यंग्य अर्थ का चमत्कार प्रधान रहता है तो काव्य को 'अर्थान्तर-सङ्क्रमित-वाच्य ध्वनि' कहते हैं।

सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ।
जौ हौं राम त कुलसहित कहिहि दसानन आइ॥ (मानस)

यहाँ 'राम' पद केवल 'दशरथ-पुत्र' का अर्थ (वाच्य) देकर विरत नहीं होता, अपितु 'त्रैलोक्य-विजयी रावण को मारने की शक्ति से सम्पन्न राम' लक्ष्यार्थ आता है जिसमें वाच्यार्थ भी समाविष्ट है। दूसरे शब्दों में, वाच्यार्थ का अर्थान्तर (लक्ष्यार्थ) में संक्रमण हो गया है और उससे रावणवध के विश्वास तथा स्वशक्ति के अतिरेक की वस्तु-व्यञ्जना होती है। वही व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान है अतः ध्वनिकाव्य है।

(२) अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनिकाव्य वह है जहाँ लक्षण-लक्षणा से वाच्यार्थ का आत्यन्तिक तिरोभाव हो जाता है और लक्ष्यार्थ उसका स्थान लेता है, उस लक्ष्यार्थ से आनेवाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधान चमत्कारिता रहती है।

धर्म-सीलता तव जग जागी।
पावा दरस हमहुँ बड़भागी॥ (मानस)

यहाँ 'धर्मशीलता' शब्द विपरीत-लक्षणा से 'अधर्म-शीलता' का लाक्षणिक अर्थ देता है जिसमें वाच्य अर्थ अत्यन्त तिरोभूत हो जाता है। लक्ष्यार्थ से रावण की अधार्मिकता का अतिशय व्यक्त होता है और वही प्रधानीभूत काव्यार्थ है अतः इसे अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि काव्य कहेंगे।

विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि के भेद :

विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि में अभिधामूला व्यञ्जना रहती है। उस व्यञ्जना से आयात अर्थ का चमत्कार प्रधान काव्यार्थ होता है। इसके मुख्य दो भेद किये जाते हैं :

(१) असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि काव्य वह है जिसमें वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अतिशय-चमत्कारी होता है और साथ ही वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों का पूर्वापर कालक्रम भले प्रकार लक्षित नहीं होता। इतनी शीघ्रता से वाच्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ-बोध करा दिया जाता है कि नीचे-ऊपर रखकर सौ पत्तों के छेदने के समान क्रम अपरिज्ञात रहता है। इसके अवान्तर भेदों पर आगे विचार होगा।

(२) लक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि काव्य वह है जिसमें वाच्य और व्यंग्य का पूर्वापर क्रम प्रकट रहता है। व्यञ्जना के सन्दर्भ में इसपर विचार हो चुका है, पुनः अवान्तर भेदों का विवरण दिया जायगा।

असंलक्ष्यक्रम में समस्त चित्तवृत्तियोंवाले रसभावादि-काव्यों का ग्रहण हो जाता है और लक्ष्यक्रम में वस्तु-ध्वनियों तथा अलङ्कार-ध्वनियों का समावेश होता है।

असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि काव्य के भेद :

यही प्रमुख ध्वनिभेद है जिसके आधार पर काव्य को रसात्मक कहने की परिपाटी रही है। इसे 'रसध्वनि' या 'रसादिध्वनि' नाम भी दिया जाता है। इसके रस, भाव,

रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय और भावशबलता ये आठ भेद किये जाते हैं। सामान्यतया सभी को रस कह दिया जाता है अतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में इन आठों के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ है। ये आठों प्रकार के संवेदनात्मक तत्त्व जहाँ प्रधानीभूत व्यंग्य रहते हैं, वहीं ध्वनि-काव्य कहा जाता है, अन्यथा गुणीभूत-व्यंग्य हो जाता है। गुणीभूत रसादि की अपेक्षा अन्य व्यंग्य ही प्रधानीभूत हो तो उसे उसके आधार पर ध्वनि-काव्य कह सकते हैं परन्तु रसध्वनि काव्य होने के लिए उक्त आठों में से किसी की प्रधानता होनी चाहिए। उदाहरणार्थ—

नैंकु उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नहँ दी छिनकु महँदी सूकन देहु॥ (बिहारी)

यहाँ स्वेद सात्त्विक भाव ही प्रधानीभूत व्यंग्य है, उसका आधारभूत रतिभाव (शृङ्गार) गौण है, तो भी अन्तर नहीं आता। यह भावकाव्य-वर्ग ध्वनिकाव्य ही कहा जायगा।

ध्वनिमत में रसादि आठों व्यंग्यों का महत्त्व समान है। उनमें तारतम्य का आधार उच्च-नीच विचार नहीं रखा गया है अतः भ्रान्ति न होनी चाहिए कि भाव के रस का उत्कर्ष अधिक है। यह तो अवश्य है कि भाव-काव्य में कोई एक व्यभिचारी भाव प्रधानीभूत रहता है जबकि उसका आधारभूत स्थायीभाव गुणीभूत हो जाता है। रसकाव्य में आधारभूत स्थायी की परिपुष्ट प्रधानता रहती है जिसमें व्यभिचारी भावों का सागर में तरङ्गों के समान योग रहता है अतः सहृदय यदि उसे अधिक महत्त्व दे तो क्या आपत्ति हो सकती है। चमत्कारशाली व्यंग्यार्थ की प्रधानता को लेकर ही ध्वनिमत में ध्वनि-काव्य-व्यवस्था की गयी है अतः इस दृष्टि से किसी प्रकार का तारतम्य वहाँ मान्य नहीं है। भरत ने स्वयं रसनिष्पत्ति की बात की है, भाव-निष्पत्ति की चर्चा नहीं है क्योंकि भाव प्रधान होकर अन्ततः किसी-न-किसी स्थायी भाव की ही व्यञ्जना पर टिके होते हैं। ऊपर के दोहे में भावचमत्कार की प्रधानता रहने पर भी रस-निष्पत्ति स्थायी भाव को लेकर ही होगी। ध्वनिमत में तो वस्तु-व्यंग्य की भी प्रधानता में श्रेष्ठ काव्य की मान्यता है, तब यह सन्देह ही व्यर्थ है कि ध्वनि के भेदों में व्यंग्य की दृष्टि से कोई तारतम्य है। सहृदय की इच्छा हो तो रसकाव्य की अपेक्षा भाव-काव्य या वस्तुप्रधान काव्य को ही श्रेष्ठ कहें।

रस-निष्पत्ति :

"विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः।"

भरतसूत्र प्रथम अध्याय में नाटचशास्त्र के अनुसार विवेचित हो चुका है। ध्वनि-मत में इसकी क्या व्याख्या हुई, इसपर आने के पूर्व कतिपय समस्याओं पर प्रकाश अपेक्षित है जो व्याख्या की विविधता का कारण है।

१. सूत्र में 'निष्पत्ति' शब्द आया है जो 'रस' के सन्दर्भ में अनेक अर्थ दे सकता है। (क) 'मिट्टी से घड़े की निष्पत्ति होती है' जैसे स्थलों में निष्पत्ति का उत्पत्ति अर्थ है, (ख) 'धुआँ देखकर अग्नि की निष्पत्ति' में अनुमिति अर्थ है, (ग) 'सुख-निष्पत्ति'

में सुख-भोग से तात्पर्य है और (घ) 'प्रकाश से पदार्थ की निष्पत्ति (प्रतीति)' में अभिव्यक्ति अर्थ रखता है। सूत्रकार को इनमें से क्या अभिप्रेत हो सकता है ?

२. सूत्रगत 'संयोग' शब्द का क्या अर्थ है ? यह दूसरा प्रश्न है। विभावादि का रस के साथ मूर्त पदार्थों जैसा संयोग असंभव है अतः 'संयोग' 'सम्बन्ध-विशेष' का अर्थ दे सकता है, पर वह सम्बन्ध क्या तथा कैसा हो सकता है ? (क) यदि 'निष्पत्ति' को जनन (उत्पत्ति) का पर्याय मानें तो यह सम्बन्ध 'जन्य-जनक-भाव' कहा जायगा—अर्थात् विभावादि जनक तत्त्व हैं जिनसे रस का जनन होता है अतः वे जन्य हैं। (ख) निष्पत्ति का अनुमिति अर्थ लेने पर अनुमाप्यानुमापक भाव सम्बन्ध मान्य होगा जिसे 'गम्यगमकभाव सम्बन्ध' भी कहते हैं—तदनुसार रस गम्य, अनुमेय अथवा अनुमाप्य है और विभावादि उसके अनुमापक या गमक हेतु हैं। (ग) भोग या भुक्ति के अर्थ में 'निष्पत्ति' शब्द को लेने पर दोनों का सम्बन्ध भोज्य-भोजक-भाव कहा जायगा जिसमें रस भोज्य (आस्वाद्य : रसनीय) है और विभावादि भोजक तत्त्व हैं जो रसिक को रसभोग कराते हैं। (घ) अभिव्यक्ति-पर्याय निष्पत्ति लेने पर रस व्यंग्य होगा और विभावादि उसके व्यञ्जक होंगे, फलतः दोनों के सम्बन्ध को 'व्यंग्य-व्यञ्जक-भाव' नाम दिया जायगा।

३. तीसरी समस्या रसाश्रय की है—'रस' किसमें रहता है ?

देखि सीय सोभा सुख पावा।
हृदयँ सराहत बचनु न आवा ॥ (मानस)

में तीन व्यक्तित्व उभरते हैं—(क) अनुकार्यरूप राम जिसका कवि ने अनुकरण (ग्रथन) किया है, (ख) अनुकारक कवि जो राम का अनुकृत विवरण दे रहा है, और (ग) रसिक जो काव्यानन्द लेता है। इन तीनों के अतिरिक्त काव्य की चौथी सत्ता (घ) है जो रसिक के प्रति माध्यम है—राम अथवा कवि (नाट्य में नट या अभिनेता) उसके लिए महत्त्व नहीं रखते, प्रत्युत रसिक वर्णन को ही महत्त्व देकर आनन्द लेता है। विभावादि-योजना का सीधा सम्बन्ध अनुकार्य से है क्योंकि सीता और उसकी शोभा राम से ही सीधे सम्बद्ध हैं, कवि या नट सीता व्यक्ति के प्रति राग नहीं रखता और न ही रसिक। इस प्रकार रसरूप लेनेवाले स्थायी भाव को चार स्थानों पर देखा जा सकता है—अनुकार्य, अनुकारक, काव्य अथवा नाट्य और रसिक। तब रस की सत्ता किसमें है ?

४. पुनः सूत्र पर विचार करें। ऊपर जो प्रश्न उठाये गये हैं, उनमें सूत्र का अर्थ कुछ इस प्रकार लिया गया है—'रस की निष्पत्ति में स्थायी भाव के साथ विभावादि-त्रिक का संयोग कारण है।' यह अर्थ न लेकर उसे इस प्रकार भी ले सकते हैं—'विभावादि के संयोग (मेलन या मिश्रण) से रस निष्पन्न होता है।' अर्थात् रसनिष्पत्ति के कारण विभावादि नहीं हैं, प्रत्युत उन तीनों का मिश्र रूप कारण है जिसमें उनकी पृथक् प्रतीति नहीं होती—भरत ने विविध व्यञ्जनों के मिश्रण से रस-निष्पत्ति का लौकिक उदाहरण इसी आधार पर दिया है, पानकरस (शर्बत) का दृष्टान्त भी ऐसा ही है। इस व्याख्या को मान लेने पर 'संयोग' शब्द के त्रिविध अर्थ अपेक्षित नहीं रह जाते पर 'निष्पत्ति' और 'रसाश्रय' वाले प्रश्न यथा-स्थित रहते हैं। (क) अपृथक्-प्रतीत-विभावादि-मिश्रण से जिस

रस की निष्पत्ति होती है वह अनुकार्य, अनुकारक, काव्य और रसिक में से किसमें रहता है ? (ख) वह 'निष्पत्ति' उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति और अभिव्यक्ति में से क्या है ?

५. रसाश्रय के विषय में कहा जा सकता है कि रसिक ही रसनिष्पत्ति का आधार है, पर उसे वह रस कहाँ से बोधगम्य होता है—अनुकार्य से, अनुकारक से अथवा काव्य से ? (क) उत्पत्तिमत में अनुकार्य ही रसाश्रय है, उसी में रसनिष्पत्ति होती है जिसका द्रष्टा रसिक है पर उसमें रस या रसनिष्पत्ति नहीं है—रस की उत्पत्ति रसिक में हो ही कैसे सकती है जबकि विभावादि का उससे लौकिक सम्बन्ध नहीं है ? (ख) अनुमितिमत से अनुकारक ही रसनिष्पत्ति (रसानुमिति) का आधार है क्योंकि रसिक उसी में विभावादि हेतुओं का अवलोकन करता है । इस मत में रसिक द्रष्टा ही है, रसाश्रय नहीं । (ग) यदि भुक्ति-परक निष्पत्ति ग्रहण की जाय तो रसिक रसभोक्ता ठहरता है और रस काव्य-शब्दों से ही आता है क्योंकि विभावादि काव्यशब्द की वस्तु हैं, उनकी बाह्यसत्ता अपेक्षित नहीं—रसिक तो काव्यशब्दों में रूप लेनेवाले विभावादि का और उनसे भावित रस (स्थायी-भाव) का भोक्ता है । वह तो एक प्रकार का बौद्ध प्रत्यय है जो प्रत्यक्षवत् भासित होता है ।[1] (घ) अभिव्यक्तिपर्याय निष्पत्ति की मान्यता में वासनारूप स्थायी भाव रसिक में ही रहता है और विभावादिरूप अनुकूल कारणों से व्यक्त होता है तो लोकोत्तर रसचर्वणा होती है जो और कहीं से नहीं आती, रसिक में ही अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती और काव्यगत विभावादि से व्यक्त हो उठती है—विभावादि व्यञ्जक हैं जबकि व्यंग्य रसरूप लेनेवाला स्थायी भाव वासनारूप से रसिक की ही सम्पत्ति है ।

६. एक और प्रश्न शेष रहता है । रसनिष्पत्ति=रस की निष्पत्ति । इसके दो प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं—(क) स्थायी भाव जब विशेष निष्पत्ति लेता है तब वह रस कहलाता है, (ख) स्थायी भाव ही रस है जिसकी निष्पत्ति (उत्पत्ति, अनु-मिति, भुक्ति या अभिव्यक्ति) होती है । प्रथम प्रकार से विचार करें । 'मिट्टी से घड़ा बनाओ' अथवा 'सूत से कपड़ा बुनो' में निष्पत्ति के पूर्व ही 'घड़ा' और 'कपड़ा' का प्रयोग हुआ है, वे निष्पन्न होकर ही उस शब्द का व्यवहार लेंगे जबकि भाषाशक्ति भावी वस्तुओं को निष्पत्ति के पूर्व ही नाम दे देती है । इसी प्रकार स्थायीभाव जब आनन्दरूप में व्यक्त या अनुभूत होता है, तभी उसे 'रस' नाम मिलता है, निष्पत्ति से पूर्व 'रस' नाम देना भावी रूप के आधार पर ही है—रसानुभूति ही रस है, उससे पूर्व 'रस' शब्द का लाक्ष-णिक प्रयोग ही मान्य है । दूसरे प्रकार से देखें तो स्पष्ट होता है कि स्थायिभावरूप रस पहले से रहता है, उसकी निष्पत्ति ही बाद की वस्तु है । प्रथम पक्ष अभिव्यक्तिवादी का है जबकि द्वितीय पक्ष उत्पत्तिवादी और अनुमितिवादी के हैं । भुक्तिवादी भी द्वितीय मत ही लेकर चलता है ।

व्यञ्जनामत में रसविषयक दो मान्यताएँ हैं—(१) दुग्ध-दधि-न्याय के अनुसार स्थायी भाव अनुभूति-दशा में उसी प्रकार रसरूप लेता है जिस प्रकार दूध से दही बनता है, अर्थात् सहृदयगत वासना विभावादि-सहकार से रसात्मक परिणाम लेती है, जैसे दूध का दध्यात्मक परिणाम होता है । इसे परिणामवाद कह सकते हैं । इस मत में सत्कार्यवाद मान्य है, अर्थात् कारण में कार्य तत्त्वतः विद्यमान रहता है, बाह्य (निमित्त) कारणों से

रूप-परिणाम होने पर अन्य वस्तु (कार्य) का रूप ले लेता है। स्थायी भाव में रसनीय तत्त्व पूर्वोपस्थित हैं, विभावादि-योग से वे तत्त्व रसरूप परिणाम ले लेते हैं। रस-व्यञ्जना का इतना ही अर्थ है कि स्थायी भाव रसरूप में व्यक्त (परिणत) होता है। (२) दीप-घट-न्याय दूसरा मत है। तदनुसार, जैसे घट पूर्वोपस्थित रहता है, अन्धकार के कारण प्रकट नहीं होता, और दीपक के प्रकाश में व्यक्त हो उठता है, उसी प्रकार आनन्द-तत्त्व एक व्यापक तत्त्व है जो अप्रकट रहता है, विभावादि से व्यक्त स्थायी भाव के परिवेश में जब वह आनन्द-स्वरूप प्रकट होकर प्रतीत होता है तब उसे रस कहते हैं। काव्यानन्द वस्तुतः निरपेक्ष आनन्द नहीं है, वह स्थायी भाव (वासना) के वृत्त में उभरता है तब रसनाम ग्रहण करता है।

इन दोनों मतों में स्थायी भाव की चर्वणा ही रस है जो रसनिष्पत्ति से भिन्न नहीं है। निष्पत्ति ही रस है और 'चर्वणा' तथा 'निष्पत्ति' पर्याय शब्द हैं, व्यञ्जना भी रस-सन्दर्भ में उन्हीं का नामान्तर है। 'रस की निष्पत्ति' उसी प्रकार कहा जाता है जैसे, बनने के पूर्व ही 'घड़ा बन रहा है' कहा जाता है।

७. क्या चर्वणा ही रस है ? क्या निष्पत्ति और चर्वणा पर्याय हैं ? क्या निष्पत्ति, चर्वणा और व्यञ्जना एकार्थक शब्द हैं ? ये प्रश्न निर्विवाद उत्तर नहीं ला पाते। (क) रसनिष्पत्ति यदि रसोत्पत्ति है, तो रस की उपस्थिति अनिवार्यतः अनुकार्य में होगी जबकि रस-चर्वणा रसिक में होगी—'रसिक' रस-चर्वण-कर्ता का पर्याय। जब निष्पत्ति (उत्पत्ति) और चर्वणा के आश्रय भिन्न हैं, तब दोनों एक नहीं हो सकते, साथ ही रस अन्यत्र रहता है जबकि उसकी चर्वणा अन्यत्र, तब रस और चर्वणा भी एक नहीं हो सकते। (ख) निष्पत्ति और अनुमिति को एक मानने पर भी चर्वणा उससे भिन्न ही ठहरती है। रस की निष्पत्ति (अनुमिति) अनुकार्यगत है और चर्वणा रसिकगत। रस की अनुमिति तो सब कर सकते हैं पर उसकी चर्वणा कुछ ही लोग करते हैं जिनमें सौन्दर्यानुभूति की क्षमता होती है, अतः दोनों एक नहीं है। अनुमिति-वाद में व्यञ्जना की तो सत्ता ही अमान्य है अतः चर्वणा के साथ उसकी एकता का प्रश्न नहीं उठता। रस भी न चर्वणारूप है, न अनुमिति रूप, प्रत्युत अनुमिति-स्थायिभावरूप है अतः रस और चर्वणा कथमपि एकार्थक नहीं हो सकते। (ग) निष्पत्ति को भुक्तिरूप माना जाय तो चर्वणा और निष्पत्ति निश्चय ही पर्याय ठहरते हैं पर स्थायिभावात्मक रस से उसकी भिन्नता स्पष्ट है। रस पूर्वस्थित तत्त्व है जिसकी निष्पत्ति अर्थात् भुक्ति या चर्वणा होती है। ऐसी स्थिति में चर्वणा और व्यञ्जना पर्याय नहीं हो सकते क्योंकि व्यञ्जना रसभोग का पर्याय नहीं है—वस्तुतः भुक्तिमत व्यञ्जना का अस्तित्व नहीं मानता। (घ) निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति या व्यञ्जना करनेवाला मत न तो निष्पत्ति से पृथक् रस का कोई स्वरूप मानता है और न रस को चर्वणा से बाहर अस्तित्व देता है अतः उस मत में चर्वणा, व्यञ्जना, निष्पत्ति, भुक्ति पर्याय हैं और उसी को रस कहा जाता है—स्थायी भाव का चर्वणात्मक रूप ही रस है। काव्य का रस वस्तुनिष्ठ (objective) न होकर आत्मनिष्ठ (subjective) होता है, यह व्यञ्जना-वादी की स्थापना है।

× × ×

रस-निष्पत्ति के चार मत

ध्वनिमत में रस-निष्पत्ति का दिग्दर्शन अन्य मतों का स्थापन करते हुए किया गया है। अब उक्त चारों मतों का विविक्त परिशीलन अपेक्षित है जिससे ध्वनिमत की अवधारणाएँ और स्पष्ट हो सकें।

१. उत्पत्तिवाद (आरोपवाद) :

इसे मीमांसा-दर्शन का मत माना गया है और इसके प्रवर्तक भट्टलोल्लट हैं। रस-सूत्र में आये हुए 'निष्पत्ति' शब्द के वे तीन अर्थ करते हैं जो विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के कार्यों के आधार पर हैं। उनके मत से स्थायी भाव ही रस है जिसकी उपत्ति विभाव से, प्रतीति अनुभावों से और उपचय (वृद्धि या पोषण) व्यभिचारी भावों से होता है। विभाव की मुख्यता के कारण उत्पत्ति को मुख्यता दी जाती है, अतः यह मत 'उत्पत्तिवाद' कहा जाता है। उनके मत से राम, सीता आदि में स्थायी भाव उत्पन्न होता है, अतः उत्पत्ति-वाद नाम ही उचित है, बाद में उत्पन्न हुआ स्थायी बोधगम्य और पुष्ट (या उपचित) होता है—मुख्य क्रिया उत्पत्ति है। इस प्रकार स्थायी भाव ही रस है जो रामादि अनुकार्य में रहता है, परन्तु लक्षणा से उसे नट (या कवि) में कहा जाता है—अर्थात् अनुकारक में रस होता नहीं पर वैसा अनुकृत होता है जिससे अभिनेता, कवि अथवा काव्य को रसयुक्त कहा जाता है।

इस प्रकार निष्पत्ति=उत्पत्ति (उद्दीप्ति) + प्रतीति + उपचिति। ये सभी कार्य अनुकार्य पात्र में घटित होते हैं, अतः वही रसाश्रय हो सकता है। भट्टलोल्लट ने नट में अनुकार्य की तदरूपता का आरोप माना है, अतः वे आरोपवादी भी कहे जाते हैं।

इस मान्यता में रसिक का कहीं योग नहीं दिखायी पड़ता, फिर भी कहा जा सकता है कि रामादि का रस नटादि के माध्यम से रसिक बोधगम्य करता है, यही रसिक का भाग है और रसिक का आनन्दित होना परगत स्थायी भाव के बोध पर अवलम्बित है—रस की उपस्थिति रसिक में नहीं रहती। अनुकारक में उसकी प्रतीति का कारण यही है कि उसमें सहृदय अनुकार्य के रूप का अनुसन्धान कर लेता है।[२]

अभिनवभारती में भट्टलोल्लटादि को रससूत्र के व्याख्याकार के रूप में स्मरण किया गया है। यहाँ एक अन्तर्विरोध दिखायी पड़ता है कि जब स्थायी भाव ही रस है तो उसी की कार्यात्मक चेष्टा उसी का कारण कैसे हो सकती है ? भाव की कार्यरूप चेष्टा ही अनुभाव है। आचार्य अभिनव ने इस असंगति का समाधान दिया है कि 'अनुभाव' से भट्टलोल्लट का तत्पर्य स्थायी भाव द्वारा जनित चेष्टा न होकर व्यभिचारी की चेष्टा है और व्यभिचारी भाव के अनुभावों से स्थायी भाव की प्रतीति होती है, अतः वे रस-कारण हैं। इस सन्दर्भ में दूसरा प्रश्न है कि व्यभिचारी और अनुभाव साथ नहीं रह सकते—अनुभाव बाह्य चेष्टाएँ हैं जबकि व्यभिचारी भाव आन्तर चित्तवृत्तियाँ हैं, अतः दोनों का सहभाव न होने से 'संयोग' नहीं हो सकता जो सूत्रकार को अभिमत है। इसका समाधान यह हो सकता है कि वासनारूप स्थायी के साथ दोनों का योग होने से वे परस्पर-संयोगी भी कहे जा सकते हैं।

सूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ मुख्यतः जन्य-जनक भाव सम्बन्ध बताया गया है पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के स्थायी भाव से सम्बन्ध भी भिन्न होंगे। तालिका द्वारा इसे समझा जा सकता है।

रस-सामग्री	कार्य	सम्बन्ध
आलम्बन विभाव	स्थायी की उत्पत्ति	जन्य-जनक भाव
उद्दीपन विभाव	,, उद्दीप्ति	उदीप्योद्दीपक भाव
अनुभाव	,, प्रतीति (बोध)	बोध्य-बोधक भाव
व्यभिचारी भाव	,, उपचिति (पोष)	पोष्य-पोषक भाव

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यभिचारी भाव इस मत में बड़े महत्त्व का है। उसके बिना जहाँ एक ओर स्थायी अनुपचित या अपुष्ट रहेगा और तब उसे 'रस' नहीं कह सकते, वहाँ दूसरी ओर वह प्रतीति योग्य भी न हो पाएगा क्योंकि व्यभिचारी के अनुभावों से ही स्थायी भाव की अनुकार्यगत सत्ता का बोध होता है।[3]

यहाँ स्पष्ट पता चलता है कि अनुभाव का कार्य रस को प्रतीति-योग्य बनाना है अतः उसका रसिक-सापेक्ष महत्त्व है। अर्थात् अनुभावों से रसिक को अनुकार्य-गत रस (स्थायी भाव) की प्रतीति होती है। इस प्रकार विभाव और भाव अनुकार्य तक ही परिमित हैं जबकि अनुभाव अनुकार्य के होकर भी सहृदय के साथ सम्पर्क बनाते हैं। यही सहृदय की अनुकार्यगत-भाव-प्रतीति रसचर्वणा है।

समीक्षा :

(क) भट्टलोल्लट अनुकार्य को सर्वाधिक महत्त्व देकर चले हैं जिसे एक सीमा तक संगत माना जा सकता है, परन्तु रस-सामग्री का ताल-मेल बिखर जाता है। विभाव और व्यभिचारी भाव के कार्यों का अनुकार्य से सम्बन्ध रहता है जबकि अनुभाव अनुकार्य के होकर भी सहृदय की प्रतीति के कारण बनते हैं और शेष दोनों का सहृदय से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(ख) भट्टलोल्लट का अनुसरण अन्य पुरातन आचार्यों ने किया है जिनमें-से दण्डी का उल्लेख अभिनवभारती (रससूत्र) में हुआ है कि 'रूप-वैविध्य के योग से रति ही शृङ्गारता प्राप्त करती है' और 'पराकाष्ठा पर पहुँचकर कोप ही रौद्र रस बनता है'।[४] पराकाष्ठावाला ही स्थायी भाव रस है तो मध्य और मन्द दशा में रस-सत्ता का ही लोप हो जाता है जो तर्कानुगत नहीं।

(ग) भट्टलोल्लट के अनुसार अनुभाव ही रसबोध कराते हैं। अनुभाव अनेक अवसरों पर रस के निर्णायक नहीं होते। कम्प अनुभाव प्रेम, क्रोध, हास और भय में समान रूप से देखा जाता है, वहाँ सहृदय अकेले अनुभाव पर आश्रित नहीं रहता, अपितु विभाव और व्यभिचारी भाव की सहायता से निष्कर्ष पर पहुँचता है। भट्टलोल्लट सहृदय से उनका सम्बन्ध ही नहीं मानते जिससे रसप्रतीति में उनका योग ही नहीं रहता जबकि वस्तुस्थिति विपरीत है।

ऐसे समै कहूँ चातक की धुनि
कान परी डरपी वह प्यारी।
चौंकी चकी चमकी चित मैं
चुप ह्वै रही चंचल अंचलवारी ॥ (पद्माकर)

यहाँ 'डरपी' शब्द के आ जाने पर भी तथा कम्पादि अनुभावों के होने पर भी शृङ्गार रस अव्याहत है क्योंकि 'चित्त में चमकने' के द्वारा रतिभाव की सत्ता प्रकट होती है और यह 'चमकना' निश्चय ही आवेग और औत्सुक्य व्यभिचारी भाव हैं।

वस्तुतः विभावादि तीनों ही रसप्रतीति कराते हैं, यही स्थापना तर्कानुगत है और वह प्रतीति सहृदय को ही होती है, तभी 'रस' नाम सार्थक है—रस्यते इति रसः।

(घ) भरत ने हास्य के छह भेद बताये हैं जो आश्रयगत भी होते हैं और सहृदयगत भी। आवश्यक नहीं कि अधम पात्र के अपहसित से उत्तम सहृदय भी उसी प्रकार ठट्ठा मारकर हँसता हो, प्रत्युत यह भेद सहृदयगत भी होता ही है। रस को अनुकार्य या आश्रय तक ही परिमित मान लेने पर सहृदय में ये भेद नहीं बनेंगे।

(ङ) करुण में देखा जाय। आश्रय में कालभेद से तीव्र शोक मध्य और मन्द देखा जाता है, जबकि सहृदय में समान प्रतीति होती है। यह भी सहृदयगत रसावस्थान अमान्य करने पर सम्भव नहीं। सहृदय में भी यदि तीव्रता, मन्दता और मध्यता की दशाएँ मान्य हों तो भी सहृदय की प्रतीति में रस-सत्ता स्वीकार्य होगी। यही बात रौद्र, वीर और शृङ्गार में भी मान्य है क्योंकि क्रोध, उत्साह और रति स्थायी भाव भी ह्रास और विकास लेते हैं।

इस प्रकार भट्टलोल्लट की मान्यता को अनुमानवाद में भी सम्मान नहीं दिया जा सकता।[५]

(च) अनुकार्य प्रायः कल्पित होते हैं जिनकी सत्ता ही प्रमाणिक नहीं, अतः उनमें रस-सत्ता का प्रश्न ही असंगत है। यही कारण है कि अनुकार्य की सत्ता आरोपित माननी पड़ती है और अनुकारक ही महत्त्व ले लेता है।

२. अनुमितिवाद :

इस मत पर पीछे कुछ विचार हो चुका है और 'तुलनीय साहित्य-चिन्तन' के सन्दर्भ में यथावसर विस्तृत परिशीलन होगा। यहाँ भट्टशङ्कुक द्वारा की हुई रस-सूत्र की व्याख्या के आधार पर तथ्यों का नियोजन अपेक्षित है। (यह न्याय-दर्शन की रस-व्याख्या है।)

(क) भट्टशङ्कुक आदि के मत से रससूत्र की निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' है—अर्थात् रस का अनुमान होता है। विभावादि-त्रिक रसानुमिति का साधन है और रसिक ही अनुमिति-कर्ता है—वही रस की प्रतीति करता है। भट्टलोल्लट केवल अनुभावों से ही रस-प्रतीति बताते हैं जबकि इस मत में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीनों ही रस-प्रतीति के कारण हैं और प्रतीति अनुमिति है।

(ख) साधन द्वारा साध्य की अप्रत्यक्ष प्रतीति को अनुमिति कहते हैं जिसमें साधन और साध्य की व्याप्ति अपेक्षित होती है। 'जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग अवश्य होती है' इससे धूम और अग्नि की व्याप्ति बनती है। अनेक मनुष्यों को मरते हुए जानकर 'मनुष्य मरणशील प्राणी है' की व्याप्ति निश्चित होती है और उससे अनुमान कर लिया जाता है—'चैत्र मनुष्य है, अतः मरणशील है'। इसी प्रकार लोक-व्यवहार में कारण-कार्य-सहकारी के आधार पर स्थायी भाव की सत्ता का अनुमान होता है—उदाहरणार्थ, 'क' अपने विरोधी (कारण) को देखता है तो उसमें आवेग, अमर्ष, उग्रता आदि सहकारी भाव उदित होते हैं, जिनके सूचक कार्य—आँखों की रक्तिमा, भ्रूभङ्ग, भुजस्पन्दन, कम्प, मुष्टिबन्ध आदि—अनुभाव उत्पन्न देखे जाते हैं, तब 'क' में क्रोध की सत्ता अनुमित होती है। काव्य द्वारा इसी प्रकार की भावानुमिति जब सहृदय करता है जब उसे 'रस-निष्पत्ति' कहा जाता है।

(ग) लौकिक भावानुमिति और काव्य-रसानुमिति में वस्तुतः अन्तर रहता है। लोक में केवल अनुमिति होती है परन्तु काव्य में अनुमिति के पूर्व 'अनुकृति' का योग रहता है। दूसरे शब्दों में, रस लौकिक भावानुमिति में नहीं होता, प्रत्युत अनुकृतिपूर्वक अनुमित भाव ही रस कहा जा सकता है। अर्थात् अनुकृत विभावादि साधनों से सहृदय द्वारा अनुमान किया हुआ स्थायी भाव रस है और उस प्रकार की भावानुमिति जो अनुकृत साधनों से निष्पन्न होती है, रसनिष्पत्ति है।

(घ) इस प्रकार अनुकृति रसानुमिति का पूर्ववर्ती अपरिहार्य तत्त्व है जिसके बिना रस-संज्ञा नहीं हो सकती। अनुकार्य आश्रय के विभावादि का अनुकरण काव्य (नाट्यादि) में कवि या अभिनेता करता है। सहृदय उन अनुकृत विभावादि से (लोक-व्यवहार में गृहीत व्याप्ति के आधार पर) अनुकारक में स्थायी भाव का अनुमान करता है—यह अनुकारकगत अनुमित स्थायी रस कहा जाता है।

(ङ) अनुकृति ही ऐसा तत्त्व है जो लौकिक भाव-प्रत्यय से अलौकिक रस-प्रत्यय को पृथक् करता है। क्योंकि अनुकृति-जन्य बोध स्वतः अलौकिक होता है। लोक में हम चार प्रकार के प्रत्यय करते हैं—(१) सम्यक् प्रत्यय अथवा प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान वह प्रत्यय है जो एकरूप निश्चित रहता है। जैसे, यह राम ही है, यही राम है। (२) मिथ्या-प्रत्यय या अप्रमा या विपर्ययज्ञान या अयथार्थ बोध वह है जहाँ अवस्तु में पहले वस्तु की निश्चयात्मक प्रतीति हो और कालान्तर में खण्डित हो जाय। जैसे, मोती को अंगूर मान लिया जाय तो स्पर्शादि से उसका खण्डन हो जायगा। (३) संशय-प्रत्यय वह है जहाँ एक ही वस्तु में अनेक अनिश्चित बोध हों पर चित्त किसी पर टिके नहीं, जैसे, राम है या श्याम आदि। (४) सादृश्य-प्रत्यय में एक को दूसरे के समान प्रतीत किया जाता है। जैसे, राम श्याम के सदृश है।

उक्त चारों से विलक्षण अनुकृत-प्रत्यय होता है। रेखाओं में घोड़े की आकृति का अनुकरण चित्रकार करता है और उन रेखाओं के सङ्कलित रूप को हम 'घोड़ा' कहते हैं। इसे हम उक्त चारों प्रतीतियों से भिन्न पाते हैं। इसी प्रकार विभावादि की रेखाओं में

अनुकृति ही स्थायी की प्रतीति का कारण बनती है। 'स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी भाव को उसी अवस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नाम दिया जाता है जब वे अनुकृत होकर काव्य में आते हैं और तभी उनके माध्यम से अनुमित स्थायी रस कहा जाता है'।[६]

(च) अनुमिति-बोध तभी होता है जब साधन और साध्य एकाश्रित हों—साधन और साध्य का समानाश्रय न्याय में 'पक्ष' कहा जाता है। पक्ष का सामने होना अनिवार्य है; जो पक्ष दृश्यमान न हो, उसमें न तो साधन देखा जा सकता है और न ही उसके आधार पर साध्य की अनुमिति हो सकती है। अतएव शङ्कुक अनुकार्य में रसानुमिति नहीं मान सकते क्योंकि अनुमानकर्ता उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता और न उसमें साधन-साध्य की संगति (व्याप्ति) का अनुसन्धान कर सकता है। यह अनुमान अनुकारक—नट या कवि—में घटित होता है क्योंकि उसी में विभावादि साधनों की प्रतिपत्ति होती है और उसी में साधनों द्वारा साध्य-भूत स्थायी भाव की अनुमिति होती है। ऐसी स्थिति में रस की सत्ता का आश्रय अनुकारक ठहरता है, सहृदय उसका अनुमान करता है।

(छ) शङ्कुक इस प्रकार भाव को अनुमित होने के साथ-साथ अनुकृत मानते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या भाव की अनुकृति सम्भव है। शङ्कुक की मान्यता है कि विभाव और अनुभाव अनुकृत होते हैं तो भाव स्वतः अनुकृत हो जाता है—भाव का साक्षात् अनुकरण असम्भव है, पर उक्त माध्यमों से वह अनुकृत (अभिनीत) होता है। अनुकृत + अनुमित भाव ही रस है—केवल अनुकृति होने पर भी अनुमान के बिना रस-सत्ता अमान्य होगी, वह उपहसनीय बन जायगी। केवल अनुमिति लोक में भी होती है, अतः लोकोत्तर रस-निष्पत्ति का आधार अनुकृति को होना ही चाहिए। भाँड़ों की नकल में अनुकृति तो होती है पर भावानुमिति का अभाव रहता है और लौकिक भावबोध में अनुकृति के न होने से रस नहीं होता।[७]

स्पष्ट है कि 'रस' के लिए भाव की अभिनेयता (या अनुकार्यता) अपरिहार्य है :

सोक की आगि लगी परिपूरन,
आइ गये घनस्याम बिहाने। (रामचन्द्रिका)

यहाँ 'शोक' वाच्य होकर आया है, अभिनेय नहीं है, अतः यहाँ 'करुण रस' नहीं कहा जायगा। अनुमान का आधार अभिनय को होना ही चाहिए।

इसके विपरीत :

नाना बिधि बिलाप कर तारा।
छूटे केस न देह सँभारा॥ (मानस)

में सभी चेष्टाएँ अभिनेय होकर आयी हैं अतः उनसे अनुमित शोक स्थायी करुण रस के रूप में निष्पन्न होता है।

(ज) अब प्रश्न शेष रहता है कि जब सहृदय में रस उपस्थित ही नहीं तो अनुमित रस से वह आनन्दित कैसे हो सकता है। शङ्कुक का अभिमत है कि अनुकृत भाव-वस्तु में एक विलक्षण सौन्दर्य स्वभावतः आ जाता है, वही वस्तु-सौन्दर्य इतना प्रबल होता

है कि सहृदय को एक प्रकार के आवेश की दशा उपलब्ध हो जाती है, यही सहृदयगत रसानुभूति कही जा सकती है। लोकोत्तर अनुकृति और अनुमिति से आया हुआ सौन्दर्य भी लोकोत्तर होता है, जैसा चित्रकला के दृष्टान्त से जाना जा सकता है।[८] उस भाव की चर्वणा सहृदय अपनी वासना से ही करता है—"सहृदय-वासनया चर्व्यमाणः।" (काव्य-प्रकाश)।

समीक्षा :

(अ) अनुमान-प्रणाली में व्याप्ति का संकट आ जाता है जिसपर द्वितीय अध्याय में विचार किया जा चुका है, अतः काव्यार्थ की अनुमिति निश्चित रूप नहीं ले सकती।

(आ) अनुमान से आह्लाद की उत्पत्ति अव्यावहारिक है। जब तक रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का रसिक में ही अनुसन्धान न किया जाय तब तक रसिक के आह्लाद का वास्तव आधार नहीं खोजा जा सकता—अनुमान-प्रणाली स्थूल है जिससे सूक्ष्म-भाव-बोध की दशा प्राप्त करना उपपन्न नहीं कहा जा सकता।

(इ) भट्टलोल्लट के समान भट्टशङ्कुक भी रस की स्थिति परगत मानते हैं जिसमें रसिक तटस्थ द्रष्टा भर रहता है। फलतः लौकिक अनुमान से काव्यार्थ का अनुमान अन्तर नहीं रख पाता। परगत भावबोध से घृणा, संकोच, ईर्ष्या आदि का उदय होता है और काव्य में इन अप्रस्तुत भावों का सर्वथा अभाव रहता एवं प्रस्तुत भाव की ही चर्वणा होती है। न्यायमत में इस समस्या का उचित समाधान नहीं हो पाता।

(ई) अनुकृतिवाद का भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। अनुकरण पूर्वानुभूत तथ्यों का होता है। राम, कृष्ण, सीता, शकुन्तला आदि अभिनेता द्वारा देखे नहीं गये हैं कि वह उनका अनुकरण कर सके। नट या कवि की ऐसी कोई धारणा नहीं होती कि 'मैं राम की चित्तवृत्ति आदि का अनुकरण कर रहा हूँ।' उत्तम, मध्यम अथवा अधम व्यक्ति की प्रवृत्तियों का अनुकरण होता है जिन्हें राम, सुग्रीव और रावण का अनुकरण कहा जाता है, परन्तु विशिष्ट व्यक्ति के निश्चय के बिना अनुकरण बुद्धिगत नहीं हो सकता कि सहृदय उससे रसनिष्पत्ति प्राप्त कर सके।

(उ) नटादि तो अपने अनुभव के आधार पर विशेष विभावादि का प्रदर्शन करता है, न कि किसी व्यक्ति का अनुकरण करता है। यदि इसे अनुकृति मान भी लिया जाय तो भी 'चित्रतुरग' के साथ सामञ्जस्य नहीं बैठता। चित्र में जिस प्रकार तुरग-सदृश आकृति आ जाती है, उस प्रकार विभावादि में स्थायी भाव का कोई स्वरूप नहीं खड़ा होता कि भाव को अनुकृत कहा जाय।

तात्पर्य यह कि विभाव और अनुभाव किसी प्रकार अनुकृत मान लिए जायँ तो भी भाव का अनुकरण कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि उनका आकृत्यात्मक अनुकरण नहीं हो सकता।[९]

(ऊ) नट कभी किसी भाव का अनुकरण नहीं करता ; आनुभाविक चेष्टाओं का ही अनुकरण भावानुकरण नहीं है, और तब भावानुमान का भी प्रासाद ढह जाता है। अनुमेय वस्तु का पक्ष में अस्तित्व ही अनुमिति की शर्त है।

३ भुक्तिवाद :

अभिनवगुप्तपादाचार्य के पूर्व रससूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक हैं। उनके सिद्धान्त को 'भुक्तिवाद' कहा जाता है जिसपर 'तुलनीय' खण्ड में पुनर्विचार होगा। यहाँ संक्षेप में उनका प्रस्थान इस प्रकार है :

(क) भट्टनायक के अनुसार सहृदय द्वारा रस की भुक्ति होती है, भोक्ता सहृदय ही है। रस की उपस्थिति सहृदय में नहीं होती और न ही वह अनुकार्य अथवा अनुकारक में होती है। रस तो काव्य द्वारा भावित होता है, अतः काव्य रस का भावक होने के साथ-साथ रसिक के लिए रस का भोजक (भोग या आस्वाद करानेवाला) है।

(ख) काव्य में स्थायी भाव 'रस' नाम इसलिए ग्रहण करता है कि वह काव्य द्वारा भावित होता है जबकि लौकिक स्थायी भावित न होने से रससंज्ञा धारण नहीं कर सकता और न उनका भोग ही होता है।

(ग) काव्य ही रस का भावक और भोजक है, अतः काव्य में अभिधा के अतिरिक्त दो शक्तियाँ और होती हैं—(१) भावना या भावकत्व और (२) भोजना या भोग (चर्वणा) या भोजकत्व। यही कारण है कि काव्य-बोध व्यावहारिक बोध से भिन्न प्रतीत होता है।

(घ) भावकत्व ही साधारणीकरण-व्यापार है। लोक-व्यवहार में जब हम किसी को किसी के प्रति प्रेम, क्रोध आदि करते देखते हैं, तो वे व्यक्ति अपने विशिष्ट रूप में ही आते हैं, उनकी तत्सम्बन्धी चेष्टाएँ और सहकारी भाव भी उनके वैयक्तिक रहते हैं। काव्य में आकर वे व्यक्ति नहीं रह जाते, प्रत्युत सामान्य नर-नारी का रूप ग्रहण करते हैं और तब उनका विभाव नाम हो जाता है। इसी प्रकार उनको चेष्टाएँ सामान्य नर-नारी की चेष्टाओं का रूप लेकर अनुभाव कही जाती हैं। यही सामान्यरूपता सहकारी भावों को मिलती है जिससे वे काव्य में व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। यही विभावादि का साधारणीकरण है जो काव्य की भावकत्व-शक्ति से घटित होता है।

(ङ) साधारणीकृत विभावादित्रय से स्थायी भाव भावित होता है, यह भावकत्व व्यापार का दूसरा कार्य है। इस प्रकार भावित अथवा साधारणीकृत स्थायी भाव ही 'रस' कहा जाता है जो काव्य-क्षेत्र की वस्तु है क्योंकि भावित होना काव्य की सीमा में ही सम्भव है।

(च) उक्त रीति से भावित 'रस' भट्टनायक के अनुसार न अनुकार्य में रहता है, न अनुकारक में और न ही रसिक में, प्रत्युत काव्य-भावना में ही अस्तित्व लेता है जिससे सहृदय को एक विशेष भोग-दशा प्राप्त होती है जिसे रसनिष्पत्ति (= रसभुक्ति) कहा जाता है।

(छ) रस का भोग करानेवाला काव्य-व्यापार भोजकत्व है। भोग चित्त की अवस्था-विशेष है जिसमें दुःखात्मक रजोगुण और अज्ञानात्मक या मोहात्मक तमोगुण का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, एक मात्र आनन्दात्मक सत्त्वगुण का उद्रेक होता है, वही चेतना की स्वयंप्रकाश आनन्ददशा है जिसको चिद्विश्रान्तिदशा भी कहते हैं—अर्थात्

उस सात्त्विक दशा में चेतना अन्य संवेदनीयों से विरत होकर अपने आनन्द रूप में विश्राम (प्रतिष्ठा) पा जाती है। यही रस-भोग है। यह आनन्ददशा सर्वाङ्गीण व्याप्ति लेकर सहृदय को ओत-प्रोत कर देती है।

(ज) इस प्रकार काव्य-व्यापार के तीन अंश हैं—(१) प्रथम अंश अभिधा है जिससे दोषाभाव, गुण, अलङ्कार से युक्त शब्दार्थसमूह खड़ा होता है, (२) द्वितीय अंश भावकत्व है जिससे विभावादि को तथा स्थायी भाव को साधारणीकृत रूप मिलता और स्थायी भाव रसनाम धारण करता है और (३) तृतीय अंश भोजकत्व है जिससे रस का सहृदय को भोग होता है। भोग वह विश्राम दशा है जिसमें शुद्ध सात्त्विक आनन्दमय प्रकाश उदित होता है जो रसिक को सर्वाङ्ग-व्याप्त कर लेता है।

समीक्षा :

(अ) भट्टनायक रस को न उत्पन्न मानते हैं, न अनुमित और न ही अभिव्यक्त। उनके मत से रस भावित होता है। वे उत्पत्ति, अनुमिति और अभिव्यक्ति तीनों मतों के विरोधी हैं। प्रश्न उठता है कि तीनों से पृथक् 'भावित होना' क्या है। या तो विभावादि से उसे उत्पन्न मानें, जैसे मिट्टी से घड़ा, या फिर अनुमित कहें जैसे धुएँ से आग, अथवा व्यक्त कहा जाय, जैसे दीपक से घटादि पदार्थ। इन तीनों से पृथक् भावना का अर्थ ही क्या हो सकता है ? अनुमिति और उत्पत्ति तो ऊपर अमान्य की जा चुकी हैं, शेष व्यञ्जना ही बचती है अत. 'भावना' व्यञ्जना से पृथक् अस्तित्व नहीं रखती—नामान्तर कल्पित करना ही भट्टनायक की उपलब्धि कही जा सकती है।

(आ) भट्टनायक व्यञ्जना को इसलिए अमान्य करते हैं कि व्यक्त होने के लिए भाव को पूर्वोपस्थित होना चाहिए। उसकी पूर्वोपस्थिति अनुकार्य अथवा अनुकारक में असंगत है क्योंकि परगत भाव का आस्वाद नहीं हो सकता। यदि रसिक में ही स्थायी भाव पूर्वोपस्थित मानकर काव्य द्वारा उसकी व्यञ्जना मानी जाय, तो भी संगत नहीं क्योंकि सहृदय कभी अपनी रति का आनन्द नहीं भोग सकता, प्रत्युत लज्जा-संकोच में पड़ जायगा तो रसभङ्ग ही होगा। यह मानकर भट्टनायक कहना चाहते हैं कि स्थायी भाव का 'भावन' एक विलक्षण कार्य है। व्यञ्जनावादी का तर्क है कि मनोवेगात्मक लौकिक भाव से वासनात्मक भाव की सत्ता पृथक् है। वासनारूप व्यापक स्थायी भाव लौकिक विभावादि से रहित होता है और प्रत्येक प्राणी में अव्यक्त रूप से स्थित रहता है। वह जब काव्य के विभावादि से व्यक्त हो उठता है तो 'रस' कहा जाता है। अतः व्यङ्ग्य वासनात्मक स्थायी के स्वगत (सहृदयगत) होने में कोई असंगति नहीं है क्योंकि वह व्यक्तिगत लौकिक भाव नहीं है, प्रत्युत सर्वव्यापक भाव है। इस प्रकार व्यक्त स्थायी वासनारूप होने के कारण स्वतः साधारणीकृत रहता है; अलग से किसी साधारणीकरण व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

(इ) रस-भुक्ति क्या है ? रस-प्रतीति से पृथक् वह कुछ भी नहीं और रस भी प्रतीतिविशेष का ही नाम है। भट्टनायक इस भुक्तिरूपा प्रतीति को प्रत्यक्ष, स्मृति और अनुमिति से तो भिन्न मानते ही हैं, वे उसे 'व्यञ्जना' भी मानने को तैयार नहीं। परन्तु

'रस' आनन्द का ही नामान्तर हैं और आनन्द चेतना का ही रूप है। वह तत्त्व अव्यक्त रहता है। रजोगुण और तमोगुण उसमें दुःख और मोहावरण का विन्यास कर देते हैं। सत्त्वगुण के उद्रेक से वह चेतना अपने आनन्दमय रूप में व्यक्त हो उठती है, यही तो रसप्रतीति है। अतः व्यञ्जना से पृथक् भुक्ति का भी क्या स्वरूप हो सकता है ?

(ई) उक्त प्रकार से व्यक्त स्थायी भाव के दो पक्ष बन जाते हैं, एक वह जो भावरूप में व्यक्त होता है और दूसरा आस्वादात्मक रस। दोनों एक ही व्यक्त भाव के दो पक्ष हैं जिनमें अन्तर करके भट्टनायक 'भावित' और 'भुक्त' कह सकते हैं, परन्तु यहाँ भी नाममात्र का विवाद ठहरता है।[१०] दो-दो व्यापारों की कल्पना का कोई न आधार है, न औचित्य। व्यञ्जनावृत्ति का उपयोग लोक-व्यवहार में भी होता है, वह केवल काव्यशक्ति नहीं है, अतः काव्य की अतिरिक्त दो शक्तियाँ अनावश्यक हैं।

(उ) भट्टनायक के मत से रसरूप लेनेवाला स्थायी कहीं सत्ता नहीं रखता—वह तो काव्य की भावना-शक्ति से भावित होता और रसिक को विशेष सात्त्विक आनन्दात्मक विश्रामदशा दे देता है। अविद्यमान स्थायी की रसरूपता किस उपपत्ति से मान्य हो सकती है ?

४. व्यक्तिवाद (व्यञ्जना-सिद्धान्त) :

ध्वनि-मत के प्रतिष्ठापकों ने स्पष्ट माना है कि स्थायी भाव चेतना की वासनात्मक वृत्तियाँ हैं। सहृदय की ही वासना (स्थायी भाव) रसरूप में चर्वित (व्यक्त) होती है। स्थायी भाव की वासना वैयक्तिक होती ही नहीं कि अलग से साधारणीकरण अपेक्षित हो। वही वासना काव्य की व्यञ्जनाशक्ति से व्यक्त होकर आस्वादात्मक हो उठती है। वैयक्तिक भाव (मनोवेग) लौकिक होता है जबकि उसकी वासना निर्वैयक्तिक ही रहती है। इस मत के अनुसार रसनिष्पत्ति को इस प्रकार समझ सकते हैं।

(क) लोक-व्यवहार में स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी भाव काव्य में विशेष नाम लेते हैं—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव। सहृदयगत वासनात्मक स्थायी भाव को व्यक्त कर रसात्मक विशेषरूपता देने से विभाव नाम की सार्थकता है, स्थायी को अनुभावित करने से अनुभाव और रस के अभिमुख (अनुकूल) विशेष संचार करने से व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। इस प्रकार तीनों ही रस के व्यञ्जक हैं।

(ख) यहाँ भ्रान्ति-निराकरणार्थ ज्ञातव्य है कि लोक में स्थायी के व्यञ्जक कारण तीनों नहीं हैं जबकि काव्य में आकर वे सहृदय के भाव-व्यञ्जक होते हैं। उदाहरणार्थ :

कौन हो तुम विश्व-माया-कुहक-सी साकार,
प्राण-सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार।
हृदय जिसकी कान्त छाया में लिए निःश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि-विनाश। (कामायनी)

यहाँ मनु का रतिभाव यदि लौकिक पक्ष में लिया जाय तो उसका कारण श्रद्धा है, मनु की उक्ति रतिभाव का कार्य है और औत्सुक्य, दैन्य आदि रति के सहकारी भाव

हैं, परन्तु सहृदय की रति-वासना की तीनों से व्यञ्जना होती है, अतः व्यञ्जक कारण के रूप में वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं।

(ग) ध्वनिमत अनुकार्य में रस नहीं मानता, न अनुकारक में। इस दृष्टि से उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद के वह विरुद्ध है। भुक्तिवाद में भी सहृदय में रस-सत्ता अमान्य है, केवल भोग रसिक का भाग है जबकि ध्वनिमत रस का अस्तित्व सहृदय में ही मानता है—सहृदय का ही भाव रस-रूप में निष्पन्न (व्यक्त) होता है।

(घ) काव्य में कारण-कार्य-सहकारी सहृदय की अपेक्षा में स्वकीय, परकीय या तटस्थ नहीं होते, फलतः उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव जैसी अलौकिक (काव्यशास्त्रीय) संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है, वे इस दृष्टि से साधारणीकृत रूप में ही बोधगम्य होते हैं। इतना ही नहीं, वासनारूप स्थायी भाव भी साधारणीभूत रहता है जिससे प्रमाता (रसिक) का भी अपना परिमित (व्यक्ति) रूप तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार साधारणीकरण विभावादि, स्थायी भाव और रसिक-चेतना तीनों में फलित होता है जिससे एक ऐसी चित्तदशा उपलब्ध होती है कि वासनात्मक एकमात्र चित्तवृत्ति रहती है, शेष सभी वेदनीय तत्त्वों से सम्पर्क छूट जाता है। यही रस-दशा है।

(ङ) रस को लोकोत्तर कहने के अनेक कारण हैं—(१) रस की प्रतीति लोक-प्रतीतियों से विलक्षण होती है, उसकी सत्ता विभावादि की सीमा में होती है जो सम्मिलित रूप से व्यञ्जक होते और उसे व्यक्त करते हैं। (२) उसकी प्रतीति का क्षण ऐसा होता है जिसमें आनन्द चतुर्दिक् प्रसार पाता हुआ-सा, हृदय में प्रवेश करता-सा, सर्वाङ्ग आलिङ्गन करता हुआ-सा, अपने (रस के) अतिरिक्त सब कुछ तिरोहित करता हुआ-सा व्याप्ति लेता है। (३) कारण दो प्रकार के होते हैं—कारक और ज्ञापक। चक्रदण्ड आदि घट के कारक कारण हैं जिनकी प्रकृति है कि कार्य उत्पन्न करके नष्ट हो जायँ तो भी घटरूप कार्य नष्ट नहीं होता। धुआँ आग का ज्ञापक कारण है जो पूर्वसिद्ध अग्नि को ज्ञापित (अनुमित) कराता है, परन्तु विभावादि व्यञ्जक कारण हैं और रस व्यंग्य हैं। अर्थात् 'रस' को कार्यरूप नहीं कह सकते, क्योंकि विभावादि की प्रतीति के अभाव में रसप्रतीति भी तिरोहित हो जाती है; उसे ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्थायी वासना का ऐसा आनन्दमय रूप है जो पहले से उपस्थित नहीं रहता, प्रत्युत विभावादि से व्यक्त होकर जब स्थायी भाव आस्वादित होता है तभी रस कहा जाता है।

(च) रसनिष्पत्ति का इतना ही अर्थ है कि स्थायी भाव (वासना) की चर्वणा (आस्वाद) निष्पन्न होती है अतः 'निष्पत्ति' यहाँ लाक्षणिक प्रयोग है। वह योगियों के ज्ञान से भी विलक्षण है, फिर भी आत्म-संवेदन का विषय है।

(छ) रस-सूत्र में रस के तीन कारण—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—क्यों निर्दिष्ट हैं जबकि एक की सत्ता के बिना दूसरे की सत्ता ही नहीं? अनुभाव होगा तो भाव होगा ही और भाव की सत्ता का बोध ही अनुभाव पर आश्रित है। दोनों होंगे या दोनों में से एक होगा तो भी विभाव की सत्ता अनिवार्य है। विभाव संज्ञा ही तब होती है जब किसी भाव का वह कारण हो। इस प्रश्न का उत्तर ध्वनिमत में यह दिया जाता

है कि (१) कभी-कभी एक ही विभाव अनेक रसों का कारण हो सकता है। जैसे, व्याघ्र भयानक, वीर, अद्भुत और रौद्र का कारण है। अनुभाव भी ऐकान्तिक नहीं हैं: अश्रुपात, कम्प आदि शृङ्गार, करुण और भयानक के अनुभाव हैं। इसी प्रकार चिन्ता आदि व्यभिचारी शृङ्गार, वीर, करुण और भयानक में पाये जाते हैं। रस-निर्णय तीनों के समन्वित रूप से ही होता है।

(ज) ऐसा भी संभव है कि कहीं उक्त तीनों में से किसी एक या किन्हीं दो का ही वर्णन हो तो शेष का आक्षेप (आनुमानिक प्रत्यय) कर लिया जाता है।

रस का स्वरूप :

प्रथम अध्याय में भरतमुनि-सम्मत रस के स्वरूप का जो विवेचन किया गया उसे ध्वनिमत में किस प्रकार समझा गया, यहाँ विवेच्य है। यदि उक्त चार व्याख्याओं के परिप्रेक्ष्य से देखा जाय तो चार प्रकार से रस की परिभाषा बनेगी। तुलनात्मक दृष्टि से वे इस प्रकार हैं :

१. उत्पत्तिवाद के अनुसार रस वह स्थायी भाव है जो अनुकार्य में विभावों से जनित और व्यभिचारी भावों से पोषित होता है और जिसकी प्रतीति अनुभावों द्वारा सहृदय सामाजिक अनुकारक में करता है।

२. अनुमितिवाद के अनुसार अनुकृत विभावादि द्वारा अनुकारक में अनुमित स्थायी भाव रस है।

३. भुक्तिवाद के अनुसार साधारणीकृत विभावादि से भावित होकर सामान्य-रूपता-प्राप्त स्थायी भाव रस है जिसका सहृदय की सत्त्वोद्रेकमयी चित्तदशा से भोग होता है।

४. ध्वनिमत में रस का स्वरूप इस प्रकार है :

"लोकव्यवहार में रत्यादि स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी भाव होते हैं, वे नाटच और काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं, उन विभावादि से व्यक्त (व्यञ्जना शक्ति से बोधित) सहृदय का वासनात्मक स्थायी भाव रस कहा जाता है।"[११]

रस-ध्वनि काव्य :

ध्वनिकाव्य में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है और असंलक्षित-क्रम-व्यंग्य भेद में रस-भावादि आठ में से किसी एक की प्रधानता रहती है। रसरूप व्यंग्य की प्रधानता में 'रस-ध्वनिकाव्य' होता है। रसों की संख्या नौ है अतः उसके उदाहरण तथा लक्षण इस प्रकार हैं :

१. शृङ्गार रस :

विभावादि से व्यक्त होनेवाला रसिक का रति स्थायी भाव जिस काव्य में प्रधान-चमत्कारी व्यंग्यार्थ होता है वह शृंगार-रस-ध्वनि काव्य है। शृंगार के मुख्य दो भेद हैं—

संभोग और विप्रलम्भ। विप्रलम्भ तीन प्रकार का है—पूर्वराग, मान और प्रवास। संभोग विविध वैलासिक क्रीड़ाओं से अनन्त हो सकता है अतः एक ही मान लिया जाता है। इस प्रकार चार भेदों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं (करुण-विप्रलम्भ—दे० अध्याय १५)।

संभोग :

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था, भरा गद्‌गद बोल। (कामायनी)

पूर्वराग :

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष,
गूढ़ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वनपथ अन्त का आलोक,
सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक। (कामायनी)

मान :

स्वर्ग बनाया है जो मैंने उसे न विफल बनाओ,
अरी अप्सरे ! उस अतीत के नूतन गान सुनाओ।
इस निर्जन में ज्योत्स्ना-पुलकित विधुयुत नभ के नीचे,
केवल हम तुम और कौन है ? रहो न आँखें मीचे। (कामायनी)

प्रवास :

कामायनी-कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ।
वह प्रभात का हीन-कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह सन्ध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ। (कामायनी)

दस कामावस्थाएँ :

विप्रलम्भ में कामदशाओं की दस संख्या मानी गयी है—अंगमालिन्य, ताप, कृशता, अरुचि, अधैर्य, शून्यता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा और मरण। ये दशाएँ केवल प्रवास की हैं। पूर्वराग में दशाएँ—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्‌वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण हैं। दोनों वर्गों में कुछ तो समान हैं और कुछ में विनिमय भी हो सकता है। इनमें से मरण का वर्णन नहीं किया जाता, अन्यथा करुण रस हो जाय। कभी-कभी उसकी संभावना प्रकट की जाती है।

२. हास्य :

विकृत वेष चेष्टा आदि विभावों, मुखविकासादि अनुभावों और हर्ष, स्मृति, आवेग आदि व्यभिचारी भावों से व्यक्त होनेवाला सहृदय का वासनात्मक हास स्थायी भाव

हास्य रस का रूप लेता है। इसकी प्राधानता में हास्यरसध्वनि काव्य कहा जाता है। इस रस की विशेषता है कि विभाव-प्रधान वर्णन ही अधिक होता है। अनुभावात्मक चेष्टाएँ अभिनय में भले आती हों, पर उन्हें काव्य में प्रायः वर्णित नहीं किया जाता— आश्रय में उनका वर्णन अधिक चमत्कारी नहीं रहता।

सिवहि संभुगन करहिं सिँगारा।
जटा-मुकुट अहि-मौरु सँवारा॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला।
तन बिभूति पट केहरि-छाला॥

× × ×

कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा।
चले बसहँ चढ़ि बाजहिं बाजा॥
देखि सिवहि सुरतिय मुसुकाहीं।
बर लायक दुलहिनि जग नाहीं॥ (मानस)

यहाँ शिव जी की विलक्षण वेषरचना विभाव है जिससे देवाङ्गनाओं में हासभाव के अनुभाव उदित हुए हैं और कवि ने चित्रित किये हैं। यदि उन्हें हटा दिया जाय तो भी सहृदय के रसोदय में बाधा या कमी नहीं आती।

आमदनामे का नाम सुना, लड़का अपना पढ़ने को पठाया।
फीस में देनी दुअन्नी कही व चवन्नी चढ़ाकर नाम लिखाया॥
लाला कहैं सुन मौलवी रे, तुझे बूढ़ा हुआ पै शऊर न आया।
वैश्य के बालक को 'वचनेश' अरे जमा गायब क्यों सिखलाया॥

यहाँ केवल विभाव-पक्ष—लाला के विकृत कार्य—ही चित्रित हैं, फिर भी हास्य का उदय पूर्णतः होता है। ऐसे अवसरों पर कवि को ही आश्रय मानकर अनुभावों की कल्पना कर ली जाती है।

३. करुण रस :

भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्य में विपन्न विभाव से उत्पन्न (उद्दीपन से पोषित) व्यभिचारी भाव से पोषित और रसिक में अश्रुपातादि अनुभावों द्वारा प्रतीत (अनुकारक के माध्यम से) शोक स्थायी भाव करुण रस है। शङ्कुक के अनुसार अनुकार्य में स्थित एवं अनुकारक द्वारा अनुकृत विभावादि-त्रय से उसी में सहृदय द्वारा अनुमित शोक स्थायी करुण रस है। भट्टनायक के अनुसार काव्य में साधारणीकृत विभावादि से साधारणीकृत शोक करुण रस है जो रसिक द्वारा भुक्त होता है। ध्वनिमत में काव्य में अलौकिक विभावादित्रिक द्वारा व्यञ्जित रसिक का वासनात्मक शोक स्थायी भाव रस है।

चिर किशोर वयं नित्य विलासी, सुरभित जिससे रहा दिगन्त,
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त ?

कुसुमित कुञ्जों में वे पुलकित प्रेमालिङ्गन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूछित तानें और न सुन पड़ती अब बीन।
अब न कपोलों पर छाया-सी पड़ती मुख की सुरभित भाप,
भुजमूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप ॥ (कामायनी)

यहाँ प्रलय-विनष्ट देवजन तथा उनकी वैलासिक क्रीड़ाएँ आलम्बन, उद्दीपन विभाव हैं, स्मृति, चिन्ता, ग्लानि, निर्वेद आदि संचारी भाव हैं, मनु का कथन अनुभाव है।

४. रौद्र रस :

क्रोध स्थायी भाव ही रौद्र रस रूप लेता है जिसमें विभावादि की योजना उपर्युक्त प्रकार से होती है, जैसा चार मतों में पृथक् पृथक् मान्य है (शेष दे० प्रथम अध्याय)।

रे खल का मारसि कपि भालू।
मोहि बिलोकु तोर मैं कालू॥
खोजत रहेउँ तोहि सुत-घाती।
आजु निपाति जुड़ावउँ छाती॥ (मानस)

यहाँ रावण आलम्बन है जिसके प्रति लक्ष्मण के क्रोध के अनुभाव वर्णित हैं जो वाचिक हैं। अमर्ष, आवेग, उग्रता संचारी हैं। अनुकारक कवि के माध्यम से प्रतीत अथवा उक्त विभावादि साधनों से अनुकारक में अनुकृत तथा अनुमित अथवा विभावादि से भावित (साधारणीकृत) अथवा ध्वनिमत में उक्त विभावादि से सहृदय में व्यक्त क्रोध स्थायी रौद्र रस है।

५. वीर रस :

(१) अनुकार्य में उत्पन्न, दीप्त तथा पोषित एवं अनुकारक के माध्यम से सहृदय द्वारा प्रतीत उत्तम प्रकृति का उत्साह स्थायी वीर रस कहा जाता है। (२) विभावादि से अनुकारक में सहृदय द्वारा अनुमित (एवं अनुकृत) उत्साह वीर रस है। (३) विभावादि द्वारा भावित उत्साह वीर रस है जो रसिक द्वारा भुक्त होता है। ध्वनिमत में विभावादि द्वारा अभिव्यक्त रसिक का वासनात्मक उत्साह भाव वीर रस है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ धुजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना।
बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना॥

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा।
एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
जीत न कहुँ न कतहुँ रिपु ताकें॥ (मानस)

६. भयानक रस :

(१) व्याघ्रादि विभावों से अनुकार्य में उत्पन्न, शङ्का आदि व्यभिचारियों से पोषित, अनुकारक के माध्यम से पलायन, कम्प आदि अनुभावों से रसिक द्वारा प्रतीत भय स्थायी भाव लोल्लट के अनुसार भयानक रस है। (२) विभावादित्रय द्वारा अनुकारक में जब अनुकार्य का अनुकृत भय रसिक द्वारा अनुमित होता है तो भयानक रस होता है। (३) साधारणीकृत विभावादि से भावित (साधारणीकृत) काव्यगत भय स्थायी भयानक रस है जिसका रसिक सत्त्वोद्रेक दशा में भोग करता है। (४)ध्वनिमत में विभावादि द्वारा रसिक का भय स्थायी वासनारूप में अभिव्यक्त होता है तो भयानक रस कहा जाता है।

उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वलामुखियों के निःश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास। (कामायनी)

७. बीभत्स रस :

(१) घिनौनी वस्तु आदि विभावों से अनुकार्य आश्रय में उत्पन्न, उद्वेग आदि संचारियों से पोषित और मुख-संकोच आदि अनुभावों से अनुकारक के माध्यम से सहृदय द्वारा ज्ञात जुगुप्सा स्थायी भाव बीभत्स रस है। (२) उक्त विभावादि से अनुकारक में अनुमित अनुकृत स्थायी भाव जुगुप्सा बीभत्स रस है। (३) उक्त साधारणीकृत विभावादि के साधारण रूप में भावित जुगुप्सा बीभत्स रस है जो रसिक की सत्त्वोद्रेक दशा से आस्वादित होता है। (४) ध्वनिमत में सहृदय की ही जुगुप्सा-वासना विभावादि से व्यक्त होकर बीभत्स रस बनती है।

यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही थी ज्वाला,
दारुण दृश्य रुधिर के छींटे अस्थिखण्ड की माला।
वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातरवाणी,
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी।
सोमपात्र भी भरा, धरा था पुरोडाश भी आगे,
श्रद्धा वहाँ न थी मनु के तब सुप्त भाव सब जागे। (कामायनी)

८. अद्‌भुत रस :

विलक्षण वस्तु-दर्शन से विस्मय स्थायी भाव उक्त रीतियों से (मतभेद के आधार पर) अद्‌भुत रस बनता है :

महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते-से सन्धान ।
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए । (कामायनी)

९. शान्त रस :

ऊपर जिन रसों का स्वरूप स्पष्ट किया गया उनके स्थायी भाव क्रियात्मक चित्त-विकार हैं। उनकी आधारभूत स्थित्यात्मक चित्तवृत्ति को 'शम' नाम दिया जाता है। दूसरे प्रकार से कह सकते हैं, उक्त आठ स्थायी भाव रागतत्त्व से संवलित होकर रूप लेते हैं जबकि रागरहित मनोदशा की चित्तवृत्ति वैराग्यात्मक होने से 'निर्वेद' कही जाती है और वही शम है; एक समरसता की मनःस्थिति है जो सभी रागात्मक वृत्तियों का अधिष्ठान होने के कारण सर्व-व्यापी है। अतएव प्रसाद जी का कहना है :

वैसे अभेद-सागर में प्राणों का सृष्टि-क्रम है,
सबमें घुल-मिलकर रसमय रहता वह भाव चरम है। (कामायनी)

स्पष्ट है कि भेदात्मक आठ चित्तवृत्तियों का अभेदात्मक चरम आधार वही भाव है जिसे अभिनव ने 'शम' नाम देना उचित समझा है। उस दशा में 'तत्त्वज्ञान' ही विभाव होता है और तत्त्वबोध ही 'शम' भाव है जो रस-रूप में 'शान्त' कहा जाता है।

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था। (कामायनी)

यह आनन्दानुभूति जो जागतिक विभावों के सहारे प्रतिष्ठित नहीं होती, शान्त रस है।

भरत ने नाट्य में आठ रस ही मान्य किये हैं। उसका कारण यही है कि उसके अभिनय की व्यवस्था सम्भव नहीं है। पण्डितराज ने उसे भी अभिनेय माना है।

रस-सम्बन्धी कतिपय निष्कर्ष :

(क) रस की अलौकिकता :

मनुष्य लौकिक प्राणी है, अतः उसकी कोई क्रिया लोकोत्तर कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का पक्ष में ही उत्तर दिया जाय तो यौगिक प्रत्यय भी लौकिक ही होंगे और स्वप्न की भूमिका में आनेवाले प्रतीक-व्यापार भी अलौकिक न कहे जायँगे। इस दृष्टि से रस को अलौकिक कहने का प्रयास कभी नहीं रहा है। मनोविश्लेषण में जब जाग्रत या चेतन धरातल से पृथक् अवचेतना या अन्तश्चेतना की बात की जाती है तो निश्चय ही प्रचलित सामाजिक लोक के बाहर सोचा जाता है, भले ही अन्तश्चेतना लौकिक प्राणी की ही है। 'लौकिक' का यही या ऐसा ही अर्थ लिया जाय तो कोई प्रश्न नहीं उठता— काव्य-बोध व्यावहारिक प्रत्यय से भिन्न मानस-प्रत्यय है, इसी को लोकोत्तर कहने की प्रथा रही है। व्याकरण में 'राजपुरुषः' का विग्रह 'राज्ञः पुरुषः' किया जाता है तब उसे

लौकिक विग्रह कहते हैं जबकि 'राजन् अस् पुरुष स्' अलौकिक विग्रह है। यहाँ अलौकिक इसी अर्थ में है कि वैसा विगृहीत वाक्य प्रयोग-व्यवहार में नहीं चलता, न कि अलौकिक कहा जानेवाला विग्रह संसार से परे कहीं से उतरकर आता है—वह शुद्ध शास्त्रीय कल्पना है। काव्य का रस-बोध भी जगत् में रहनेवाला ही करता है पर साधारण व्यवहार का वह प्रत्यय नहीं है, अतः अलौकिक है। ऊपर चार रस-निष्पत्ति-मत आ चुके हैं, सभी उसे लौकिक प्रत्यय से भिन्न मानने को विवश हैं—कारण कि लौकिक रति स्वगत हो तो लज्जा, संकोच आदि रसभङ्ग कर दे और परगत हो तो ईर्ष्या, जुगुप्सा आदि का उदय हो, तटस्थीय होने पर सहृदय को क्या लेना-देना। अतएव काव्य-प्रस्तुत स्थायी भाव इन तीनों प्रकार के सम्बन्ध (लौकिक नाते) नहीं रखता, प्रत्युत तीनों से विलक्षण होने से ही 'रस' है। इस अलौकिकता का कारण या तो वह माध्यम है जो स्थायी भाव को उपस्थित करता है, या फिर स्थायी भाव ही व्यावहारिक भाव से पृथक् है। इस तथ्य को सामने रखकर चार आचार्यों की मान्यता प्रस्तुत कर सकते हैं :

१. भट्टलोल्लट अनुकृति को रसबोध में आवश्यक मानकर ही अनुकार्य में रस-स्थिति बताते हैं। अनुकार्य वह तभी है जब अनुकृत किया जाय और उसका अनुकारक (अभिनेता या कवि) सहृदय तक भाव प्रेषित करे। उनके मत में प्रेषण-प्रणाली यही है कि रसिक अनुकारक को अनुकार्य (आश्रय) से अभिन्न मानकर उसी में भाव-सत्ता का अनुसन्धान करता है और अनुभावों के द्वारा रस-प्रतीति करता है। इस प्रेषण पद्धति में अनुकारक ऐसा माध्यम है जिसके बिना 'रस' की सत्ता उन्हें भी अमान्य होगी—अर्थात् यहाँ भी अनुकृत अनुभाव ही रस-बोधक हैं, साक्षात् नहीं। शङ्कुक के मत का विवेचन करते हुए देखा जा चुका है कि यह अनुकृति भाँड़ों की नकल न होकर पात्र की प्रकृति का अनुकरण है जो व्यावहारिक ज्ञान पर टिका होता है। इस प्रकार 'रस' व्यावहारिक स्थायी भाव न होकर अनुकार्यगत, अनुकारकोपस्थापित एवं रसिक-प्रतीत अनुकृत स्थायी भाव है जिसकी अनुकृति अनुभावानुकृति का ही नामान्तर है।

२. भट्टशङ्कुक रसरूप स्थायी भाव को लौकिक स्थायी भाव से इस बात में भिन्न मानते हैं कि लौकिक भाव में अनुकार्य तथा अनुकारक का अस्तित्व नहीं रहता जबकि 'रस' अनुकृत स्थायी का नाम है जिसे अनुकारक में विभावादि साधनों से अनुमित किया जाता है। रस होने के लिए स्थायी भाव का अनुकृत तथा अनुमित होना अनिवार्य है। न्यायमत में लौकिक अनुमान के द्वारा प्रतीत भाव कभी 'रस' नहीं माने गये हैं, प्रत्युत अनुकृत होने की अनिवार्यता है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि अनुकृतानुमित काव्यार्पित भाव का स्वभाव ही है कि वह आस्वादित होता है। विभावादि संज्ञाएँ न्याय में भी काव्य-देशीय शब्द हैं जो अनुकृति से सम्बद्ध हैं—अनुक्रियमाणता ही उन्हें विशेषता देती है।[१२]

३. भट्टनायक तो स्वगत, परगत एवं तटस्थ भाव को रसरूप मानते ही नहीं। वे तो रसात्मक स्थायी भाव को काव्यमात्र की भावना का विषय बताते हैं अतः व्यवहार-परायण लौकिकता का वहाँ स्पर्श तक अमान्य है। रस के साथ दूसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता यह जुड़ी है कि वह शुद्ध सात्त्विक प्रत्यय है जबकि लौकिक प्रत्यय त्रिगुणात्मक होते हैं। त्रिगुण के आधार पर हम उसे मानें या नहीं पर भट्टनायक तो मानते ही हैं। इतना तो

आधुनिक मनोविज्ञान को भी मान्य होगा कि दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम को लेकर जो सङ्कट पूरे आश्रम पर और स्वयं उन दोनों पर आया, उसके भोक्ता वे ही हो सकते हैं (यदि उनकी ऐतिहासिक सत्ता हो), रसिक तो उससे आनन्द बटोरने गया है।

इस सन्दर्भ में अरस्तू के दुःखान्त-नाट्य-सिद्धान्त 'विरेचन' को लिया जाय तो वह भी साहित्य की वस्तु है। 'हैमर्शिया' नामक दोष का सहृदयों के मानस से विरेचन करके ही दुःखान्त नाटक अपनी सत्ता प्रमाणित करता है, उसकी प्रणाली शुद्ध साहित्यिक क्षेत्र में देखी-परखी जाती है।

४. अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत तो 'रस' की सत्ता ही लोकोत्तर अनुभूति में देखता है। केवल काव्य द्वारा उपस्थापित कारण, कार्य, सहकारी ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहे जाते हैं अतः ये नाम सामान्य व्यवहार के न रहकर काव्यक्षेत्रीय ही जाते हैं। उस विभावादि-समवाय से जब स्थायी भाव की व्यञ्जना होती है और रसिक उसका आस्वाद पाता है, तभी वह 'रस' कहा जाता है।

यदि उक्त अन्तर के रहते भी 'रस' को लौकिक कहा जाय तो उस प्रत्यय को अन्य प्रत्ययों से पृथक् समझने के लिए अन्य शब्द रखने होंगे और तब नाम मात्र को विवाद बचेगा। शब्द की सीमा होती है, अतः संभव है अन्य शब्द भी निर्विवाद न रह सके।

रस-बोध को इन्द्रिय-बोधमात्र माननेवाले मार्क्सवादी समीक्षक डा० रामविलास शर्मा भी इस बात से इन्कार नहीं करते कि साहित्य कल्पनाप्रधान, चित्रमय इन्द्रिय-बोध देने के कारण विलक्षणता धारण करता है—'वह चिन्तन के निष्कर्ष ही नहीं देता, जीवन के चित्र भी देता है। दर्शन और विज्ञान से भिन्न उसकी निजी कलात्मक विशेषता जीवन के चित्र देने में है। इसीलिए मार्क्सवाद फार्मूलों के अनुसार साहित्य रचने का विरोध करता है; ऐसा साहित्य चित्रमय नहीं होता, उसके चित्रों में सजीवता नहीं होती।'—साहित्य के स्थायी मूल्य (निबन्ध)।

डॉ० शर्मा 'कलात्मक चित्र' शब्दों से जो कुछ कहना चाहते हैं, दूसरे प्रकार से भट्टशङ्कुक उसे 'वस्तु-सौन्दर्य' और 'अनुकृति' शब्दों में कहते हैं।[१३] मार्क्स का स्पष्ट विचार रहा है कि काव्य-बोध स्थूल ऐन्द्रिय प्रत्यय नहीं है—'वे इन्द्रियाँ जो जीवन की स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से परिमित हैं, अपनी सार्थकता बहुत कम कर देती हैं।'[१४] डॉ० शर्मा का इन्द्रिय-बोध मार्क्स के 'Sensuous' का अनुवाद है जिसका अर्थ बाह्यकरण न होकर अन्तःकरण ही है, अतएव उनका आगे कहना है :

''मनुष्य का इन्द्रिय-बोध अंशतः विकसित होता है, अंशतः रचा जाता है। मनुष्य की आत्मगत (subjective) ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत जीवन से ही विकसित और समृद्ध होती है, लेकिन वह ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है।" (वही)[१५]।

वस्तुवादी दृष्टिकोण से भी काव्य-बोध को परिमित व्यावहारिकता से भिन्न मानना होता है। व्याख्याभेद से 'अलौकिक' का अर्थवृत्त बदल सकता है पर स्थूल ऐन्द्रिय

बोध से भिन्न बोध का तात्पर्य अवश्य रहेगा । समाजवादी चिन्तन के अनुसार मरणशील प्रवृत्तियाँ सतही लहरों के समान सर्ववेद्य रहती हैं जबकि जीवन्त प्रवृत्तियों को पहचानने-वाली प्रतिभा किसी-किसी को मिलती है क्योंकि वे आन्तरिक धाराएँ हैं । यहाँ लौकिक बोध ही दो भेदों में बँट गया है ।

डॉ० शर्मा मार्क्स के अनुसार मानते हैं कि फार्मूलों से काव्य-रचना उचित नहीं । यह मान्य है, परन्तु काव्य की व्याख्या के लिए तो फार्मूला बनाना ही पड़ता है, चाहे वह मार्क्सवादी ही क्यों न हो ।

(ख) करुण, बीभत्स, भयानक और रौद्र का रसत्व :

ऊपर 'रस' को अलौकिक प्रत्यय बताया जा चुका है—वह व्यावहारिक ऐन्द्रिय बोध से भिन्न है, भले ही उसे मस्तिष्क की प्रतिक्रिया-विशेष ही माना जाय । ऐसी स्थिति में यह प्रश्न कि शोक, जुगुप्सा, भय और क्रोध जैसे दुःखात्मक भाव आनन्दात्मक प्रत्यय का रूप लेकर 'रस' संज्ञा से कैसे अभिहित किये जा सकते हैं, उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता । फिर भी प्राचीन मनीषियों ने भी करुण रस को लेकर प्रश्न उठाया है और आजकल तो लौकिक प्रत्यय से भिन्न न मानकर बराबर प्रश्न उठते हैं । यहाँ एक प्रति-प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि रतिभाव ही कैसे रसरूप लेता है जबकि शृङ्गारी कविता वैयक्तिक कामोद्रेक का सतही चटपटापन देकर रह जा सकती है ।

हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति ।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति ॥ (बिहारी)

स्पष्ट ही सहृदय की प्रकृति पर रसानुभूति का उत्तरदायित्व है, अन्यथा किसी 'रस' की सत्ता शून्य हो सकती है । विवाद में लाये हुए रसों के लिए यह बात अधिक महत्त्व की है कि द्रष्टा लोक से काव्य को एक तो नहीं कर लेता—क्योंकि यह रसास्वाद में सबसे बड़ी बाधा है ।

रसबोध में चित्तविकास अनिवार्य है । यह चित्तविकास स्वगतत्व, परगतत्व और तटस्थगतत्व, तीनों संकुचित धारणाओं से विपरीत संकोचहीन चेतन-दशा है । करुण के समर्थन में आचार्यों ने सुरत-काल के नख-दन्त-क्षत का उदाहरण लिया है जो इस विकास को ही व्याख्या देता है । कामावेश भी एक लौकिक विकास देता है कि आघात और क्षत भी न केवल सह्य हो जाते हैं अपितु सुखात्मक रूप ले लेते हैं । रस भी आविष्ट चेतना की वस्तु है जिसमें द्रुति और दीप्ति के अतिरिक्त व्याप्ति और विकास को अपरिहार्य बताया गया है ।

आज मनोवैज्ञानिक तर्क की अपेक्षा बहुत की जाती है । इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि आधुनिक मनोविज्ञान रस-बोध की वही व्याख्या देता है जो सहृदय की अनुभूति में आता है, तो प्रश्न का अवसर ही नहीं बचता । यदि उसकी अपे-क्षित व्याख्या मनोविज्ञान में नहीं है तो वह परिमित है । उन सीमाओं में यदि रसात्मक प्रत्यय का विवेचन नहीं होता और वह प्रत्यय प्रामाणिक है तो उसे झुठलाया नहीं जा सकता । न्यूटन के प्रमाण पर ही पृथ्वी की ओर मूर्तियों का आकर्षण नहीं टिका है, वह

तो प्राकृतिक तथ्य है जो पहले भी था। गैलिलियो को दण्डित किया गया तो पृथ्वी ने चलना नहीं बन्द किया और न ही उसके कहने से वह चलने लगी। यदि उक्त रसों में आनन्दबोध अनुभव-साक्षिक नहीं है तो मनोविज्ञान उसे कहाँ से ले आयेगा ? 'वस्तुसत्' है या नहीं, यह पहले निर्णीत हो और सत्ता मान लेने पर मनोविज्ञान की चिन्तन-पद्धति में उसे जोड़ा जाय। मनोविज्ञान से सिद्ध हो जाने पर भी उसके लिए बीभत्स रस न हो पायेगा जिसे उसका रसात्मक बोध नहीं होता। जिसे वैसा बोध होता है, उसके लिए मनोविज्ञान असिद्ध भी करे तो भी बीभत्स के रसत्व पर आँच नहीं आ सकती।

फिर भी दुःखवर्ग की वृत्तियों का आनन्दात्मक प्रत्यय व्याख्या में कैसे लाया जाय, यह एक समस्या अवश्य है। दुःख की परिभाषा के आधार पर विवेचन अपेक्षित है :

१. प्रतिकूल-वेदनीय आत्मगुण न्याय में दुःख कहा जाता है और अनुकूल-वेदनीय गुण सुख है। व्यवहार में शोक आदि प्रतिकूल संवेदन उत्पन्न करते हैं, परन्तु क्या उनकी कोई ऐसी विकास-दशा भी संभव है जहाँ उनका संवेदन अनुकूल हो उठे ? भट्ट-शङ्कुक 'वस्तु-सौन्दर्य' कहकर अनुकृत एवं अनुमित भाव को अनुकूल-संवेदनीय ही मानते हैं और 'रस' नाम देते हैं। यदि सहृदयों के प्रमाण से वह सिद्ध है तो आधुनिक मनोविज्ञान से तकाजा है कि अपनी पूर्णता-हेतु उसकी व्याख्या दे, न कि यह उचित है कि मनोविश्लेषण की संकुचित सीमा में न आने से ही उसे अमान्य कर दिया जाय।

वस्तुतः स्वगत या परगत सीमाओं में ही कोई भाव सुख या दुःख के व्यावहारिक वर्ग में आता है। उन सीमाओं से हटने पर वह संस्कारात्मक रूप में प्रभाव बदल देता है। ध्यान रहे कि 'काव्यानन्द' कहने से रसों का द्विपक्षीय रूप प्रकट होता है—एक तो भाव का और दूसरा अनुभूति का। प्रथम का वृत्त विकास लेकर सूक्ष्म दुःखात्मक हो तो भी अनुभूति का स्वरूप आनन्दात्मक हो सकता है क्योंकि वह एक प्रकार की विलक्षण आवेश-दशा है, जैसा कामोद्रेक के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।

२. सांख्यमत में रजोगुण दुःखरूप है और सत्त्वगुण सुखरूप। दोनों के साथ तमोगुण का आवरण रहता है जो संकोच लाता है जिससे स्व, पर और तटस्थ की सीमाएँ बनती हैं। भट्टनायक इन तीनों सीमाओं के हटने पर ही रस-भोग मानते हैं, जिसमें दुःखात्मक रजोगुण का भी तिरोभाव हो जाता है, फलतः शुद्ध तत्त्वदशा ही रस-दशा है जिसका स्वरूप ही आनन्दमय है। त्रिगुण सिद्धान्त के आधार पर लौकिक सुखों की भी यही व्याख्या होती है।

३. वेदान्त में दुःख का कारण 'माया' है। माया परिमिति का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।' उपनिषद्-वाक्य से यही अर्थ आता है कि परिमित (अल्प) जागतिक सुख भी सुखाभास ही हैं, वास्तव सुख तो 'भूमा' या विस्तार है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो 'रस' सापेक्ष भूमा है जिसमें वासनात्मक भाव लौकिक भाव की अपेक्षा सूक्ष्म एवं विस्तृत होने से सुखात्मक प्रत्यय लाता है। यह माया सुषुप्ति दशा में अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है अतः उसे 'आनन्दमय कोश' कहते हैं। वैयक्तिक परि-

मिति होने से ही लोक में भाव सुख-दुःख उभयात्मक होते हैं, काव्य-भाव लोक-परिमित नहीं है अतः वह दोनों लोकानुभवों से पृथक् है ।

४. ध्वनिमत में रसात्मक भाव वासनारूप होता है, मनोवेगात्मक नहीं—अर्थात् बाह्य प्रतिक्रिया रूप न होकर आन्तरिक सूक्ष्म चित्तदशा है । लौकिक सुख-दुःख के लौकिक कारण होते हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से रहता है । वासनारूप भावों के वैयक्तिक एवं व्यावहारिक कारण नहीं होते अतः उन्हें लोक-सीमा के प्रत्ययों में लेना ही असंगत है । लौकिक दुःख-कारण न होने पर लौकिक दुःख की कल्पना नहीं हो सकती ।

फ्रायड ने लोकसीमा में ही जो निष्कर्ष दिये हैं, उनसे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है । कोई स्वप्न में प्रियजन को मरा हुआ देखता है तो फ्रायड के अनुसार द्रष्टा के अव-चेतन में उस प्रियजन के प्रति द्वेष विद्यमान था जो स्वप्न में उभरा और मरण प्रस्तुत कर उसकी दमित कामना की तुष्टि की । जाग्रत या चेतन दशा में जिसे पूर्णतया असंतुष्टि (दुःख) माना जाता है, उसे ही अवचेतन संतुष्टि (सुख) का रूप देता है । यही सिद्धान्त लागू किया जाय तो भी करुण आदि को तोषकर भावदशा तो कहा ही जायगा । फ्रायडवाले उदाहरण से उसमें एक अन्तर अवश्य रहेगा कि प्रियजन की मृत्यु व्यक्ति-सीमा की वस्तु है अतः व्यावहारिक तथ्य का ही प्रतिबिम्ब है जबकि रसबोध की वैसी सीमा नहीं बन पाती अतः उसकी अपेक्षा में वह पूर्ण तुष्टिकर है । काव्यशास्त्र में दमित कामना और वासना (साधारणीकृत) एक ही नहीं हैं—दमन व्यक्तिसीमित है जबकि साधारणीकरण की वैसी परिधि नहीं है ।

ऊपर मार्क्स का अभिमत दिया गया है । वहाँ भी ऐन्द्रिय विकास को कला में महत्व दिया गया है । यह विकास व्यावहारिकता से परे भी माना गया है । तब भाव की यह परदशा, चाहे ऐन्द्रिय ही मानी जाय, व्यक्तिसीमित न होने से व्यावहारिक सुख-दुःख में नहीं आ सकती ।

५. ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि लौकिक कारण के बिना न लौकिक सुख संभव है और न लौकिक दुःख, अतः रसास्वाद पर वैसा आरोप असंगत है । लौकिकता रसास्वाद में बाधा है और वह आ जाय तब 'रस' न होगा । अब यह विचारणीय रह जाता है कि वासनात्मक भाव क्या सब-के-सब एक ही हैं, उनमें अन्तर नहीं । यदि अन्तर नहीं है तो भावों का पृथक् नामकरण क्यों ? यदि अन्तर है तो उनका स्वरूप क्या होगा ? यहाँ द्रष्टव्य है कि यदि परस्पर भावों में अन्तर न हो तो लौकिक अन्तर भी न प्रकट होगा क्योंकि वासना ही भाव का मूलाधार है । यह अन्तर त्रिगुणात्मक है ही । फलतः वासनात्मक भाव भी अपने अलौकिक रूप में सुख-दुःखात्मक ही होते हैं :

सुख-दुःखात्मके भावे भावस्तद्-भाव-भावनम् ।

पर उनका अनुभव लौकिक कारणों से परे सूक्ष्म एवं विकसित होता है अतः उन-पर लौकिक अनुभव आरोपित नहीं होते—एक प्रकार की सात्त्विक अनुभूति में उन (सुख-दुःख) का लय हो जाता है । हेगेल के अनुसार कहा जा सकता है कि सुख-दुःख परस्पर वादी-विवादी प्रत्यय हैं और रस उनका संवादी (synthesis) है जिसमें वादी

(thesis) और विवादी (anti-thesis) पृथक् प्रतीत ही नहीं होते अतएव आचार्य मम्मट ने 'सकल-सहृदय-संवाद' की बात कही है और भरत की समस्त परम्परा काव्य-रस को 'पानकरस' से तुलनीय मानती है—जिस प्रकार शर्बत में मधुर और तिक्त जैसे विरोधी द्रव्य मिलकर पानक में एकीभूत हो जाते और एकरसता की सृष्टि करते हैं, उसी प्रकार विरोधी भाव भी वासनात्मक स्थायी में समरसता प्राप्त करते हैं।[१६]

शर्बत में तिक्त और मधुर दोनों का प्रत्यय तो होता है, परन्तु वह प्रत्यय शर्बत के रसबोध में एकीभूत (या पूरक) रहता है, उसका विरोधी नहीं।

(ग) वासनात्मक स्थायी भाव :

भावों का प्रत्यक्ष रूप लौकिक कारणों से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रिया मात्र है। फ्रायड का दमित-वासना-सिद्धान्त भी इससे ऊपर नहीं जा सकता—वह दमित वासना को मनोग्रन्थि या कुण्ठा ले रूप में मान्य करता है, फिर भी वासना मूल मनोवृत्ति के रूप में उसे भी मान्य ही है, अन्यथा उसका दमन क्या हो ? यह बात दूसरी है कि आजकल काम-वासना को भी अर्जित भाव माना जाने लगा है जो मनोविज्ञान की नूतन उपलब्धि है।

वासना अनादि (अज्ञात) काल से आये हुए मानस संस्कार का ही नाम है और ये संस्कार एक प्रकार से अप्रबुद्ध स्मृति रूप लाते हैं जब उसके अनुकूल उद्बोधक कारण उपस्थित हो जाते हैं।[१७] प्रसाद जी ने वासना के उदय का ऐसा चित्र दिया है जिसमें प्रत्यक्षतः आलम्बन का अभाव है, केवल प्राकृतिक वातावरण ही उसका उद्दीपन करता है—

खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें,
हृदय-कुसुम की, खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें। (कामायनी)

तो क्या वासनाएँ अनादि हैं ? इस प्रश्न का उत्तर आज जन्तुविज्ञान देने में समर्थ है। अब तक यही माना जाता था कि शरीर-संरचना में 'जीन' पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रमण करते हैं और आकृति के विन्यास का कारण बनते हैं। अब जीन्स् का संख्यात्मक वर्गीकरण भी हुआ है तथा नए 'जीन्स' की खोज भी की गयी है। इनमें 'स्मृति-जीन' (Memory-gene) भी एक वर्ग है जो विविध जैव गुणों के संक्रमण का कारण है। ये स्मृति-जीन वस्तुतः संस्कारवाहक तत्त्व हैं और स्वभावगत अन्तर लाते हैं—फलतः जीवों की मानस-संरचना भिन्न होती है। इस आधार पर निर्बाध रूप से कहा जा सकता है कि जैव वासनाएँ आनुवंशिक होती हैं। सूक्ष्म वासनात्मक भाव की स्थिति होती है तभी कारणवश विविध मनोवेगीय प्रतिक्रियाएँ होती हैं, यह कहने में कोई अवैज्ञानिकता नहीं है।

जब लौकिक कारणों से रहित वासना आस्वादित होती है तो रसरूप ग्रहण करती है : उसकी अभिव्यक्ति काव्य से होती है, यही ध्वनिमत है।

(घ) यौगिक-प्रत्यय और रस :

जब पण्डितराज कहते हैं :

"चिदावरण-भङ्ग एव रसः।"

अर्थात् चैतन्य पर से अज्ञानावरण का पूर्ण विच्छेद ही रस है, तो यौगिक प्रत्यय या पर-प्रत्यक्ष से रस-दशा का अन्तर ही समाप्त हो जाता है। ध्वनिमत की मान्यता यह नहीं रही है। आचार्य मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में उसे सब प्रकार के यौगिक प्रत्ययों से भिन्न मानते हुए वासनात्मक चित्तवृत्ति का सूक्ष्म आवरण मान्य ठहराया है। ऐसा मानकर ही रसों में पारस्परिक अन्तर की व्याख्या हो सकती है। वासनाओं की अनेकरूपता ही रसों की विविधता का कारण है—आनन्दरूप में 'रस' एक है पर चित्तवृत्ति-विशेष की परिधि में आस्वादगत अन्तर रहता है। फलतः दुःख-संवेदना का सूक्ष्म वृत्त रह सकता है जो आनन्द-प्रकाश में तिरोभूत-सा हो जाता है।

भाव-ध्वनि काव्य :

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से व्यक्त होनेवाला कोई व्यभिचारी भाव अथवा दाम्पत्य रति से भिन्न रतिभाव प्रधानीभूत व्यंग्य होता है तो 'भावध्वनि काव्य' कहा जाता है। एक व्यभिचारी भाव का सहकारी दूसरा व्यभिचारी भी हो सकता है अतएव पण्डितराज ने भावध्वनि की परिभाषा में 'विभावादि' कहा है। व्यभिचारी भाव-ध्वनि पर विचार करने से पूर्व रतिभाव-ध्वनि पर विचार अपेक्षित है।

शृङ्गार रस का स्थायी भाव दाम्पत्य-रति है, उससे भिन्न 'रति' को भावमात्र माना गया है। भक्तिरसामृत-सिन्धु में भक्तिरस की स्थापना करते हुए भगवद्विषयक रतिमात्र को 'भक्ति' नाम दिया गया है, यहाँ उसे छोड़कर ध्वनिमत की मान्यता को ही विवेच्य बनाया जा रहा है। शृङ्गार-सीमा से बाहर 'रति' के तीन रूप मिलते हैं :

(क्ष) श्रेष्ठ-विषयक रति—इस वर्ग में ईश्वर, राजा, राष्ट्र, जन्मभूमि, गुरु, पिता, माता आदि के विषय के रति-भाव का समावेश हो सकता है—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा।

में देशविषयक रति है।

(त्र) लघुविषयक रति—बालक आदि आलम्बनवाले रतिभाव का इसमें ग्रहण है—

कहाँ रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना !
अरे पिता के प्रतिनिधि, तू ने भी सुख-दुख तो दिया घना,
चञ्चल तू, बनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जाये, करती कैसे तुझे मना ! (कामायनी)

इसे मुनीन्द्र आचार्य के मत से 'वत्सल' रस मानकर आचार्य विश्वनाथ ने दशम रस बताया है। यों इस रति को 'वात्सल्य' नाम से जाना जाता है।

(ज्ञ) समान-विषयक रति—इसे 'सख्य' कह सकते हैं। रति-भाव-ध्वनि के विषय में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं :—

१. रतिभाव के संयोग-वियोग दोनों पक्ष हो सकते हैं।

२. भक्तिरस का आलम्बन केवल ईश्वर ही हो सकता है जबकि रतिभाव की सीमा में सभी प्रेमालम्बनों का समावेश हो जाता है।

३. ध्वनिमत रति स्थायी को ही भावध्वनि में लिया गया है, अन्य स्थायी भाव नहीं।

४. सूर तुलसी आदि के बाल-वर्णन में भक्तिरस का वात्सल्य ही मिलता है। शुद्ध वत्सल-वर्णन अल्प ही मिलते हैं। बाल-वर्णनों में सर्वत्र वात्सल्य नहीं देखा जाता, शुद्ध स्वभावोक्ति रहती है अतः यदि स्नेह का दूरस्पर्श भी होता है तो गौण हो जाता है। साहित्यदर्पण में कालिदास का उदाहरण दिया गया है :—

उवाच धान्या प्रथमोदितं वचो,
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपात-शिक्षया,
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥

अर्थात् 'धाय के द्वारा पहले कहा वचन कहता था, उसकी अँगुली पकड़कर चलता था, प्रणाम करने की शिक्षा से प्रणत होता था, इससे उस बालक ने पिता का मोद बढ़ाया।' यहाँ तीन चरणों में स्वभावोक्ति का चमत्कार है और चौथे में पिता की मोद-वृत्ति में ऐसी भाव-तीव्रता नहीं देखी जाती कि ओतप्रोत-कारी चमत्काररूप रस कहा जाय। स्थायी भाव जहाँ 'सकल-सहृदय-संवादी' होता है, वहीं रसरूप लेता है। वात्सल्य-वर्णन के वैसे अवसर भक्ति-काव्यों से बाहर सुलभ नहीं हैं।

× × ×

व्यभिचारी भावों की सत्ता स्थायी भावों में मानी गई है। स्थायी भाव जहाँ प्रमुख प्रतिपाद्य नहीं होता, प्रत्युत उसपर अवलम्बित कोई संचारी ही प्रधान होता है, वहाँ भावध्वनि होती है। ये भाव भी क्या वासनारूप से सहृदयों में स्थित रहते और व्यक्त होते हैं? क्या वे रसनीय भी बनते हैं? अथवा वे वस्तु-व्यंग्य के समान काव्य-चमत्कार-मात्र होते हैं? इन प्रश्नों को लेकर भाव-काव्य को तीन प्रकार से समझा जाता है :

(अ) हर्ष, औत्सुक्य, चिन्ता आदि भाव भी वासनारूप से स्थायी भाव के समान ही सहृदयों में विद्यमान रहते और विभावादि द्वारा सहृदय में ही व्यक्त होते हैं।

(इ) जिस प्रकार अन्य रस सत्त्वोद्रेक-दशा में आस्वादित होते हैं, उसी प्रकार भाव भी आस्वादात्मक अभिव्यक्ति लेते हैं।

(उ) जिस प्रकार वस्तुरूप व्यंग्य काव्य में प्रधान रूप से व्यक्त होकर चमत्कार-विशेष देता है, उसी प्रकार भाव भी तटस्थ चमत्कारी होता है—उसकी सहृदय में पूर्वोपस्थिति नहीं होती।[१८]

प्रथम और द्वितीय मत में इतना ही अन्तर है कि प्रथम मत भाव को आस्वाद कोटि में नहीं लेता जबकि दूसरा उसे आस्वाद्य भी मानता है; वस्तुतः आस्वाद फिर भी स्थायी भाव का ही मान्य होना चाहिए, व्यभिचारी का नहीं—अतः गौण रहकर भी स्थायी रसरूप लेता ही है। तृतीय मत दोनों से विशिष्ट है जो रसिक में वैसे भाव की वासना आवश्यक नहीं ठहराता। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रथम और तृतीय में ही यथार्थ मत-भेद है और वह पुष्ट आधार पर स्थित है। हम कहीं भाव को रसिक स्थित पाते हैं, परन्तु कहीं वह शुद्ध वस्तुरूप में व्यक्त होता है।

कौन करुण रहस्य है तुममें छिपा छविमान
लता वीरुध दिया करते जिसे छाया दान।
पशु कि हो पाषाण सबमें नृत्य का नव छन्द,
एक आलिङ्गन बुलाता सभी को सानन्द। (कामायनी)

यहाँ 'वितर्क' भाव की प्रधान रूप से व्यञ्जना है जिसका आधारभूत स्थायी भाव 'रति' है। मनु में श्रद्धा के प्रति वितर्क है अतः श्रद्धा आलम्बन विभाव है, प्राकृतिक परिवेश उद्दीपन है, मनु-वचन अनुभाव हैं, औत्सुक्य, विस्मय, आवेग, चिन्ता आदि वितर्क व्यभिचारी के व्यभिचारी भाव हैं जो उसे पोषण देते हैं। इस प्रकार सहृदय में ही रति-संस्कारों के माध्यम से वितर्क-वासना उदित होती है—नारी के प्रति ऐसा भाव सहृदय-संवादी है।

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता। (निराला)

यहाँ का दैन्य वस्तुचित्र देता है—सहृदय में दैन्य-संवेदना नहीं होती, प्रत्युत दैन्य करुण का कारण (विभाव) बनता है। यह भाव की द्विरूपता व्यापक रूप से देखी जाती है। आवश्यक नहीं कि व्यभिचारी भाव सदैव स्थायी पर ही स्थित हो। जहाँ वह स्वतन्त्र होगा वहाँ वस्तुरूप ही रहेगा।

१. हर्ष :—इष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि से उत्पन्न सुख-विशेष हर्ष है।

करु उठाइ घूँघटु करत, उझरत पट गुझरौट।
सुख-मोटैं लूटीं ललन, लखि ललना की लौट॥ (बिहारी)

यहाँ रति का अङ्गभूत हर्ष प्रधानीभूत व्यंग्य है; जबकि

नयें बिरह, बढ़ती बिथा, खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ, हरखि हँसी तिहिं काल॥ (बिहारी)

यहाँ नायिक का हर्ष पड़ोसिनी के बिलखने को लेकर है अतः वस्तुरूप है।

२. स्मृति :—संस्कारजनित बोध को स्मृति कहते हैं :

सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर॥ (बिहारी)

यहाँ प्रधानीभूत स्मृति व्यंग्य रतिभाव पर स्थित है।

स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवनि करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहौं नीरु ॥ (बिहारी)

यहाँ स्मृतिभावध्वनि नहीं है क्योंकि 'सुरति' शब्द से वाच्य होने के कारण वह व्यंग्य नहीं। स्मरण अलङ्कार सादृश्यमूलक होता है (जो गुणीभूतव्यंग्य है)। वह भी यहाँ नहीं है। स्मृतिभाव में सादृश्य-बोध अनिवार्य नहीं।

३. व्रीड़ा :—स्त्रियों में पुरुप मुख-दर्शन आदि विभावों से और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भङ्ग, पराभव आदि से उत्पन्न, वैवर्ण्य, अधोमुखता आदि अनुभावोंवाली चित्तवृत्ति व्रीड़ा (लज्जा) है।

बिहँसति सकुचति सी दियें कुच आँचर बिच बाँहि।
भीजैं पट तट कौं चली न्हाइ सरोवर माँहि ॥ (बिहारी)

४. मोह :—भय, वियोगादि कारणों से उत्पन्न होनेवाली वस्तु-तत्त्व-विवेक-रहित चित्तवृत्ति मोह है।

रुकती हूँ और ठहरती हूँ, पर सोच-विचार न कर सकती,
पगली-सी कोई अन्तर में बैठी जैसे अनुदिन बकती। (कामायनी)

यहाँ 'सोच-विचार न कर सकती' कहकर 'मोह' को प्रायः वाच्य बना दिया गया है, अतः व्यंग्य गुणीभूत है फलतः इसे 'भावध्वनि' नहीं कहेंगे।

कौंहर सी एँड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावर देइ को, आपु भई बेपाइ ॥ (बिहारी)

यह ध्वनिमत के अनुसार 'भावध्वनि काव्य' का उदाहरण है।

५. धृति :—लोभ, शोक, भय आदि के निवारण का कारण-भाव 'धृति' है।

खल बढ़ई बलु करि थके, कटै न कुबत कुठार।
आल-बाल उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार ॥ (बिहारी)

यहाँ नायिका की 'धृति' को ही कवि ने प्रधानीभूत व्यंग्य बनाया है। पद्माकर ने अपना उदाहरण दिया है :

रे मन साहसी साहस राखु, सु साहस ही सब जेर फिरैंगे।
—इत्यादि।

इसमें 'साहस' शब्द धृति-पर्याय है अतः वाच्य हो जाने से इसे भावध्वनि नहीं कह सकते।

६. शङ्का :—अपने अनिष्ट की संभावनावाली चित्तवृत्ति शङ्का है।

विकल खिलखिलाती है क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर,
तुहिन-कणों फेनिल लहरों में
मच जायेगी फिर अन्धेर। (कामायनी)

यहाँ भय स्थायी का व्यभिचारी भाव 'शङ्का' मुख्य व्यंग्य है।

मोहिं लखि सोवत बिथोरि गौ सुबेनी बनी,
तोरि गौ हियै कौ हार, छोरि गौ सुगैया कौ।
कहै पदुमाकर त्यौं घोरि गौ घनेरौ दुख
बोरिगौ बिसासी आज लाज ही की नैया कौ॥
अहित अनैसौ ऐसौ कौन उपहास, यहै
सोचत खरी मैं परी जोवत जुन्हैया कौ।
बूझैंगे चवैया तब कैहौं कहा दैया,—
इत, पारि गौ को मैया, मेरी सेज पै कन्हैया कौ॥

पद्माकर ने इसे शङ्का के उदाहरण में रखा है जबकि यहाँ प्रधानीभूत व्यंग्य अवहित्था (गोपन) भाव है।

७. ग्लानि :—आधि, व्याधि, श्रम आदि विभावों तथा वैवर्ण्य, अङ्ग-शैथिल्य, नेत्र-भ्रमण आदि अनुभावों से व्यक्त दुःखात्मक चित्तवृत्ति का नाम 'ग्लानि' है।

लखि लखि अँखियनु अधखुलिनु, आँगु मोरि अँगिराइ।
आधिक उठि, लेटति लटकि, आलस-भरी जम्हाइ॥ (बिहारी)

यहाँ 'आलस्य' वाच्य हो गया है परन्तु 'ग्लानि' की व्यञ्जना प्रधान है।

दृग थिरकौंहैं, अधखुलैं, देह थकौहैं ढार।
सुरत-सुखित-सी देखियति, दुखित गरभ कैं भार॥ (बिहारी)

८. दैन्य :—दुःख, दरिद्रता, अपराध आदि विभावों तथा हीनता-सूचक वचन आदि अनुभावों से व्यक्त चित्तवृत्तिविशेष 'दैन्य' है।

क्या कहूँ क्या हूँ मैं उद्भ्रान्त
विवर में नील गगन के आज,
वायु की भटकी एक तरङ्ग,
शून्यता का उजड़ा सा राज। (कामायनी)

यहाँ स्थायी भाव पर अवलम्बित न होने से वस्तु ध्वनिरूप दैन्य-भाव-ध्वनि काव्य है।

कहे जु बचन बियोगिनी बिरह बिकल बिललाइ।
किए न को अँसुवा सहित सुवा ति बोल सुनाइ॥ (बिहारी)

यहाँ रति स्थायी का व्यभिचारी दैन्य भाव प्रधान व्यंग्य है।

९. चिन्ता :—इष्ट की अप्राप्ति, अनिष्ट की प्राप्ति (विभाव) से जनित, वैवर्ण्य, भूलेखन, अधोमुखता आदि (अनुभाव) का जनक ध्यान-पर्याय भाव चिन्ता है।

ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी-स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प-सी मतवाली। (कामायनी)

यहाँ 'चिन्ता' वाच्यरूप में ही वर्ण्य है अतः भावध्वनि नहीं कह सकते।

लहि रति-सुखु लगियै हियैं लखी लजौंही नीठि।
खुलति न, मो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीढि॥ (बिहारी)

यहाँ चिन्ता (प्रिया-ध्यान) ही प्रधान व्यंग्य है अतः 'चिन्ता भाव ध्वनि' है। चिन्ता में हृदय की तन्मयता विशेष रहती है, यही स्मृति से अन्तर है।

१०. मद :—मदिरा आदि के उपयोग (विभाव) से जनित, शयन, हँसी आदि (अनुभाव) के कारण उल्लास-विशेष को मद कहते हैं।

हँसि-हँसि हेरति नवल तिय, मद कें मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति बचन, ललकि ललकि लपटाति॥ (बिहारी)

यहाँ 'मद' वाच्य है अतः भावध्वनि नहीं कह सकते।

सुरा-सुरभिमय बदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल थे जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग। (कामायनी)

यहाँ 'स्मृति' प्रधान भाव है, 'मद' गुणीभूतव्यंग्य है।

यह मनुहार ! रुकेगा प्याला जीने से फिर सुख क्या ?
आँखें प्रिय आँखों में डूबे
अरुण अधर थे रस में,
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी,
चेतनता नस-नस में।
छल-वाणी की वह प्रवञ्चना, हृदयों की शिशुता को,
खेल खिलाती, भुलवाती जो उस निर्मल विभुता को। (कामायनी)

यहाँ अनुभावों और विभाव के द्वारा 'मद' की सुन्दर व्यञ्जना है जो रति स्थायी का व्यभिचारी होकर भी प्रधानीभूत व्यंग्य है अतः 'मदभाव ध्वनि' है।

११. श्रम (थकावट) :—अधिक शारीरिक श्रम से उत्पन्न निःश्वास, अङ्ग-पीड़ा, निद्रा आदि (अनुभाव) का जनक भाव 'श्रम' है। ग्लानि शरीर की निःसह निर्बलता की वस्तु है जबकि श्रम शारीरिक बल के रहते भी होता है, यही दोनों में अन्तर है।

चुवतु सेद मकरंद-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन-देस तें, थक्यौ बटोही बाइ॥ (बिहारी)

यहाँ वस्तुतः 'वायु' वर्ण्य है जिसका 'श्रम' आरोपित है अतः गुणीभूत है।

चलित ललित श्रम-सेद-कन-कलित, अरुन मुख तैं न।
बन-बिहार थाकी तरुनि, खरे थकाए नैन॥ (बिहारी)

यहाँ 'श्रम' वाच्य हो गया है अतः गुणीभूत है।

रीति रची बिपरीति रची रति प्रीतम संग अनंग झरी मैं।
त्यौं पदुमाकर छूटे हरा, ते सरासर सेज परे सिगरी मैं॥
यौं करि केलि बिमोहित ह्वै रही आनँद की सुघरी उघरी मैं।
नीबी औ बार सँभारिबै की सु भई सुधि नारि कौं चारि घरी मैं॥

यहाँ निश्चय ही श्रम की प्रधानीभूत व्यञ्जना है अतः श्रम भाव-ध्वनि-काव्य का उदाहरण है।

१२. गर्व :—प्रेम, रूप, विद्या, धन आदि से उत्पन्न आत्मोत्कर्ष की प्रतीति को गर्व कहते हैं। पण्डितराज ने इसमें दूसरे की अवहेलना को अनिवार्य बताया है और वैसा ही उदाहरण भी दिया है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जहाँ निगूढ़ गर्व हो वहाँ परावहेलना भी हो—उदात्त पात्रों की परिभाषा में निगूढ़-गर्वता निहित है। उदाहरणार्थ :—

सखी सिखावत मान-बिधि, सैननि बरजति बाल।
हरुएँ कहि, मो हिय बसत सदा बिहारीलाल॥　　(बिहारी)

यहाँ प्रेमगर्विता नायिका है। कभी-कभी परावहेलना भी मिलती है—

तीज दिवस सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजें चीर॥

दोनों गर्वभावध्वनि काव्य के उदाहरण हैं।

१३. निद्रा :—परिश्रम आदि विभावों, नेत्रनिमीलन आदि अनुभावों से व्यक्त संज्ञाशून्यता निद्रा है।

खुले मसृण भुजमूलों से वह आमन्त्रण था मिलता,
उन्नत वक्षों में आलिङ्गन सुख-लहरों-सा तिरता।
नीचा हो उठता जो धीमे-धीमे निःश्वासों में,
जीवन का ज्यों ज्वार उठ रहा हिमकर के हासों में।
जाग्रत था सौन्दर्य यदपि वह सोती थी सुकुमारी,
रूप-चन्द्रिका में उज्ज्वल थी आज निशा-सी नारी।　　(कामायनी)

यहाँ 'सोती थी' कहकर निद्रा को वाच्य बनाया गया है और 'जाग्रत' के साथ विरोधाभास अलंकार पर कवि का विशेष ध्यान रहा है जिससे काव्य गुणीभूतव्यंग्य होकर रह गया है। अनुभाव-योजना इतनी मनोरम है कि एक पंक्ति बदल दी जाय तो 'भाव-ध्वनि' हो सकती है—

'उन्मीलित-सुषमा वह मीलित-नयना थी सुकुमारी।'

१४. व्याधि :—रोग, विरह आदि विभावों, अङ्ग-शैथिल्य आदि अनुभावों से व्यक्त मनस्ताप-विशेष व्याधि भाव है।

कर के मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिन हूँ नीठि पिछानी जाइ॥　　(बिहारी)

१५. त्रास :—घोर-दर्शन या श्रवण से उत्पन्न चित्तवृत्ति-विशेष त्रास है। 'त्रास' क्षणिक होता है तथा किसी स्थायी भाव के आश्रित रहता है, जबकि 'भय' स्थायी भाव है जो स्वयं रसात्मक रूप लेता है।

भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता।
अरध निमेख कलप सम बीता॥ (मानस)

यहाँ राम-विषयक रतिभाव के अन्तर्गत परशुराम-विभाव से उत्पन्न 'त्रास' की व्यञ्जना है।

१६. स्वप्न :—निद्रा विभाव से उत्पन्न ज्ञान को 'स्वप्न' कहते हैं।

देखौं जागि त बैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवत जात भजि, को जानै किहिं बाट॥ (बिहारी)

१७. विबोध :—निद्रानाश के अनन्तर-प्रत्यय (जागरण) को विबोध कहते हैं। अक्षि-मर्दन, गात्रमर्दन आदि अनुभाव हैं।

धीरे-धीरे हिम आच्छादन, हटने लगा धरातल से,
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई, मुख धोती शीतल जल से।
नेत्र निमीलन करती मानों प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने। (कामायनी)

यहाँ जगने और प्रबुद्ध होने का वाच्यात्मक प्रयोग होने से तथा सम्पूर्ण वर्णन अप्रस्तुत होने से गुणीभूत-व्यंग्य विबोधभाव ही है, ध्वनि नहीं।

सोवत सपनैं स्यामघनु, मिलि-हिलि हरत बियोगु।
तबहीं टरि कितहूँ गई, नींदौ नींदन जोगु॥ (बिहारी)

यहाँ 'विबोध-भाव ध्वनि' काव्य है।

कुछ आचार्य अज्ञान-भङ्ग को 'विबोध' कहते हैं।

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्द-किसोरु॥

यहाँ भक्ति के अन्तर्गत 'विबोध भाव ध्वनि' है।

चित पित-मारक-जोगु गनि, भयौ भएँ सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जियँ जोइसी, समुझें जारज-जोगु॥

यहाँ वही हास्य-रस का व्यभिचारी होकर प्रधानीभूत व्यंग्य है।

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है। (कामायनी)

यहाँ तत्त्व-ज्ञानमूलक विबोध भाव की ध्वनि है।

१८. अमर्ष :—परकृत अवज्ञा आदि अपराध (विभाव) से उत्पन्न मौन, परुष वचन आदि अनुभावोंवाली चित्तवृत्ति अमर्ष है। 'क्रोध' रौद्र का स्थायी भाव है जो शत्रु के प्रति होता है, उसमें भी संचारी भाव अमर्ष रहता है परन्तु अमर्ष रति आदि में भी सुलभ है।

बाल कहा लाली भई लोयन-कोयन माहिं।
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाहिं ॥ (बिहारी)

१९. अवहित्थ :—व्रीड़ा आदि विभावों से व्यक्त गोपनात्मक भावविशेष 'अवहित्थ' कहा जाता है।

कारे बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कैबा लखी, सखी, लखें लगै थरथरी देह ॥ (बिहारी)

कृष्ण के प्रति रतिभाव के गोपन का प्रयास ही प्रधानीभूत व्यंग्य है।

२०. उग्रता :—अपमान आदि विभावों से जनित चितवृत्ति-विशेष उग्रता है जिसमें प्रत्यपकारेच्छा का समावेश रहता है।

लछिमन बान सरासन आनू।
सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू ॥ (मानस)

२१. उन्माद :—विरह, आपत्ति, आनन्द आदि के अतिरेक से उत्पन्न अन्य वस्तु में अन्य का अवभास उन्माद है।

निसिदिन माधव-माधव रटइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल आपन गुन लुबुधाई ॥ (विद्यापति)

२२. मरण :—विरह, रोग, प्रहार आदि से उत्पन्न मूर्छारूप चित्तवृत्ति जो मृत्यु-पूर्व-दशा है, काव्य में 'मरण' नाम से विख्यात है।

मरो डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाहि।
रही कराहि-कराहि अति, अब मुख आहि न आहि ॥ (बिहारी)

करुण में ही इसका प्रत्यक्ष वर्णन होता है, अन्य रसों में इसे परोक्ष रूप से संभावना के व्याज से ही लाया जाता है।

२३. वितर्क :—सन्देह, भ्रम आदि के अनन्तर निश्चय-प्राय ऊहात्मक चित्तवृत्ति को 'वितर्क' कहते हैं।

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?

२४. इष्ट की अप्राप्ति, अपराध आदि से उत्पन्न पश्चात्ताप विषाद है।

जौ जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥ (मानस)

२५. औत्सुक्य :—तत्काल इष्ट-प्राप्ति की इच्छा को औत्सुक्य कहते हैं।

जदपि तेज रौहाल-बल, पलकौ लगी न बार।
तौ घर कौ ग्वैंड़ौ भयौ पैंड़ौ कोस हजार॥ (बिहारी)

२६. आवेग :—अनर्थ आदि के अतिशय से उत्पन्न संभ्रम आवेग है। (यह चित्त की हड़बड़ी में अनिश्चय की दशा है।)

बाँध्यो जलनिधि नीरनिधि जलधि सिन्धु बारीस।
सत्य तोयनिधि कम्पति उदधि पयोधि नदीस॥ (मानस)

रावण ने हड़बड़ी में दस बार समुद्र-पर्यायों का वाचन किया है जैसे उसके दसों मुख एक साथ क्रमशः बोल चले हों।

२७. जड़ता :—चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्टानिष्ट के दर्शन या श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न कर्तव्य-निश्चय-रहित चित्तवृत्ति 'जड़ता' है। मौन, करमर्दन, विस्मरण, मुख-विकार आदि अनुभाव होते हैं।

बात चली चलिबै की जहीं फिरि बात सुहानी न गात सुहानौ।
भूखन-साज सकै सहि कौ महराज गयौ छुटि लाज कौ बानौ।
यौं कर मींजति है बनिता सुनि प्रीतम कौ परभात पयानौ।
आपुनै जीवन कौ लखि अन्त सु आयु की रेख मिटावति मानौ॥

२८. आलस्य :—अतितृप्ति, गर्भ, व्याधि, श्रम आदि से उत्पन्न चित्त की निष्क्रियता-प्रिय वृत्ति आलस्य है।

राति की जागी प्रभात उठी अँगिराति जँभाति लजाति लगी हिये।
(पद्माकर)

२९. मति :—विवेकजन्य अर्थ-निश्चय मति है, शङ्कारहित क्रिया, संशय-नाश आदि अनुभाव हैं।

देव न थे हम, और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले।
हाँ कि गर्वरथ में तुरङ्ग-सा
जितना जो चाहे जुत ले॥

अथवा

मैं जान्यौ निरधार, यह जग काचौ काच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियै जहाँ॥ (बिहारी)

३०. असूया :—परकीय उत्कर्षदर्शन आदि विभावों, परनिन्दा, गुणों में दोषारोपण आदि अनुभावों से व्यक्त ईर्ष्यात्मक चित्तवृत्ति असूया है।

कत लपटइयतु मो गरैं, सो न जु ही निसि सैन।
जिहिं चम्पक-बरनी किये, गुललालारँग नैन॥ (बिहारी)

यहाँ सपत्नी के प्रति असूया प्रधानीभूत व्यंग्य है।

३१. अपस्मार :—वियोग, शोक, भय, जुगुप्सा आदि विभावों से उत्पन्न मूर्छा आदि अनुभावोंवाला व्याधिविशेष अपस्मार है।

सोच-बिकल बिबरन महि परेऊ।
मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ॥ (मानस)

कैकेयी की वरयाचना से दशरथ की अपस्मार-दशा प्रधानीभूत व्यंग्य है।

३२. चपलता :—अमर्ष, प्रतिकूलाचरण, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि विभावों से भर्त्सना, परुषवचन, प्रहार, ताड़न, बध, बन्धन आदि अविचार-कार्य-रूप अनुभावों से व्यक्त चित्तवृत्ति चपलता है।

पुनि कह कटु कठोर कैकेई।
मनहुँ घाय महुँ माहुरु देई॥
जौं अन्तहुँ अस करतब रहेऊ।
माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ॥ (मानस)

शृंगार रस में इसके सुकुमार प्रयोग देखे जाते हैं :

ऐसी धन धन्य धनी धन्य है सु ऐसो, जाहि
फूल की छरी सौं खरी हनति हरैं हरैं। (पद्माकर)

३३. निर्वेद :—प्रतिपक्ष-कृत तिरस्कारादि से जो निर्वेद उत्पन्न होता है वही व्यभिचारिवर्ग में आता है। रोदन, उच्छ्वास, मुखशोष आदि अनुभाव हैं। नीचपात्र में आक्रोश, अपमान, व्याधि, दरिद्रता, पर-सम्पत्तिदर्शन आदि विभाव होते हैं। अवज्ञा, विरह आदि उच्च पात्रों में विभाव हैं। निर्वेद विषय-वैराग्य का नाम है।

हृदउ न बिदरेउ पङ्क जिमि, बिछुरत प्रीतम नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यह जातना-सरीरु॥ (मानस)

यहाँ दशरथ में राम-विरह-जन्य निर्वेद प्रधानीभूत व्यंग्य है।

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह जर्जर भीषण दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अङ्क का
अधम-पात्रमय-सा विष्कम्भ। (कामायनी)

यह मनु में प्रलय-जनित जगद्विषयक विरक्ति रूप निर्वेद है जिसका अनुभाव आत्म-धिक्कार-वाचन है। यह प्रायः शान्त रस का भी व्यभिचारी भाव होकर आता है जब शमात्मक निर्वेद अपुष्ट वर्णित रहता है :

चढ़ि कै चले पालकी नालकी पै, निबहे मग पैदर ही तौ कहा।
दिन बीते सँजोग ही के सुख मैं, दुख ही सहि देह दही तौ कहा॥
जग मैं भई कीरति बेस 'ब्रजेस', अकीरति ही उमही तौ कहा।
दिन चारिक मैं तुम ही न रहे, चरचा चिरकाल रही तौ कहा॥

यहाँ समरस शान्त दशा वर्णनीय नहीं है, केवल जगत् की नश्वरता के प्रति निर्वेद है।

सात्त्विक भाव :

भाव चित्तवृत्ति का नाम है और सात्त्विक सत्त्वजनित को कहते हैं। सत्त्व से जनित भाव ही सात्त्विक भाव हैं जिनकी संख्या आठ है—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर-भङ्ग, वेपथु (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। इन भावों को भरत ने मानस-उत्पत्ति माना है अतः अन्य भावजन्य होने से इन्हें अनुभावों में गिना जाता है, परन्तु इनका मानस पक्ष भावात्मक (चित्तवृत्तिरूप) है। यहाँ 'सत्त्व' शब्द चित्त-पर्याय है। अन्य भावों के समान ही इन्हें भी त्रिपक्षीय रूप में समझा जा सकता है :

१. अनुकार्य पक्ष :—अनुकार्य भावाश्रय में सुख-दुःखात्मक रूप से सात्त्विक भाव मानस प्रतिक्रिया के रूप में रहते हैं। इनका बाह्यरूप आङ्गिक होता है। गम्भीर जनों का रोदन मानस हो सकता है; बाह्य अश्रुपात का रूप दृश्य न हो, फिर भी मानस क्रिया-रूप अश्रु मान्य है। उत्तम प्रकृति का कम्प भी आङ्गिक न होकर शुद्ध चैत्त हो सकता है। वैवर्ण्य जैसी कायिक प्रतिक्रिया का आधार चैतस प्रतिक्रिया है और उसी को भाव कहा जायगा।

२. अनुकारक पक्ष :—भरत ने ये भाव अभिनेता या अनुकारक की दृष्टि से स्थिर किये हैं। उनकी स्थापना है कि मनो-जनित भाव दशा ही सत्त्व है। नटादि की समाहितचित्तता के आधार पर इन्हें सात्त्विक कहा जाता है क्योंकि मन की एकाग्रता में ही सत्त्व-निष्पत्ति होती है। इन भावों का स्वभाव अन्यमनस्क व्यक्ति से अभिनीत नहीं हो सकता। लोकस्वभाव की अनुकृति ही नाटच है अतः सत्त्व (एकाग्रचित्तता) अपेक्षित है। रोदनात्मक दुःख और सुखात्मक रोमाञ्च का अभिनय दुःखित या सुखित हुए बिना असंभव है। यही सत्त्व है कि तद्भावभावित होकर ही अश्रु और रोमाञ्च अभिनेय होते हैं।[२०]

३. रसिक पक्ष :—रसिक में सात्त्विक भावों की शुद्ध मानस प्रतीति होती है—यह संभव है कि कभी-कभी काव्यगत अश्रु रोमाञ्च का लेश भी न होने पर रसिक में ये कायिक विकार उत्पन्न हों, परन्तु अधिकतर यही होता है कि सात्त्विकों का मानस-बोध होता है और वह रसाश्रित रहता है। रसिक में मन तब सत्त्व होता है जब उसमें दुःखात्मक रजस् और मोहात्मक तमस् का तिरोभाव हो। अतः रसिक जब काव्य में सात्त्विक चेष्टाएँ देखता है तब वे अनुभाव हैं और भावों की व्यञ्जक हैं, परन्तु अनुभूति में उनका भावपक्ष ही रहता है।[२१]

यही कारण है कि सात्त्विक भाव काव्य में अन्य अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं और उन्हें प्रधानीभूत व्यंग्य के रूप में लेकर 'भावध्वनिकाव्य' देखे जाते हैं :

नैकु उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नहँ दी छनकु महँदी सूकन देहु॥ (बिहारी)

यहाँ नायक विभाव है, महँदी छूटना अनुभाव, जिनसे स्वेद सात्त्विक भाव की प्रधानीभूत व्यञ्जना की गयी है :

मैं यह तोही मैं लखी, भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदम्ब की माल ॥ (बिहारी)

यहाँ रोमाञ्च सात्त्विक प्रधानीभूत है :

आँसुन की धार औ उभार कौ उसासन के
तार हिचकीन के तनक टरि लैन देहु।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रञ्च
भावन के बिषम प्रपञ्च सरि लैन देहु ॥
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लैन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै
नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लैन देहु ॥ (उद्धवशतक)

यहाँ 'स्वरभंग' प्रधानीभूत व्यंग्य सात्त्विक भाव है। भावों का विषम जाल आलम्बन विभाव है, कृष्ण की आतुरता उद्दीपन है। उच्छ्वासातिरेक, कलेजे का कढ़ना आदि अनुभाव हैं। दैन्य, आवेग आदि संचारी हैं। अश्रु सात्त्विक भाव हैं। स्वरभंग की दशा प्रस्तुत कथन-काल में नहीं है परन्तु गोकुल-समाचार-कथन उसी से असंभव हो रहा है :

चौंकी चकी चमकी चित मैं
चुप ह्वै रही चञ्चल अञ्चलवारी। (पद्माकर)

यहाँ अञ्चल की चञ्चलता के अनुभाव से वेपथु सात्त्विक की स्पष्ट व्यञ्जना है।

आरस सौ आरत सँभारत न सीसपट
गजब गुजारत गरीबन की धार पर। (पद्माकर)

यहाँ आलस्य-वश आर्ति से वैवर्ण्य की व्यञ्जना है।

उक्त तथ्यों से प्रमाणित है कि स्थायीभाव और सञ्चारी भाव के आधार पर आनेवाले सात्त्विक भावों की भी भावात्मक व्यञ्जना संभव है अतः उनका 'भाव' होना 'जड़ता' आदि संचारियों के समान ही संगत है।

विभाव, भाव और अनुभाव :

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि विभाव, भाव और अनुभाव शब्द काव्यगत पारिभाषिक हैं जिनका लोक-पक्ष उनकी परस्पर-सापेक्षता प्रकट करता है।

१. विभाव, भाव का कारण (आलम्बन या उद्दीपन) होता है। वह वस्तु, व्यक्ति, भाव आदि हो सकता है—भाव भी भाव का कारण होता है अतः कोई भाव दूसरे भाव की अपेक्षा में कारण होने से विभाव भी कहा जायगा।

रहौ, गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान, ये नीठि सुकाए बार ॥ (बिहारी)

यहाँ स्वेद सात्त्विक भाव का कारण रति स्थायी भाव है जो स्वेद की अपेक्षा में विभाव है, नायक रतिभाव का विभाव है।

ज्यों ज्यों आवति निकट निसि, त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं बाल॥ (बिहारी)

यहाँ औत्सुक्य या चपलता संचारी भाव का विभाव (कारण) रति भाव है।

नहिं नचाइ चितवति दृगन, नहिं बोलति मुसुकाइ।
ज्यौं ज्यौं रूखी रुख करति त्यौं त्यौं चितु चिकनाइ॥ (बिहारी)

यहाँ अमर्ष अवहित्थ का विभाव है जबकि दोनों व्यभिचारी भाव हैं।

२. भाव चित्तवृत्ति का नामान्तर है। ऊपर देखा जा चुका है कि स्थायी भाव व्यभिचारी का विभाव हो सकता है और व्यभिचारी दूसरे व्यभिचारी का भी विभाव हो सकता है। ऐसे भी अवसर आते हैं जब स्थायी भाव दूसरे स्थायी का विभाव (कारण) हो। वीर-गाथाओं में नायक का उत्साह नायिका के रतिभाव का विभाव बनता है और इस प्रकार एक रस दूसरे रस का संचारी रस कहा जा सकता है। इसी प्रकार शृङ्गार रस में हास भाव संचारी हो जाता है। क्योंकि (मुख्य) रसदशा को प्राप्त भाव ही स्थायी होता है।[२२]

शृङ्गार और वीर में हास, वीर में क्रोध, शान्त में जुगुप्सा व्यभिचारी हैं। इसी प्रकार अन्यत्र स्थायी भाव किसी रस के पोषक होने पर व्यभिचारी हो सकते हैं। स्थायी भाव वह रसात्मक भाव है जिसे विरोधी या अविरोधी भावान्तर तिरोहित नहीं कर सकते, प्रत्युत पोषण करते हैं, जैसे सूत्र में विविध पुष्पों की माला गुथी हो।[२३]

ऐसी स्थिति में नव भावों को स्थायी कहने का कारण इतना ही है कि वे ही रसावस्था प्राप्त करनेवाले स्थायी भाव हैं, अन्य भाव रसात्मक स्थायिता के भागी नहीं होते।

भाव असंख्य हो सकते हैं, पर सब रसोपयोगी नहीं होते अतः पचास भाव ही काव्य-शास्त्र में परिगणित हैं।

३. अनुभाव भाव के अनुभावक विकार हैं जो सात्त्विक, कायिक, वाचिक और आहार्य, चार प्रकार के तो होते ही हैं: विशेष स्थिति में कोई भी भाव दूसरे भाव का अनुभाव हो सकता है, यदि उससे भावान्तर का अनुभव होता हो।

भावकु उभरौंहौ भयौ कछुक पर्‍यौ भरुआइ।
सीप-हरा कें मिस हियौ निसि-दिन हेरत आइ॥ (बिहारी)

यहाँ औत्सुक्य और अवहित्थ दो भाव हैं जिनमें अवहित्थ (गोपनवृत्ति) के द्वारा व्रीड़ा की व्यञ्जना होती है क्योंकि व्रीड़ा ही उसका विभाव है, अतः अवहित्थ व्रीड़ा का अनुभाव (कार्य) है।

इसे स्पष्ट करते हुए पण्डितराज ने ईर्ष्या को निर्वेद का विभाव और असूया का अनुभाव, चिन्ता को निद्रा का विभाव और औत्सुक्य का अनुभाव बताया है।[२४]

सञ्चारीभावों की संख्या पर विचार करते हुए देखा जाय तो बहुत से अन्य रसोपयोगी भाव खोजे जा सकते हैं। पण्डितराज ने सुझाया है कि तैंतीस भावों का ही अर्थवृत्त इतना विस्तृत है कि किंचित् अन्तर रखते हुए अन्तर्भाव माना जा सकता है। असूया में मात्सर्य, त्रास में उद्वेग, अवहित्थ में दम्भ, अमर्ष में ईर्ष्या, मति में विवेक तथा निर्णय, दैन्य में क्लैव्य, धृति में क्षमा, औत्सुक्य में कौतूहल तथा उत्कण्ठा, लज्जा में विनय, तर्क में संशय और चपलता में धृष्टता का समावेश हो जाता है, यद्यपि सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है।[२५] लज्जा अथवा व्रीड़ा (भाव) वस्तुतः विनय के अर्थ में चलता भी रहा है :

"श्रद्धा सतां कुलजन-प्रभवस्य लज्जा" (दुर्गासप्तशती)

में ऐसा ही प्रयोग है। श्रद्धा को यथावसर मति, धृति में समाविष्ट कर सकते हैं—मूलतः श्रद्धा और धृति पर्यायात्मक हैं यद्यपि प्रयोग में श्रद्धा अपेक्षाकृत अधिक प्राञ्जल चित्तवृत्ति है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रसोपयोगी भावों की स्थापना में यथापेक्ष परिवर्तन किया जा सकता है। अन्तर्भाव अमान्य करने पर अव्यवस्था की आशंका अवश्य है। रतिभाव के आधार पर भक्तिरस की स्थापना महत्त्वपूर्ण एवं तर्क-संगत रही है अतः रस-विवेचना में दिशान्तर की भी सम्भावनाएँ निहित हैं।

मनोविज्ञान के स्थायी भावों (सेंटिमेन्ट्स) और संवेगों (इमोशन्स) से काव्य-भावों की स्थापना भिन्न है। काव्य में जड़ता, धृति आदि स्थित्यात्मक वृत्तियों का भी ग्रहण है, भावशब्द उन सबका संग्राहक है अतः केवल संवेगों पर बल देना अनपेक्षित है। काव्य के स्थायी भाव इसलिए स्थायी कहे जाते हैं कि रसानुभूति-पर्यन्त उनकी व्याप्ति रहती है, न कि स्थिर चित्तवृत्ति होने से यह नाम दिया गया है। मनोविज्ञान की मूलवृत्ति (इन्स्टिङ्क्ट) भी काव्य के स्थायी भाव से एकरूप नहीं है क्योंकि मूलवृत्ति तो संचारी भी हो सकती है। स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र का मनोविज्ञान ही भिन्न है जिसमें समूहात्मक वृत्तियों को भी भाव माना जा सकता है। इसपर यथावसर विचार किया जायगा।

रसाभास-ध्वनि काव्य :

'रसाभास' नाम अनौचित्य-मूलक है। यह अनौचित्य शास्त्रीय तथा सामाजिक वर्जनाओं पर अवलम्बित है अतः उसका निर्णय सहृदयाधीन रहता है। शृङ्गार में अनौचित्य तब आता है जब रति का आलम्बन उपनायक, मुनिपत्नी, गुरुपत्नी हो अथवा स्त्री की रति बहुत नायकों के प्रति हो अथवा प्रतिनायक के प्रति हो अथवा अधम पात्र या पशु पक्षी की रति का वर्णन हो। काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों और दर्पणकार आदि ने यही संग्रह दिया है। गुरु आदि विषयक हास और क्रोध में अनौचित्य है। हीन व्यक्ति का शान्त अनुचित है। अधम पात्र-गत अथवा विप्रवध, नारीवध, बालवध आदि के लिए किया हुआ उत्साह अनुचित है। उत्तम पात्र में भयानक अनुचित है। इस प्रकार शृंगाराभास, हास्याभास, रौद्राभास, वीराभास, शान्ताभास और भयानकाभास ये छह रसाभास

माने गये हैं। इस विषय पर विचार करते हुए पण्डितराज ने कतिपय महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिये हैं :

१. अनौचित्य का निर्णय केवल आलम्बन को लेकर नहीं किया जा सकता। बहुनायक या उपनायक आदि आलम्बन अपने आपमें अनुचित नहीं होते, इसी प्रकार क्रोध के विषय या हास के विषय में अनौचित्य नहीं। अतः स्थायी भाव में ही अनौचित्य माना जाना चाहिये जो आश्रय और आलम्बन दोनों के सम्बन्ध-निश्चय से प्रतीत होता है।

२. कुछ आचार्य यह मानते हैं कि अनौचित्य और रस एक साथ नहीं रह सकते अतः तर्कशास्त्र का हेत्वाभास (fallacy) जिस प्रकार हेतु नहीं हैं उसी प्रकार रसाभास को रस नहीं मान सकते।

३. अन्य आचार्यों का मत है कि जैसे अश्वाभास अश्व को ही कहते हैं (यहाँ आभास दोष-सूचकमात्र है) उसी प्रकार रसाभास रस ही है जो अनौचित्यवश दूषित ठहरता है।

इस मतभेद पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि कहीं रसाभास रस न होकर उससे भिन्न काव्य-बोध है। रावण की सीता विषयक रति को रसरूप में ले पाना संभव नहीं है। परन्तु कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ अनौचित्य का पात्रगत अनुसन्धान विरल हो जाता है, रसाभास रस ही ठहरता है।

सुख सौं बीती सब निसा, मनु सोये मिलि साथ।
मूका मेलि गहे सुछिन हाथ न छोड़े हाथ॥ (बिहारी)

यहाँ उपपतिविषयक रति में अनौचित्य होने पर भी रसात्मक बोध हो सकता है—दोष की प्रतीति अनौचित्य की छान-बीन करने पर बाद में होती है। यही बात अन्य रसाभासों के विषय में जाननी चाहिए।

(क) शृंगाराभास—इसमें अनौचित्य का कारण सामाजिक मान्यताएँ होती हैं। बहुविषयक रति को द्रौपदी में अनुचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि रसिक-समाज ने वहाँ छूट दे रखी है। इसी प्रकार जहाँ स्त्रियों के अनेक पति होने की सामाजिक व्यवस्था है, वहाँ भी अनौचित्य को अवसर नहीं है। पशु-पक्षियों की रति में कोई अनौचित्य नहीं है, प्रत्युत भाव की व्यापकता का बोध ही प्रतीत होता है, अतः आचार्यों ने वहाँ रसाभास नहीं माना है।[२१] जहाँ प्रेम उभयनिष्ठ नहीं होता, वहाँ भी अनौचित्य तभी स्फुट होगा जब नायक की ओर से बलात् प्रवृत्ति हो। उदाहरणार्थ :

किन्तु आज तुम बन्दी हो मेरी बाहों में,
मेरी छाती में, फिर सब डूबा आहों में। (कामायनी)

यहाँ इडा के प्रति मनु का एकपक्षीय प्रेम बलात्कार का रूप लेकर शृंगार-रसाभास बना है। अनुभयनिष्ठ रति तो वहाँ भी हो सकती है जहाँ अपर पक्ष अज्ञान में रह रहा हो अतः उसकी ओर से निषेध होने पर ही रसाभास की संज्ञा हो सकती है।

अधम कहे जानेवाले पात्रों की रति को श्रृंगाराभास मानने का यही कारण है कि शिष्ट-समाज उनकी ग्राम्य प्रवृत्तियों को हास्य में लेने का अभ्यासी होता है। उदाहरणार्थ :

ओठु उँचै, हाँसी-भरी दृग भौंहन की चाल।
मौ मनु कहा न पी लियौ पियत तमाकू लाल॥ (बिहारी)

अथवा

गोरी गदकारी, परै हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़॥ (बिहारी)

यह अनौचित्य उच्च श्रृंगार में हो तो ग्राम्य-दोष-वश उसे भी रसाभास में ही गिनना चाहिए।

कत दलमलियत निरदई, दई कुसुम से गात।
कर धरि देखौ धरधरा अजौं न उर कौ जात॥ (बिहारी)

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि रसाभासता का एक तारतम्य होता है जिससे कहीं तो रस रहता ही नहीं, कहीं दोषवश रसबोध में क्षति कम आती है और कहीं अधिक। एक ऐसी स्थिति हो सकती है जहाँ रस और रसाभास की सीमा-रेखा इतनी क्षीण हो कि निर्णय में मतभेद रहे। कुछ तथ्य इस प्रकार हैं :

१. गणिका की रति यदि एकाश्रित है तो उसे श्रृंगार में ही लिया जाता है, जैसे, मृच्छकटिक में वसन्तसेना और चारुदत्त में अथवा निराला के अप्सरा उपन्यास में कनक और राजकुमार में। यदि वहाँ व्यावसायिकता होती है, तो रसाभास ही रहता है।

२. ऊढा परकीया में श्रृङ्गाराभास ही माना जाता रहा है, पर बदली हुई मूल्य-दशाओं में सर्वत्र वैसा मानना कठिन है। उपन्यासों में पति के घोर अत्याचार से परित्याग होने पर रसरूप में ही द्वितीय पति-विषयक रति का आस्वाद संभव हो गया है।

३. अनूढा परकीया विवाह-संगति की पूर्ण संभावना में श्रृङ्गार रस की सीमा में आती है—सीता की रामविषयक पूर्वराग-दशा ऐसी ही है। वहाँ उच्छृङ्खलता ही रसाभास का कारण होगी।

४. गर्भिणी अथवा क्रोड में शिशु लिये हुए स्वकीया भी रसाभास का आलम्बन ही कही जायगी, यदि संभोग श्रृंगार में वर्णित किया जाय। अनौचित्य की प्रतीति वहाँ भी समान है और ऐसी अनेक रोगादि-स्थितियाँ कल्पित की जा सकती हैं।

५. समाज की मान्यता या अमान्यता पर रस और रसाभास की अवधारणा स्थित है अतः मतभेद को अपेक्षित छूट मिलनी चाहिए।

६. पूज्य-विषयक संभोग-वर्णन को रसाभास कहा जा सकता है—जैसे, कालिदास का शिव-पार्वती-संभोग-वर्णन, परन्तु यहाँ भी मतभेद यथास्थित है।

(ख) हास्यरसाभास :

अब सुराज-बछवा मिली, करन लगे सब आस।
गाँधी बरधा से गये, लिनलिथ गो के पास॥

यहाँ गान्धी जैसे आदरणीय को हासालम्बन बनाया गया है अतः रसाभास कहा जा सकता है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं में पतियों के प्रति प्रहारात्मक वृत्तिवाली स्त्रियों को लेकर जो व्यंग्यचित्र अथवा वैसी ही कविताएँ आती हैं, उन्हें भी हास्याभास की ही श्रेणी में लिया जायगा।

(ग) रौद्राभास :

या के कंठ कुठार न दीन्हा।
तौ मैं काह कोप करि कीन्हा॥ (मानस)

बालक लक्ष्मण के प्रति परशुराम का कथन रौद्ररसाभास की व्यञ्जना करता है।

मास-दिवस महुँ कहा न माना।
तौ मैं मारब कठिन कृपाना॥ (मानस)

में सीता के प्रति रावण का कोप रौद्राभास ही है।

(घ) वीराभास :

जप जोग बिरागा, तप मख भागा
स्रवन सुनइ दस-सीसा।
आपुन उठि धावै, रहन न पावै
धरि सब घालै खीसा॥ (मानस)

में उत्तम कार्यों के प्रति रावण का नाशकारी उत्साह वीररसाभास है।

(ङ) भयानकाभास :

घन घमंड गरजत नभ घोरा।
प्रिया-हीन डरपत मन मोरा॥ (मानस)

यहाँ यदि सीता के प्रति राम की आशङ्का अर्थ लिया जाय तो प्रस्तुत सन्दर्भ का उदाहरण नहीं है, परन्तु वाच्य-प्रसंग से भयानक रस का आभास ही प्रतीत होता है। उत्तम वीर पुरुष चरित्रनायक में इसे अन्य प्रकार से कहा जा सकता था।

(च) शान्ताभास :

सूद्र द्विजन्हि उपदेसहिं ग्याना।
बैठि बरासन कहहिं पुराना॥ (मानस)

कवि ने शान्तरसाभास जैसा चित्र ही दिया है।

रसाभास की स्थापना में सामयिक सामाजिक मान्यताएँ विशेष उत्तरदायी रहती हैं अतः अनौचित्य का निर्णय कवि-दृष्टि के साथ-साथ सहृदय-दृष्टि से भी होता है। यह भी संभव है कि कभी एक ही रचना में औचित्यानौचित्य का मतभेद रहे, परन्तु शिष्ट समाज के निर्णय पर ही शास्त्रीय निर्णय अपेक्षित रहता है। ध्वनिमत में आवश्यक नहीं है कि रसभंग की स्थिति में रसाभास हो ही—अनेक बार कवि ऐसी परिस्थिति में होता है कि रसाभास का चित्रण ही सन्दर्भानुगत होता है जैसा कि रौद्र, वीर रसाभासों में देखा गया है।

भावाभास-ध्वनि काव्य :

भाव जब अनौचित्य-पूर्ण होकर प्रधान व्यंग्य होता है तो भावाभास-ध्वनि काव्य कहा जाता है। रसाभास की समस्त व्याख्या यहाँ भी लागू है और भावध्वनि का स्वरूप भी :

वे आये ल्याये कहा, यह देखन के काज।
सखिन पढ़ावति ससिमुखी सजत आपनी साज ॥ (पद्माकर)

यहाँ आधार श्रृंगार रसाभास है जो गणिका में प्रतिष्ठित है। उसका औत्सुक्य भाव अनुचित नहीं कहा जा सकता जो धन की लिप्सा के कारण होने से गणिका के लिए स्वाभाविक है, परन्तु प्रधानीभूत व्यंग्य 'अवहित्थ' है जो औत्सुक्य-गोपनरूप है और वह मिथ्यात्मक अनौचित्य के कारण भावाभास है।

बिहँसि बिलोकि बुलाइ उत प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय-चूम्यौ मुँहु चूमि ॥ (बिहारी)

यहाँ पुत्र के प्रति रतिभाव (वात्सल्य) का आभास मात्र है।

यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार,
भिक्षुक मैं ? ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार। (कामायनी)

यहाँ मनु में अपने ही भावी पुत्र के प्रति 'असूया' भावाभास है।

भावोदय-ध्वनि काव्य

जहाँ किसी व्यभिचारी भाव के उदय का ही चमत्कार प्रधानीभूत व्यंग्य हो, वहाँ भावोदय-ध्वनि काव्य होता है। भावकाव्य की अपेक्षा भावोदय-काव्य की यही विशेषता है कि चमत्कार भाव की अपेक्षा उदय में अधिक होता है।

एक झटका-सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे-से कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत,
कुतूहल रह न सका फिर मौन। (कामायनी)

यहाँ 'कुतूहल' शब्द से वाच्य हो जाने के कारण 'औत्सुक्य भावोदय' गौण है अतः ध्वनिकाव्य का यह उदाहरण नहीं हो सकता।

बिछुरैं जिए सँकोच इहिं बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लगे हिएँ किएँ लजौहैं नैन ॥ (बिहारी)

यहाँ आवेग भावोदय प्रधान व्यंग्य है अतः भावोदय ध्वनि काव्य है।

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के।
उघरे पटल परसुधर मति के ॥

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥ (मानस)

यहाँ रतिभावोदय का चमत्कार प्रधानीभूत व्यंग्य है।

भावशान्ति-ध्वनि काव्य

जहाँ अचानक किसी विद्यमान भाव का शमन हो और वही प्रधान चमत्कार-वाला व्यंग्य ठहरे, वहाँ भावशान्तिध्वनि काव्य होता है।

आँखिन तें गिरे आँसु के बुंद
सु हासु गयौ उड़ि हंस की नाईं। (देव)

यहाँ हर्षभाव की शान्ति वर्ण्य है, परन्तु 'हास' शब्द द्वारा वाच्य हो जाने से चमत्कार गौण हो गया है, अतः प्रस्तुत का उदाहरण नहीं है।

खिचैं मान अपराध हूँ चलिगे बढ़ें अचैन।
जुरत डीठि, तजि रिस खिसी, हँसे दुहुन के नैन॥ (बिहारी)

यहाँ 'रिस' शब्द वाच्य होने से 'अमर्ष' भाव की शान्ति गुणीभूत है; फिर आगामी वाक्य के 'हर्ष' भाव का अङ्ग हो गया है अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में उदाहार्य नहीं रहा। हर्षोदय भी प्रधान नहीं है, क्योंकि 'हँसे' शब्द से वाच्य होकर गुणीभूत हो गया है।

दुसह बिरह दारुन दसा, रहै न और उपाइ।
जात-जात ज्यौ राखियतु प्यौ कौ नाउँ सुनाइ॥ (बिहारी)

यहाँ व्याधिभाव से उत्पन्न मरणभाव के शमन में चमत्कार है।

हितु करि तुम पठयौ, लगें वा बिजना की बाइ।
टली बिपति तन की तऊ, चली पसीना न्हाइ॥ (बिहारी)

यहाँ 'व्याधि' के शमन का चमत्कार प्रधान व्यंग्य है।

मोहिं लजावत, निलज ए, हुलसि मिलत सब गात।
भानु उदै कीं ओस लौं मानु न जानत जात॥ (बिहारी)

यहाँ अमर्ष भाव की शान्ति का चमत्कार प्रधान है।

छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं,
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं। (कामायनी)

यहाँ चपलता भाव की शान्ति में चमत्कार है।

भरतहि बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बनगौन। (मानस)

यहाँ राम-वन-गमन का विषाद विभाव है जिससे शोक-शमन की प्रधान व्यञ्जना हुई है।

भाव-सन्धि ध्वनि काव्य

जहाँ दो भावों की सन्धि का चमत्कार ही प्रधान व्यंग्य हो, वहाँ भावसन्धि-ध्वनि काव्य कहा जाता है।

फेरत मनहुँ मातु-कृत खोरी।
चलत भगति-बल धीरज धोरी॥ (मानस)

यहाँ विषाद और धृति का सन्धि-चमत्कार है, परन्तु 'धीरज' शब्द आ जाने से एक भाव वाच्य हो गया है अतः भावसन्धि होने पर भी ध्वनिकाव्य नहीं है।

इन दुखिया अँखियान कौं सुखु सिरज्यौई नाहिं।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाहिं॥ (बिहारी)

यहाँ 'व्रीड़ा' और 'औत्सुक्य' भावों की सन्धि का प्रधान चमत्कार व्यंग्य है।

नख-सिख निरखि राम कै सोभा।
सुमिरि पिता-पनु मनु अति छोभा॥ (मानस)

यहाँ हर्ष-विषाद-सन्धि को लेकर ध्वनिकाव्य है।

सुख-दुख लिपटे सोते थे
मेरे मानस में ऐसे,
चन्द्रिका-अँधेरी मिलतीं
मालती-कुञ्ज में जैसे। (आँसू)

यहाँ वस्तुचित्र ही प्रधान है जो वाच्य होकर आया है अतः हर्ष-विषाद की सन्धि प्रधानीभूत व्यंग्य नहीं है।

मैं नहीं चाहता चिर-सुख
मैं नहीं चाहता चिर-दुख।
सुख-दुख की आँख-मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख॥ (पन्त)

यहाँ भी वस्तुभूत वाच्य सुख-दुःख की सन्धि में ध्वनिकाव्य नहीं है।

कैबा आवत इहिं गली, रहौं चलाइ चलैं न।
दरसन की साधैं रहैं, सूधे रहैं न नैन॥ (बिहारी)

यहाँ औत्सुक्य एवं व्रीडा की सन्धि प्रधान व्यंग्य है।

भाव-शबलता-ध्वनि काव्य

जहाँ परस्पर बाधक भावों का समुदाय प्रधान व्यंग्य के रूप में उपस्थित होकर चित्रमय चमत्कार उत्पन्न करे वहाँ भावशबलताध्वनि काव्य होता है।

भौंहन त्रासति, मुँह नटति, आँखिन सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु, इँची आगैं आवति जाति॥ (बिहारी)

यहाँ क्रमशः अमर्ष, व्रीड़ा, औत्सुक्य, चपलता और हर्ष भावों की शबलता (चित्र-मयता) प्रधान व्यंग्य है ।

सुनि पग-धुनि चितई इतै, न्हाति दियै हीं पीठि ।
चकी, झुकी, सकुची, डरी, हँसी लजौहीं दीठि ।। (बिहारी)

यहाँ देखने से औत्सुक्य, पीठ देने से अवहित्थ, चकने से विस्मय, झुकने से व्रीड़ा सकुचने से भय और हर्ष भावों की शबलता है । यदि डरी, हँसी और लजौहीं पद भावों को वाच्य रूप में न प्रस्तुत करते तभी इसे ध्वनिकाव्य कह सकते थे ।

कभी-कभी सात्त्विक भावों की भी शबलता होती है ।

ध्यान आनि ढिग प्रानपति रहति मुदित दिन राति ।
पलकु कँपति, पुलकति पलकु, पलकु पसीजति जाति ।। (बिहारी)

परन्तु वाच्य रूप में आये हुए इन सात्त्विकों की शबलता से ध्वनिकाव्य नहीं बनता प्रत्युत इनसे व्यक्त होनेवाले चिन्ता, हर्ष, आशङ्का भावों की शबलता ही ध्वनिकाव्य का कारण हो सकता था, यदि ध्यान और मुदित शब्दों से भावों की वाच्यता न होती ।

नीकें निरखि नयन भरि सोभा ।
सुमिरि पिता-पनु मनु अतिछोभा ।।
अहह तात दारुन हठ ठानी ।
समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ।।
सचिव सभय सिख देइ न कोई ।
बुध-समाज बड़ अनुचित होई ।।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा ।
कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ।।
बिधि केहि भाँति धरौं उरधीरा ।
सिरस-सुमन कन बेधिअ हीरा ।।
सकल सभा कै मति भै भोरी ।
अब मोहि संभु-चाप गति तोरी ।।
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी ।
होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ।।
अति परिताप सीय मन माहीं ।
लव निमेष जुग सत सम जाहीं ।। (मानस)

यहाँ औत्सुक्य, विषाद, असूया, मति, वितर्क, अमर्ष, दैन्य और आशङ्का भावों की चित्रमयता (शबलता) प्रधानीभूत व्यंग्य है अतः यह भावशबलता-ध्वनि काव्य का निर्दोष उदाहरण है ।

लक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनिकाव्य :

ऊपर असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनिकाव्य (रसध्वनि) के आठ भेदों और उनके अवान्तर भेदों पर प्रकाश डाला गया । लक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनिकाव्य के व्यञ्जनानिरूपण में तीन मुख्य भेद गिनाये जा चुके हैं :

१. शब्दशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ध्वनि ।

२. अर्थशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ध्वनि ।

३. उभयशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ध्वनि ।

इनमें रसादि आठ को छोड़कर अन्य वस्तु या अलङ्कार रूप व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है (उदाहरण व्यञ्जनानिरूपण में द्रष्टव्य हैं) ।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के दो भेद होते हैं :—

(क) वस्तुरूप और (ख) अलङ्कार रूप ।

इसी प्रकार अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के भी दो भेद हैं :—

(क) वस्तुरूप और (ख) अलङ्कार रूप ।

उभयशक्त्युत्थ का अलङ्काररूप एक ही भेद है । अर्थशक्त्युत्थ के दो भेद व्यञ्जक अर्थ की विविधता से चार-चार भेद लेते हैं :—

(अ) स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य ।

(आ) स्वतःसंभवी वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य ।

(इ) स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य ।

(ई) स्वतःसंभवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य ।

(उ) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य ।

(ऊ) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य ।

(ऋ) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य ।

(लृ) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य ।

सभी के अपेक्षित उदाहरण व्यञ्जना के सन्दर्भ में आ चुके हैं । सारांश यह कि लक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनिकाव्य में कहीं वस्तु-व्यंग्य की और कहीं अलङ्कार-व्यंग्य की प्रधानता रहती है । यहाँ अलङ्कार को भी व्यंग्य रूप होना चाहिए । वाच्य अलङ्कार से तात्पर्य नहीं । इसी प्रकार वाच्य वस्तुवर्णन को ध्वनिकाव्य में नहीं लेंगे, व्यंग्यरूप वस्तु ही अपेक्षित है ।

व्यंग्य-परक ध्वनिकाव्य-भेदों का निष्कर्ष :

व्यंग्य अर्थ की प्रधानता के आधार पर विविध ध्वनिकाव्यों के भेदों की विवेचना से स्पष्ट होता है कि तीन स्थूल वर्गों में उन्हें समझा जा सकता है ।

१. वस्तुध्वनि :—इस वर्ग में लक्षणामूलक व्यंग्य तथा अभिधामूलक वस्तु व्यंग्य जहाँ प्रधानीभूत होते हैं, उन काव्यों का संग्रह हो जाता है । अभिधामूलक व्यंग्य कहीं शब्दशक्ति से, कहीं अर्थशक्ति से आता है ।

२. अलङ्कारध्वनि :—इस वर्ग में अभिधामूलक अलङ्कार-व्यंग्य की प्रधानता-वाले काव्य आते हैं—जिनमें काव्यशक्ति, अर्थशक्ति और उभयशक्तिवाले अलङ्कार-व्यंग्यों का समावेश होता है ।

३. रसध्वनि :—इसमें रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता की प्रधानतावाले काव्यों का समावेश होता है । 'रसध्वनि'

शब्द कभी उक्त आठों का अर्थ देता है और कभी नवरस की ध्वनि के लिए ही चलता है। अतएव प्रथम अर्थ में प्रायः 'रसध्वनि' भी कहा जाता है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में 'रस' शब्द उक्त आठों का बोधक है।

आचार्य अभिनव ने सर्वत्र 'रस' की सत्ता स्वीकार की है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वत्र रसादि-ध्वनि होती है, प्रत्युत अभिप्राय यह है कि जहाँ वस्तु अथवा अलङ्कार प्रधान होते हैं वहाँ भी चरम परिणति रसादि में ही होती है, भले ही वहाँ रसादि की गौणता होती है।

शुद्ध रूप में किसी एक ही ध्वनि-काव्य की सत्ता भी सार्वत्रिक नहीं होती। प्रायः ऐसे काव्य मिलते हैं जिनमें अनेक व्यंग्यों की प्रधानीभूत सत्ता रहती है। ऐसे काव्यों में या तो—

१. ध्वनि-संसृष्टि रहती है या
२. ध्वनिसंकर होता है।

ध्वनि-संसृष्टि में अनेक ध्वनियों का इस प्रकार समावेश रहता है जैसे तिल और चावल एक में मिलकर भी पार्थक्य रखते हैं। उदाहरणार्थ :—

मेरी भौ-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परें स्यामु हरित-दुति होइ॥ (बिहारी)

यहाँ एक ओर कवि में राधाविषयक रति (भक्ति) की व्यञ्जना है तो दूसरी ओर राधा की प्रभुता कृष्ण पर व्यक्त की गई है। दोनों का चमत्कार प्रधान है, दोनों पृथक् प्रतीत होनेवाले व्यंग्य हैं—

(क) अङ्गाङ्गिभाव संकर :—जहाँ एक व्यंग्य दूसरे व्यंग्य का अङ्ग होता है और दूसरा अङ्गी व्यंग्य रहता है।

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज मग, पग-पग होत प्रयागु॥ (बिहारी)

यहाँ राधाकृष्ण का श्रृंगार अंग है, कवि में उनकी भक्ति अंगी है।

(ख) सन्देहसंकर :—जहाँ निर्णय न हो सके कि कौन-सा व्यंग्य प्रधान है।

रो-रोकर सिसक-सिसककर
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी - अनजानी। (आँसू)

यहाँ नायिका का 'गर्व' व्यंग्य है या 'अवहित्थ', इसका निर्णय नहीं हो पाता अतः संदेह संकर-ध्वनि काव्य है।

(ग) एक-व्यञ्जकानुप्रवेश संकर :—जहाँ एक ही व्यञ्जक शब्द या वाक्य में दूसरा व्यञ्जक विद्यमान हो, फलतः एक व्यंग्य में दूसरे व्यंग्य का प्रवेश प्रतीत हो।

सदन-सदन के फिरन की सद न छुटै हरि-राइ।
रुचै तितै बिहरत फिरौ, कत बिहरत उर आइ॥ (बिहारी)

यहाँ पूरे दोहे का व्यंग्य नायक के प्रति नायिका का अमर्ष भाव है और उसी के भीतर 'बिहरत' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है जिससे वस्तु व्यंग्य है—हृदय में ही रहते और उसी को विदीर्ण करते हो, यह नीचता है।

× × ×

यहाँ तक व्यंग्यार्थ के आधार पर ध्वनिकाव्य के भेदों का यथापेक्ष विवरण दिया गया। व्यञ्जक पद, वाक्य आदि के अनुसार उसके विविध भेदों पर भी विचार अपेक्षित है।

व्यञ्जक पद आदि के आधार पर ध्वनिकाव्य के भेद

प्रधान चमत्कारक व्यंग्य अर्थ पदांश, पद, वाक्य, रचना, प्रकरण, प्रबन्ध आदि में देखा जाता है। कभी-कभी कविता का छोटा अंश इसीलिए चमत्कारी हो उठता है और पूरी कविता को प्रकाशित कर देता है। उदाहरणार्थ—

तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती।
सादर जपहु अनङ्ग-अराती॥ (मानस)

इसका प्रत्येक पद व्यञ्जक है—'तुम' अर्थात् त्रैलोक्य-नायक होकर, 'पुनि' अर्थात् औरों की अपेक्षा, 'राम-राम' अर्थात् जिसे मैं मानवमात्र समझती हूँ, उसका नाम केवल, 'दिन-रात' अर्थात् समय-विशेष पर ही नहीं, प्रत्युत निरन्तर, 'सादर' अर्थात् विलक्षण एकाग्रता के साथ, केवल समय काटने के लिए नहीं, 'जपहु' अर्थात् विशेष अनुष्ठान समझते हो, केवल उच्चारणमात्र नहीं करते, 'अनङ्ग-अराती' अर्थात् असाधारण-शक्ति-सम्पन्न महाप्रभु होते हुए। वैसे इस रचना में कोई विशेष अलंकरण की सज्जा नहीं है, पर प्रत्येक पद ध्वनिकाव्य बनकर प्रकाश देता है। भक्ति की व्यञ्जना में सभी पद होड़ करते हुए-से जान पड़ते हैं। यही कारण है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने सहृदयों को सावधान किया है—यत्नपूर्वक कवि के व्यञ्जक शब्द और अर्थ को पहचानना चाहिए।[२७]

ऊपर जिन ध्वनि-भेदों का व्यंग्यार्थ के आधार पर विवेचन हुआ है, उनको व्यञ्जकता के आधार पर भी निम्नलिखित रीति से समझना चाहिए।

अविवक्षित-वाच्य ध्वनि काव्य :

यह ध्वनिकाव्य पदगत और वाक्यगत दो प्रकारों में देखा जाता है। लक्ष्यार्थ के अनुसार पहले ही दो भेद, अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, आ चुके हैं जिन्हें पद और वाक्य के आश्रित रूपों में देखना अपेक्षित है।

१. पदगत अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य :

जौ हौं राम त कुल-सहित कहिहि दसाननु आइ।

में 'राम' पद ही व्यञ्जक है।

२. वाक्यगत अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य :

राममात्र लघुनाम हमारा।
परसु-सहित बड़ नाम तुम्हारा॥ (मानस)

यहाँ 'राम' का लक्ष्यार्थ दो अक्षरों का नाम=छोटा नाम होने से मैं छोटा हूँ, 'परशुराम' का लक्ष्यार्थ पाँच अक्षरों का नाम बड़ा है अतः आप बड़े हैं। जबकि व्यंग्य अर्थ है कि मैं राममात्र होने से रमणीयता-प्रचुर हूँ और आप परशुधर होने से क्रूर-कर्मा हैं। यह ध्वनि पूरे वाक्य में स्थित है।

३. पदगत अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य :

मातहि पितहि उरिन भए नीकें।
गुर-रिन रहा सोच बड़ जीकें॥
सो जनु हमरें माथें काढ़ा। (मानस)

यहाँ 'माथें' पद का वाच्यार्थ 'अंग-विशेष' अत्यन्ततिरस्कृत है, उससे लक्ष्यार्थ आता है—'धन-बल' और व्यञ्जना यह है कि दूसरे की धन-शक्ति का सहारा करके भुगतान की आशा से ऋण लेनेवाले के समान ही परशुराम निन्द्य पुरुष हैं।

४. वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य :

झञ्झा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला। (आँसू)

यहाँ सम्पूर्ण वाक्य लाक्षणिक प्रतीकों से युक्त होकर व्यञ्जक है।

विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनि काव्य :

इसके दो मुख्य भेद—लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—ऊपर आ चुके हैं। इनपर व्यञ्जक-दृष्टि से पृथक्-पृथक् विचार अपेक्षित है।

लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य :

इसके मुख्य तीन भेद ऊपर आये हैं—शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभय-शक्त्युत्थ। इनमें से अन्तिम का प्रयोग केवल वाक्यगत होता है। शब्द-शक्त्युत्थ पदगत और वाक्यगत होता है जबकि अर्थ- शक्त्युत्थ पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध में देखा जाता है। इस पूरे वर्ग को अनुरणनात्मक ध्वनि करते हैं।

१. शब्दशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ध्वनि (पदगत) :

(क) वस्तुरूप :

"कत बिहरत उर आइ।" (बिहारी)

यहाँ 'बिहरत' पद ही वस्तु-व्यङ्ग्य देता है 'जहाँ विहरण किया उसी को विदीर्ण करना नीचता है'।

(ख) अलङ्काररूप :

"है भीड़ लग रही दर्शन की।" (कामायनी)

यहाँ एक ही 'दर्शन' पद रूपक की व्यञ्जना करता है कि जिस प्रकार कौतुक देखने की भीड़ होती है उसी प्रकार विविध दर्शनशास्त्रों ने भीड़ लगा दी है।

२. शब्दशक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ध्वनि (वाक्यगत) :

(क) वस्तुरूप :

इस यान्त्रिक जीवन में थी ऐसी क्या कोई क्षमता । (आँसू)

यहाँ पूरे वाक्य से वस्तु व्यङ्ग्य है—जड़वादी दर्शन जीवन की व्याख्या नहीं कर सकता क्योंकि वह जीवन में व्याप्त क्षमता की अवहेलना करता है ।

(ख) अलङ्काररूप :

जरी विषम जुर ज्याइऐ, आइ सुदरसनु देहु । (बिहारी)

जिस प्रकार विषम ज्वर में सुदर्शन नामक औषध का अचूक प्रभाव होता है, उसी प्रकार नायिका के विषम विरह-ताप में नायक का शोभन दर्शन प्रभावी है । रूपक अलङ्कार की यह व्यञ्जना पूरे वाक्य से होती है ।

३. अर्थशक्त्युत्थ अनुरणन ध्वनि (पदगत) :

(क) वस्तुरूप :

तातल सैकत बारि-बिन्दु-सम सुत बित रमनि-समाजे ।
तोहे बिसरि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कोन काजे ॥ (विद्यापति)

यहाँ 'अब' पद से व्यक्त होता है कि ईश्वराराधन का जब समय निकल गया और शक्तिहीनता की अवस्था आ गयी तब मिथ्या-विराग के अतिरिक्त उपाय शेष नहीं रहा है ।

(ख) अलङ्काररूप :

जाके या वियोग-दुःख हू मैं सुख ऐसौ कछू,
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुःख मानैं हम ॥ (रत्नाकर)

यहाँ 'ऐसो कछू' पदों से वियोगदुःख को ब्रह्मसुख की अपेक्षा में अनिर्वचनीय उत्कर्ष दिया गया है जिससे 'व्यतिरेक' अलङ्कार-ध्वनि है ।

४. अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनध्वनि (वाक्यगत) :

(क) वस्तुरूप :

बस गयी एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र - लोक फैला है
जैसे इस नील - निलय में । (आँसू)

यहाँ स्मृतियों की नक्षत्रों से उपमा द्वारा यह वस्तु-व्यङ्ग्य आता है कि छोटे-बड़े नक्षत्रों के समान स्मृतियों की अनन्तता है और वे कुछ दृश्य, कुछ अधिक स्पष्ट, कुछ अदृश्य पर विद्यमान और कुछ दृश्यादृश्य झिलमिल-सी हैं । स्मृतियों की अनिर्वाच्य विविधता ही अलङ्कार द्वारा वस्तु-व्यङ्ग्य के रूप में प्रधान चमत्कार का कारण है । स्मृति वाच्य है अतएव भावध्वनि नहीं है ।

(ख) अलङ्कार रूप :

पलनि प्रगटि बरुनीन बढ़ि, नहिं कपोल ठहराइँ ।
अँसुवा छ्वै छतियाँ छिनकु, छनछनाइ छपि जाइँ ॥ (बिहारी)

यहाँ पूरे वाक्य के अर्थ से व्यक्त होता है कि समस्त घटना इस प्रकार है जैसे, भट्ठी पर देगची चढ़ी हो, उसके ढक्कन के पास वाष्प-बिन्दु प्रकट होते, कोर पर दृश्य होते, पेंदी पर से लुढ़क जाते और फिर थोड़ा नीचे जाते ही विलीन होते हैं। यही उपमा अलङ्कार प्रधान व्यङ्‍्य है जो अर्थशक्ति से आता है ।

५. उभयशक्त्युत्थ अनुरणन ध्वनि (केवल वाक्यगत) :

यह केवल अलङ्कार-रूप ध्वनिकाव्य है। उदाहरण व्यञ्जना के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

६. अर्थशक्त्युत्थ अनुरणन ध्वनि (प्रबन्धगत) :

कामायनी काव्य को उदाहरण में लें तो ज्ञान, इच्छा और क्रिया की समरसता पूरे प्रबन्ध से व्यक्त होती है जो वस्तु-रूप है। पूरे प्रबन्ध से रूपक अलङ्कार की भी व्यञ्जना होती है—पद्मावत इसका उत्तम उदाहरण है ।

७. अर्थशक्त्युत्थ अनुरणन ध्वनि (प्रकरणगत) :

इसे भी प्रबन्धगत वर्ग में ले सकते हैं। भागवत का पुरञ्जनोपाख्यान एक प्रकरण (प्रबन्धभाग) है जिससे रूपक अलंकार व्यक्त होता है ।

असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य :

असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य अथवा रसादिरूप ध्वनिकाव्य को व्यञ्जक शब्दतत्त्व के आधार पर निम्नलिखित भेदों में देखा जा सकता है ।

१. पदांशगत रसादिध्वनि—जहाँ पूरे पद से व्यञ्जना न होकर उसके किसी अंश (के अर्थ) से होती है, वहाँ पदांशगत ध्वनि मान्य है । उदाहरणार्थ :

रंग भूमि जब सिय पगु धारी ।
देखि रूपु मोहे नर-नारी ॥ (मानस)

यहाँ 'पगु' का एकवचन एक डग रखते ही असीम औत्सुक्य भाव की व्यञ्जना होती है ।

लता निहारि नवहिं तरु साखा । (मानस)

यहाँ 'लता' का स्त्रीलिङ्ग और 'तरु' का पुंलिङ्ग, रतिभाव का व्यञ्जक है ।

मेरियौ सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी । (विनयपत्रिका)

यहाँ 'द्याइबी' की कर्म-वाच्यता व्यञ्जक है—कवि (आदेशात्मक) प्रार्थना को कर्तृवाच्य करने में जगज्जननी का असम्मान समझता है अतः 'सुधि' पर उसका भार डाला है ।

नाथ रामु करिअहिं जुबराजू ।
कहिअ कृपा करि करिअ समाजू ॥

यहाँ 'करिअहिं', 'कहिअ', 'करिअ' की कर्मवाच्यता इसी प्रकार विनय, भक्ति (सम्मान) भावों की व्यञ्जक है। 'करिअहिं' का बहुवचन अतिरिक्त सम्मान का व्यञ्जक है।

रामहि बन्धु सोच दिनराती।
अंडन्हि कमठ-हृदउ जेहिं भाँती ॥ (मानस)

यहाँ 'हृदउ' की प्रथमा विभक्ति स्नेह (रति) की व्यञ्जक है—'कमठ का हृदय अण्डों में रहता है' कहने से भाव-तीव्रता का बोध होता है जिससे राम का भरत के प्रति भावातिशय व्यक्त हुआ है।

सुनि सुर-बचन ठाढ़ि पछिताती।
भइउँ सरोज-बिपिन हिमराती ॥

यहाँ 'भइउँ' का भूतकाल व्यञ्जक है—कैकेयी का चित्त बदलने के पूर्व ही अनर्थ क्रिया के कर चुकने के द्वारा विषाद का अतिशय व्यक्त होता है।

अहो मुनीस महाभटमानी। (मानस)

'भटमानी' शब्द में 'मन्' धातु से जुड़ा हुआ 'इन्' प्रत्यय 'अपने आपको मानने' का अर्थ देता है,[२८] जिससे परशुराम की आत्मश्लाघा के प्रति लक्ष्मण का हास्य व्यक्त होता है।

इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं।
जो तर्जनी देखि मरि जाहीं ॥ (मानस)

'तर्जनी' शब्द का धातुभाग (तर्ज) परशुराम के अमर्ष को और उसके प्रति लक्ष्मण के हास्य की व्यञ्जना करता है।

बहु धनुहीं तोरेउँ लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं ॥ (मानस)

'धनुहीं' का स्त्रीत्व ह्रस्वता का परिचायक है जिससे शिव के धनुष के प्रति हास्य व्यक्त होता है।

इस प्रकार प्रकृतिभाग (धातु) अथवा प्रत्ययभाग से जहाँ प्रधान चमत्कार-शाली अर्थ की व्यञ्जना होती है वहाँ पदांशगत ध्वनि मान्य है।

२. पदगत रसादि ध्वनि :

भृगुपति समुझि जनेउ बिलोकी।
जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी ॥ (मानस)

यहाँ 'जनेउ' पद से हास्य की व्यञ्जना होती है।

जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मन तव आनन चन्द चकोरू ॥ (मानस)

यहाँ 'बरोरू' पद संभोग श्रृङ्गार की व्यञ्जना करता है।

नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। (मानस)

'बियानी' शब्द जुगुप्सा-व्यञ्जक है।

३. वाक्यगत रसादिध्वनि :—इस वर्ग के उदाहरण रसध्वनि के सन्दर्भ में आ चुके हैं।

४. प्रकरणगत रसादिध्वनि :—कभी-कभी समूचे प्रबन्ध का कोई बड़ा अंश (सर्ग, अध्याय आदि) किसी रस या भाव का व्यञ्जक होता है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान का वीररस प्रधान व्यंग्य है, अयोध्याकाण्ड में भरत की भक्ति-भावना प्रधान है।

५. प्रबन्धगत रसादिध्वनि :—समूचा प्रबन्ध किसी-न-किसी अङ्गी रस को प्रधान रूप में व्यक्त करता है। रामायण में करुण रस की, महाभारत में शान्त की प्रधान व्यञ्जना मानी गयी है। पद्मावत इस दृष्टि से करुण रस का काव्य है, रामचरितमानस का प्रबन्धगत व्यंग्य भक्तिरस है और कामायनी का शान्तरस। इस अङ्गी रस की सापेक्षता में मध्यवर्ती रस सञ्चारी रस हो जाते हैं, जो उसी के पोषक ठहरते हैं।

६. वर्णगत रसादिध्वनि :—यद्यपि वर्ण निरर्थक होते हैं, फिर भी सुकुमार वर्ण-योजना से कोमल भावनाओं और कठोर वर्णों से परुष भावनाओं की व्यञ्जना होती है। टवर्गादि, संयुक्त वर्ण, श-ष-र जैसे वर्ण शृङ्गार में त्याज्य हैं जब कि वे ही बीभत्सादि में ग्राह्य हैं।[२९]

७. संघटनागत रसादिध्वनि :—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियाँ माधुर्यादि गुणों की व्यञ्जक होती हैं और गुण रसाश्रित होते हैं। इस प्रकार रचनाशैली का सम्बन्ध रस-व्यञ्जना से होता है।

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अञ्जन-सी लगती,
कुञ्चित अलकों-सी घुँघराली
मन की मरोर बनकर जगती ॥ (कामायनी)

यहाँ संघटना ही शृङ्गारिक भावना की अभिव्यक्ति का कारण है।

प्रबन्धगत अलङ्कारध्वनि और रूपक तत्त्व :

आजकल 'रूपकतत्त्व' शब्द से काव्यसमीक्षा में अंग्रेजी के ऐलिगरी (Allegory) का अर्थ लिया जाता है। इस शब्द की निष्पत्ति ग्रीक के 'ऐलिगोरिआ' से है। 'ऐलिगोरिआ' दो शब्दों से बना है—'ऐलस' (Allos) जिसका अर्थ 'अन्य' है और 'अगोरा' (Agora) जिसका अर्थ 'कथन' (Oration) है। इस प्रकार ऐलिगरी से अभिप्राय उस "अलंकृत वार्ता से है जिसमें मुख्य विषय, अन्य (अप्रस्तुत) विषय से, जो गुणों और परिस्थितियों में समान हो, प्रतिपादित होता है, दूसरे शब्दों में भावात्मक तथ्यों का मानवीकरण जैसी अभिव्यक्ति ऐलिगरी है जिसे रचना में व्याप्त रूपक कह सकते हैं।"[३०] ध्वनिमत के अनुसार ऐसे काव्य को 'रूपक अलङ्कारध्वनि' कहेंगे जो प्रबन्ध-व्याप्त अलंकार-रूप व्यंग्य के आधार पर बनता है। यह अलङ्कारध्वनि लक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में अर्थ-शक्त्युत्थ अनुरणनात्मक ध्वनि का भेद है।

इस रूपक तत्त्व को सर्वथा विदेशी आयात कहा जाता है। "नाटचशास्त्र के दस नाटचों को 'रूपक' कहते हैं और 'रूपक' एक अलङ्कार भी होता है, इतनी ही प्राचीन व्याख्या भारतीय साहित्यशास्त्र में सुलभ है, परन्तु प्रबन्धकाव्यों का रूपकतत्त्व एक नयी वस्तु है, जो पश्चिम की 'ऐलिगरी' का अनुवाद है।"[३१] यह एक विचित्र संयोग है कि पश्चिम में भी प्रबन्धव्याप्त रूपक की व्यञ्जना के लिए 'ऐलिगरी' शब्द विद्यमान है और यह भी विचित्र है कि अंग्रेजी शब्दकोशों के आधार पर उसका अर्थकृत अनुवाद 'रूपक' से कर लिया गया, परन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र के लिए यह तत्त्व नया नहीं रहा है—वस्तुतः उक्त तीनों रूपकों में तात्त्विक अन्तर नहीं है।

रूपक अलङ्कार में दो सदृश वस्तुओं में अभेदारोप होता है और उस अभेदारोप में उपमेय-दल के विलीनीकरण से रूपकातिशयोक्ति घटित होती है। नाटच को रूपक इसीलिए कहा जाता है कि अभिनेता अभिनेय पात्र के रूप का अपने पर आरोप करके अभेद ग्रहण करता है जिससे अभिनय में रूपकातिशयोक्ति घटित होती है। ध्यान रहे कि रूपकातिशयोक्ति में भी रूपक की व्यञ्जना होती है पर वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होने से उसे गुणीभूत-व्यंग्य कहा जाता है, परन्तु यही रूपक अलङ्कार यदि प्रधानीभूत व्यंग्य हो तो 'रूपकालङ्कारध्वनि काव्य' होगा।

ऊपर देखा जा चुका है कि वस्तु, अलङ्कार और रस ध्वनियाँ पद से लेकर प्रबन्ध तक व्याप्त मिलती हैं। इसी प्रबन्धव्याप्त रूपक-व्यञ्जना को 'ऐलिगरी' नाम दिया गया है, जैसा ऊपर स्पष्ट है। पश्चिमीय आलोचना-पद्धति की यह कमी है कि रूपक-व्यञ्जना को पद से प्रबन्ध तक एक साथ समग्रता में विचारणीय नहीं बनाया गया। आचार्य आनन्दवर्धन ने अनुरणनात्मक ध्वनि को प्रबन्ध-व्यापी बताते हुए वस्तुध्वनि के उदाहरणों में मधुमथन-विजय, विषम-बाणलीला और गृध्रगोमायु-संवाद की गणना की है। अन्तिम को काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में महाभारत से उद्‌धृत किया गया है।[३२] परन्तु अलङ्कारध्वनि (जो अनुरणन ध्वनि का ही भेद है) प्रबन्ध में उदाहृत नहीं किया है।[३२]

प्रबन्धव्यापी अलङ्कार ध्वनि की भारतीय परम्परा बड़ी विशाल है। दुर्गासप्तशती ऐसा ही काव्य है। श्रीमद्‌भागवत का पुरञ्जनोपाख्यान प्रबन्ध-रूपक ध्वनि का उत्तम उदाहरण है जिसके अन्त में रूपक तत्त्व को उसी प्रकार स्पष्ट किया गया है जैसा पद्‌मावत में है। संस्कृत का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक इसी आधार पर स्थित है।[३३]

हिन्दी में पद्‌मावत रूपकध्वनि का उत्तम उदाहरण है और कामायनी में मनु को मनस् और श्रद्धा तथा इडा को हृदयपक्ष एवं बुद्धिपक्ष के रूपक में लिया गया है जैसा कवि ने आमुख में स्पष्ट किया है। कामायनी में इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समरसता की व्यञ्जना को लेकर वस्तुध्वनि है, प्रतीकों के आधार पर अलङ्कारध्वनि है और शान्त-रस की व्याप्ति को लेकर रसध्वनि है। तीनों प्रकार की ध्वनियों की संसृष्टि का उदाहरण मानकर ही कामायनी को शास्त्रीय दृष्टि से समझा जाना चाहिए।

उपसंहार :

ध्वनि-सिद्धान्त शुद्ध काव्य-दर्शन को स्वरूप देता है । उसकी स्थापनाएँ शब्दशक्ति पर प्रतिष्ठित हैं और व्यञ्जना-शक्ति की स्थापना उसका गौरवपूर्ण अध्याय है । ध्वनिमत से पूर्व काव्य-चिन्तन में काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या बाह्य तत्त्वों—अलङ्कार, रीति, गुण, दोषाभाव के आधार पर हुई, परन्तु शब्दार्थ-मय काव्य की शब्दशक्ति और अर्थशक्ति जैसे आन्तरिक तत्त्व की छान-बीन करके सौन्दर्यानुभूति का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया गया था । आचार्य भट्टनायक ने काव्य की अलौकिक शक्तियों की परिकल्पना भावकत्व और भोजकत्व नाम से की थी परन्तु काव्येतर भाषा-परिवेश में भी व्याप्त शब्दशक्ति पर प्रकाश नहीं डाला गया था । ध्वनिकार ने सर्वप्रथम सर्वांगपूर्ण काव्य-विवेचन व्यञ्जनाशक्ति के आधार पर किया । काव्य का वर्ग-विभाजन करते हुए उन्होंने व्यंग्य-व्यञ्जक आधारों की महत्त्वपूर्ण व्याख्या ही नहीं की, उन्हें सार्थक नाम भी दिये जिन्हें सामने रखकर ही ध्वनि-मत का खण्डन करनेवाले महिमभट्ट, कुन्तक और धनिक जैसे आचार्य अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सके ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं शास्त्ररचना करके भी इस बात को मान्य किया कि केवल शास्त्र-मर्यादाओं का पालन करने की महत्त्वाकांक्षा से काव्य निर्जीव हो जाता है अतः वर्ण्य भावतत्त्व की प्रकृति जानकर ही अलंकार, व्यंग्य आदि का विनियोग कवि को गौरव देता है ।[३४]

प्रबन्धगत रस के विषय में ध्वनिकार का स्पष्ट मत इस प्रकार है :

१. प्रबन्ध-काव्य में रसों की विविधता रहती है, परन्तु एक रस अङ्गी होना चाहिए ।
२. अङ्गी रस ही स्थायी रस होता है अतः अन्य (सञ्चारी) रस उसकी मुख्यता में बाधक नहीं होते परन्तु काव्य की अर्थयोजना ऐसी होनी चाहिए कि विरोधी रस का विरोध-परिहार हो जाय ।
३. जो रस स्थायी रस का विरोधी हो उसका आश्रय बदल देना चाहिए—विरोधी रस को नायक में न लाया जाय ।
४. यदि एक ही आश्रय में विरोधी रस का समावेश अनिवार्य हो तो दोनों विरोधियों के बीच तीसरा रस लाकर व्यवधान कर लिया जाय ।
५. जो बात सामान्य अनुभव में नहीं आती उसे लोकोत्तर महानुभाव के चरित्र में भी न दिखाना चाहिए ।
६. शब्द और अर्थ की उचित योजना कवि का मुख्य कर्म है । इस प्रकार ध्वनि-कार औचित्य को काव्य में सर्वोपरि महत्त्व देते हैं ।[३५]

हम देखते हैं कि जो व्यञ्जना का अस्तित्व मानने को तैयार नहीं वे उसे वक्रोक्ति या अनुमिति या तात्पर्य में अन्तर्भूत मानते हैं । ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के अनन्तर सभी को किसी-न-किसी प्रकार वे ही वर्ग रखने पड़े हैं जो ध्वनिमत में स्थापित हुए थे

और जिनके आधार पर काव्यार्थ के गौरव को हृदयंगम किया जाय तभी वास्तव काव्य-बोध हो पाता है। अलङ्कार भी तब तक महत्त्व नहीं पाते जब तक कोई व्यङ्ग्य अर्थ उनके द्वारा न आता हो। जिस प्रकार अङ्गनाओं का लावण्य लज्जा से चमत्कार लेता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की आभा काव्यालङ्कार को चमका देती है।[३६]

जहाँ वाच्य-चमत्कार (अलंकार) मुख्य होते हैं वहाँ गौण रूप से व्यङ्ग्य का चमत्कार शोभा बढ़ाता है। ऐसे काव्यों में यदि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता नहीं है तो गुणीभूत-व्यङ्ग्य अलङ्कार का काम करेगा। आगामी अध्याय में इसी पर विचार किया जायगा।

गुणीभूत-व्यङ्ग्य

ध्वनि-काव्य के विवेचन में देखा गया कि वैसे काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का ही चमत्कार प्रधान रहता है। दूसरी स्थिति हो सकती है कि व्यङ्ग्य गुणीभूत है—अर्थात् उसका चमत्कार अन्य अर्थ की अपेक्षा में गौण हो जाय। उस दशा में व्यङ्ग्य की गौणता काव्य में विविध प्रकार से हो सकती है :

(क) पूरे काव्य में कोई व्यङ्ग्य प्रधान चमत्कारी न हो पर गौण चमत्कार (व्यङ्ग्य-सम्बन्धी) विद्यमान हो तो वह काव्य गुणीभूत-व्यङ्ग्य कहा जायगा।

(ख) व्यङ्ग्य का चमत्कार दूसरे प्रधान व्यङ्ग्य की अपेक्षा गौण हो तो काव्य ध्वनि ही रहता है, गौण होनेवाला व्यङ्ग्य प्रधान व्यङ्ग्य का पोषक होने से अलङ्कार का कार्य करेगा।

(ग) किसी वाच्य अलङ्कार में गौण रूप से व्यङ्ग्य रह सकता है जो प्रायः अतिशयोक्ति-रूप या सादृश्यरूप रहता है।

(घ) प्रत्येक गुणीभूत होनेवाला व्यंग्य अर्थ जो दूसरे अर्थ का पोषक होता है, अलङ्कार-रूप में मान्य है अतः अलङ्कारों के प्रचलित वाच्य रूपों के अतिरिक्त अलङ्कार-विधा का नया द्वार खुल जाता है। इन अलङ्कारों की संख्या नहीं की जा सकती।

उदाहरणों में उक्त तथ्यों को इस प्रकार समझ सकते हैं :

(क) कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को गवँई गाहकु कौन ॥ (बिहारी)

यहाँ गुणग्राही के बिना गुण-प्रदर्शन की व्यर्थता व्यंग्य है जो वाच्य चमत्कार की अपेक्षा गौण है अतः पूरा काव्य गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम) काव्य है। इसको अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार कहा भी जाता है।

(ख) बिजली-माला पहने फिर
मुसक्याता-सा आँगन में,
हाँ, कौन बरस जाता था
रस बूँद हमारे मन में। (आँसू)

यहाँ प्रिया को मेघमाला के रूपक में लिया गया है और वह व्यंग्य होकर भी शृङ्गार रस की अपेक्षा गौण है परन्तु शृङ्गार का चमत्कार भी व्यंग्य ही है अतः उसकी प्रधानता अक्षुण्ण रहने से ध्वनि काव्य ही है। गौण व्यंग्य उसका अलङ्कार बन गया है।

(ग) धीरे-धीरे हिम आच्छादन
हटने लगा धरातल से,
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से। (कामायनी)

प्रकृति पर मानवीय व्यापारों का आरोप किया गया है। प्रकृति और मानवी में भेद रहते भी अभेद वर्णित है अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यंग्य है पर रूपक अलङ्कार के प्रति गौण हो गया है। प्रायः सब अलङ्कारों में इस प्रकार का गुणीभूत व्यंग्य विद्यमान रहता है अतएव भामह ने अतिशयोक्ति को अलंकार का प्राण माना है।

(घ) उदाहरण 'ख' में देखा गया है कि गौण व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का अलंकार बन गया है परन्तु प्रचलित अलंकारों की नामावली से बाहर है।

इन सभी दृष्टियों से देखा जाय तो व्यंग्य की परिस्थितिगत गौणता कवि-कौशल का ही निदर्शन प्रतीत होगी। सर्वत्र ध्वनिरूप में ही (प्रधान बनाकर) व्यंग्य को लाना न संभव है न काव्योपयोगी, क्योंकि वर्ण्य विषय की परिस्थितियों में व्यंग्य अपना स्थान एवं महत्त्व पाता है।

गुणीभूत-व्यंग्य काव्य :

व्यंग्य अर्थ का चमत्कार तभी प्रधान होता और ध्वनि-काव्य का घटक बनता है जब वह सहृदय-संवेद्य हो—यदि अत्यन्त स्पष्ट हो तो सर्वजन-वेद्य हो जाता है और अत्यन्त अस्पष्ट हो तो सहृदय-बोध्य भी नहीं रह पाता, इन स्थितियों में उसे गुणीभूत माना जाता है। एक स्थिति ऐसी हो सकती है कि व्यंग्य की प्रधानता सन्दिग्ध हो उठे अथवा वाच्य और व्यंग्य का चमत्कार तुल्य हो जाय; इन अवस्थाओं में भी उसे गुणीभूत कहा जाता है। वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का चमत्कार अल्प (असुन्दर) हो अथवा काकु से व्यंग्यार्थ आता हो तो भी व्यंग्य गुणीभूत होता है। किसी अन्य अर्थ की प्रधानता हो जाय और व्यंग्य अर्थ उसका अंग (उपकारक) बन जाय अथवा वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग होकर रह जाय, ये स्थितियाँ भी व्यंग्य के गुणीभाव की हैं। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य काव्य के आठ प्रकार हैं।[1]

व्यंग्य के विविध प्रकार द्वितीय और चतुर्थ अध्यायों में स्पष्ट किये जा चुके हैं। वे सभी उक्त आठ प्रकार से गौण रूप ले सकते हैं। यहाँ सबके उदाहरण अपेक्षित नहीं हैं, केवल कुछ उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण अपेक्षित है :

१. अगूढ़ व्यंग्य काव्य :

व्यंग्य अर्थ के गूढ़ रहने में ही चमत्कार होता है, अगूढ़ होने पर उसकी गरिमा गौण हो जाती है क्योंकि वह वाच्य अर्थ के समान हो जाता है। व्यंग्य की झिलमिल आभा ही आमोदकर होती है।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
मैं शालीनता सिखाती हूँ,

मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ। (कामायनी)

यहाँ 'सिखाने' का लाक्षणिक अर्थ शालीनता का कारण होता है जिससे व्यंग्य आता है कि लज्जा का शालीनता में महत्त्वपूर्ण स्थान है जो सर्व-वेद्य हो गया है अतः गुणीभूत है। यह अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य के गुणीभूत होने का उदाहरण है।

अम्बर-चुम्बी हिम-शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये,
विद्युत् की प्राणयी धारा
बहती जिसमें अनुराग लिये। (कामायनी)

'अम्बर-चुम्बी' पद में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य व्यंग्य है क्योंकि वाच्य अर्थ लेने पर तात्पर्य की संगति नहीं, अतः लक्षणा से 'ऊँचाई' अर्थ आता है और फिर उत्तुंगता का 'अतिशय' व्यंग्य है परन्तु 'अगूढ़' हो जाने से गुणीभूत हो रहा है।

देव न थे हम, और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले,
हाँ कि गर्वरथ में तुरंग-सा
जितना जो चाहे जुत ले। (कामायनी)

यहाँ 'हाँ कि' से अवज्ञा और उपमा से परतन्त्रता की वस्तुरूप में अर्थ-शक्तिज व्यञ्जना होती है पर वह अगूढ़ होने से गुणीभूत है।

२. अपराङ्ग-व्यंग्य काव्य :

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निःश्वास-मलय के झोंके,
मुखचन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके। (आँसू)

यहाँ मुख्य वर्णन संभोग शृंगार का है जो विप्रलम्भ शृंगार के प्रति गौण हो गया है अतः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के गुणीभूतत्व का उदाहरण है।

सुरा-सुरभिमय अधर अरुण वे,
नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल थे जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग। (कामायनी)

यहाँ शृङ्गार करुण का अंग होने से गुणीभूत व्यंग्य है।

नासा मोरि नचाइ दृग करी कका की सौंह।
काँटें लौं कसकैं ति हिय गड़ी कँटीली भौंह॥ (बिहारी)

यहाँ शृङ्गार रसाभास (या शृङ्गार) स्मृति भाव का अंग है। परन्तु इसे

गुणीभूत-व्यंग्य काव्य न कहेंगे क्योंकि स्मृति उसी रस का सञ्चारी भाव है अतः भाव-काव्य (ध्वनि) हो जाता है। जबकि

छहरै सिर पै छबि मोर-पखा, उनकी नथ के मुकुता थहरैं।
फहरै पियरौ पट, बेनी, उतै उनकी चुनरी के झबा झहरैं॥
रस-रंग भिरैं अभिरैं हैं तमाल, दुऔ रस-ख्याल चहैं लहरैं।
इमि ऐसे सनेह सौं राधिका-स्याम हमारे हिए मैं सदा ठहरैं॥

इसमें शृङ्गार रस निश्चय ही कविगत राधाश्याम-विषयक रतिभाव (भक्ति) का अंग होकर गुणीभूत-व्यंग्य काव्य का घटक है।

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मन्दिर मैं बिहरैं॥

यहाँ माताओं का वात्सल्य रतिभाव कवि के रतिभाव (भक्ति) का अंग होकर गौण हो गया है अतः गुणीभूत-व्यंग्य काव्य है।

आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर,
प्रकृति-संग संघर्ष निरन्तर अब कैसा डर?
बाधा नियमों की न पास में अब आने दो,
इस हताश जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो,
राष्ट्र-स्वामिनी! यह लो सब-कुछ वैभव अपना,
केवल तुमको सब उपाय से कह लूँ अपना।
यह सारस्वत देश या कि फिर ध्वंस हुआ-सा,
समझो, तुम हो अग्नि और यह सभी धुँआ-सा। (कामायनी)

यहाँ शृङ्गाररसाभास रौद्ररसाभास का अङ्ग होने से गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य है।

गुनन तैं इनहूँ कौं बाँधि लाइयतु, अरु गुनन तें उनहूँ कौं बाँधि लाइयतु है।
पाइ गहि इनहूँ कौं रोज ध्याइयतु, अरु पाइ गहि उनहूँ कौं रोज ध्याइयतु है॥
भूषन भनत सिवराज महराज रसरास तो हियें मैं एकै भाँति पाइयतु है।
दोहाई कहे तैं कबि लोग ज्याइयतु अरु दोहाई कहे तैं अरि लोग ज्याइयतु है॥
(शिवराज-भूषण)

यहाँ अन्तिम चरण में शत्रु का दोहाई बोलना दैन्य भावाभास है जो कविगत शिवराजविषयक रतिभाव का अङ्ग है।

काल कराल नृपालन्ह के धनुभंगु सुनें फरसा लिएँ धाए।
लक्खनु रामु बिलोकि सप्रेम महारिस तें फिरि आँखि दिखाए॥
धीर-सिरोमनि बीर बड़े बिनयी बिजयी रघुनाथु सुहाए।
लायक हे भृगुनायकु, से धनुसायक सौंपि सुभायँ सिधाए॥
(कबितावली)

यहाँ परशुराम के अमर्ष की शान्ति रामालम्बन रति का अङ्ग है।

ए री मेरी ग्राली ए निराली करता की गति
'द्विजदेव' कछु नहिं परति पिछानी री।
जौलौं उठि आपुने पथिक पिय हेरौं, तौलौं—
हाय! इन आँखिन तैं नींदई हिरानी री॥

यहाँ दैवगति पर विस्मय को गौण रूप में ही कवि लाना चाहता था, परन्तु वही प्रधान हो गया है और विबोधभावोदय उसके प्रति गुणीभूत होकर रह गया है जबकि उसे ही प्रधान होना चाहिए था।

दाहिन नयन पिसुन गन बारल, परिजन बाम के आध।
आँध नयन कोने हम हरि पेखल, तत भेल अत अपराध॥ (विद्यापति)

यहाँ अवहित्थ और औत्सुक्य भावों की सन्धि है जो विषादभाव के प्रति गुणीभूत है।

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानी हैं, जानकीं जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं सुमझाइ, कछू मुसुकाइ चली॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, अवलोकन लोचन-लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनौं मञ्जुल कञ्ज कली॥
(कबितावली)

यहाँ पूर्वार्ध में मति, व्रीडा, अवहित्थ, हर्ष भावों की शबलता व्यंग्य है। उत्तरार्ध में ग्रामवधुओं का सीता राम के प्रति रति भाव व्यंग्य है और वही प्रधान वर्ण्य है अतः भाव-शबलता गुणीभूत है जिससे गुणीभूत-व्यंग्य काव्य है।

× × ×

ऊपर अपराङ्ग-व्यंग्य वर्ग के गुणीभूत-व्यंग्य काव्य के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें अधिक चमत्कारी व्यंग्यार्थ अल्प चमत्कारी के प्रति अङ्गभूत (पोषक) होने से गौण ठहरता है। जिस क्षण रसिक उस अङ्गभूत व्यंग्य का आस्वाद करता है, निश्चय उसमें लीन हो जाता है परन्तु पूर्वापर-तात्पर्य का विश्लेषण करते ही उसे गौणता का आभास होता है जिससे चमत्कार में किंचित् विक्षेप आ जाता है अतएव ध्वनिकारादि के मत से यह मध्यम-काव्य ठहरता है।

यह भी देखा गया कि आठ रसादि-व्यंग्य भी गुणीभूत होते हैं और अङ्गी व्यंग्य के प्रति अलङ्कार बन जाते हैं। भामह आदि आचार्यों ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित चार अलङ्कार इस सन्दर्भ में गिनाये हैं जो क्रमशः रस, भाव, उभयाभास और भावशान्ति के गुणीभूत होने से अलङ्कार कहे जा सकते हैं। पूर्वाचार्यों ने भावोदय, भाव-सन्धि और भावशबलता की अलङ्कारता का निरूपण नहीं किया है, ध्वनिमत में उनको भी गुणीभूत दशा का विवरण दिया गया है।

ध्वनिपूर्व आचार्यों का मन्तव्य रसादि को ही अलङ्कार मानना था क्योंकि वे काव्यवर्ती समस्त चमत्कारों को अलङ्कार नाम से ही विवेच्य ठहराते थे। ध्वनिमत में अलङ्कार से भिन्न अलङ्कार्य की सत्ता काव्यात्मा के रूप से प्रतिष्ठित की गयी अतः रसादि को तभी अलङ्कार माना गया जब उनके द्वारा किसी अन्य काव्यवस्तु को अलंकृत न किया जा रहा हो फलतः रसादि की स्थिति उस दशा में गौण ठहरती हो। यह मतभेद ध्वनिमत की प्रतिष्ठा के साथ समाप्त-प्राय हो गया अतः ध्वनि-विरोधी कुन्तक ने भी 'रसवत्' आदि अलङ्कारों की मान्यता का खण्डन किया—वे भामह के साथ एकमत न रह सके।

× × ×

३. वाच्य-सिद्ध्यङ्ग-व्यंग्य :

कवि जब व्यंग्य-चमत्कार पर बल देकर निर्वाह करना चाहता है, परन्तु उसे अन्ततः वाच्यार्थ की सिद्धि का अङ्ग बना देता है, तब सम्पूर्ण व्यंग्य-वैभव गुणीभूत हो जाता है।

रस के प्रयोगन के सुखद सुजोगन के
जेते उपचार चारु मञ्जु सुखदाई हैं।
तिन के चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्शन हू, यों सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिन के
भाय क्यों अनारिन के भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ बिषमज्वर बियोग की चढ़ाई
यह पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥ (उद्धवशतक)

यहाँ सम्पूर्ण छन्द विषमज्वर के उपचार से वियोगोपचार की व्यञ्जना करता है जो 'विषमज्वर-वियोग' को वाच्य रूपक में न लाने पर अधिक चमत्कारी रहता। वाच्य रूपक की सिद्धि में पूरे छन्द का व्यंग्य अङ्गभूत होकर रह गया है जिससे कवि के महान् प्रयास में शिथिलता अनुभव होती है—"ह्याँ तौ विषमज्वर की चापत चढ़ाई" जैसा कुछ कर देने पर व्यंग्य-चमत्कार पूर्ण रह सकता है।

कहा मनु ने—"नभ-धरणी बीच
बना जीवन - रहस्य निरुपाय,
एक उल्का-सा जलता भ्रान्त
शून्य में फिरता हूँ असहाय।" (कामायनी)

स्पष्ट है, सम्पूर्ण विषाद भाव की व्यञ्जना 'कहा मनु ने' इस प्रधान उपवाक्य के वाच्यार्थ की सिद्धि का अङ्ग बन गयी है—अर्थात् जो व्यंग्य है, उसे 'कहा' कहकर गुणीभूत कर दिया गया है। ऐसे मार्मिक स्थलों में 'उवाच' अंश को अलग पद्यबद्ध करना चाहिए, अन्यथा काव्य मध्यम कोटि का हो जाता है।

× × ×

४. अस्फुट-व्यंग्य :

व्यंग्य अर्थ यदि सहृदय-समाज के लिए भी अस्पष्ट ही रहे तो वह भी गुणीभूत ही कहा जायगा।

आज क्यों सन्देह होता रूठने का व्यर्थ,
क्यों मनाना चाहता-सा बन रहा असमर्थ।
धमनियों में वेदना-सा रक्त का संचार,
हृदय में हैं काँपती धड़कन, लिये लघु भार। (कामायनी)

रूठने का कारण मनु का प्रेम-प्रस्ताव हो सकता है और उसे उत्तरार्ध में कहा भी गया लगता है, परन्तु स्पष्ट नहीं कि वे श्रद्धा से क्या चाहते हैं—"वह स्वयं ही बिना प्रस्ताव किये ही स्वीकृति दे" यही जान पड़ता है।

× × ×

५. सन्दिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य :

यदि वाच्य और व्यंग्य में से किसी की प्रधानता का निश्चय ही न हो सके, तो भी गुणीभूत-व्यंग्य काव्य होता है क्योंकि ऐसे अवसरों में व्यंग्यार्थ की चमत्कार-तीव्रता का ह्रास हो जाता है।

सोहतु संगु समान सौं, यहै कहै सबु लोगु।
पान-पीक ओठन लसै, काजर नैनन जोगु॥ (बिहारी)

इसमें कवि उपयुक्त सम्बन्ध की प्रशंसा वाच्य रूप में कर रहा है, पर खण्डिता नायिका द्वारा नायक पर व्यंग्य भी हो सकता है जिसकी प्रधानता सन्दिग्ध है।

अरी नीच कृतघ्नते! पिच्छल-शिला-संलग्न
मलिन काई-सी करेगी हृदय कितने भग्न?
हृदय का राजस्व अपहृत कर अधम अपराध,
दस्यु मुझसे चाहते हैं सुख सदा निर्बाध। (कामायनी)

कृतघ्नों के प्रति अमर्ष तथा असूया की व्यञ्जना है परन्तु श्रद्धा के प्रति वे ही भाव व्यंग्य होकर अपनी प्रधानता सन्दिग्ध कर देते हैं। यद्यपि प्रसंगवश श्रद्धा के प्रति ही आक्रोश है परन्तु वाच्य अर्थ के समक्ष वह न्यून पड़ता है। (इसे तुल्य-प्रधानता का उदाहरण भी माना जा सकता है।)

× × ×

६. तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य :

कभी-कभी वाच्य और व्यंग्य अर्थों का चमत्कार तुल्य रूप से प्रधान लगता है। उस दशा में भी व्यंग्य वाच्यातिशायी नहीं रहता अतः गुणीभूत-व्यंग्य ही ठहरता है।

उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन,
भेंटता अन्तिम अरुण आलोक वैभव-हीन।

यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा-लोक,
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक। (कामायनी)

यहाँ समासोक्ति अलंकार से सन्ध्यावर्णन वाच्य है और 'धनहीन पुरुष का कुरूपा से सम्पर्क देखकर सज्जन अपने दाम्पत्य-विलास में भी विषादग्रस्त हो जाते हैं' व्यंग्य है जो प्रधानता में वाच्य के तुल्य ही पड़ता है।

× × ×

७. काकु से आगत व्यंग्य :

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहि उचित तपु मो कहँ भोगू॥ (मानस)

व्यंग्य है—'आप वन-योग्य नहीं, आपको तप करना उचित नहीं, मुझे भोग करना उचित नहीं।' यह काकु से आक्षिप्त व्यंग्य है जो वाच्य जैसा चमत्कार रखता है, अधिक नहीं अतः 'गुणीभूत-व्यंग्य काव्य' ही है।

८. असुन्दर-व्यंग्य :

व्यंग्य जब वाच्य की अपेक्षा में समान चमत्कारी तो होता ही नहीं, असुन्दर भी होता है तो गुणीभूत-व्यंग्य काव्य माना जाता है।

कल करील की कुञ्ज में, उठत अतर की बोय।
भयौ कहा भाभी तुहै, परी अचानक रोय॥ (पद्माकर)

व्यंग्य यह है कि ननद के साथ होने से नायिका उपपति से मिल न पायी जबकि उसने कुञ्ज में मिलने का संकेत बदा था। यह व्यंग्य वाच्य की अपेक्षा सुन्दर नहीं, प्रत्युत रोने का कारणमात्र है, रोने को वाच्य रूप में लाया गया है और वही अधिक चमत्कारी होकर शृङ्गाराभास की व्यञ्जना कर लेता है परन्तु कविता का मुख्य व्यंग्य अनुशयाना नायिका की मनोदशा है जो वस्तुतः असुन्दर है।

तू रहि, हौं हीं, सखि, लखौं, चढ़ि न अटा बलि बाल।
सबहिनु बिनु हीं ससि उदै दीजतु अरघु अकाल॥ (बिहारी)

यहाँ भी नायिका के मुख में चन्द्रभ्रान्ति की व्यञ्जना वाच्य की अपेक्षा असुन्दर ही है, प्रत्युत असमय अर्घ देने में ही अधिक चमत्कार है जो वाच्यगत है।

× × ×

ध्वनिकाव्य-निरूपण में जितने भी भेदोपभेद आये हैं, सब यथावसर गुणीभूत हो सकते हैं और तब वे जिसकी अपेक्षा गौण होते हैं, उसी के अलङ्कार का कार्य कर चलते हैं। परम्परा से जिन अलङ्कारों के नाम परिगणित हैं वे तीन प्रकार से आ सकते हैं—

(१) अलङ्कार व्यंग्य-हीन हो या व्यंग्य-पोषक न हो तो वह अलङ्कार चित्रकाव्य का घटक होता है।

(२) अलङ्कार से व्यंग्य आता तो हो पर वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न हो तो गुणीभूत-व्यंग्य काव्य का घटक बनता है।

तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ यमक अलङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है, उसकी अपेक्षा, राधा के सौन्दर्यातिशय की व्यञ्जना, जो यमक से ही होती है, असुन्दर होने से गुणीभूत है।

(३) अलङ्कार से वस्तु या अलङ्कार की व्यञ्जना में ही अतिशायी चमत्कार होने पर ध्वनिकाव्य होता है जिसपर विस्तार से गत अध्याय में विचार हो चुका है।

इन तीनों में से द्वितीय वर्ग के अलङ्कार विचारणीय हैं जिनमें व्यंग्य गुणीभूत रहता है।

प्रसिद्ध अलङ्कारों में गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति :

कवि जब वर्ण्य वस्तु को वाणी देता है तो अलङ्कारों के द्वारा उसे चमकाता है। ऐसी स्थिति में वर्ण्य तत्त्व के पोषक सभी अलङ्कार कुछ-न-कुछ व्यंग्य देते हैं। यह व्यंग्य वर्ण्य के प्रधानीभूत व्यंग्य की अपेक्षा जब गौण रहता है तो गुणीभूत-व्यंग्य की श्रेणी में आता है। विविध अलङ्कारों में से कुछ को लेकर इसे विवेचित किया जा रहा है।

(१) उपमा :

बन्दौं सन्त समानचित हित अनहित नहिं कोय।
अञ्जलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोय॥ (मानस)

यहाँ उपमा में व्यंग्य निहित है कि दाहिना हाथ फूलों को तोड़कर आघात पहुँचाता है और बायाँ आश्रय देता है, परन्तु फूल दोनों के प्रति समान सद्व्यवहार करते हैं। इस व्यंग्य के द्वारा ही उपमा सन्तों की गरिमा का पोषण करती है। स्वतः यह व्यंग्य गुणीभूत है।

(२) रूपक :

सगुनु खीरु अवगुनु जलु ताता।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंसु रबिबंस तड़ागा।
प्रगटि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा॥
गहि गुन-पय तजि अवगुन-बारी।
निज जस कीन्हि जगत उजियारी॥ (मानस)

साङ्गरूपक से व्यञ्जना होती है कि भरत और हंस की विवेकशीलता समान है जो रूपक का ही भाग है और तभी भरत-चरित का उत्कर्ष-वर्णन फलित होता है। उपमा रूपक में गुणीभूत रूप से विद्यमान है।

(३) उत्प्रेक्षा :

पावकमय ससि स्रवत न आगी।
मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥ (मानस)

उत्प्रेक्षा से व्यंग्य है—'अभागे की सब अवहेलना करते हैं'—जो गुणीभूत है, सीता जी का विषाद ही प्रधान है।

(४) अपह्नुति :

बन्धु न होइ मोर यह काला। (मानस)

विभाव की अतिशय भयानकता व्यंग्य है जो गुणीभूत होकर सुग्रीव के त्रास को पुष्ट करती है।

(५) दृष्टान्त :

भरतहि होइ कि राजमदु, बिधि-हरि-हर-पदु पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरन्हि, छीर-सिन्धु बिनसाइ॥ (मानस)

'त्रैलोक्य-राजत्व पाकर भी भरत में गर्व होना और काँजी की बूँदों से क्षीरसागर का फटना समान हैं' यह व्यंग्य गुणीभूत होकर भरत के महान् चरित्र को पुष्ट करता है।

(६) उल्लेख :

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में,
तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुस्लिमों में,
तू प्रेम क्रिश्चियन में, है सत्य तू सुजन में। (रामनरेश त्रिपाठी)

यहाँ ईश्वर की व्यापकता व्यंग्य है जो अलङ्कार के प्रति गुणीभूत है। प्रधान भक्ति है।

(७) भ्रान्तिमान् :

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है। (साकेत)

अलङ्कार से नासिका का नुकीलापन (सौन्दर्य) व्यंग्य है जो गुणीभूत है। प्रधानीभूत व्यंग्य प्रिया-विषयक रतिभाव ही है।

(८) सन्देह :

कैधौं रूप-रासि में सिंगार रस अङ्कुरित
कैधौं तम-कन पर्‍यौ तड़ित जुन्हाई मैं।
कहै पदुमाकर सु कैधौं काम कारीगर
नुकता धर्‍यौ है हेम-फरद सुहाई मैं॥

कैधौं अरबिन्द मैं मिलिन्द-सुत सोयौ आनि
कैधौं तिल सोहत कपोल की लुनाई मैं।
कैधौं सुर-सिन्धु मैं कलिन्दी-जल-बिन्दु कैधौं
गरकि गुबिन्दु गयौ गोरी की गुराई मैं॥

अलङ्कार से जिस सौन्दर्यातिरेक की व्यञ्जना होती है, वह गौण है जबकि सुन्दरी के प्रति रतिभावोत्पन्न औत्सुक्य प्रधानीभूत व्यंग्य है।

(९) अतिशयोक्ति :

इतना सुख जो न समाता,
अन्तरिक्ष में, जल-थल में,
उनकी मुट्ठी में बन्दी
था आश्वासन के छल में। (आँसू)

अन्तहीन सुख का मुट्ठी में बन्द होना अयोग्य है अतः अतिशयोक्ति है। इससे प्रेमिका के आश्वासन से प्रिय को असीम सुख मिलना व्यंग्य है जो गौण है, रतिभाव प्रधान है।

(१०) समासोक्ति :

भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए। (कामायनी)

यहाँ समासोक्ति से चेतनाचेतन-व्यापारों का अभेद अतिशयोक्ति है जो गुणीभूत व्यंग्य है, प्रधान व्यंग्य प्रकृति-प्रेम है।

(११) वक्रोक्ति :

खोलौ जू किवार, तुम को हौ एती बार,
हरि नाम है हमार, बसौ कानन पहार मैं।

अलङ्कार से हास्य की व्यञ्जना होती है जो गुणीभूत है, शृंगार प्रधान है।

(१२) अनन्वय :

आजु गरीब निवाज मही पर तोसो तुही सिवराज बिराजै। (भूषण)

यहाँ शिवाजी की अद्वितीयता व्यंग्य है, परन्तु वाच्यालंकार के चमत्कार की अपेक्षा गौण है। सम्पूर्ण रचना में रतिभाव ही प्रधान व्यंग्य है।

(१३) व्याजस्तुति :

कह अंगद सलज्ज जग माहीं।
रावन तोहि समान कोउ नाहीं॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ।
निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥ (मानस)

रावण की निर्लज्जता एवं निन्दा व्यंग्य गौण है, रावण के प्रति क्रोध ही प्रधान व्यंग्य है।

(१४) काव्यलिङ्ग :

मुनि कौसिक मख के रखवारे।
जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे ॥ (मानस)

यहाँ निश्चरों का मारना मख-रक्षक होने का कारण है—यह काव्यलिङ्ग अलङ्कार राम-लक्ष्मण की वीरता व्यक्त करता है जो गौण है, उनके प्रति वात्सल्य रति ही मुख्य व्यंग्य है।

(१५) अप्रस्तुत-प्रशंसा :

रो रोकर, सिसक-सिसककर
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी। (आँसू)

विशेष प्रेयसी के आचरण से सामान्य अधिकारियों के आचरण की व्याख्या की गयी है जिससे बड़ों द्वारा छोटों की उपेक्षा व्यक्त होती है जो गौण है—विषाद एवं दैन्य भाव प्रधान व्यंग्य हैं।

(१६) विरोधाभास :

कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।
चित खगेस रघुनाथ कर समुझि परै कहु काहि ॥ (मानस)

यहाँ अलङ्कार द्वारा चरित्र की अनिर्वचनीय महत्ता गौण व्यंग्य है, प्रधान भक्ति भाव है।

(१७) तुल्ययोगिता :

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

छोटे हृदय में भीड़-भाड़ का ठँसकर उसे भग्न करना गौण व्यंग्य अलङ्कार से आता है, प्रधान व्यंग्य विप्रलम्भ शृङ्गार है।

(१८) प्रतीप :

न है बाधा कोई मदन-विशिखों की सरणि में,
अँधेरा भी भागा, व्यथित नयनों का तपन भी,
मनोहारी तेरा वदन बरसाता अमृत भी,
न जाने क्यों बाले ! हिमकर निशा में भटकता।

—पण्डितराज के पद्य का भाव

प्रतीप द्वारा चन्द्रमा की व्यर्थता और प्रियामुख की अतिसुन्दरता की व्यञ्जना हुई है जो गौण है, शृङ्गार ही प्रधान है।

(१९) विभावना :

पद बिनु चलइ, सुनइ बिनु काना ।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
आनन-रहित सकल-रस-भोगी ।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।। (मानस)

विभावना से परमतत्त्व की अनिर्वचनीय महिमा एवं सर्वशक्तिमत्ता की व्यञ्जना होती है जो यद्यपि अलंकार की अपेक्षा गौण है, तथापि भक्ति का चमत्कार प्रधान होने से काव्य उत्तम ही रहता है ।

(२०) विशेषोक्ति :

प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा,
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ,
आया फिर भी वह चला गया,
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ । (कामायनी)

प्रवाह कारण के रहते तुष्टि कार्य का न होना विशेषोक्ति है जिससे काम की अदम्य लालसा व्यक्त हुई है जो गुणीभूत है ।

(२१) व्यतिरेक :

जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु बिष, दिन मलीन, सकलङ्क ।
सिय मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रङ्क ।। (मानस)

यहाँ मुख की अनुपमता व्यंग्य है पर गुणीभूत है, राम में सीता-विषयक रति-भाव प्रधान व्यंग्य है ।

(२२) प्रतिवस्तूपमा :

तिन्हहि सोहात न अवध बधावा ।
चोरहि चंदिनि राति न भावा ।। (मानस)

उपमा व्यंग्य है पर वाच्य अलङ्कार का चमत्कार अधिक है । प्रधान व्यंग्य देवों की स्वार्थ-लिप्सा है ।

(२३) निदर्शना :

सुनु खगेस हरि-भगति बिहाई ।
जे सुख चाहहिं आन उपाई ।।
ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी ।
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ।। (मानस)

सुख-प्राप्ति की असंभाव्यता गौण व्यंग्य है ।

(२४) अर्थान्तरन्यास :

अस कहि चला बिभीषन जबहीं ।
आयुहीन भे निसिचर तबहीं ।।

साधु-अवज्ञा तुरत भवानी ।
कर कल्यान अखिल कै हानी ।। (मानस)

तत्काल सम्पूर्ण कल्याण-समूह के नाश में अतिशयोक्ति गुणीभूत व्यंग्य है ।

(२५) परिकर :

दुख क्या था उनको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे
सोते में चुम्बन लेकर,
जब रोम तनिक-सा जागे ।

यहाँ 'तनिक-सा' विशेषण साभिप्राय है और 'अतृप्ति' की व्यञ्जना करता है जो मुख्य विरह के प्रति गुणीभूत है । जहाँ भी विशेषणों की ऐसी सार्थकता होती है (जो काव्य में आवश्यक है) वहाँ सर्वत्र ऐसा गुणीभूत व्यंग्यार्थ अनुस्यूत रहता है ।

(२६) परिकराङ्कुर :

सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा । (मानस)

यहाँ 'शिव' कल्याणार्थक भी है अतः व्यंग्य है कि कल्याण-विरोधी का मरण निश्चित है । यह व्यंग्य काम के त्रास का ही अङ्ग है ।

(२७) दीपक :

श्री पुर मैं, हौं बिपिन मैं, तू मगु करी अनीति ।
कहु मुँदरी अब तियन की, को करिहै परतीति ।। (रामचन्द्रिका)

कवि ने सीता के अप्रस्तुत 'श्री' और 'मुँदरी' स्त्रीलिङ्ग शब्दों को एक धर्म में युक्त करके अचेतन स्त्रीतत्त्व की भी अविश्वसनीयता व्यक्त की है जो सीता के विषाद को पुष्ट करती है ।

(२८) परिसंख्या :

मेरी उपासना करते वे,
मेरा संकेत विधान बना,
विस्तृत जो मोह रहा उनका
वह देव विलास-वितान तना । (कामायनी)

देवों के लिए उनका विलास ही यज्ञमण्डप था, अन्य पूजा-मण्डप की वे अपेक्षा न करते थे; काम ही एकमात्र उपास्य था, वे ईश्वर आदि किसी अन्य को आराध्य नहीं मानते थे; कामेच्छा ही उस उपासना के नियम थे, अन्य कोई नियम वे मान्य न करते थे । इससे देवजीवन की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों की व्यञ्जना हुई है ।

(२९) असंगति :

दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति ।
परत गाँठि दुरजन हियें, दई नई यह रीति ।। (बिहारी)

प्रेम की विलक्षणता गुणीभूत व्यंग्य है ।

(३०) तद्गुण :

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष दुति होति ॥ (बिहारी)

अलङ्कार से कृष्ण का सौन्दर्यातिशय व्यंग्य है ।

(३१) अतद्गुण :

लाल बाल अनुराग सौं रँगत रोज सब अंग ।
तऊ न छाँड़त रावरौ रूपु साँवरौ रंग ॥ (बिहारी)

कृष्ण की नायिका के प्रति नितान्त उपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य है ।

(३२) सामान्य :

बरन बास सुकुमारता सब बिधि रही समाय ।
पँखुरी लगी गुलाब की गाल न जानी जाय ॥ (बिहारी)

नायिका का सौन्दर्यातिशय ही व्यंग्य है ।

(३३) विशेष :

बीथिन मैं ब्रज मैं नबेलिन मैं बेलिन मैं
बनन मैं बागन मैं बगरो बसन्त है । (पद्माकर)

यहाँ वसन्त का मादक प्रभावातिशय व्यंग्य है । शृङ्गारोद्दीपन के रूप में वर्णित होने से वह गुणीभूत है क्योंकि प्रधानीभूत व्यंग्य शृङ्गार ठहरता है ।

(३४) मीलित :

मंगल परब, बिन आँजे जानि कञ्ज-नैनी,
बार-बार आँजती निसर्ग-कजरारे नैन ।

यहाँ आँखों का सौन्दर्यातिशय गुणीभूत व्यंग्य है क्योंकि वाच्य अलङ्कार का चमत्कार उसकी अपेक्षा अधिक है ।

(३५) उन्मीलित :

चम्पक-हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ ।
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाइ ॥ (बरवैरामायण)

कुँभिलाने पर ही चम्पक का प्रकट होना अन्यथा अङ्ग-द्युति में घुल मिल जाना वाच्यालङ्कार वर्ण्य है जिससे सीता का अप्रतिम सौन्दर्य व्यक्त होता है जो वाच्यालङ्कार की अपेक्षा गौण है ।

× × ×

ऊपर कतिपय अलङ्कारों के उदाहरणों से देखा गया कि वस्तुतः चित्रकाव्य को छोड़कर जहाँ भी अलङ्कार-योजना प्रधान व्यंग्य को सौन्दर्यवृद्धि देती है वहाँ अलङ्कार

से किसी-न-किसी ऐसे भी अर्थ की व्यञ्जना अवश्य होती है जो प्रधान व्यंग्य तथा वाच्यालङ्कार की अपेक्षा अल्प चमत्कारी होती है, (फिर) अलङ्कार सर्वथा व्यञ्जक होकर ही आता है। ऐसे स्थलों में पूरा काव्य गुणीभूत-व्यंग्य (माध्यम) नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रधानीभूत व्यंग्य की गरिमा से वह ध्वनिकाव्य ही रहता है। यदि वैसा प्रधानीभूत व्यंग्य न हो तब गुणीभूत-व्यंग्य नामक मध्यम काव्य ही होगा, जैसा पहले देख चुके हैं। ध्वनिमत में काव्य के ऐसे विभाजन पर बड़ा बल दिया जाता है।

इस सन्दर्भ में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जिसे गुणीभूत व्यंग्य कहा जाता है, यदि सहृदय उसी में आनन्द ले रहा हो, तो अनुभूतिक्षण में वह प्रधान हो उठता है, परन्तु प्रकरण की पर्यालोचना होने पर उसकी गौणता स्पष्ट होती है। गौण या प्रधान का निर्णय अनुभूतिगत न होकर बुद्धिगत होता है।

जिस प्रकार मुख्य रस के प्रति अनेक रस अङ्गभूत होकर व्यभिचारी रस बन जाते हैं, उसी प्रकार कोई भी व्यंग्य अन्य अर्थ के प्रति गौण हो सकता है—प्रकरण ही उसका निर्धारक है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने रसादि की गौणता अमान्य करते हुए तर्क उपस्थित किया है कि अनुभूतिक्षण में वैसा संभव नहीं है और अनुभूति से बाहर रस की सत्ता अमान्य है। ध्वनिमत में इसका उत्तर यह हो सकता है कि सम्पूर्ण कविता पढ़ने या सुनने में जो अंश हमें मुग्ध करता है, उसकी अप्रधानता का बोध होते ही रसानुभूति में किञ्चित् बाधा अनिवार्यतः आ जाती है और इसी आधार पर वहाँ गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम) काव्य कहा जा सकता है। यदि गौणता का बोध बाधक न हो तो उक्त नियम लागू न होगा परन्तु रसिक की सुकुमार रसानुभूति में थोड़ा सा विक्षेप भी काव्य को मध्यम कोटि का बना देता है, इसमें सन्देह नहीं।

अलङ्कारों का आधार अतिशयोक्ति :

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
मलोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ (भामह)

इस कथन का तात्पर्य यह है कि अतिशयोक्ति सभी अलङ्कारों का पोषक तत्त्व है और वही वक्रोक्ति है। सम्भवतः वाच्यालङ्कार के रूप में जो अतिशयोक्ति है, वही प्रतीयमानरूप में वक्रोक्ति रहती है, ऐसा भामह को अभीष्ट था। ध्वनिमत में इसके तीन रूप मान्य हैं :

(क) वाच्यालङ्कार के रूप में :

पानी परात को हाथ छुयौ नहिं
नैनन के जल सौं पग धोये। (सुदामाचरित)

यहाँ कृष्ण में सुदामा के प्रति दया का उत्साह भाव (दयावीर) प्रधानीभूत व्यंग्य है, अतिशयोक्ति वाच्यालङ्कार के रूप में उसका पोषक है।

(ख) ध्वनिकाव्य-सम्पादक प्रधान व्यंग्य के रूप में :

जिसको अब तक समझे थे सब जीवन में परिवर्तन अनन्त,
अमरत्व वही अब भूलेगा, तुम व्याकुल उसको कहो अन्त । (कामायनी)

जीवन-परिवर्तन रूप अमरत्व मृत्यु से अभिन्न है, यह अतिशयोक्ति व्यंग्य है । कविता का प्रधान व्यंग्य वही है जिसके आधार पर यह रचना ध्वनिकाव्य है ।

(ग) प्रत्येक अलङ्कार का आधारभूत गुणीभूत व्यंग्य के रूप में :

यही वह अतिशयोक्ति-वर्ग है जिसकी ओर भामह ने सङ्केत किया है और उसे अलङ्कारों का सर्वस्व घोषित किया है । कोई अलङ्कारकाव्य इससे अछूता नहीं रहता ।

(१) उपमा—जिस साधारण धर्म के आधार पर उपमा की जाती है, वह उपमान और उपमेय में भिन्न होता है फिर भी अभेद स्थापित करके ही उपमा बनती है अतः अतिशयोक्ति की वहाँ भी व्याप्ति है :

सुख मान लिया करता था
जिसका दुख था जीवन में
जीवन में मृत्यु बसी है
जैसे बिजली हो घन में । (आँसू)

मेघ मे बिजली की व्याप्ति और जीवन में मृत्यु की व्याप्ति में भेद है, फिर भी अभेदातिशयोक्ति से उपमा फलित होती है ।

(२) समासोक्ति :

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल करायें,
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनायें ॥ (आँसू)

यहाँ दुःख और सुख का रूठना-मिलना मानव व्यापार का आरोप है अतः समासोक्ति है और वह भेद में अभेद करके ही संभव है जो अतिशयोक्ति है ।

(३) रूपक :

राम नाम सुन्दर करतारी ।
संसय बिहग उड़ावनिहारी ॥ (मानस)

विहग और संशय का उड़ना भिन्न हैं फिर भी अभेदातिशयोक्ति से रूपक-योजना हुई है ।

(४) अपह्नुति :

आनन हैं अरबिन्द न फूले, अलीगन भूले कहा मँडरात हौ ।
कीर कहूँ तुम्हैं बाइ लगी, अधरा हैं, न बिम्ब पके, ललचात हौ ॥

दास जू ब्याली न, बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलती बाल, न बाजती बेनु, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥
(भिखारीदास)

यहाँ भी भेद में अभेद का आरोप अतिशयोक्ति है जो अपह्नुति का आधार है।

(५) उत्प्रेक्षा :

बात चली चलिबै की जहीं फिरि बात सुहानी न गात सुहानो।
भूषन साज सकै कहि को महराज गयो छुटि लाज को बानो॥
यों कर मींजति है बनिता सुनि पीतम को परभात पयानो।
आपने जीवन को लखि अन्त सु आयु की रेख मिटावति मानो॥
(सुन्दरीतिलक)

अन्तिम चरण की उत्प्रेक्षा इस अतिशयोक्ति पर टिकी है कि आयु के अन्त और हस्तगत आयुरेखा के अन्त के भेद में अभेदारोप किया गया है।

(६) तुल्ययोगिता :

बात चली यह है जब ते तब ते चले काम के तीर हजारन।
भूख औ प्यास चली मन ते अँसुवा चले नैनन ते सजि धारन॥
'दास' चली बलया कर ते रसना चली लङ्क ते लागि अबार न।
प्रान के नाथ चले अनते तन ते नहिं प्रान चले केहि कारन॥ (भिखारीदास)

प्रत्येक वस्तु का चलना भिन्न है जिसमें अभेद करके अतिशयोक्ति फलित होती है और उसी पर तुल्ययोगिता टिकी है।

× × ×

ऊपर के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि जितने भी सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं, उनमें किसी-न-किसी प्रकार अभेदातिशयोक्ति का योग रहता है। अलङ्कार का चमत्कार अतिशयोक्ति-जन्य होता है जो कवि-प्रतिभा का उत्तम निदर्शन होता है। भ्रान्तिमान् या सन्देह अलङ्कारों में वास्तविक भ्रान्ति या सन्देह नहीं रहते, प्रत्युत कवि-कल्पित होते हैं अतः वहाँ भी भेद में अभेद का अतिशयोक्ति तत्त्व विद्यमान ही रहता है। विरोध-मूलक अलङ्कारों में भी अतिशयोक्ति की गुणीभूत सत्ता देखी जाती है।

× × ×

(७) विरोधाभास :

इस छोटी-सी सीपी में
रत्नाकर खेल रहा हो,
करुणा की इन बूँदों में
आनन्द उँडेल रहा हो। (आँसू)

सीपी-रत्नाकर और करुणा-आनन्द के विरोधाभास में असम्बन्धातिशयोक्ति का आधार स्पष्ट है।

(८) व्याजनिन्दा (व्याजस्तुति) :

जय जय भारत देश,
डाक-टिकिट पर चित्र छपे,
यह उपलब्धि विशेष। (दिनकर सोनवलकर)

ऐसे स्थलों में निन्दापरक तथा स्तुतिपरक तथ्यों के भेद का गोपन कर अभेदातिशयोक्ति लायी जाती है।

(९) विभावना :

पद बिनु चलइ सुनइ बिनु काना। (मानस)

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्धवाली अतिशयोक्ति ही विभावना का मूल है।

(१०) विशेषोक्ति :

स्याम गौर किमि कहउँ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥ (मानस)

यहाँ वर्णन करने की योग्यता में अयोग्यता की अतिशयोक्ति स्पष्ट है।

(११) असंगति :

अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना,
भीगी पलकों का लगना। (आँसू)

यहाँ कार्य-कारण के असम्बन्ध में सम्बन्धारोपवाली अतिशयोक्ति है।

× × ×

स्पष्ट है कि विरोधमूलक अलङ्कारों में भी अतिशयोक्ति अन्तर्हित रहती है। वाच्यालङ्कार की अपेक्षा उसका चमत्कार गुणीभूत ही रहता है। यहाँ तक कि शृङ्खलामूलक अलङ्कार भी कवि-कल्पना का निदर्शन होते हैं अतः वहाँ भी अतिशयोक्ति का गुणीभूत स्पर्श अनिवार्य रहता है :

(१२) एकावली :

कूरम पै कोल, कोलहू पै सेख-कुण्डली है,
सेख-कुण्डली पै फैल सुकन हजार की।
कहै पदुमाकर त्यौं फन पै फबी है धरा,
धरा पै फबी है थिति रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु-सिर सोभा जटाजूट है अपार की।
संभु की जटान पर चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंगधार की॥ (गङ्गालहरी)

यहाँ क्रम का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है अतः असम्बन्ध में सम्बन्धवाली अतिशयोक्ति ही एकावली का मूल है।

× × ×

अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति :

देखा जा चुका है कि भामह आदि आलङ्कारिकों की दृष्टि में सभी अलङ्कारों के चमत्कार का आधार अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। अलङ्कार-विशेष के रूप में 'वक्रोक्ति' पृथक् वस्तु है। यद्यपि उसमें भी अतिशयोक्ति-रूप वक्रोक्ति का समावेश रहता है, तथापि वाच्यालङ्कार का रूप अलग है। साहित्यदर्पण में 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का खण्डन करते समय दोनों को एक मान लिया गया है जो ध्वनिकार को अभीष्ट नहीं—वे भामह की मान्यता का खण्डन न करके उक्त रीति से ध्वनिमत में ही समन्वय करने के पक्षपाती हैं। यह बात दूसरी है कि उसी नाम से एक अलंकार भी चल पड़ा है।

गुणीभूत-व्यंग्यरूप अलङ्कार :

यह तो विदित हो चुका है कि वर्ण्य तत्त्व (अलंकार्य) को अलंकृत करने से ही अलंकार नाम की सार्थकता है और यह सार्थकता सर्वत्र ही अतिशयोक्तिमूलक होती है, साथ ही प्रत्येक अलंकार के द्वारा कोई-न-कोई व्यंग्यार्थ भी प्रकाशित होता है। इस प्रकार अलङ्कार द्वारा द्विधा व्यञ्जना प्रायः होती रहती है—उस व्यंग्य का चमत्कार ही प्रधानीभूत हो सकता है अथवा वह गुणीभूत रह सकता है। अब विचारणीय है कि कुछ अलंकार गुणीभूत-व्यंग्य रूप ही होते हैं। इस तथ्य को निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

(१) प्रबन्धगत रस की अपेक्षा प्रकरणगत रस गुणीभूतव्यंग्य ठहरता है। जैसे, कामायनी में 'शान्त' प्रबन्धरस है जिसकी तुलना में अंगभूत शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक आदि रस, जो विविध प्रकरणों में व्यक्त हुए हैं, व्यभिचारी रस हैं अतः गुणीभूत हैं। जब प्रकरण-विशेष में उन्हें संवेदनीय किया जाता है, तब वे प्रधान होकर उस प्रकरण को ही ध्वनिकाव्य बनाते हैं, परन्तु प्रबन्ध की पर्यालोचना करने पर वे गौण ठहरते हैं, फलतः प्रबन्ध-रस को अलंकृत करते अतः 'अलंकार' कहे जा सकते हैं। उन्हें अलंकार न कहने के दो कारण हो सकते हैं—एक तो प्रसिद्ध अलंकार-नामों में वे नहीं आते, दूसरे प्रकरण में रसिक की तल्लीनता होती है अतः उनकी गौणता का भास रसानुभूति हो चुकने पर होता है। प्रबन्धगत अंश का काव्यत्व अक्षुण्ण रहता है जिससे पूरे प्रबन्ध की पर्यालोचना का अवसर ही अनुभूति-क्षण में नहीं आ पाता। समग्र दृष्टि से अंशगत रसादि को अलंकार कहना उचित है। भामह आदि ने रसवत् आदि अलंकारों की व्यवस्था इसी दृष्टि से की हो तो ध्वनिमत का कोई विरोध नहीं।

(२) उक्त रीति से प्रबन्ध-व्यापी अलंकार-व्यञ्जना हो तो उसकी दृष्टि से प्रकरणादिगत अन्य व्यंग्य गुणीभूत होकर अलंकार बन जाते हैं। कामायनी में व्याप्त रूपकालंकार

(Allegory) प्रधानीभूत है, उसकी अपेक्षा में सभी सर्गों के व्यंग्य गौण होकर उसी रूपकतत्त्व के सहायक बनते हैं अतः उन्हें अलंकार कहना सर्वथा ध्वनिसिद्धान्त-सम्मत है।

(३) इसी प्रकार प्रबन्धव्यापी वस्तुध्वनि की अपेक्षा प्रकरणादिगत ध्वनियों को गुणीभूत-व्यंग्य अलङ्कार कहा जा सकता है। 'गोदान' में सामाजिक वर्ग-द्वन्द्व ही प्रबन्ध-गत वस्तु-व्यंग्य है, उसकी तुलना में लें तो बीच-बीच में आनेवाले शृङ्गार, शृङ्गाराभास, रौद्र आदि उसी के पोषण में लग जाते हैं।

(४) प्रकरणगत रसादिव्यंग्य, अलङ्कारव्यंग्य या वस्तुव्यंग्य को मुख्य रूप में लेने पर उसके घटक वाक्यों का व्यंग्य गुणीभूत ठहरता है, जिससे प्रकरण दृष्टि से उसे अलङ्कार कहा जायगा। सुन्दरकाण्ड में हनुमान जी का वीररस ही प्रधान है जिसके अङ्गरूप से सीता जी का विरह, विभीषण की भक्ति, राक्षसों का रौद्र तथा वीर रसाभास आदि आते हैं अतः महावीर जी के चरित की व्यञ्जना की अपेक्षा में वे अलङ्कार हैं। यह बात दूसरी है कि वाक्यविशेष के ही व्यंग्य की संवेदना में तन्मयता प्राप्त करने की दृष्टि से उतने ही को ध्वनिकाव्य माना जाता है।

यदि उक्त प्रकार से गौण-प्रधान भाव न स्वीकृत किया जाय तो रामचरितमानस या कामायनी को प्रबन्ध-काव्य की संज्ञा न दी जा सकेगी, क्योंकि असंख्य छोटे काव्य खड़े हो जायँगे।

(५) वाक्य-व्यंग्य की दृष्टि से पद-व्यंग्य गौण रहता है।

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥ (मानस)

यहाँ सम्पूर्ण वाक्य सीता के प्रति रतिभाव का व्यञ्जक है, परन्तु प्रत्येक पद अपनी-अपनी व्यञ्जना रखता है—(१) डरपते हैं, संकोचमात्र नहीं अनुभव करते, (२) धीरों की यह दशा है, कायरों का तो कहना ही क्या ? (३) गहन की स्मृतिमात्र से यह भय छा जाता है, तब वन में पहुँचने पर क्या होगा ? (४) तुम वन में पहुँचकर तो मृगी के समान चकित हो उठोगी, तुम्हारे लोचन मृगी के लोचनों के समान ही त्रास-चञ्चल एवं कान्दिशीक हो उठेंगे (५) तुम भीरु हो, धीर नहीं जबकि धीर भी डर जाते हैं, (६) तुम भीरु हो स्वभाव से—सहज-भीरु स्त्री के लिए वन कितना भयानक होगा, बुद्धि से परे है। ये सभी पदगत व्यञ्जनाएँ वाक्य-व्यञ्जना (प्रेम) की अपेक्षा में अलङ्कार हैं। प्रत्येक पद के व्यंग्य में तल्लीनता ली जाय तो वे सब ध्वनि काव्य हैं—अतएव पदगत ध्वनि की व्यवस्था है।

(६) निष्कर्ष यह कि रूढ़ अलङ्कारों के अतिरिक्त ध्वनिमत से अलङ्कार-व्यवस्था अनन्त हो जाती है। दूसरे अर्थ की अपेक्षा गौण ठहरनेवाला कोई व्यंग्य उसका अलङ्कार हो जाता है और कोई भी ऐसा गुणीभूत-व्यंग्यरूप अलङ्कार अन्य प्रधानीभूत व्यंग्य की अपेक्षा में ध्वनिकाव्य का घटक ठहरता है। ध्वनि-सिद्धान्त अलङ्कारों की रूढ़-परम्परा में यह समावेश करके अलङ्कारों की मान्यता में नया अध्याय जोड़ता है।

(७) रूढ़ नामोंवाले अलङ्कार भी गुणीभूत-व्यंग्य रूप होते हैं। रूपक, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, दृष्टान्त जैसे अलङ्कारों में उपमा गुणीभूत व्यंग्य रहती है अतः ऐसे सभी अलङ्कार गुणीभूतव्यंग्य-वर्ग में आते हैं। कुछ अलङ्कारों के उदाहरणों से इसे और भी समझा जा सकता है :—

(क) अप्रस्तुत-प्रशंसा :

चले जाहु, ह्याँ को करै हाथिन को व्यौपार।
नहिं जानत, यहि पुर बसत धोबी, ओड़, कुम्हार ॥ (बिहारी)

यहाँ सदृश अप्रस्तुत से सदृश प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना है, परन्तु अप्रस्तुत वाच्य रूप में ही इतना सुन्दर है कि व्यंग्य प्रस्तुत इसकी अपेक्षा असुन्दर होने से गुणीभूत रह जाता है।

रत्नसौध के वातायन, जिनमें आता मधु मदिर समीर,
टकराती होगी अब उनमें तिमिंगिलों की भीड़ अधीर। (कामायनी)

यहाँ प्रलयरूप कारण की अप्रस्तुत कार्य द्वारा व्यञ्जना की गयी है जो वाच्य की अपेक्षा असुन्दर होने से गुणीभूत है।

सब का निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात-हिम-कन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में। (आँसू)

यहाँ अश्रुवर्षारूप अप्रस्तुत कारण से विश्वशान्तिरूप प्रस्तुत कार्य की व्यञ्जना वाच्य की अपेक्षा गुणीभूत है।

अपने में सब कुछ भर कर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा। (कामायनी)

सामान्य तथ्य अप्रस्तुत है जिससे मनु की विशेष दशा (प्रस्तुत) की व्यञ्जना है। यह भी वाच्य की अपेक्षा पूर्ववत् असुन्दर है।

(ख) समासोक्ति :

भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए। (कामायनी)

यहाँ वर्ण्य (प्रस्तुत) विषय प्रकृति है, परन्तु लिङ्ग तथा विशेषण की ऐसी योजना है कि अप्रस्तुत नर-नारी-संभोग की व्यञ्जना होती है जो प्रस्तुत का अलङ्कार है।

(ग) वक्रोक्ति—काकु-वक्रोक्ति को गुणीभूत-व्यंग्य काव्य के उदाहरणों में ही देखा जा चुका है। श्लेष-वक्रोक्ति विचारणीय है :

मैंने जो कहा—'अनारी तुमको सब लोग कहेंगे'।
वह बोला—'नर क्या नारी कहलाना कभी चहेंगे'॥

'अनारी' का प्रस्तुत अर्थ 'मूर्ख' है जिससे अप्रस्तुत 'नारी-भिन्न-पुरुष' अर्थ की व्यञ्जना होती है, उसे आगे चलकर वाच्यरूप में लाया गया है अतः गुणीभूत होने से अलङ्कार हो गया है।

(घ) व्याजस्तुति (व्याज-निन्दा) :

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो, दिन देत, दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥ (विनयपत्रिका)

यहाँ निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना ही अलङ्कार है।

(ङ) काव्यलिङ्ग :

वल्लरियाँ नृत्य-निरत थीं,
बिखरीं सुगन्ध की लहरें। (कामायनी)

नृत्यनिरत होने और सुगन्ध बिखरने में कार्य-कारण सम्बन्ध है जो वाच्य रूप में नहीं कहा गया है, प्रत्युत व्यंग्य है तभी इस अलङ्कार की सत्ता है।

(च) विरोधाभास में वाच्य विरोध रहता है, पर व्यंग्यरूप में अविरोध रहता है तभी अलङ्कार बनता है।

(छ) परिकर और परिकराङ्कुर में विशेषण और विशेष्य की सार्थकता व्यञ्जना से होती है, तभी अलङ्कार बनते हैं।

(ज) सूक्ष्म :

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियें लगाई बाम॥ (बिहारी)

नायक द्वारा नायिका का चरणस्पर्श और नायिका द्वारा नायक के हृदय में रहने की व्यञ्जना ही सूक्ष्म अलङ्कार है।

(झ) इसी प्रकार तद्गुण, अतद्गुण, सामान्य, मीलित, उन्मीलित आदि अलङ्कारों में सादृश्य आदि की व्यञ्जना ही अलङ्कार रूप है।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि प्रायः सभी अलङ्कार किसी-न-किसी प्रकार से व्यंग्य के आधार पर ही बनते हैं। यह अवश्य है कि व्यङ्ग्य की स्थिति वाच्य की अपेक्षा असुन्दर या गौण रहती है अतएव उन्हें प्रधानीभूत न पाकर अलंकार कहा जाता है।

गुणीभूतव्यंग्य अलंकार और चित्रकाव्य :

चित्रकाव्य को लेकर यह प्रश्न उभरता है कि जब सभी अलंकारों में कोई-न-कोई व्यंग्य गुणीभूत होकर रहता ही है तब जिसे चित्र या अवर काव्य कहा जाता है वह भी गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम काव्य) के वर्ग में आना चाहिए। ध्वनिमत में चित्रकाव्य की

व्यवस्था का आधार यह है कि यदि कोई अलंकार अपने स्वरूप-निर्णायक व्यंग्य के अतिरिक्त अन्य अलंकार्य नहीं रखता तो वह मध्यम श्रेणी का भी काव्य नहीं ठहर सकता।

शब्दचित्रों में अवर काव्य अधिक स्पष्ट रहता है क्योंकि वर्णचमत्कार में रीति-विशेष के अतिरिक्त कोई व्यञ्जना नहीं हो सकती और रीति भी यदि रसविरोधी हो तो उसके द्वारा किसी अलंकार्य को अलंकृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थचित्रों में फिर भी व्यंग्य का स्पर्श रहता है, भले ही अलंकार्य की अस्पष्टता के कारण उसे अवर-काव्य कहा जाय। यही अन्तर लेकर पण्डितराज ने अर्थचित्र को शब्दचित्र से उच्च श्रेणी का ठहराते हुए क्रमशः तृतीय और चतुर्थ श्रेणी में रखा है।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्याय तक के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि ध्वनि-सिद्धान्त प्राचीन अलंकारमत या रीतिमत का विरोधी नहीं है, प्रत्युत काव्य के अन्तरंग तत्त्व की खोज करके उन सबका यथायोग्य स्थान एवं महत्त्व निर्धारित करता है। काव्य द्वारा प्रेषणीय तत्त्व को प्रधान रूप से विचारणीय बनाकर अन्य काव्याङ्गों का उसी परिप्रेक्ष्य से विवेचन ध्वनिमत की विशेषता रही है जिसपर आगामी अध्याय में विचार किया जायगा।

विविध मान्यताओं का ध्वनिमत में समन्वय ६

ध्वनिसिद्धान्त किन्हीं ऐसे मतों का विरोधी बनकर नहीं आया जो पहले से प्रतिष्ठा पा चुके थे। आचार्य वामन में दोष, गुण, रीति और अलंकार तत्त्वों का काव्याङ्ग के रूप में विवेचन देखा जाता है और प्रतीत होता है कि अपने आपमें काव्यचिन्तन को पूर्णता मिल गयी। ध्वनि-मत इस पूर्णता पर प्रहार करता है। उक्त काव्याङ्ग वस्तुतः काव्य के प्रेषणीय या प्रदेय तत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं कर पाते। वामन ने दोषाभाव, गुण-रीति तथा अलंकार द्वारा काव्य में सौन्दर्य की निष्पत्ति का सिद्धान्त तो मान्य किया पर वह सौन्दर्य कितने प्रकार का होता है, किस शब्द-शक्ति से निष्पन्न होता है, उक्त काव्याङ्गों की उस सौन्दर्य-निष्पत्ति में किस प्रकार उपादेयता होती है आदि प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर न तो भामह के काव्यालंकार में है और न ही वामन के काव्यालंकारसूत्र में। आचार्य दण्डी माधुर्य गुण के निरूपण-प्रसंग में रस की महिमा का बखान तो करते हैं पर उस रस की निष्पत्ति के विषय में व्याख्या नहीं देते।[1] मान लें कि काव्य में दोष आ जाय तो क्या काव्य के घटक शब्दार्थ-समूह में ही कोई न्यूनता आयेगी या काव्य द्वारा प्रेष्य सौन्दर्यतत्त्व को वह दूषित करेगा। यदि प्रेषणीय सहृदय-संवेद्य सौन्दर्यानुभूति अक्षुण्ण रहे तो दोषों का होना-न-होना महत्त्व नहीं रखता।

यदि कहा जाय कि उक्त काव्याङ्ग ही सौन्दर्य के निष्पादक हैं अतः काव्य-शरीर में दोष होने पर सौन्दर्य-निष्पत्ति प्रभावित होगी ही, तब प्रश्न उठता है कि शब्द और अर्थ में दोषों से किस प्रकार कमी आती है और गुण और अलंकार क्या जोड़ देते हैं। जब तक शब्दशक्तियों के आधार पर काव्यतत्त्व का परिशीलन न हो, उक्त प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर असम्भव है। ध्वनिकार ने व्यञ्जनाशक्ति की स्थापना करके सभी काव्याङ्गों का काव्यगत स्थान ठीक-ठीक निर्धारित कर दिया है। यही कारण है कि ८वीं शताब्दी से अब तक इस मत को सर्वोपरि समादर मिलता आया है। सबसे बड़ी बात यह रही है कि काव्य-सौन्दर्य की विविधता का रहस्य ध्वनिपूर्व आचार्यों ने स्पष्ट नहीं किया था, इस मत ने विविध वर्गों में शब्दशक्ति-कृत काव्य-चमत्कार का विश्लेषण किया जिसका परिणाम यह हुआ कि परवर्ती आचार्य—जैसे, महिम भट्ट, कुन्तक—उस विवेचन को लेकर ही अपना मत प्रतिष्ठित कर सके। यह बात दूसरी है कि महिम ने अनुमान में और कुन्तक ने वक्रोक्ति में व्यञ्जना का समावेश करना चाहा।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्यमत तो ध्वनिसिद्धान्त की ही प्रसूति है अतः औचित्य को काव्यात्मा कह देने से ही ध्वनि का विरोध नहीं हो पाया है।

प्रस्तुत अध्याय में समन्वयदृष्टि से विचार अपेक्षित है।

ध्वनिमत में अलङ्कार :

आचार्य भामह ने गुण, रीति और दोष की विवेचना अलङ्कारों के साथ ही प्रस्तुत की, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य-सौन्दर्यमात्र को अलङ्कार की सीमा में परिगणित करना अपेक्षित मानते थे। आचार्य वामन ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुणों को काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व मानकर व्याख्या की और उन्हीं के आधार पर रीतियों की स्थापना करके 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की घोषणा की। इस प्रकार अलङ्कार काव्य के बहिरङ्ग धर्म कहे जा सकते हैं। परन्तु 'अलङ्कार' शब्द अलङ्कार्य-सापेक्ष है—अलङ्कार्य तत्त्व को अलंकृत करके ही नाम की सार्थकता हो सकती है। भामह और वामन के अनुसार शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य है अतः शब्दालङ्कार शब्द-भाग को और अर्थालङ्कार अर्थभाग को अलंकृत करते हैं, यही कहा जा सकता है। ध्वनिमत इसे अमान्य करता है। उसकी दृष्टि में अलंकार के अलङ्कार्य शब्द और अर्थ न होकर उस शब्दार्थ-समुदाय से व्यक्त होनेवाला चमत्कारात्मक अर्थ होता है, वही काव्य का प्रेषणीय तत्त्व है और उसी से काव्य नाम की सार्थकता है। शब्दालङ्कार शब्द के माध्यम से और अर्थालङ्कार अर्थ के माध्यम से व्यंग्यार्थ को अलंकृत करते हैं अतः व्यंग्य अर्थ ही अलङ्कार का अलङ्कार्य होता है। इस प्रकार ध्वनिमत में अलङ्कार की तीन स्थितियाँ हैं :—

(१) प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ—रसादि—को अलंकृत करनेवाला ध्वनिकाव्य-घटक अलङ्कार वस्तुतः अलङ्कार का उत्तम रूप है जहाँ अलङ्कार का अलङ्कार्य स्पष्ट रहता है।

(२) व्यंग्यार्थ की गौणता हो और वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारी हो तो स्वयं व्यंग्यार्थ अलंकार का काम करता है। अन्य अलङ्कार भी प्रधानीभूत व्यंग्य न होने पर गुणीभूत-व्यंग्य काव्य के घटक होते हैं।

(३) व्यंग्यार्थ के अभाव में अलङ्कार का कोई अलङ्कार्य नहीं रहता अतः अलङ्कार नाम की सार्थकता न होने से वह चित्रकाव्य का घटक है।

तीनों प्रकार के काव्यों के निरूपण में उक्त तथ्यों पर सोदाहरण प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ विचारणीय यह है कि ध्वनि-सम्मत व्याख्या अमान्य करने पर अलंकार का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ दण्डी द्वारा दिया हुआ उपमा का उदाहरण लें :

"हे मुग्धे, तेरा करतल कमल के समान ईषत् शोणाभ है।"[२]

इसमें अलङ्कार के चमत्कार के समक्ष नायक का रतिभाव नितान्त दबा हुआ लगता है। जबकि :

जलदागम-मारुत से कम्पित
पल्लव - सदृश हथेली,

श्रद्धा की, धीरे से मनु ने
अपने कर में ले ली। (कामायनी)

यहाँ वैसी ही उपमा है पर संवेदनीय शृङ्गार तत्त्व का चमत्कार ऊपर है, अतः उपमा उसे अलंकृत करने में चरितार्थ हुई है। ध्वनि-सिद्धान्त के बिना यह व्याख्या असम्भव थी।

वाच्य-वाचक-समवाय से पृथक् कोई काव्य का प्रतिपाद्य होता है और उसी की अलङ्कार्य रूप में प्रतिष्ठा करके अलङ्कारों की समुचित व्याख्या की जा सकती है। जिस प्रकार पूरक वाद्य का दबकर बजना ही गेय संगीत में आवश्यक होता है, उसी प्रकार अलङ्कार-चमत्कार, व्यङ्ग्य-चमत्कार (अलङ्कार्य) से दबा रहे तभी काव्य-सुषमा में लोकोत्तरता आती है, यह यथार्थ ध्वनिकार से पूर्व किसी ने नहीं कहा था।

अलङ्कार वस्तुतः कथन-शैली-विशेष को कहते हैं, अतः उनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। आचार्यों ने समय-समय पर संख्या में वृद्धि की है, फिर भी वृद्धि होती है। अन्य देश के भाषा-साहित्य में अन्य संख्या पायी जा सकती है और ऐसे अलङ्कार-नाम मिल सकते हैं जो अपने यहाँ न हों, फिर भी उन्हें अलङ्कार ही कहा जायगा—उदाहरणार्थ अंग्रेजी के 'सेनेक्डाकी' अलंकार में विशेष से सामान्य, सामान्य से विशेष, अमूर्त से मूर्त, मूर्त से अमूर्त अर्थों की व्यञ्जना का समावेश रहता है। अपने यहाँ एक ही नाम देकर ऐसा कोई अलंकार नाम नहीं ले सका। दण्डी ने इसीलिए कहा है कि "काव्य की शोभा के कारक सभी धर्मों को अलंकार कहते हैं, उनके विकल्प आज भी खोजे जाते हैं, अतः उनका समग्र विवरण नहीं दिया जा सकता।"[3] परन्तु दण्डी ने ऐसा कोई आधार नहीं बताया जिसपर अलंकार मान्य हो सके, कोई प्रसिद्ध नाम हो या न हो।

ध्वनि-सिद्धान्त ऐसे सभी व्यंग्यों को अलंकार मानता है जो गुणीभूत हो जाते हैं। ऊपर अंग्रेजी अलंकार का नाम आया है। उसका समावेश हम गुणीभूत-व्यंग्य के आधार पर सहज ही कर सकते हैं, नाम दें या नहीं।

"आज उठ अङ्गार से शृङ्गार कर मेरी जवानी।"

में 'जवानी' भाववाचक संज्ञा (अमूर्त) द्वारा मूर्त युवक वर्ग को सम्बोधित किया गया है जिससे यौवन के उद्दाम उत्साह और साहस की सहज ही व्यञ्जना हो जाती है।

देखा बौने जलनिधि को
शशि छूने को ललचाना,
वह हाहाकार मचाना,
फिर उठ उठकर गिर जाना। (आँसू)

यहाँ अलंकारवादी अधिक-से-अधिक उत्प्रेक्षा और समासोक्ति की बात कहेगा—मानों समुद्र चन्द्रमा को छूने के लिए लहराता है। मानवीय व्यापारों का आरोप समासोक्ति है। परन्तु ध्वनिवादी इतने से सन्तुष्ट न होकर कहेगा असमर्थ महत्त्वाकांक्षी अपनी सीमा नहीं समझता, अलभ्य का लोभ करके भाग-दौड़ करता है परन्तु जितना ही

उन्नत होता है उतना ही उसका पतन भी होता है, इस दैवी विडम्बना पर कवि निर्वेद व्यक्त करता है और वही व्यञ्जना काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

ध्वनिमत में व्यंग्य चाहे वस्तु हो, अलंकार हो या रसादि में से कुछ हो, यदि गुणीभूत होकर किसी अन्य को पोषण देता होगा तो अलंकार ही कहा जायगा। विगत अध्याय में इसपर प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु उक्त तीनों व्यंग्य होकर यदि प्रधानता प्राप्त करें तो अलंकार न होकर अलंकार्य कहे जायँगे।

ध्वनिमत में गुण :

भरत ने काव्य के दस गुण गिनाये हैं। दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के उन्हीं दस गुणों का परिगणन किया है।[४] वामन ने शब्दगुण और अर्थ-गुण भेदों से इन्हें द्विगुण कर लिया है। इस प्रकार श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओजस्, कान्ति और समाधि गुण पूर्वाचार्यों को मान्य रहे हैं। ध्वनिमत केवल तीन गुण स्वीकृत करता है—माधुर्य, ओजस् और प्रसाद। शेष को अमान्य करने के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) श्लेष, समाधि और उदारता गुणों का 'ओजस्' में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

(२) अर्थव्यक्ति का प्रसादगुण में ही समावेश मान्य है।

(३) समता सर्वत्र गुण ही नहीं है। अर्थ-परिवर्तन से रीति में परिवर्तन होना चाहिए, अन्यथा 'समता' दोष हो जायगी।

(४) कष्टत्व दोष के निराकरण से सुकुमारता-गुण बनता है, अतः वह दोषाभाव है। दोषाभाव तो सर्वत्र गुण होता है, अतः उसे पृथक् नहीं गिनना चाहिए।

(५) ग्राम्यत्व दोष का अभाव ही कान्ति है।

(६) अर्थगुणों का पृथक् विवेचन भी अनावश्यक है क्योंकि वे कहीं विचित्रता-मात्र हैं, कहीं दोषाभाव-रूप, कहीं उनका तीन गुणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ ऐसे हैं जो ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और स्वभावोक्ति में आ जाते हैं।[५]

× × ×

भामह के टीकाकार भट्टोद्भट तथा रीतिमत के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन ने गुण और अलंकार का भेद निरूपित किया है जिससे ध्वनिमत सहमत नहीं। भट्टोद्भट ने गुण और अलंकार दोनों का काव्य में समवाय-सम्बन्ध (नित्यसम्बन्ध) मानते हुए दोनों का अन्तर प्रचलनमात्र माना है। वामन ने कहा है कि काव्य-शोभा के कारक गुण होते हैं और पोषक अलंकार हैं। आचार्य मम्मट ने वामन की आलोचना करते हुए कहा है कि सभी गुण एक साथ शोभाकारक हैं या अलग-अलग। यदि एक साथ दसों (या बीसों) गुणों की सत्ता में ही काव्य की शोभा उत्पन्न होती हो तो गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों को वामन ने काव्यात्मा कैसे माना ? क्योंकि दोनों रीतियों में समग्र गुण नहीं रहते—केवल वैदर्भी में ही वामन सम्पूर्ण गुणों की सत्ता मानते हैं। यदि किसी भी गुण की सत्ता से काव्य-शोभा उत्पन्न होती हो तो—

"खण्ड-खण्ड लकड़ी करे कठिन अकुण्ठ कुठार।"

में ओजोगुण होने से काव्य कहना पड़ेगा और उस दशा में कोई वाक्य अकाव्य न कहा जा सकेगा।

अतः गुण का आधार न तो वाचक शब्द है और न ही वाच्य अर्थ, प्रत्युत रस ही उसका अधिष्ठान है जैसे शौर्यादि गुण आत्मधर्म हैं। रस के बिना गुण-सत्ता नहीं है और रस होने पर गुण उसका उपकारक रहता है, यही गुण की परिभाषा है। अलंकार किसी रस के लिए नियत नहीं हैं, कोई अलंकार किसी रस का शोभावर्धक हो सकता है या अलंकार रसोपकारक न भी हो सके, पर गुण के लिए ऐसा नहीं है—गुण तो रस-धर्म हैं। यह हो सकता है कि रचना से किसी गुण का आभास होता हो पर वह रसानुगुण न हो, उस दशा में कायर की आकृति देखकर 'वीर' कहने के समान गुण की स्थिति होगी। गुण का ऐसा लाक्षणिक व्यवहार संभव है पर मुख्य रूप से वह रस-धर्म है। रस और रचना के आधार पर गुणों की तीन स्थितियाँ हो सकती हैं :

(१) रस के साथ गुण तो होगा ही, पर गुणव्यञ्जक वर्णयोजना भी हो, यह प्रथम स्थिति है, जैसे मनुष्य की चेतना में भी शौर्य हो और उसकी आकृति से भी शूरता प्रकट होती हो।

(२) रस हो (फलतः गुण भी हो) परन्तु वर्णयोजना से गुणव्यञ्जना न होती हो, यह दूसरी स्थिति है। जैसे, आन्तरिक दृष्टि से शौर्य-सम्पन्न व्यक्ति की आकृति से शूरता न झलकती हो। इस स्थिति में ऐसा भी हो सकता है कि रसानुरूप गुण कुछ और हो परन्तु रचना से कुछ और गुण भासित होता हो। उदाहरणार्थ :

देव जू कञ्ज खिलैं टटके हटके भटके खटके गिरा गावति।

यहाँ टवर्ग-बहुल रचना से ओजोगुण भासित होता है जबकि श्रृंगारी रचना होने से माधुर्य गुण है।

(३) रस के अभाव में कभी-कभी गुणव्यञ्जक वर्ण-योजना देखी जाती है पर वस्तुतः वहाँ गुण होता नहीं। लाक्षणिक रूप में रचना को ही गुण कह लेते हैं—जैसे, शौर्यहीन पुरुष की आकृति से शूरता का भास होता हो तो कहते हैं कि 'इसका आकार ही शूर है।'

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त रस और गुण में अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकृत करता है। स्पष्ट ही अलंकार का रस से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता—अलंकार रसानुगुण भी हो सकता है और अननुगुण भी। उदाहरणार्थ :

तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तूँ मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी-समान॥ (बिहारी)

यहाँ यमक श्रृंगारानुगुण नहीं है, प्रत्युत श्रृंगार के माधुर्य गुण (कोमलता) का विरोधी है। श्रृंगार होने से माधुर्य यहाँ भी विद्यमान है यद्यपि रचना से वह प्रकट नहीं हो पा रहा है।

× × ×

गुणों का स्वरूप :

गुणों का स्वरूप समझने के लिए रसस्थिति को समझना होता है। रसानुभूति-काल में चित्त-दशा समझकर ही रसस्थिति को समझा जा सकता है। रसानुभूति की चित्तावस्थाएँ चार प्रकार की होती हैं :

(१) द्रुति :—शृंगार, करुण और शान्त रसों की अनुभूति से चित्त में जो क्रिया होती है उसे द्रुति (पिघलाहट-सदृश दशा) कहते हैं।

(२) दीप्ति :—रौद्र, वीर, बीभत्स की अनुभूति से चित्त में प्रज्वलन-सा अनुभव होता है, यही दीप्ति क्रिया है।

(३) विस्तार या विकास :—उक्त रौद्रादि रस जिन भावों से बनते हैं उन भावों—क्रोध, उत्साह और जुगुप्सा—में चित्तसंकोच लौकिक क्रिया है परन्तु जब वे ही भाव वासना रूप में अनुभूतिगम्य होते हैं तो संकोच जाता रहता है, एक प्रकार का विस्तार आ जाता है। विस्तार रसानुभूति के लिए यहाँ आवश्यक हो जाता है, अन्यथा संकोच होने से लौकिक प्रत्यय रस-प्रत्यय में बाधक होगा।

(४) व्याप्ति :—रसानुभूति से एक ऐसी चैत्त क्रिया का उदय होता है जिसमें स्थायी भाव की सर्वाङ्गीण व्यापकता अनुभव होती है, ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर रसमय हो गया, अन्य कोई संवेद्य नहीं रह गया, केवल रस ही व्याप्त हो गया, जैसे सूखे ईंधन में आग व्याप्त हो जाती है। यही व्याप्ति क्रिया है जो सभी रसों में अनुभूत होती है।

उक्त क्रियाओं पर विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि हास्य, अद्भुत और भयानक में केवल व्याप्ति क्रिया देखी जाती है। शृंगार, करुण और शान्त में द्रुति और व्याप्ति दो क्रियाएँ रहती हैं। वीर, रौद्र तथा बीभत्स में व्याप्ति के साथ दीप्ति और विस्तार क्रियाओं का योग रहता है। इन क्रियाओं के आधार पर गुणों का स्वरूप निर्धारित होता है :—

(१) माधुर्य गुण :—आह्लादजनक एवं द्रुतिकारक गुण माधुर्य है जो संभोग शृंगार में सामान्य रूप से रहता है जबकि करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त में उत्तरोत्तर उत्कर्ष लेता है। इस प्रकार मधुर, मधुरतर और मधुरतम स्थितियाँ उपलब्ध होती हैं—दूसरे शब्दों में, चित्त क्रमशः द्रुत, द्रुततर और द्रुततम हो जाता है।

(२) ओजोगुण :—दीप्ति और आत्मविस्तार का कारणभूत गुण ओज है जो सामान्यतः वीर रस में रहता है। बीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष पाता है जिससे वीर रस ओजस्वी है, बीभत्स ओजस्वितर और रौद्र ओजस्वितम हैं। उनमें चित्त क्रमशः दीप्त, दीप्ततर एवं दीप्ततम रहता है—इसी प्रकार विस्तृत, विस्तृततर और विस्तृततम भी।

(३) प्रसादगुण :—सूखे ईंधन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ जल के समान जो सहसा चित्त को व्याप्त कर लेता है, वह प्रसाद गुण है। यह सभी रसों का गुण है जिसकी चैत्त क्रिया व्याप्ति है।[६]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसाद सभी रसों का सामान्य गुण है जबकि माधुर्य और ओजस् विशेष रसों के विशेष गुण हैं। प्रसाद की व्याप्ति-क्रिया में तारतम्य नहीं होता क्योंकि पूर्ण व्याप्ति रसानुभूति के लिए अनिवार्य है जबकि शेष दो गुणों की क्रियाओं में तारतम्य देखा जा सकता है।

× × ×

रचना और गुण :

आचार्य वामन ने गुणों की उपस्थिति वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में मानी है। ध्वनिसिद्धान्त रस में ही गुणों की सत्ता मानता है। शब्द या अर्थ में गुणों की सत्ता लक्षणा से कही जा सकती है, जैसे किसी को आकृति से शूर कहना। लाक्षणिक रीति से हम शब्द या अर्थ को भी मधुर, ओजस्वी या प्रसन्न कह सकते हैं। इसी प्रकार 'शब्दगुण' भी कहे जा सकते हैं जिसका कारण वर्णों की योजना में उस विशेषता का होना है जिससे गुणों की व्यञ्जना होती है—अर्थात् विशिष्ट गुण की व्यञ्जक रचना में उस गुण की सत्ता मान ली जाती है। इस प्रकार शब्दगुणों की रचनागत लाक्षणिक स्थिति है, मुख्य गुण-स्थिति रस में ही होती है। गुणव्यञ्जक शब्दयोजना के आधार पर उन्हें इस प्रकार समझा जाता है।

(१) माधुर्य :

वर्गीय पञ्चम—ङ् ञ् ण् न् म् के संयुक्ताक्षर हों, शेष संयुक्ताक्षर न हों, ट ठ ड ढ अप्रयुक्त हों, रेफ-णकार तथा लघुअक्षर हों, समासरहित या अल्प समासवाली रचना हो तो माधुर्य गुण की व्यञ्जना होती है :

रनित भृङ्ग घण्टावली झरित दान मधु नीरु।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुञ्जरु कुञ्ज-समीरु॥ (बिहारी)

इसे माधुर्य गुण की रचना कह सकते हैं।

(२) ओजस् :

संयुक्ताक्षर-बहुल, टवर्गवती, श-ष-युक्त, दीर्घसमासा उद्धत रचना ओजोगुण की व्यञ्जक होती है :

डिगति उर्बि अति गुर्बि, सर्ब पब्बै समुद्र-सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत परत दसकण्ठ मुक्खभर।
सुर-बिमान हिमभानु भानु संघटत परस्पर॥
चौंके बिरञ्चि सङ्कर-सहित, कोलु कमठु अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मण्ड खंड कियौ चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥ (कवितावली)

(३) प्रसाद :

श्रवण मात्र से शब्द अर्थ दे चले तो वह रचना प्रसादगुण की व्यञ्जक होती है जो सर्वत्र आवश्यक है। ऊपर का कोई भी उदाहरण इसके लिए उपयुक्त है।

× × ×

ध्वनिमत में यह देखा गया कि मधुर और ओजस्वी रचनाएँ परस्पर-विरुद्ध हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि पूरा काव्य एक ही रचना में हो। वक्ता, श्रोता, प्रबन्ध आदि के औचित्य से उसमें परिवर्तन होता है। भीम वक्ता हो तो शृंगार जैसी कोमल भावना के लिए भी ओजस्वी रचना उचित होगी। ऊपर ओजस् का उदाहरण देखा जाय तो प्रथम पंक्ति में वीरता का समावेश है परन्तु दूसरी में दैन्य-चित्र आ जाने से रचना ओजस्वी नहीं रह गयी है। पञ्चम में विस्मय है अतः ओजोमयी रचना नहीं लायी गयी है और अन्त में 'जबहिं राम सिवधनु दल्यौ' वस्तुकथन मात्र है अतः रचना सरल कर ली गयी है।

यह भी हो सकता है कि रस के अनुसार गुण की सत्ता हो, पर रचना में उसका समावेश न हो। नाटकों में प्रायः रचना कोमल ही रहती है, फिर भी ओजोगुण रह सकता है। आख्यायिकाओं में दीर्घसमासा रचना संस्कृत में मान्य है फिर भी आवश्यक नहीं कि रस ओजस्वी हो, हाँ, रचना ओजस्वी जान पड़ती है।

ध्वनिमत में रीति तथा गुण

आचार्य वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति माना है और पदरचना की विशिष्टता गुणों के आधार पर निश्चित की है—अर्थात् शब्दगुण और अर्थगुण ही रीति के निर्धारक हैं। पदरचना ही संघटना है जिसके तीन भेद पूर्वाचार्यों को भी मान्य रहे हैं (१) असमासा = वैदर्भी (२) दीर्घसमासा = गौड़ी और (३) मध्यमसमासा = पाञ्चाली[७]। इन्हीं को कुन्तक ने सुकुमार मार्ग, परुषमार्ग और मध्यम मार्ग नाम दिये हैं। ध्वनिमत में गुणों की संख्या तीन ही मानी गयी है और तब विचारणीय हो जाता है कि गुणों और रीतियों का क्या सम्बन्ध हो सकता है। ध्वनिकार के सम्मुख यह प्रश्न महत्त्व का रहा है। वे प्रश्न करते हैं—गुण और रीति में अभेद है या भेद ? यदि भेद है और गुण तथा रीतियाँ पृथक् सत्ताएँ हैं तो रीति का आश्रय गुण हैं या गुणों का आश्रय रीति है ? इस प्रकार गुणों और रीतियों को लेकर तीन विकल्प बनते हैं :

(१) गुण और रीति एक ही तत्त्व है, यह प्रथम विकल्प है। ध्वनिमत में यह मान्य नहीं हो सकता—और रीतिवादी आचार्यों ने भी ऐसा नहीं माना है—क्योंकि रीति तत्त्व किसी रस के लिए निश्चित नहीं है जबकि गुण रस-धर्म हैं अतः रस-नियत हैं। उदाहरणार्थ :

आजु रामसेवक जसु लेऊँ।
भरतहि समर सिखावनु देऊँ॥ (मानस)

यहाँ रीति तो सुकुमार है जबकि रौद्र रस होने से ओजोगुण है। शृङ्गार में भी परुषमार्ग का अवलम्बन हो सकता है—अर्थात् दीर्घ-समासा रचना होती है—

घाम घरीक निबारिए, कलित-ललित-अलि-पुञ्ज।
जमुनातीर–तमाल–तरु – मिलित–मालती – कुञ्ज॥

में माधुर्य गुण होने पर भी लम्बे समासोंवाली गौड़ी रीति है।

(२) दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि रीति ही गुणों का आश्रय है। अर्थात् जैसी रीति होती है, वैसा गुण बनता है। वैदर्भी रीति पर माधुर्य और गौड़ी रीति पर ओजोगुण प्रतिष्ठित हैं। इसे भी मान्य नहीं किया जा सकता क्योंकि रीति और गुण में विरोध देखा जाता है—वैदर्भी में भी ओजस् और गौड़ी में भी माधुर्य पाये जाते हैं, जैसा उदाहरणों में देखा जा चुका है।

(३) तीसरा विकल्प यह है कि रीति का आश्रय गुण है; अर्थात् जैसा गुण होता है, वैसी रीति अनिवार्यतः देखी जाती है। यह भी मान्य नहीं किया जा सकता—कारण ऊपर कहे जा चुके हैं।

ऐसी स्थिति में गुण और रीति के सम्बन्ध में ध्वनिसिद्धान्त की मान्यता यह ठहरती है :

(क) रस पर गुणों की प्रतिष्ठा है, वे रसधर्म हैं।

(ख) रीतियाँ वर्ण-संघटनारूप हैं।

(ग) जहाँ गुणों के आधार पर रीति-योजना होती है वहाँ रीति भी गुणव्यञ्जक होती है।

(घ) जहाँ गुण-निरपेक्ष रीति होती है, वहाँ गुणव्यञ्जक नहीं हो पाती।

(ङ) जहाँ रस-धर्म गुण की व्यवस्था नहीं होती वहाँ रीति से ही गुणों की सत्ता मान ली जाती है जो लाक्षणिक हैं और तब वर्णयोजना को ही माधुर्यगुण कहा जा सकता है परन्तु यह 'गुण' शब्द का वास्तविक प्रयोग नहीं है।

इस प्रकार ध्वनिकार ने रीतियों और गुणों की प्रतिष्ठा को नया विचार दिया है। वहाँ रीतियाँ व्यञ्जक हैं, जब गुण व्यंग्य हैं। आवश्यक नहीं कि सर्वत्र रीतियों से प्रसङ्गोचित गुणों की व्यञ्जना हो ही जाती हो। काव्यों में विपर्यय सुलभ हैं। कविशक्ति से रीति की कमी दब जाती है, फलतः विपरीत गुणवाली रीति का प्रयोग अन्य गुण के साथ हो जाता है जो बेमेल रहता है, फिर भी कवि की प्रतिभा उसे तिरोहित कर देती है तो कोई दोष नहीं जान पड़ता।

ऊपर माधुर्य-व्यञ्जक, ओजोव्यञ्जक रचनाओं का उल्लेख गुणविवेचन के सन्दर्भ में हुआ है। वे ही क्रमशः वैदर्भी और गौड़ी रीतियाँ हैं जिन्हें सुकुमार मार्ग और परुष-मार्ग भी कहा जाता है। दोनों के बीच का, दोनों के मिश्रण से बना हुआ तृतीय मध्यम मार्ग ही पाञ्चाली रीति है। काव्यप्रकाशकार ने रीति और वृत्ति को समानार्थक मानकर उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों की व्यवस्था वृत्यनुप्रास-विवेचन में दी है।

१. माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों से उपनागरिका वृत्ति होती है,

२. ओजोव्यञ्जक वर्णों से परुषा, और

३. दोनों के व्यञ्जक वर्णों से भिन्न—श, ष, ल आदि से घटित वृत्ति को कोमला कहते हैं। इन्हीं तीनों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली नाम दिया जाता है।[१]

आचार्य मम्मट की स्थापना निर्दोष नहीं कही जा सकती । इसके निम्नलिखित कारण हैं :

१. वृत्ति अनुप्रास की वस्तु है और रीति के लिए आवश्यक नहीं कि एक ही व्यञ्जन की आवृत्ति हो । वहाँ तो पूरी रचना में व्यञ्जक व्यञ्जन आते हैं जो अनुप्रास रूप भी हो सकते हैं और अनुप्रासरहित भी ।

२. वृत्ति के लिए समास की शर्त नहीं है जबकि रीतियों का आधार समास भी होता है ।

३. माधुर्य-व्यञ्जक वर्ण भी संयुक्ताक्षरों में परुष होकर ओजोव्यञ्जक ठहरते हैं । केवल माधुर्यव्यञ्जक कह देने से संयुक्ताक्षरों का निराकरण नहीं हो पाता ।

× + ×

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लाक्षणिक प्रयोग में गुण और रीति में अन्तर कभी-कभी नहीं रहता और शिथिल व्यवहार में उपनागरिका वृत्ति तथा वैदर्भी रीति को माधुर्य गुण कह चलते हैं, परुषावृत्ति तथा गौड़ी रीति ओजोगुण भी कही जाती हैं । इसी प्रकार कोमला वृत्ति तथा पाञ्चाली रीति के लिए प्रसाद गुण की संज्ञा दी जाती है । वस्तुस्थिति इसके विपरीत ही ध्वनिकार को मान्य रही है, जैसा देखा जा चुका है । सबसे बड़ी बात है कि प्रसाद गुण की सत्ता तो सर्वत्र मान्य है तब उसे पाञ्चाली के साथ अभिन्न मानकर प्रयोग हो ही कैसे सकता है ।

ध्वनिमत में दोष-निरूपण

आचार्य भामह ने काव्यालङ्कार के चतुर्थ अध्याय में दोषों का निरूपण किया है, परन्तु सामान्य दोष की परिभाषा नहीं की है जिससे दोष के मूल आधार तत्त्व पर प्रकाश नहीं पड़ता । वे काव्य को शब्दार्थ-समूह रूप मानते हैं अतः शब्ददोष और अर्थदोष उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जिस प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार । परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोष गुणों के विपर्यय प्रतीत होते हैं अतः गुण यदि काव्य के शोभाकारक हैं तो दोष काव्य-शोभा के व्याघातक हैं । इस आधार पर गुणविपर्यय के रूप में आचार्य वामन ने दोषों को समझाने का प्रयास किया है । वस्तुतः दोषविपर्यय सबसे पहला गुण है, यह ध्वनिमत में अधिक समीचीन माना जाता है ।

काव्य में वर्जनीय होना ही दोष का सामान्य लक्षण मानकर दण्डी ने दोषों का परिगणन किया है । वे दोषों की दस संख्या मानकर चले हैं ।[१०] वर्जनीयता के मूल कारण पर प्रकाश पूर्वाचार्यों ने नहीं डाला है । काव्य के माध्यम से सहृदय को प्रेषित संवेदना में क्षति पहुँचना ही वर्जनीयता का कारण होना चाहिए, परन्तु शैलीपक्ष पर ही ध्यान रहने से अनुभूतिगत व्याघात पर दृष्टि नहीं जा सकी थी । ध्वनि-सिद्धान्त में दोष का दोषत्व संवेदन-व्याघात पर अवलम्बित माना गया है । ध्वनिकार यही प्रश्न उठाते हैं कि क्या कारण है कि श्रुतिकटुत्व आदि दोष अनित्य होते हैं—अर्थात् शृङ्गारादि में वे दोष होते

हैं जबकि वीर, रौद्र और बीभत्स में गुण बन जाते हैं। स्पष्ट उत्तर यही है कि व्यंग्यभूत रस में व्याघात पहुँचाने पर वे दोष होते हैं और उसमें सहयोग देने पर गुण बन जाते हैं, अतः व्यंग्यभूत रस के आधार पर ही गुणों के समान दोषों की व्यवस्था है।[११] अतः दोष की परिभाषा यह है :

"रस रूप मुख्यार्थ में व्याघात ही दोष है।"

रस का आश्रय वाच्य अर्थ होता है, शब्द, वर्ण और रचना भी आश्रय हैं, अतः दोष कहीं साक्षात् रसदोष होता है, कहीं शब्ददोष और कहीं अर्थदोष। रसदोष साक्षाद्-दोष हैं जबकि शेष परम्परा-दोष कहे जा सकते हैं क्योंकि शब्द और अर्थ के माध्यम से वे रसानुभूति में व्याघात लाते हैं।

रसदोष :

रसदोष ध्वनि-सिद्धान्त में नवीन स्थापना है। भरत ने दण्डीवाले दस गुण ही गिनाये थे।[१२] परन्तु व्यंग्य अर्थ की स्वीकृति के साथ-साथ दोषों की व्यञ्जना के परिप्रेक्ष्य से विवेचना आवश्यक हो गयी। इनकी तेरह संख्या मम्मट ने मानी है।

(१) व्यभिचारी भाव को वाच्यरूप में कहना :

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक,
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्‌गद बोल। (कामायनी)

यहाँ 'लज्जा' का नामग्रहण एक प्रकार से दोष ही कहा जाता परन्तु कवि 'लाली' अनुभाव के लिए उसे लाया है। परन्तु :

झुक चली सव्रीड वह सुकुमारता के भार
लद गयी पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार। (वही)

यहाँ 'सव्रीड' शब्द दूषित है।

(२) स्थायी भाव का स्वशब्दवाच्यत्व :

बोल उठे सक्रोध मानसिक भीषण दुख-से। (वही)

यहाँ भी 'सक्रोध' न कहकर क्रोध के अनुभाव लाने चाहिए थे। इस प्रकार :

देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कम्पन। (वही)

(३) रस का शब्दवाच्यत्व :

यह 'रस' शब्द या शृङ्गारादि शब्द के आने से होता है।

उठा तुमुल रणनाद, भयानक हुई अवस्था,
बढ़ा विपक्ष-समूह मौन पद-दलित व्यवस्था। (कामायनी)

'भयानक' कह देने से रस वाच्य हुआ है, वस्तुतः कम्प आदि अनुभावों से ही उसकी व्यञ्जना अनुभूति के उपयुक्त होती।

(४) अनुभाव की कष्टकल्पना :

उदाहरणार्थ कामायनी में श्रद्धा को पहले-पहल देखने पर दूर तक विभाव-वर्णन चलता है, परन्तु अनुभाव के नाम पर इतना ही है :

एक झटका-सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे-से........ इत्यादि ।

इससे मनु की सुखात्मक प्रतिक्रिया का स्पष्ट पता नहीं चलता । 'सहर्ष' कहने से अनुभाव की क्षतिपूर्ति नहीं होती ।

भावकु उभरौंहौं भयौ, कछुकु परचौ भरुआइ ।
सीपहरा कैं मिस हियौ निसिदिन देखत जाइ ॥ (बिहारी)

यहाँ भी विभावमात्र का वर्णन है । नायकगत अनुभाव की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है, अतः श्रृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता ।

(५) विभाव की कष्ट-कल्पना :

जिहिं निदाघ-दुपहर रहै, भई माघ की राति ।
तिहिं उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति ॥ (बिहारी)

यहाँ अनुभाव मात्र का विवरण है, विभाव रूप नायक की कल्पना करने पर ही विरह-सन्ताप जाना जाता है—यों औटने की क्रिया तो तीव्र ज्वर में या सन्निपात में या अङ्गों के जल जाने से भी सम्भव है ।

(६) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण :

ऐहै न फेरि गई जो निसा, तन जोबन है घन की परिछाहीं ।
त्यों पदुमाकर क्यों न मिलै उठि, यों निबहै गौ न नेह सदाहीं ॥
कौन सयानि जो कान्ह सुजान सौं ठानि गुमान रही मन माहीं ।
एक जौ कञ्ज-कली न खिली तौ कहा कहूँ भौंर कौ ठौर है नाहीं ॥

यहाँ श्रृंगार रस में यौवन की अनित्यता का वर्णन है जो शान्त का विभाव होता है ।

(७) पुनः पुनः रस-दीपन :

साकेत के नवम-सर्ग में बराबर विरह का दीपन किया जाता रहा है जो मुक्तक में भले ही उचित हो, प्रबन्ध में असंगत है । मम्मट ने कुमारसंभव के रतिविलाप को उदाहरण में लिया है । 'यशोधरा' भी इस दोष से मुक्त नहीं है ।

(८) अनवसर में अप्रासंगिक रस का विस्तार :

कामायनी के वासना-सर्ग का मुख्य प्रतिपाद्य संभोग श्रृंगार है जबकि बीच में हरिण-शावक के प्रति मनु की ईर्ष्या का अकाण्ड में विस्तार किया गया है । साकेत में ऊर्मिला-लक्ष्मण-संवाद का विस्तार भी ऐसा ही कहा जा सकता है ।

(९) अनवसर में प्रासंगिक रस का विच्छेद :

कामायनी के संघर्ष सर्ग में जन-विद्रोह प्रासंगिक है परन्तु रुद्र के प्रवेश द्वारा उसका विच्छेद कर दिया गया है जिससे रौद्र रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता ।

(१०) अप्रधान अंग का विस्तार :

प्रसाद जी के अजातशत्रु नाटक में विरुद्धक और उदयन के कथानक का विस्तार मूल कथा से कहीं बड़ा हो गया है ।

(११) प्रकृति-विपर्यय :

वर्ण्य पात्र की प्रकृति के विरुद्ध रस-चित्रण करना भी दोष है । कालिदास के कुमारसंभव में शिव-पार्वती का विलास-वर्णन ऐसा ही है । 'पञ्चवटी' में राम द्वारा परिहास-कथन भी इसी कोटि में आता है ।

(१२) अंगी रस का विस्मरण :

मुख्य रस आरम्भ से अन्त तक व्याप्त रहता है, परन्तु यदि कहीं वह विच्छिन्न दिखायी पड़े तो दोष होता है । कामायनी का मुख्य रस 'शान्त' है पर चिन्ता, निर्वेद, रहस्य और आनन्द सर्गों के अतिरिक्त कहीं भी उसकी सूचना नहीं मिलती ।

(१३) रस के अनुपकारक तथ्य का वर्णन :

प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में वीर रस मुख्य है और परिणति भी उसी में हुई है पर अलका की हत्या रसोपयोगी नहीं है जिसे वहाँ लाया गया है ।

ध्वनिवादी आचार्यों ने भरत के बाद रस को काव्य-सर्वस्व माना और उसे व्यंग्य रूप में प्रतिष्ठित कर दोषों को भी उसी आधार पर व्याख्या दी । रस-दोषों की उद्भावना उन्होंने की तथा अन्य दोषों को भी व्यञ्जन की दृष्टि से हेय ठहराया । इस सन्दर्भ में पहले अर्थदोष विचारणीय हैं ।

अर्थदोष :

(१) अर्थ का अपुष्टत्व :

था सोमलता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि,
घण्टा बजता तालों में
उसकी थी मन्थर गति-विधि । (कामायनी)

'विधि' शब्द केवल 'प्रतिनिधि' के तुक में लाया गया है, अन्यथा गति का मन्थर होना पर्याप्त है, विधि या रीति का अर्थ व्यञ्जना न देने से 'अपुष्ट' है ।

धूमकेतु-सा चला रुद्र-नाराच भयंकर,
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर । (कामायनी)

यहाँ 'अपनी' और 'अति' का अर्थ अपुष्ट है जिससे वीर या रौद्र रस के निर्वाह में कवि की अक्षमता का पता लगता है ।

(२) कष्टार्थत्व :

करती सरस्वती मधुर नाद।
बहती थी श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव-सी अप्रमाद,
सब उपल उपेक्षित पड़े रहे जैसे वे निष्ठुर जड़ विषाद।
वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमें था केवल मधुर गान
थी कर्म-निरन्तरता-प्रतीक चलता था स्ववश अनन्त ज्ञान।
हिमशीतल लहरों का रह-रह कूलों पर टकराते जाना
आलोक अरुण किरणों का उनपर अपनी छाया बिखराना।
अद्‌भुत था, निज निर्मित पथ पर वह पथिक चल रहा निर्विवाद
कहता जाता कुछ सु-संवाद। (कामायनी)

यहाँ सरस्वती नदी का वर्णन प्रासङ्गिक है जो अनन्त ज्ञान, निर्विवाद चलना और सुसंवाद कहना जैसे स्थलों में क्लिष्ट हो गया है—सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों ने वेदरचना की थी, यह अर्थ-व्यञ्जना कष्ट से निकलती है। साथ ही कवि अपनी प्रतीक-सम्पन्न काव्य-धारा के स्वच्छन्द प्रवाह की व्यञ्जना करना चाहता है, परन्तु उपलों की उपेक्षा, अनन्त ज्ञान का स्ववश होना, लहरों का टकराना, आलोक-किरणों का बिखरना, निजनिर्मित पथ, निर्विवाद चलना ऐसे तथ्य हैं जिनसे कवि व्यञ्जना करना चाहता है कि जड़ रूढ़ियों की उपेक्षा करके छायावादी कवि रहस्यमयी असीम सत्ता को स्ववश अनुभव करता है, उसके हृदय की श्यामल घाटी है जिसमें भावतरङ्ग टकराते हैं और निःसीम भावना का प्रकाश फैलता है, रहस्य-कवि अपना काव्य-मार्ग स्वयं निर्धारित करता है, शास्त्रीय विवादों में नहीं पड़ता। ये व्यंग्य अर्थ कष्ट-कल्पना से निकलते हैं।

(३) अर्थ का व्याहतत्व :

पहले वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाने के बाद उसी का अन्यथा वर्णन करने से अर्थ में व्याघात आता है जो दोष है :

हृदय तरुणों का कलाधर की कला हरती नहीं।
चाहते वे सुन्दरी निज-नयन-ज्योत्स्ना को कहीं॥[13]

यहाँ पहले चन्द्रकला को व्यर्थ बताया गया है और फिर उपमान रूप में उसी की इच्छा दिखायी गयी है जिससे अर्थ व्याहत हो जाता है और रसानुभूति में बाधा आती है।

(४) पुनरुक्ति :

अपने को आवृत किये रहो, दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप।
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता-फिरता हो दम्भ-स्तूप॥
(कामायनी)

कृत्रिम स्वरूप दिखलाने से जो बात कही गयी है, उसी की दम्भ-स्तूप के चलने से पुनरुक्ति की गयी है।

छूते थे मनु तब और कण्टकित होती थी वह बेली,
स्वस्थ व्यथा की लहरों-सी जो अंग-लता थी फैली। (कामायनी)

'बेल' और 'लता' में पुनरुक्ति है।

(५) दुष्क्रमत्व :

मारुत को सुत मारुत को मन को खगराज को बेग लजायौ।

यहाँ अर्थ का क्रम दूषित है—खगराज, मारुत और मन का क्रम चाहिए था क्योंकि ये उत्तरोत्तर अधिक वेगशाली हैं।

आरत, दीन, अनाथन को रघुनाथ करैं निज हाथ की छाहैं।
(कवितावली)

यहाँ आर्त, दीन और अनाथ का क्रम उचित है।

(६) ग्राम्यत्व :

लरिका लैबे के मिसनु, लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ॥ (बिहारी)

यहाँ ग्राम्यता ने श्रृंगाररसाभास की व्यञ्जना में विक्षेप उत्पन्न किया है।

'बुढ़ौना मै का ववलिया में गजरैं देइ।"

जैसी ग्राम्य रचना इसलिए दूषित नहीं है कि हास्यरस की व्यञ्जना करती है जबकि बिहारी श्रृंगारी रचना में ग्राम्य अर्थ ले आये हैं।

(७) सन्देह (अर्थ का अनिश्चय) :

दैहौं साप कि मरिहौं जाई।
जगत मोरि उपहास कराई॥ (मानस)

यहाँ 'मरूँगा-मारूँगा' अर्थों में 'मरिहौं' पद सन्देह लाता है। वस्तुतः यहाँ पद सन्दिग्धार्थक है, अतः पदगत दोष है।

भजन कह्यौ तासौं भज्यौ भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जासौं कह्यौ सो तैं भज्यौ गँवार॥ (बिहारी)

यहाँ स्पष्ट नहीं कि कवि भक्ति के पक्ष में निर्णायक बात कह रहा है या कोई दूती नायक को झिड़क रही है। एक चलन है कि इसे भक्ति का दोहा कहा जाता है।

(८) निर्हेतुता : (जहाँ किसी कार्य का कारण न बताया जाय)

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान। (कामायनी)

श्रद्धा ने कैसे जान लिया कि मनु में यही दुर्बलता है, जबकि कवि ने उसका कोई कारण नहीं दिया है।

(९) प्रसिद्धि-विरोध :

हाहाकार हुआ क्रन्दनमय
कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव
बार-बार होता था क्रूर। (कामायनी)

यहाँ प्रलय-घन-गर्जन के लिए 'रव' का प्रयोग प्रसिद्धि-विरुद्ध है क्योंकि 'रव' तो मण्डूकादिध्वनि के लिए ही प्रसिद्ध है।[१४]

(१०) शास्त्रविरुद्धता :

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह! सर्ग के प्रथम अंक का
अधम-पात्रमय-सा विष्कम्भ। (कामायनी)

द्रष्टव्य है कि नाट्यशास्त्र में अधम पात्रों से 'प्रवेशक' बनता है, 'विष्कम्भ' नहीं और वह भी (प्रवेशक) प्रथम अंक में नहीं लाया जाता। कवि ने शास्त्र-विरुद्ध अर्थ रखा है जो जानकार के लिए अनुभूति में बाधक है।

(११) अनवीकृतत्व :

बार-बार एक ही बात कही जाय, उसे नवीनता न दी जाय तो दोष होता है। उदाहरणार्थ :

जात मिटि जोबन जलूस जेब जोम वारौ
जाति मिटि कीरति जो जग मैं बिख्याति है।
कहत ब्रजेस देह गेह नेह नाते सबै
जात मिटि देस कोस कुल करामाति है॥
ऐसे बसोबास ते उदास क्यों न होत मूढ़
जामें एक छिन की न थिरता लखाति है।
चरचा रहति पाछे चारि दिन चारि ओर,
चारि दिन बीते चरचाहू मिटि जाति है॥

'मिट जाना' बार-बार आया है जिसे अन्य प्रकार से कहा जाता तो नवीनता बनी रहती—'रहति न कीरति', 'बिनसत देस-कोस' जैसा कुछ परिवर्तन होता तो दोष न रहता। दीन कवि ने ऐसा ही किया है :

छूटि जैहैं मन्दिर मतंग मतवारे बृन्द
कोठी मनि - मानिक जड़ी ही रहि जायगी।
दीन कहै जोरि-जोरि गाड़ी जो जमी मैं द्रव्य
दान मैं न दीनी सो गड़ी ही रहि जायगी॥

तेरे मालखाने तोप - खाने न चलैंगे संग
चमू चतुरंगिनी खड़ी ही रहि जायगी।
जा दिन जलैंगौ तू चिता पै पौढ़ि ज्वाला बीच
बाला चित्र-साला में पड़ी ही रहि जायगी ॥

(१२) सनियमता का परिवर्तन :

प्रत्यक्ष लगा होने अतीत, जिन घड़ियों का अब शेष नाम। (कामायनी)

'नाम ही शेष था' यह सनियम-वाक्य होना था जिसे अनियम-वाक्य में परिवर्तित करके छन्दोनुरोध-वश रखा गया है।

(१३) अनियमता का परिवर्तन :

इन ढेरों में दुख-भरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण। (कामायनी)

'अभी=अब ही' अर्थ लें तो 'ही' द्वारा नियमन अपेक्षित न था। 'अब भी' अर्थ लेने पर दोष तो नहीं है पर इस अर्थ में पददोष अवश्य आ जाता है।

द्रवता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि। (कामायनी)

यहाँ 'निरन्तर' पर्याप्त है, 'ही' द्वारा नियमन अपेक्षित नहीं अतः अनियम अर्थ का सनियम में परिवर्तन दोष है।

कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज। (कामायनी)

यहाँ 'इसी' पद का सनियम होना दूषित है।

(१४) विशेष का परिवर्तन :

उधर वह्नि-ज्वाला भी अपना
लगी धूम-पट थी बुनने। (कामायनी)

यहाँ 'ज्वाला' सामान्य शब्द प्रयोग में है जिसकी 'धूम' के साथ अच्छी संगति नहीं बैठी। 'कृशानु-शिखा' विशेष प्रयोग ठीक रहता, अथवा

'धूम-ध्वज की शिखा उधर थी अपनी नील-पटी बुनने।'

में 'धूमध्वज' विशेष पर्याय लाना था, सामान्य 'वह्नि' नहीं।

(१५) अविशेष का परिवर्तन :

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं॥ (कबीर)

'हरि' विशेष प्रेमालम्बन न कहकर अविशेष रूप से 'प्रिय' या 'तू' या 'वह' लाया जाता तो अनुभूति की व्यापकता बनी रहती।

(१६) साकाङ्क्षता :

वे अमर रहे न विनोद रहा
चेतनता रही अनङ्ग हुआ,
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये
संचित का सरल प्रसंग हुआ। (कामायनी)

यहाँ 'सञ्चित' का अर्थ 'कर्म' विशेष्य की आकांक्षा रखता है अतः वाक्यार्थ अधूरा-सा लगता है ।

(१७) अपद-युक्तता (अनवसर-प्राप्त या अस्थान पर कुछ जोड़ना) :

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप-कच्छप डूबें-उतरायँ,
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय । (कामायनी)

यहाँ तृतीय चरण में ही बात पूरी हो जाती है, चतुर्थ चरण अपद-प्रयुक्त अर्थ ही देता है जो एक प्रकार का दोष है ।

(१८) सहचर-भिन्नता :

जहाँ उत्कृष्टों के साथ अपकृष्ट जोड़े जायँ, वहाँ यह दोष होता है ।

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥ (मानस)

कहा जा सकता है कि उपमान-दल की भाव-तीव्रता से ही कवि का आशय है, फिर भी कुछ रसास्वाद-विक्षेप तो हो सकता है ।

अरुन-गात अति-प्रात पदमिनी-प्राननाथ भय ।
मानहुँ केसवदास कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिन्दूर-पूर कैधौं मङ्गलघट ।
किधौं सक्र कौ छत्र मढ़यौ मानिक मयूख-पट ॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल कौ ।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्-भामिनि के भाल कौ ॥ (रामचन्द्रिका)

यहाँ प्रभात-सौन्दर्य-चित्रण में मंगल-घट, माणिक्य-पट और दिग्वधू के मस्तक का रत्न, सभी उपमान उत्कृष्ट हैं परन्तु रक्त-पूर्ण खप्पर न तो किसी विशेष व्यञ्जना में समर्थ है और न ही उत्कृष्ट है प्रत्युत जुगुप्सा-व्यञ्जक है ।

(१९) प्रकाशित-विरुद्धता :

विवक्षा और हो पर व्यञ्जना से विपरीत अर्थ आकर रसिक का ध्यान रस-संवेदन से हटा दे तो यह दोष होता है ।

अरे बता दो मुझे दया कर कहाँ प्रवासी है मेरा ?
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मैं फेरा । (कामायनी)

फेरा डालने से कवि का अभिप्राय गवेषणा है परन्तु विवाह के फेरे (भाँवर) डालने की व्यञ्जना रसिक को किंचित् पथश्च्युत कर देती है ।

(२०) विधेय की असंगति :

पूरी हो कामना हमारी, विफल प्रयास नहीं तो । (कामायनी)

'हमारी कामना' उद्देश्य है और 'पूरी हो' वाक्य का विधेय-दल है। उद्देश्य और विधेय में पूर्वापर-प्रयोग के उलट जाने से ऐसा लगता है—'सम्पूर्ण कामना, हमारी हो जाय'।

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार। (वही)

'मांस-पेशियाँ दृढ़ थीं' विवक्षित है परन्तु 'दृढ़' विधेय उद्देश्य के पूर्व आ जाने से वाक्य ही अपूर्ण लगता है।

(२१) उद्देश्य की अयुक्तता :

इस ग्रह-कक्षा की हलचल री।
तरल गरल की लघु लहरी।
जरा अमर जीवन की, और
न कुछ सुननेवाली बहरी। (कामायनी)

'बहरी' कहकर भी उसी से बात की जा रही है।

(२२) त्यक्त का पुनर्ग्रहण (समाप्त-पुनरात्तता) :

जब लीला से तुम सीख रहे कोरक-कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी में बिछलन न हुई थी, सच कहना ?
जब लिखते थे तुम सरस हँसी अपनी, फूलों के अञ्चल में,
अपना कल-कण्ठ मिलाते थे झरनों के कोमल कल-कल में।
(कामायनी)

'जब' 'तब' से आरम्भ होनेवाली प्रथम दो पंक्तियों में अर्थ पूरा हो जाता है और उसी को पुनः 'जब' इत्यादि से उठाया गया है। अन्तिम दो चरणों को प्रथम चरण के बाद होना चाहिए था।

(२३) अश्लीलता :

ऊपर की दो पंक्तियों के अर्थ से ऐसी भी व्यञ्जना होती है, जैसे, पुरुष-चिह्न का स्त्री-चिह्न के सम्पर्क से लुप्तता और उससे गुप्ताङ्गीय सरसता उत्पन्न हुई हो—यह व्यंग्य अश्लील है जिससे कवि को बचना चाहिए था।

× × ×

उक्त अर्थ-दोषों की व्यंग्य के आधार पर ही प्रतिष्ठा है। इसी प्रकार शब्द-दोष भी विचारणीय हैं।

शब्ददोष :

शब्दों के माध्यम से रस-संवेदन में व्याघात लानेवाले दोष शब्ददोष कहे जाते हैं। ये पदगत, पदांशगत, वाक्यगत तथा समासगत होते हैं। निम्नलिखित विवेचन में उनका स्वरूप द्रष्टव्य है।

(क) वाक्य-दोष :

(१) प्रतिकूल-वर्णता :

गुणनिरूपण में रसानुरूप वर्णयोजना पर प्रकाश डाला जा चुका है, उसके विपरीत वर्ण-विन्यास से यह दोष होता है ।

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कम्पित-कर भरतार ।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ें तिलक लिलार ॥ (बिहारी)

टवर्ग श्रृंगार-रस-व्यञ्जना के प्रतिकूल लाया गया है ।

(२) हतवृत्तता (पद्यदोष) :

कुङ्कुम का चूर्ण उड़ाते-से मिलने को गले ललकते-से,
अन्तरिक्ष के मधु-उत्सव के विद्युत्कण मिले झलकते-से । (कामायनी)

उत्तरार्ध में दोष है—'अन् तरिक् क्षके' पढ़ना पड़ता है, स्वाभाविक पाठ से छन्द टूटता लगता है ।

(३) न्यूनपदत्व :

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ । (कामायनी)

'सुन्दरता के पग में' होना था, 'के' पद न्यून है ।

(४) अधिक-पदत्व :

वह शीतलता है शान्तिमयी जीवन के उष्ण विचारों की । (कामायनी)

'उष्ण' के विरोध में 'शीतलता' पर्याप्त है—'शान्तिमयी' अधिक है ।

आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता-सा । (कामायनी)

'बन' पद अधिक है, ढलना ही पर्याप्त है ।

वासन्ती के वन वैभव में
जिसका पञ्चम स्वर पिक-सा हो (वही)

'पिक' का स्वर पञ्चम होता है, यह प्रसिद्धि है अतः 'पञ्चम' अधिक है ।

(५) कथित-पदत्व (पद-पुनरुक्ति) :

द्वार बन्द कर दो, इनको तो अब न यहाँ आने देना,
प्रकृति आज उत्पात कर रही, मुझको बस सोने देना । (कामायनी)

यहाँ 'देना' पद पुनरुक्त है । 'आने' और 'सोने' में अन्त्यानुप्रास भी नहीं है ।

मैं की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये-सी,

सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूंट पिये-सी। (वही)

'सब' पुनरुक्त है।

(६) पतत्प्रकर्षत्व :

उधर गरजतीं सिन्धु-लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निःश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके अवयव का होता था ह्रास। (वही)

यहाँ तीन पक्तियों में प्रकर्ष एक-सा रहा पर चौथी में गिर गया है।

(७) समाप्त-पुनरात्तता :

बात समाप्त हुई लगे फिर भी उसे आगे बढ़ाया जाय तो यह दोष होता है। यह प्रायः वाक्य-पूर्ति के अनन्तर विशेषण पद के आने पर होता है।

लपटी पुहुप पराग पट सनी सेद मकरन्द।
आवति नारि नबोढ़ लौं सुखद वायु गति मन्द ॥ (बिहारी)

सभी विशेषण पहले आ गये हैं और वायु तक आकर वाक्य समाप्त लगता है, 'गति-मन्द' पुनरात्त = पुनर्गृहीत है।

(८) पूर्वार्ध के एक शब्द का उत्तरार्ध में प्रयोग :

कहते – कहते कुछ सोच रहे
लेकर निःश्वास निराशा की,
मनु, अपने मन की बात, रुकी
फिर भी न प्रगति अभिलाषा की। (कामायनी)

यहाँ पूर्वार्ध का 'मनु' उत्तरार्ध में होने से अर्थ में व्याघात पड़ता है।

(९) अभवन्मत-सम्बन्धत्व :

मत सम्बन्ध = अभीष्ट सम्बन्ध न होना दोष है। यह 'जो—सो', जैसे सापेक्ष शब्दों के उचित प्रयोग के अभाव में होता है।

इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे,
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर-मधुर कुछ गावे,
रोम-हर्ष हो उस ज्योत्स्ना में
मृदु मुसक्यान खिले तो— (कामायनी)

'जितनी' के सम्बन्ध में 'उतनी' का प्रयोग कहीं न होने से अभीष्ट अर्थ-सम्बन्ध बैठ नहीं पाता। इसी प्रकार 'जहाँ' के अभीष्ट सम्बन्ध के लिए 'उस ज्योत्सना में' लाया

गया है—या तो 'वहाँ' होता या फिर 'जहाँ' के स्थान पर 'जिसमें' होता तो अभिमत सम्बन्ध संगत हो जाता ।

बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथायें,
अवकाश कहाँ है किनको
सुनने को करुण कथायें । (आँसू)

'जिन' 'जो' के अभीष्ट सम्बन्ध में 'उन' आना चाहिए था, 'किन' नहीं ।

नीरवता-सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान । (कामायनी)

यहाँ 'शिलाचरण' में समास होने से 'शिला' का सम्बन्ध 'नीरवता-सी' के साथ नहीं हो पाता । यदि समास न माना जाय तो 'के' पद की न्यूनता दोष है ।

(१०) अवश्यकथनीय पद का त्याग :

आह यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह ।
पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह ॥ (वही)

यहाँ 'मेरे ही' अवश्यकथनीय था; 'ही' पद का त्याग खटकता है ।

कहा हँसकर 'अतिथि हूँ मैं, और परिचय व्यर्थ,
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ ।' (वही)

'तो' पद का त्याग है । ऐसा अधिक उपयुक्त होता :

तुम कभी उद्विग्न इतने तो न थे इस अर्थ ।

(११) अस्थानस्थ-पदता :

हुए हिमधवल, जैसे पत्थर
बनकर ठिठुरे रहे अड़े । (वही)

'ठिठुरकर पत्थर बनना' ठीक होता जबकि उलटा प्रयोग हो गया है ।

विश्व भर सौरभ से भर जाय, सुमन के खेलो सुन्दर खेल । (वही)

'सुमन' पहले और 'सौरभ' बाद में लाना चाहिए था ।

(१२) अस्थानस्थ-समासता :

रचित-परमाणु, पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार । (वही)

'पराग-परमाणु-रचित' समास उचित था ।

(१३) संकीर्णता :

अन्य वाक्य के पद अन्य वाक्य के साथ जुड़े हों तो दोष है ।

एक झिटका सा लगा, सहर्ष
निरखने लगे लुटे से कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन। (वही)

द्वितीय वाक्य का 'सहर्ष' पद प्रथम वाक्य में और तृतीय वाक्य का 'कौन' द्वितीय वाक्य में मिल गया है।

(१४) गर्भितत्व (वाक्य के बीच वाक्य-प्रयोग) :

और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मङ्गल वरदान—
'शक्तिशाली हो विजयी बनो'
विश्व में गूँज रहा जयगान। (वही)

यहाँ तृतीय चरण गर्भगत हो गया है (जिसे बाद में आना था) फलतः वाक्यार्थ अटपटा हो गया है।

(१५) प्रसिद्धि-व्याघात :

हुए दिगन्त बधिर भीषण रव
बार-बार होता था क्रूर। (वही)

गर्जन के अर्थ में 'रव' शब्द प्रसिद्धि के विरुद्ध है।

(१६) भग्न-प्रक्रमत्व :

पुर तें निकसीं रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग मैं डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
पुनि बूझति हैं चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जलु च्वै॥
(कबितावली)

यहाँ प्रक्रम (आरम्भ) तो भूतकाल की कियाओं से किया गया है और अन्त तक उनकी व्याप्ति है परन्तु 'बूझति हैं' में प्रक्रम-भंग हो गया है।

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मन्दिर में बिहरैं॥ (वही)

सर्वत्र करैं, डरैं आदि आख्यात प्रयुक्त हैं—नाचत, लेत में प्रक्रम-भंग है।

नेवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की। (वही)

'करै' और 'जाउँ' में पुरुष का प्रक्रम-भंग है।

पञ्चभूत का भैरव मिश्रण
शम्पाओं के शकल-निपात। (कामायनी)

यहाँ 'मिश्रण' को 'भैरव' विशेषण के साथ लाकर आगे निभाया नहीं जा सका है। 'शम्पाओं के निपात' के लिए भी प्रचुर, प्रखर, विकट जैसा कोई विशेषण लाना था।

(१७) अक्रमत्व :

चपला चमकैं घन-बीच, जगैं छबि मोतिन माल अमोलन की। (कबितावली)

'अमोल मोती मालन की' क्रम अपेक्षित था जिसका अभाव अन्त्यानुप्रास के अनुरोध से लाना पड़ा है।

नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन,
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन। (कामायनी)

तरल और सघन के क्रम से चेतन और जड़ को लाना अपेक्षित था।

(१८) अमत-परार्थत्व (जहाँ अप्रस्तुत अर्थ प्रसंग में अभिमत न हो) :

जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये
अपने तालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये। (वही)

'मधुप' के बहुवचन से अनेक प्रेमियों के आने की व्यञ्जना होती है जो प्रसंग में अभिमत नहीं।

(ख) पद-दोष :

(१) श्रुतिकटुत्व :

अकेला यह जीवन निरुपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध। (कामायनी)

'विश्रब्ध' पद श्रुति-कटु है :

(२) च्युत-संस्कृति (व्याकरण-विरोध) :

प्रहर दिवस रजनी आती थी
चल जाती सन्देश - विहीन। (कामायनी)

प्रहर और दिवस के अनुरोध पर क्रिया को पुंलिग-बहुवचन में होना चाहिए।

(३) अप्रयुक्तत्व :

पटें सागर बिखरें ग्रह पुञ्ज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण। (वही)

ज्वालामुखी पुंलिग में ही प्रयुक्त है जो स्त्रीलिंग में यहाँ अप्रयुक्तत्व से दूषित है।

(४) असमर्थता :

वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप। (वही)

हिन्दी में 'अपरूप' का सुन्दर-पर्याय प्रयोग असमर्थ (शक्तिरहित) है।

(५) निहतार्थता :

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम। (वही)

एक तो मुख का उपमान न होकर किसलय अधर का उपमान है, दूसरे 'रक्त' शब्द रुधिरार्थक होने से निहतार्थ हो गया है—उसका अर्थ निहत हो गया है, 'अरुण' शब्द ही उपयुक्त था। आगे 'अरुण' के स्थान पर 'उषा' या अन्य शब्द लाना था।

(६) अनुचितार्थता :

समाधि-वेदी पर जो बने पशु
वही हुए मुक्ति-पदाधिकारी।

यहाँ योगी के लिए बलि-पशु की उपमा अनुचित है। युद्धवीरों पर लिखी हुई कविताएँ इस दोष से ग्रस्त देखी जाती हैं जहाँ कफन बाँधने की चर्चा आती है।

(७) निरर्थकता :

मैंने तो एक बनाया है, चलकर देखो मेरा कुटीर। (कामायनी)

'तो' की कोई सार्थकता ही नहीं है, केवल पद्यपूर्ति के लिए लाया गया है।

(८) अवाचकता :

प्रभु मैंने अपमान किया तो
आप उसे मार्जन कर दें।

'क्षमा' के लिए लाया हुआ 'मार्जन' शब्द उसका वाचक नहीं है।

(९) अश्लीलता :

व्रीडा-व्यञ्जक, जुगुप्सा-व्यञ्जक और अमंगलव्यञ्जक पद अश्लील होते हैं।

अञ्चल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे।
सीता माता थीं आज नई धज धारे॥ (साकेत)

'खोंस' पद व्रीडा-व्यञ्जक होने से अश्लील है।

पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाइँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। (कवितावली)

'बयार करना' जुगुप्सा-व्यञ्जक है क्योंकि यह अपानवायु से सम्बद्ध मुहावरा है।

सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न। (कामायनी)

'रहोगे न' पद मरण-व्यञ्जक होने से अश्लील है।

(१०) सन्दिग्धता :

दृग मिहचत मृगलोचनी भर्‍यौ उलटि भुज-बाथ। (बिहारी)

स्पष्ट नहीं होता कि 'बाथ' बन्धनार्थक 'बरत' का अपभ्रंश है या 'वस्त्र' का।

(११) अप्रतीतत्व (केवल शास्त्र-प्रसिद्ध शब्द 'अप्रतीत' कहा जाता है) :

आह सर्ग के प्रथम अङ्क का
अधम-पात्रमय-सा विष्कम्भ । (कामायनी)

'विष्कम्भ' केवल नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध होने से अप्रतीत है ।

(१२) ग्राम्यत्व :

सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख लखी नहिं जाइ । (बिहारी)

'कटि' ग्राम्य है । करिहाँव, महतारी, खोपड़ी आदि ऐसे ही शब्द हैं जिन्हें शृङ्गारादि सुकुमार रसों में दूषित माना जाता है ।

(१३) नेयार्थत्व (अर्थ देने में असमर्थ लाक्षणिक प्रयोग) :

नीलिमा-शयन पर बैठी अपने नभ के आँगन में,
विस्मृति का नील नलिन-रस बरसो अपाङ्ग के घन से । (आँसू)

यहाँ वेदना के अपांग का अर्थ 'नेय' है—खींच-तानकर लाया जाता है ।

(१४) क्लिष्टत्व :

मन्दिर-अरध अवधि हरि बदि गे, हरि-अहार चलि जात । (सूर)

मन्दिर का अर्ध पक्ष और सिंह का आहार मांस (मास) अर्थ क्लिष्ट है ।

(१५) विधेयाविमर्श (=अविमृष्ट-विधेयांशत्व) :

वाक्य में जो मुख्य-पद होता है वही विधेय कहा जाता है, उसकी प्रधानता स्पष्ट न हो तो प्रस्तुत दोष होता है :

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म-रंगस्थल है । (कामायनी)

'कर्मों का रंगस्थल' होना चाहिए था क्योंकि कर्म पर ही बल देना अपेक्षित है और वही समास में गौण हो गया है ।

उल्लास-शील मैं शक्ति-केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और । (वही)

'शक्ति-केन्द्र' में समासगत 'शक्ति' गौण है जो मुख्य शब्द है ।

वह मूल-शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये । (वही)

'जिसका' से आरम्भ विशेषण उपवाक्य का अर्थ ही मुख्य है और विशेषण हो जाने से वही गौण हो गया है—'उसका' पाठ उचित है । यहाँ यह दोष वाक्य-गत है ।

(१६) विरुद्धमति-कारिता (ऐसा पद जो विरुद्ध अर्थ व्यक्त करे विरुद्धमति-कारी है) :

हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरैं लपटाइ । (बिहारी)

'गर गह्यौ' से विरुद्ध मति उत्पन्न हो जाती है—'गला पकड़ना' आक्रमणार्थक मुहावरा है । संस्कृत में 'अम्बिका-रमण' भी ऐसा ही है क्योंकि अम्बिका मातृ-पर्याय भी है जिससे

विरुद्ध प्रतीति हो जाती है। 'भवानी' का अर्थ ही 'भव=शिव की पत्नी' है, पुनः 'भवानी-पति' से विचित्र अर्थ निकलता है—शिव की पत्नी का पति। इससे किसी उप-पति के अर्थ का हो चलता है।

× × ×

ऊपर आये हुए दोष—च्युतसंस्कृति, असमर्थता और निरर्थकता को छोड़कर—सभी वाक्यगत भी हैं। कुछ पदांशगत भी होते हैं। उदाहरणार्थ :

'निःसम्बल भग्नाश पथिक हूँ' (कामायनी)

में 'भग्नाश' का प्रथम अक्षर अश्लील हो सकता है।

जीवन निशीथ का अन्धकार।
भग रहा क्षितिज के अञ्चल में
मुख आवृत कर तुमको निहार। (कामायनी)

द्वितीय पंक्ति सबकी-सब अश्लील है—जैसे पुरुष को देख विवरसंकोचन के साथ स्त्री-गुप्ताङ्ग अञ्चल में छिप गया—ऐसा अर्थ व्यक्त होने लगता है अतः वाक्यगत अश्लीलत्व है।

यहाँ विस्तारभय से दोष-विवेचन समाप्त किया जा रहा है।

ऊपर जो दोष आये हैं, उनको अनौचित्य कह सकते हैं। उनका त्याग करने से काव्य में औचित्य का समावेश स्वतः हो जाता है। आगे औचित्य-मत की चर्चा इसी सन्दर्भ में की जा रही है।

ध्वनिसिद्धान्त और औचित्यमत :

यों तो सभी पूर्वाचार्यों ने किसी-न-किसी प्रकार औचित्य पर बल दिया है परन्तु सर्वप्रथम पूर्णता के साथ ध्वनिकार ने उसे समादार दिया है। वे संघटना (रीति) में औचित्य को नियामक मानते हैं।[१५] वे शब्द-अर्थ, विषय आदि के औचित्य को मुख्य कवि-कर्म मानते हैं और उपनागरिका आदि वृत्तियों की योजना में उसे अनिवार्य ठहराते हैं।[१६] वस्तुतः औचित्य को अनौचित्यरूप दोष के परिहार से स्थापित किया जाता है और इस प्रकार रस का रहस्य औचित्य-पूर्ण काव्य-बन्ध है।

ऐसी स्थिति में ध्वनिकार ने तथा मम्मट आदि आचार्यों[१७] ने औचित्य पर वर्ग-बद्ध विचार क्यों नहीं किया? इसका एक ही कारण रहा है कि दोष-निरूपण में सभी औचित्य-विरोधी तत्त्वों का समावेश हो जाता है; दोष अनौचित्यरूप हैं, जिनका परिहार करने से दोषाभावरूप औचित्य का विवेचन स्वतः हो जाता है। आचार्य महिम भट्ट ने रसादि की प्रतीति में व्याघात पहुँचानेवाले तत्त्व को अनौचित्य कहा है तथा औचित्य के पृथक् निरूपण को व्यर्थ ठहराया है।[१८] इस प्रकार ऊपर जिन दोषों का निदर्शन किया गया है उनका अभाव ही औचित्य है।

आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्यमत के स्थापक कहे जा सकते हैं। वे स्वयं ध्वनिवादी हैं अतः जो बात दोषाभाव को लेकर कही गयी है, वही वे औचित्य के विषय में कहते हैं—

इतना अवश्य है कि औचित्य को वे रस का भी जीवित मानते हैं,[१३] काव्य-जीवित तो कहते ही हैं। उनका कथन है कि :—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणास्तथा।
औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

अर्थात् अलङ्कार तो काव्य के भूषण मात्र हैं, गुण शौर्यादि के समान गुण ही हैं, रस-काव्य का प्राण तो औचित्य है—प्राण के बिना अलङ्कार और गुण का क्या महत्त्व ?

'काव्यात्मा' को लेकर विवाद व्यर्थ है। जिन रीतिगुण, औचित्यरूप दोषाभाव, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति को काव्यात्मा कहा जाता है, वे सब अलग-अलग दृष्टियों से काव्य-सर्वस्व ठहरते हैं। 'आत्मा' का बहुत रूढ़ अर्थ न लेकर सामान्यतः 'महत्त्वपूर्ण' जैसा अर्थ ही लिया जाता है अन्यथा क्षेमेन्द्र ही एक स्थान पर औचित्य को काव्य की, और स्वयं दूसरे स्थान पर रस की आत्मा क्यों बताते ? ध्वनिकार भी उसे 'रसोपनिषद्' कह-कर वही महत्त्व देते हैं। क्षेमेन्द्र का औचित्य-विचार एक प्रकार से ध्वनिमत का ही पूरक है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचार-चर्चा ग्रन्थ में इन औचित्य-भेदों को उदाहरणों तथा प्रत्युदाहरणों से समझाया है। उनका दिग्दर्शन करते हुए दोषाभावों के साथ तादात्म्य पर विचार अपेक्षित है।

(१) पद का औचित्य :—यदि पद-प्रयोग उचित न होगा तो दूषित होगा जिससे अर्थ में अपुष्टता, ग्राम्यता, अश्लीलता, कष्टत्व, शब्दगत श्रुतिकटुत्व आदि विविध दोष होंगे।

(२) वाक्य का औचित्य :—वाक्य-दोषों के निराकरण से यह औचित्य स्वतः आ जाता है।

(३) प्रबन्धार्थ का औचित्य :—इसे किसी भी प्रबन्ध के निर्दोष निर्वाह में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों में आत्महत्याओं की भरमार में यह औचित्य नहीं है।

(४) अलंकारौचित्य :—ऐसा प्रत्येक अलंकार, जो रस-पोषक है, उचित है। यदि वैसा न हो तो अनौचित्य होगा। सभी दूषित अलंकार अनौचित्य की श्रेणी में आयेंगे जिससे काव्य या तो गुणीभूत-व्यंग्य हो जायगा या चित्रकाव्य।

सोपियों में बटोरता, एक - एक आँसू,
माथे की शिकन पर फेरता वत्सल हाथ,
दहता दूसरे के तापों से। (शान्ति मेहरोत्रा)

यहाँ वत्सल हाथ का दहता होना अलंकारौचित्य से विमुख है।

(५) रसौचित्य :—इसके बिना रस न होकर रसाभास होता है।

(६) क्रिया का औचित्य :

हमें विज्ञान में ऐसे फँसाया जा रहा है
कि प्लास्टिक सर्जरी से हुस्न पाया जा रहा है,

मुहब्बत में अगर कुछ नष्ट हो जाये तो गम क्यों ?
अरे अब तो रबड़ का दिल बनाया जा रहा है। (बेधड़क बनारसी)

'बनाया जा रहा है' से कृत्रिमता की व्यञ्जना हास्य-पोषक है।

वहीं से उगता गया जहाँ तोड़ा गया। (कुँवरनारायण)

यहाँ 'उगना' क्रिया में औचित्य नहीं है, कल्ले फोड़ना के अर्थ में उसका प्रयोग संगत नहीं। वस्तुतः यह औचित्य भी अपुष्टार्थत्व दोष का अभावमात्र है।

(७) कारकौचित्य :

भामिनि भइहु दूध की माखी। (मानस)

कोपशीला के अर्थ में 'भामिनी' शब्द का औचित्य है—बात-बात में तुनगनेवाली स्त्री तिरस्कृत होती ही है। परन्तु

काह न अबला करि सकै........ (वही)

में 'अबला' का औचित्य नहीं है क्योंकि अशक्त जीव में सब कुछ करने की शक्ति कहाँ? यह औचित्य भी अपुष्टार्थत्व का अभाव ही है।

(८) लिंगौचित्य :

भुजलता पड़ी सरिताओं की शैलों के गले सनाथ हुए। (कामायनी)

स्त्रीलिंग और पुंलिग के उचित प्रयोग से समासोक्ति अलंकार बना है अतः लिंगौचित्य प्रायः अलंकार में अन्तर्भूत है।

यह जगत एक घट और बने
कोमलता दृढ़ता मिल जाये। (सुमित्राकुमारी सिनहा)

यहाँ 'दृढ़ता' का स्त्रीत्व लिंगौचित्य नहीं रखता—उसके स्थान पर पुंलिग 'पौरुष' जैसा कोई शब्द आता तो स्त्री-पुरुष-मिलन की व्यञ्जना होती और सर्जना की आशा की जाती।

(९) गुणौचित्य :

गुण-विवेचन के सन्दर्भ में देखा गया है।

(१०) वचनौचित्य :

पदांश-गत ध्वनि के सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

(११) विशेषणौचित्य :

परिकर अलंकार विशेषणौचित्य पर ही आश्रित है। निरर्थक विशेषण में अपुष्टत्व दोष ही होगा।

(१२) उपसर्गौचित्य :

यह भी अपुष्टत्वपरिहार रूप औचित्य है।

(१३) निपातौचित्य (अव्यय का औचित्य) :

यह भी निरर्थकत्व अपुष्टत्व दोषों का अभावरूप है।

(१४) कालौचित्य :

करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सबका। (कामायनी)

'करती-गिरती' में निरन्तरता की व्यञ्जना वर्तमानकाल से होती है, 'कुचलना था' का भूतकाल शीघ्रता का व्यञ्जक है अतः पूर्ण औचित्य है। ऐसा औचित्य न होता तो भग्न-प्रक्रमत्व या अपुष्टत्व दोष होता।

(१५) देशौचित्य :

पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला (आँसू)

स्थान की शून्यता ही डेरा डालने का कारण है—काव्यलिंग अलंकार तथा परिकर अलंकार इसी औचित्य से बने हैं। अपुष्टत्व दोष का अभाव-रूप यह भी है।

(१६) कुलौचित्य :

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥ (मानस)

(१७) व्रतौचित्य :

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ सम्भु नतु रहउँ कुआँरी॥ (वही)

(१८) तत्वौचित्य :

आनन्द-उच्छलित-शक्ति-स्रोत जीवन विकास-वैचित्र्य भरा। (कामायनी)

आनन्दवादी सिद्धान्त के अनुरूप ही तत्व-समावेश कर विकास का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है अतः औचित्य है, अन्यथा अपुष्टत्व दोष होगा।

(१९) सत्त्वौचित्य (सत्त्व = औदात्य = उत्कर्ष) :

भरतहि होइ न राजमदु, बिधि-हरि-हर-पदु पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरन्हि छीरसिन्धु बिनसाइ॥ (मानस)

(२०) अभिप्राय का औचित्य :

बींदि पियागम नींद मिस, दीं सब अली उठाइ। (बिहारी)

नायिका द्वारा नींद का बहाना करके सखियों से छुट्टी पाने (और प्रिय से मिलने का अवसर निकालने) में औचित्य है, यदि सखियों से सीधे हटने को कहा जाता तो ग्राम्यत्व दोष हो जाता।

(२१) स्वभाव का औचित्य :

मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी।
जेहिं सपनेहुँ पर-नारि न हेरी॥ (मानस)

में राम के स्वभाव का पूर्ण औचित्य है। जबकि

जननी तू जननी भई........ (वही)

में यह कथन भरत के शील के अनुरूप नहीं है। भरत अपने को ही कोसते तो औचित्य ही रहता।

(२२) सारसंग्रह का औचित्य :

मति कीरति गति भूति भलाई।
जो जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानिअ सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥ (मानस)

यहाँ प्रथम चरण में सार चुन लिया गया है जिसमें प्रासंगिक औचित्य है। अन्यथा अपुष्टत्व दोष ही होता।

(२३) प्रतिभा का औचित्य :

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली।
अस कहि मन बिहँसी इक आली॥ (वही)

में सीता की सखी की प्रतिभा का औचित्य है—वह सीधे चलने के लिये नहीं कहती और हँसकर लज्जित भी नहीं करती।

तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं राम सुजान। (मानस)

यहाँ त्रिजटा के वचन में प्रतिभा का औचित्य खण्डित हो गया है। वह पहले सब प्रतिभानुसार ही कहती है परन्तु 'मरिहहिं' में अमङ्गल-व्यञ्जक अश्लीलत्व दोष आ गया है—इस पद से 'मारेंगे' का अर्थ अभिप्रेत है जबकि 'मरेंगे' का अर्थ भी व्यक्त होता है।

(२४) अवस्था का औचित्य :

यौवन मधुवन की कालिन्दी
बह रही चूमकर सब दिगन्त,
मन शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ
बस दौड़ लगाती हैं अनन्त। (कामायनी)

यहाँ यौवन की अवस्था का उद्दाम भावावेश और उसकी हवाई कल्पनाओं एवं दिवास्वप्नों का चित्रण औचित्य-युक्त है। औचित्य प्रतिकूल अपुष्टत्व, रसाभास आदि होते।

(२५) विचारौचित्य :

दुःख की पिछली रजनी बीच बिकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील, छिपाये है जिसमें सुख गात। (वही)

यहाँ रसानुरूप विचार उपस्थापित किया गया है।

तन जोबन है घन की परिछाहीं.... (पद्माकर)

में औचित्य नहीं है, श्रृङ्गाररस के विरुद्ध विचार है अतः दोष है, जैसा देखा जा चुका है।

(२६) नामौचित्य :

केहि पटतरौं बिदेह-कुमारी। (मानस)

में 'बिदेह' नाम व्यञ्जक है, अतः नाम में औचित्य है। परिकराङ्कुर अलंकार इसी से बनता है और योगरूढ़ि से होनेवाली ध्वनि में भी इसे देखा जा चुका है।

(२७) आशीर्वादौचित्य :

पारबती सम पति-प्रिय होहू। (वही)

यहाँ 'अर्धनारीश्वर' की व्यञ्जना से नर-नारी के ऐक्य का औचित्य प्रकट है।

निष्कर्ष :

लोक-व्यवहार में गुण और दोष पद प्रतिलोमार्थक हैं। काव्य में ध्वनि-सिद्धान्त उन्हें वैसी ही मान्यता देकर चला है। जिस प्रकार प्राणी के लिए गुण आवश्यक हैं उसी प्रकार दोषाभाव भी और वही काव्य पर लागू है। वामन ने भी इसी सरणि से विचार किया था परन्तु वे उन्हें रस-तत्त्व के साथ न जोड़कर रचना के साथ जोड़ते थे। अलङ्कार के बिना भी काव्य हो सकता है, यद्यपि रचना-शैली-विशेष होने के कारण वे आ जाते हैं। ध्वनिकार प्रयत्न-साध्य अलङ्कार को काव्योपयोगी नहीं मानते, उनका स्पष्ट कथन है कि रसावेश-वश अलंकार को स्वतः, बिना पृथक् प्रयास के, आ जाना चाहिए, तभी ध्वनिकाव्य होता है।[२०] यही बात पश्चिम के काव्यमनीषी लांगिनस भी कहते हैं कि अलङ्कार वह उत्तम होता है जो प्रकट न हो कि वह अलङ्कार है।[२१] गुण और अलङ्कार का अन्तर ध्वनिमत में स्पष्ट है कि शृंगारादि के लिए माधुर्य और रौद्रादि के लिए ओजस् गुण अनिवार्य है परन्तु ऐसी अलङ्कार-व्यवस्था नहीं है—किसी रस के लिए कोई अलंकार विशेष व्यवस्थित नहीं है।

औचित्य को लेकर कोई काव्य-प्रस्थान भले मान्य न हो पर क्षेमेन्द्र ने ध्वनिकार का अनुसरण करते हुए ही उसे व्यवस्था दी है। उनका अभिप्राय यही लगता है कि दोषाभाव-रूप से औचित्य-विचार पूर्णतः संगत नहीं है—उसे अलग वैध रूप मिलना चाहिए। उन्होंने औचित्य को ही अलङ्कार-स्वरूप का निर्धारक माना है और औदात्य के सन्दर्भ में यही बात लाङ्गिनस जैसे मनीषी ने भी कही है। औदात्य और अलङ्कार परस्पर-सापेक्ष हैं।[२२] औचित्य का महत्त्व अरस्तू की दृष्टि में भी कम नहीं है, औचित्य से ही चित्रण में यथार्थता और नाट्याङ्गों में व्यवस्था आती है।[२३]

पश्चिम के मनीषी अलङ्कार और शैली पर विचार करते हुए औचित्य पर बल देते हैं जिसपर ध्वनि-सन्दर्भ में विस्तार अनपेक्षित है। ध्वनि-विरोधी कुन्तक, महिम भट्ट जैसे आचार्य भी औचित्य को महत्त्व देते हैं। कुन्तक ने वर्ण्य वस्तु के औचित्य से ही रचना का सौन्दर्य मान्य किया है।[२४]

इस प्रकार यहाँ तक ध्वनिमत को विविध पक्षों से विवेचित किया गया। आगामी अध्यायों में ध्वनि-विरोधी मतों पर तथा अन्य तुलनीय चिन्तन पर विचार करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त पर परिचर्चा की जायगी।

द्वितीय खण्ड

तुलनीय साहित्य-चिन्तन

न्यायमत और ध्वनि-सिद्धान्त

७

ध्वनिसिद्धान्त जब नयी स्थापनाओं के साथ आया तो उसका सर्वसम्मत स्वागत नहीं हुआ। काव्य-चिन्तन की प्रचलित प्रणालियों का विकास परम्परापेक्षी था—रीति-गुणपरक चिन्तन अलङ्कारों को भी उसी रूप में मान्य करता था जिस रूप में भामह, दण्डी आदि मानते थे। परन्तु व्यञ्जना-शक्ति को आधारभूत मानकर काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की पड़ताल करनेवाला ध्वनि-प्रस्थान पूर्व-मान्यताओं के विरुद्ध आता है—उसके सोचने की रीति ही नवीन है। रस-निष्पत्ति पर विविध विचार देखे जा चुके हैं। न्याय-मत की प्रवर्तना भट्टशङ्कुक ने की थी। आगे चलकर व्यञ्जना-सिद्धान्त का विरोध करते हुए सम्पूर्ण काव्य-बोध को अनुमितिरूप में प्रतिष्ठित करनेवाले आचार्य महिम भट्ट ने प्रौढ़ चिन्तन पर:सर किया। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में ध्वनि का खण्डन ही नहीं किया, अपितु ध्वनिमत में विवेचित काव्य-वैविध्य को यथाशक्य अनुमिति में ही समाविष्ट किया। यदि वे ध्वनिकार की समस्त स्थापनाओं का समावेश न करते तो ध्वनिसिद्धान्त खण्डित न होकर सुप्रतिष्ठित हो जाता। उनकी स्पष्ट प्रतिज्ञा है :

अनुमानेन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

आचार्य महिम भट्ट ने प्रतीयमान अर्थ को व्यंग्य न मानते हुए अर्थ के दो भेद किये हैं :

(१) **वाच्य अर्थ** जिसे सुनते ही अर्थ-बोध हो जाता है।

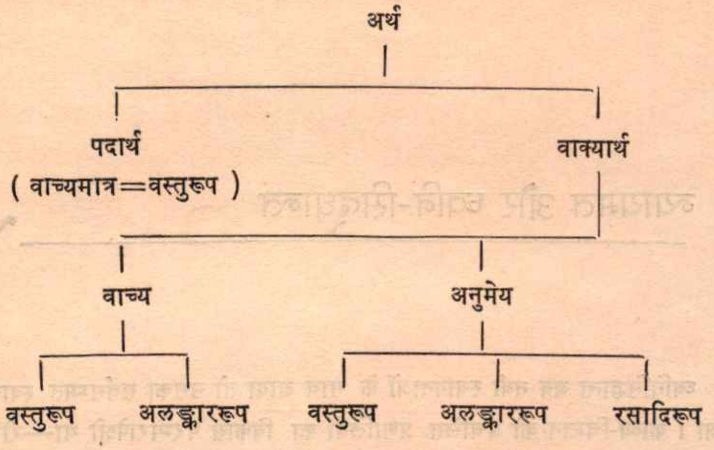
(२) **अनुमेय अर्थ** जो अनुमान से आता है। इसके तीन भेद हैं :

(क) वस्तु अनुमेय (जिसे ध्वनिमत में वस्तु व्यंग्य कहा जाता है)।

(ख) अलंकार अनुमेय (जिसे ध्वनिकार अलंकार व्यंग्य कहते हैं)।

(ग) रसादि अनुमेय (जिसे ध्वनिमत में रसव्यंग्य कहते हैं)।

इन तीनों अनुमेय अर्थों में वस्तु और अलंकार वाच्य भी होते हैं, अनुमेय भी; परन्तु रसादि केवल अनुमेय होते हैं। अर्थबोध पद से भी होता है, वाक्य से भी। इनमें पद का अर्थ वाच्य ही होता है। वाक्यार्थ के दो भेद होते हैं—(१) वाच्य और (२) अनुमेय। इस प्रकार न्यायमत की मूल स्थापना इस प्रकार है :—



अनुमान में एक पदार्थ साध्य (अनुमेय) होता है और दूसरा साधन (अनुमापक या अनुमान-प्रमाण) का काम करता है। साधन रूप अर्थ के साथ साध्य अर्थ का सम्बन्ध साध्य-साधन भाव (गम्य-गमक भाव) होता है। यह सम्बन्ध कहीं लोक-व्यवहार-सिद्ध होता है, कहीं शास्त्रसिद्ध और कहीं आध्यात्मिक (मानसिक)।

(१) लोकव्यवहारसिद्ध साध्य-साधन-भाव :

सुख-दुख जीवन में सब सहते,
पर केवल सुख अपना कहते,
अधिकार न सीमा में रहते,
पावस-निर्झर से वे बहते,
रोके फिर उनको भला कौन? (कामायनी)

यहाँ लोकव्यवहार का अर्थ साधन (अनुमापक) है जिससे व्यापक स्वार्थ के प्रति असूया या निर्वेद भाव का अनुमान होता है जो साध्य है।

(२) शास्त्रसिद्ध साध्य-साधन-भाव :

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त। (वही)

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार चितितत्त्व से ही विश्व का विकास हुआ है।[2] यही साधनभूत अर्थ है जिससे उत्साह को साध्य (अनुमेय) बनाया गया है।

(३) आध्यात्मिक (मानसिक) साध्य-साधनभाव :

पुलकित कदम्ब की माला-सी
पहना देती हो अन्तर में,

झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में। (कामायनी)

यहाँ वाच्यार्थ जो साधन है, सर्वथा मानसिक है और उससे विस्मय अर्थ अनुमेय या साध्य है।

उक्त अनुमेय अर्थ को लेकर घटित होनेवाला साध्य-साधनभाव दो प्रकार का देखा जाता है :

(१) अनुमेय-विषयक :—जहाँ वाक्यार्थ से सीधे अनुमेय अर्थ अनुमित होता है। ऊपर प्रथम और द्वितीय उदाहरण ऐसे ही हैं।

(२) अनुमितानुमेय-विषयक :—जहाँ वाच्यार्थ से एक अनुमेय अर्थ आता है और उससे फिर दूसरा अनुमेय अर्थ निकलता है। ऊपर तृतीय उदाहरण में विस्मय अनुमित है और उसके द्वारा पुनः श्रद्धा में मनुविषयक रतिभाव अनुमेय है। इसी को ध्वनिमत में व्यंग्यार्थ के द्वारा अपर व्यंग्य की व्यञ्जना कहा जाता है।[3]

× × ×

ध्वनिकार ने रसादि व्यंग्य को असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य और वस्तु तथा अलङ्कार को लक्ष्य-क्रम व्यंग्य माना है। इसपर अनुमानमत एकमत है परन्तु वह व्यंग्य न कहकर अनुमेय कहता है। आचार्य महिम की स्थापना है कि जहाँ वाच्यादि से वस्तु का अनुमान होता है वहाँ साध्य (अनुमित) अर्थ और साधन (अनुमापक) अर्थ के बोध में क्रम स्पष्ट रहता है परन्तु जब रसादि अनुमेय होते हैं तो तुरन्त प्रतीति हो जाने से क्रम लक्षित नहीं होता जो भ्रान्तिवश ही घटित हो जाता है अतः 'अलक्ष्य-क्रम' कहना लाक्षणिक है।[4]

अनुमानवादी से यदि प्रश्न किया जाय कि वही अर्थ वाच्य रूप में चमत्कारी क्यों नहीं होता जबकि व्यंग्यरूप में देखा जाता है ? इसका उत्तर सरल है। व्यंग्य अर्थ को चमत्कारी माननेवाला ध्वनिवादी उसी प्रश्न का जो उत्तर देगा, वही उत्तर अर्थ को अनुमेय मानकर भी दिया जा सकता है। यह वस्तु-स्वभाव है कि वाच्यरूप में अर्थ चमत्कारी नहीं होता, पर अनुमेय रूप में चमत्कारी होता है। धुएँ से आग के अनुमान में चमत्कार नहीं है पर काव्यार्थ के अनुमान में है—ठीक उसी प्रकार जैसे व्यावहारिक वाक्यों से आनेवाले व्यंग्य अर्थ में सर्वत्र चमत्कार नहीं होता, काव्य में होता है जो ध्वनिवादी के समान ही तर्क है। जिस प्रकार व्यञ्जनावादी का तर्क है कि दीपक से घट के समान वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अनुमानवादी कह सकता है कि धुएँ से अग्नि के समान वाच्य से अनुमेयार्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है।[5]

अनुमान और रस :

रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में अनुमितिवाद पर अपेक्षित विचार हो चुका है। यहाँ द्रष्टव्य है कि अनुमितिवाद भरत की मूल स्थापनाओं में ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन नहीं

करता । वह तो 'व्यञ्जना' शक्ति के विपक्ष में अपना सिद्धान्त स्थापित करना चाहता है। अभिनव के समान ही अनुमानवादी भी रस को काव्यात्मा मानता है । जहाँ वस्तु या अलङ्कार को व्यंग्य मानकर ध्वनिवादी विचार करता है, वहाँ भी अनुमानवादी उन्हें अनुमेय मानते हुए रस को प्रधान अनुमेय अर्थ मानता है । वस्तु अथवा अलंकार तो रस के माध्यम ही रह सकते हैं । इन स्थितियों में रस अन्तरित होकर आता है, सीधे नहीं आता, फलतः निम्नलिखित अन्तरित स्थितियाँ बनती हैं :—

(१) एक वस्तु से अन्तरित रस-स्थिति :

तीज दिवस सौतिन सजे, भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करी वहै मरगजे चीर॥ (बिहारी)

यहाँ रसरूप में नायिका का सौभाग्यातिरेक अनुमेय है जो निरन्तरसंभोग के वस्तुरूप अर्थ से अन्तरित है । दोनों ही अनुमेय हैं ।

(२) दो वस्तुओं से अन्तरित रस-स्थिति :

लिखन बैठि जाकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ (बिहारी)

क्रूर चित्रकारों के चित्र लेने में असफल होने से सतत विकसमान सौन्दर्य का अनुमान होता है और उससे नायिका की अङ्गयष्टि की अनिर्वचनीयता अनुमित होती है, फिर श्रृंगार रस अनुमित होता है अतः प्रथम दो अर्थों से अन्तरित होकर रस प्रकट होता है।

(३) तीन वस्तुओं से अन्तरित रस-स्थिति :

मानहु बिधि तन अच्छ छबि स्वच्छ राखिबें काज।
दृग-पग पोंछन को किए भूषन पायनदाज॥ (वही)

पहले अनुमान होता है कि सबकी लालच भरी दृष्टियाँ सुन्दरी पर अवश्य पड़ती हैं, दूसरा अनुमेय अर्थ है कि सब उसके सौन्दर्य को पहले न देखकर उसके आभूषणों को ही देखते हैं, फिर तीसरा वस्तु अनुमेय है कि सौन्दर्यच्छटा देखने पर उनकी लालसा (अपनी अयोग्यता समझकर) शान्त हो जाती है, और तब कहीं रस का अनुमान होता है ।

(४) अलङ्कार अनुमेय से अन्तरित रस-स्थिति :

नैकु उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहँ दी छिनकु महँदी सूकन देहु ॥ (वही)

यहाँ नायिका में स्वेद सात्त्विक के नखों में होने से अतिशयोक्ति अलंकार का अनुमान होता है जिससे अन्तरित होकर श्रृंगार रस अनुमित होता है ।

(५) भावान्तर से अनुमित रसस्थिति :

राम को रूपु निहारति जानकी कङ्कन के नग की परिछाहीं । (कवितावली) में अवहित्थ भाव से व्यवहित श्रृंगार रस अनुमेय है।[६]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनिकार वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि कहकर जहाँ रस की प्रधानता नहीं मानते, वहाँ भी महिम भट्ट रसानुमिति की ही प्रधानता स्वीकार करते हैं। आचार्य अभिनव भी वस्तु और अलंकार की परिणति रस में ही मानते हैं। ध्वनिमत में जिसे व्यञ्जना कहा गया है, वहाँ अनुमान का प्रयोग करें तो सभी बातों में एकता ही मिलती है। व्यंग्यार्थ से होनेवाली वस्तु-व्यञ्जना की परिणति रसव्यञ्जना में होती है, इस तथ्य को अनुमान में अन्तर्भूत किया गया है।

रस-सामग्री :

लोकगत कारणों से भावों की उत्पत्ति होती है, उन भावों से कार्यरूप चेष्टाएँ होती हैं तथा भावों के सहकारी भाव भी होते हैं और उन भावों का चेष्टादि से अनुमान भी होता है। ऐसी स्थिति में लोकव्यवहारवाली रति की अनुमिति तो होती ही है, फिर वहाँ रस क्यों नहीं होता ? काव्यगत विभावादि से अनुमित भाव ही को रस क्यों कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य महिम ने (तथा शङ्कुक ने भी) कहा है कि कारण-कार्य-सहकारी जब तक अनुकृत नहीं होते तब तक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नहीं कहे जा सकते फलतः रसनिष्पत्ति के कारण विभावादि (अनुकृत कारण, कार्य और सहकारी) होते हैं—वही रस-सामग्री है, न कि लौकिक। रसानुमिति अनुकृत भाव की अनुमिति का नाम है। लोक में उक्त अनुकृति का अभाव रहता है अतः न विभावादि होते हैं, न रस। यह वस्तुस्वभाव है जो अनुमितिवाद और व्यञ्जनावाद दोनों में समान है—लोक में भी भाव-व्यञ्जना ध्वनिमत से होती है पर वहाँ रसनिष्पत्ति नहीं होती। इसका ध्वनिवादी यही उत्तर देगा कि लोक में विभावादि नहीं होते, वही उत्तर अनुमितिवाद में समान है।[७] इस प्रकार अनुमानमत में भी रस-सामग्री भरत के अनुसार ही है।

(१) भाव—विविध अभिनयों (अनुकार-चेष्टाओं) से सम्बद्ध रसों को भावित (अनुमित) करानेवाले तत्त्व को काव्य में भाव कहा जाता है। वह लौकिक चित्तवृत्ति-मात्र नहीं है, प्रत्युत उसका अनुकृतरूप है जो अनुमित होकर ही रस-भावन में समर्थ होता है। आचार्य महिम भट्ट ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि सभी उनचास भाव व्यभिचारी होते हैं, अतः स्थायी तथा व्यभिचारी का विभाजन सापेक्ष है—अर्थात् रति आदि भाव व्यभिचारी होने के अतिरिक्त स्थायी भी होते हैं, अतः उन्हें स्थायी भाव कहा जाता है जबकि शेष भाव केवल व्यभिचारी होते हैं, अतः स्थायी वर्ग में नहीं गिने जाते। स्थायी कहे जानेवाले भाव ही रस-दशा प्राप्त करते हैं। शेष भाव उनके पोषकरूप में ही आने से संचारी भाव हैं।

"विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्ति इति व्यभिचारिणः।"—व्यक्तिविवेक, पृ० ६९

स्थायी और संचारी का भेद यही है कि जो मुख्य रस-दशा-प्राप्त व्यापक भाव रहता है, वह स्थायी कहा जाता है और जो छोटे तरङ्गों के समान बीच-बीच में प्रकट होते हैं वे दूसरे भाव (स्थायी) के अभिमुख विशेष विचरण करने से व्यभिचारी नाम पाते हैं।

देखा जा चुका है कि रसाङ्ग होकर आनेवाले स्थायी नामक भावों को ध्वनिमत में भी व्यभिचारी ही कहा जाता है।

(२) **विभाव**—वाचिक तथा कायिक अभिनय पर अवलम्बित विविध संवेद्य अर्थों को भावित करनेवाले कारण को भरत ने विभाव कहा है। न्यायमत में इसका अर्थ यह लिया जाता है कि राम-सीता आदि कारण ही अभिनय के आधार हैं और भाव को अनुमित कराते हैं, अतः विभाव कहे जाते हैं। अभिनय (अनुकृति) तत्त्व ही 'विभाव' नाम का हेतु है—लोक में उन्हें विभाव नहीं कह सकते। ध्वनिमत में अनुकृति मान्य नहीं है। वहाँ रसनीय भाव को व्यक्त करने में विशेष-रूपता देनेवाले कारण-तत्त्व को विभाव कहा जाता है—वहाँ भी विभाव संज्ञा अलौकिक ही है। अनुमानमत की मान्यता है कि अनुकृति के आधारभूत कारण विभाव हैं जिनसे अनुमित होनेवाला भाव रसनीय बनता है।[८]

(३) **अनुभाव**—भरत का स्पष्ट कथन है कि जो चेष्टाएँ वाचिक अथवा आङ्गिक अभिनय के रूप में संवेद्य अर्थ को अनुभावित (अनुभूतिगम्य) बनाती हैं और स्वयं अभिनययुक्त होती हैं, वे अनुभाव कही जाती हैं। यही तथ्य ध्वनिमत में मान्य है और अनुमानमत में भी। अन्तर यही है कि जहाँ ध्वनिवादी उन्हें भाव-व्यञ्जक कहता है वहाँ अनुमानवादी उन्हें अनुकृत रूप लेकर अनुमापक मानता है।[९]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव और भाव तीनों ही रस के भावक होकर ही नाम पाते हैं जो काव्यशास्त्रीय संज्ञाएँ हैं। तीनों में भावन-तत्त्व समान है। ध्वनिवादी 'भावक' और 'भावन' से व्यञ्जक और व्यञ्जना का अर्थ लेता है जबकि अनुमानवादी अनुमापक और अनुमापन अर्थ स्वीकार करता है। लोक-पक्ष में दोनों ही ये नाम अमान्य करते हैं अतः लोकभाव रसरूप नहीं लेता, यह दोनों का सिद्धान्त है।

इस प्रकार लोक के हेतु आदि अकृत्रिम होते हैं जबकि काव्य में वे कृत्रिम रहते हैं और विभावादि नाम पाते हैं। दोनों में विषयभेद और स्वरूपभेद है—लोकगत और काव्यगत का विषयभेद है और कृत्रिम (अनुकृत) और अकृत्रिम (अनुकृतिरहित) होने का स्वरूपभेद है। अतः कृत्रिम रत्यादि भाव काव्य में असत्य होते हैं। उन असत्य भावों की संवेदना ही रस कही जाती है, इस असत्य दशा का रसानुमान ही एकमात्र सार है अतः रस गम्य या प्रतीयमान कहे जाते हैं और वैसी प्रतीति करना ही रसास्वाद कहा जाता है।[१०]

रसात्मक भाव की असत्यता तथा परोक्षता :

ऊपर देखा गया कि न्यायमत में असत्य भाव की रसरूपता मानी गयी है। व्यञ्जनावादी सहृदय में विद्यमान भाव-वासना की रसरूपता मानता है परन्तु अनुमानवादी इसे अमान्य करता है। असत्यभाव की आनन्द-परिणति समझाने के लिए आचार्य महिम ने बोध की विविध-रूपता प्रस्तुत की है :—

(१) कारण में शक्तिरूप से कार्य विद्यमान रहता है और परिस्थिति-विशेष में

कार्य का आविर्भाव होता है। दुग्ध में दधि शक्ति-रूप से पूर्व-विद्यमान रहता है और दधि-रूप में परिणत होता है; इसे उत्पत्ति भी कहते हैं। यह प्रत्यय कार्य-कारण-सम्बन्ध पर अवलम्बित है।

(२) दूसरा प्रत्यय प्रकाशक से प्रकाश्य वस्तु का होता है। दीपक प्रकाशक है जिससे प्रकाश्य घटादि का बोध होता है। ध्वनिकार ने प्रकाशक रूप में ही व्यञ्जक की सत्ता मान्य की है।

(३) संस्कार में स्थित वस्तु का ज्ञापक (अनुमापक) कारण से बोध होता है, जैसे, धूप से अग्नि का बोध होता है। चित्र, लेख, प्रतिबिम्ब और अनुकरण से ऐसा ही बोध घटित होता है।

(४) चतुर्थ विधा वह है जहाँ असत् का प्रत्यय होता है। सूर्य के प्रकाशादि से इन्द्रधनुष का प्रत्यय इसी कोटि का है।

रस-प्रतीति चतुर्थ कोटि की है जो कृत्रिम विभावादि से अविद्यमान स्थायी भाव-बोध-रूप होती है। यहाँ तृतीय प्रत्यय का भी योग रहता है। स्थायी भाव प्रतिबिम्ब रूप से रसिक को संवेदनीय होते हैं। अतः तृतीय बोध-प्रकार अविद्यमान स्थायी की अनुमिति है और उससे होनेवाला रसास्वाद उस प्रतिबिम्बरूप स्थायी की अनुमिति का मानसिक संवेदनमात्र है। जिस प्रकार इन्द्रधनुष आदि अविद्यमान होकर भी दृश्य बनते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव अविद्यमान होकर भी आस्वाद्य बनता है, इसमें कोई त्रुटि नहीं। मिथ्या ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान का रूप लिये रहता है जिसमें कार्यकारिता देखी जाती है।[११]

अविद्यमान (असत्) होने के साथ ही स्थायी भाव परोक्ष भी रहता है; फिर कवि-प्रतिभा-वश आनन्द रूप में आस्वादित होता है ; यह स्वभाव है जिसपर विवाद ही व्यर्थ है। कविशक्ति से उपस्थापित भाव अविद्यमान होते हुए भी तन्मयता-वश विलक्षण आनन्दात्मक स्फुरण प्राप्त करते हैं जो प्रत्यक्षकाल में संभाव्य नहीं है।[१२]

समीक्षा :

ऊपर जो प्रतिबिम्ब-बोध की चर्चा आयी है उसमें संस्कार की बड़ी महिमा है। अग्नि-वासना मन में न हो तो धूम से उसका अनुमान असंभव होगा, इसी प्रकार स्थायी की वासना न्याय में मान्य होती है। ध्वनिवादी वासनारूप स्थायी भाव की सहृदय में सत्ता मानकर विद्यमान स्थायी को ही रस-परिणत मानता है जबकि अनुमानवादी संस्कार की बात कहकर उसे बिम्बरूप में मान्य करता है, उसकी कोई वासनारूप वास्तव सत्ता नहीं मानता। यह अन्तर अत्यन्त क्षीण है—अग्नि-संस्कार और भाव-संस्कार में महान् अन्तर है क्योंकि भाव-सत्ता प्राणिधर्म है जबकि अग्नि बाह्य वस्तु है, मानस-धर्म नहीं। ऐसी स्थिति में भाव-संस्कार और अग्निसंस्कार को एक नहीं कर सकते। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भाव-वासना ही दोनों मतों में रस-सामग्री है। अन्तर इतना ही है कि ध्वनिवादी वासनात्मक भाव की मानस स्थिति स्वीकार करता है जबकि अनुमानवादी संस्कारोद्दीपनमात्र मानकर भाव-सत्ता अस्वीकार्य ठहराता है। प्रश्न यह है कि क्या अग्नि के समान भाव का मूर्त स्वरूप है कि उसे मानस में असत् कहा जा सके।

असत् की कार्य-कारिता के दो उदाहरण महिमा ने दिये हैं । मणि-भिन्न वस्तु की ओर मणि-बुद्धि से दौड़ना और इन्द्रधनुष का चमत्कार । इनमें से मणिभ्रम का दृष्टान्त क्षुद्र है क्योंकि अमणि में मणिभ्रान्ति से दौड़ भाग करनेवाला पुरुष लालसा-तुष्टि नहीं कर सकता जबकि स्थायी भाव तुष्टि देता है । इन्द्रधनुष का दृष्टान्त लें तो उसे पूर्णतः असत् नहीं कह सकते अन्यथा रङ्ग की जितनी प्रतीतियाँ हैं सब प्रकाश की उपज हैं, सब को असत् कहना होगा—वैज्ञानिक दृष्टि से सूर्य-किरणों में ही रङ्ग रहते हैं, वे ही विविध प्रतिफलन से विविध वर्णों का प्रत्यक्ष कराते हैं । इन्द्रधनुष में अनेक वर्णों का प्रत्यक्ष सामान्य वर्ण-प्रत्यक्ष का अपवाद नहीं है । इन्द्रधनुष शुद्ध भ्रान्ति नहीं है, इसी प्रकार भाव-वासना भी शुद्ध अविद्यमान तत्त्व नहीं है । यह कहा जा सकता है कि लौकिक भाव स्व-पर-सीमा से सीमित रहता है जबकि काव्यानुमित भाव हृदय-स्थ भाव-वासना से एकाकार होकर नया अखण्ड रूप (गेस्टाल्ट) लेता है ।

अनुमानवादी रस की तीन कोटियाँ मानता है—अनुकृति, अनुमिति और आस्वाद । अनुकृति का प्रयोजन अविद्यमान भाव की अनुमिति है और आस्वाद अनुमिति का प्रयोजन है । इस आस्वाद का क्या स्वरूप है ? काव्य का इसमें क्या स्थान है ? इसका उत्तर अनुमानवादी यही देता है कि कवि या अभिनेता भाव का अनुकरण करता है, सहृदय अनुमान करता है और अनुमान का प्रयोजन ही आस्वाद है । पर प्रयोजन की उपलब्धि का माध्यम तो फिर भी काव्य ही ठहरता है जिसका साधन व्यञ्जना के सिवा क्या है ? भट्टनायक उसे भोजकत्व कहते हैं । इस समस्या का ठीक समाधान न कर पाकर अनुमानवादी कह चलता है कि अनुमेय भाव का सुखात्मक आस्वाद ही प्रयोजन है और व्यङ्ग्य कहना लाक्षणिक है—मुख्य रूप से वाच्य और अनुमेय दो ही अर्थ-कोटियाँ हैं, लक्षणा से तृतीय कोटि व्यंग्य की कही जा सकती है।[13] इस प्रकार अनुमानवादी तीसरी अर्थकोटि मानते ही अनुमान के बाद की अर्थ-दशा मानने को विवश दिखायी पड़ता है—लोक में विविध कटाक्षादि चेष्टाओं से भावानुमान तो ध्वनिवादी को भी मान्य है परन्तु काव्य में उस अनुमान के साथ भाव की सुखात्मक व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं बचता ।

न्याय में काव्य का स्वरूप :

विभावादि-योजनारूप वह कवि-कर्म काव्य है जो अनिवार्यतः रस की अभिव्यक्ति (अनुमिति) कराता हो । उसके दो प्रकार हैं—(१) अभिनेयरूप नाट्य और (२) अभिनेय अर्थरूप काव्य । पहला अनुकरण-क्रम से साक्षात् प्रदर्शनात्मक होता है और दूसरा वर्णनात्मक होता है जिसमें अभिनेयता का तत्त्व गौण रहता है । यह भेद शैलीगत है—मुख्य प्रतिपाद्य रस दोनों में समान है । केवल गुणालंकार-संस्कृत शब्दार्थमात्र को काव्य का स्वरूप (जो वामन को अभिमत है) न्याय में मान्य नहीं और न ही यह मान्य है कि केवल वस्तुव्यंग्य या अलंकारव्यंग्य से काव्य बन सकता है—रसात्मकता के बिना 'काव्य' शब्द का ही व्यवहार नहीं हो सकता । वस्तु तो वाच्य हो या व्यंग्य, रस का ही साधन होकर आता है क्योंकि उसके द्वारा केवल विभावादि रस-सामग्री का उपस्थापन

होता है। वह रस काव्य का प्रधानीभूत प्रतिपाद्य रहता है, अतः कभी गौण नहीं हो सकता कि गुणीभूत-व्यंग्य काव्य की स्थापना हो सके। प्रहेलिका आदि नीरस शब्दार्थ-योजना काव्य नहीं हैं।[१४]

व्यङ्ग्य और अनुमेय का अन्तर छोड़कर शेष तथ्य ध्वनिमत में भी इसी प्रकार मान्य हैं।

विविध ध्वनियों का अनुमान में अन्तर्भाव :

न्यायवादी औपचारिक (लाक्षणिक) रूप से व्यञ्जना, अभिव्यक्ति, व्यंग्य, व्यञ्जक आदि शब्दों का विरोध नहीं करता, वह उन्हें अनुमान के क्षेत्र में समाहित मानकर चलता है। ध्वनिमत में अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि के दो-दो भेद माने गये हैं—अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य, लक्ष्य-क्रम-व्यंग्य और असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। अन्तिम भेद का रस-सन्दर्भ में विचार हो चुका है जिसका अनुमान में अन्तर्भाव देख चुके हैं, शेष तीन पर विचार अपेक्षित है।

(१) अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि :

जो हौं राम तौ कुल-सहित कहिहि दसाननु आइ।

यहाँ 'राम' शब्द के अर्थ की तीन कक्ष्याएँ बनती हैं :—(१) दशरथपुत्र, (२) लोकोत्तर-शौर्य-सम्पन्न राम और (३) राम का शौर्यातिशय। प्रथम वाच्य अर्थ है और द्वितीय लक्ष्य—यहाँ तक दोनों में मतैक्य है। तृतीय अर्थ अनुमानवादी की दृष्टि में अनुमित है। जो 'राम' नाम जानता है उससे नामोच्चारण-पूर्वक कहना साधन है जिससे साध्य 'शौर्यातिरेक' का अनुमान ही फलित होता है। ऐसे अवसरों पर प्रकरण आदि परि-स्थितियों में अनुमान के हेतु का अनुसन्धान होता है।

(२) अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि :

इसके उदाहरण यथावसर आ चुके हैं। आचार्य महिमा ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण चुना है—'विष खा लेना पर इसके घर में न खाना।' वाच्य अर्थ स्पष्ट ही है। 'इसके घर का भोजन विषभोजन से भी कष्टप्रद है' लक्ष्यार्थ है। इससे अनुमान होता है कि 'वह अत्यन्त गर्हित शत्रु है।'

(३) लक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि :

(क) शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यंग्यवाला भेद सम्भव ही नहीं है जहाँ व्यञ्जना की कोई उपयोगिता हो—वहाँ तो अनेकार्थक शब्द का प्रयोग होने से वाच्य अर्थ ही होता है। जिसे व्यंग्य अर्थ कहा जाता है, वह भी अभिधा से ही आता है।

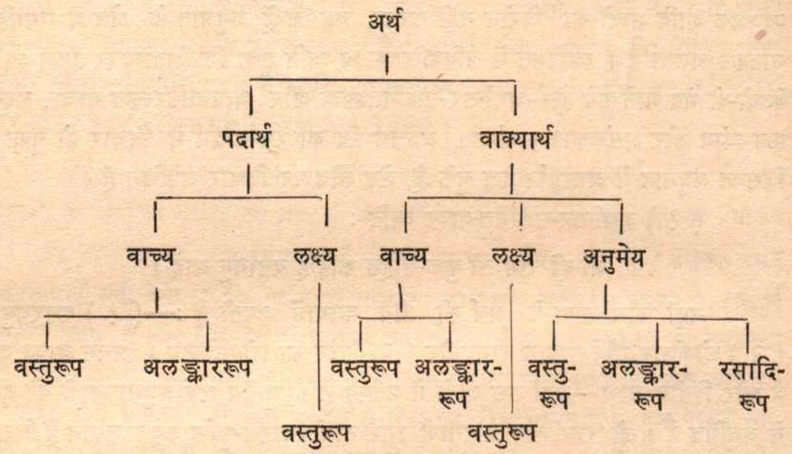
(ख) उभयशक्तिमूलक अनुरणन व्यंग्य में भी वही बात कही जायगी। वहाँ अनेकार्थक शब्दों की अभिधा ही पर्याप्त है।

(ग) अर्थशक्तिमूलक अनुरणन महत्त्व का है जिसमें सर्वथा अनुमान का ही कार्य रहता है। आचार्य महिम भट्ट ने व्यक्तिविवेक के तृतीय विमर्श में विविध उदाहरण देकर इसपर विचार किया है। एक उदाहरण से इसे यहाँ देखा जा रहा है :

पाइ महावर दैन कौं नाइनि बैठी आइ ।
पुनि-पुनि जानि महावरी एड़ी मीड़ति जाइ ॥ (बिहारी)

यहाँ 'महावरी जानकर एड़ी मीड़ते जाने' से एड़ी की लाली का अनुमान होता है ।

आरम्भ में दिये हुए न्यायमत के अर्थ-वृक्ष में लक्षणा को भी जोड़कर अर्थवृक्ष इस प्रकार दिया जाना चाहिए :



समीक्षा :

न्यायमत में काव्य-बोध की सरणि वही हो सकती है, जो आचार्य शङ्कुक और महिम भट्ट ने प्रस्तुत की है । उसको ध्वनि-सिद्धान्त की तुलना में इस प्रकार देख सकते हैं :

(१) ध्वनिमत में काव्य-चमत्कार शब्द का ही अर्थ है और शब्दशक्ति द्वारा ही उसे व्यक्त होना चाहिए, अतः व्यञ्जना शक्ति की स्थापना की गयी है । न्यायमत व्यञ्जनाशक्ति को अमान्य करता है अतः काव्य-बोध को शब्द-बोध न मानकर अर्थ-बोध मानता और अनुमान-गम्य बताता है ।

(२) ध्वनिमत में वस्तु या अलङ्कार व्यंग्य होकर काव्य के प्रधान चमत्कारी अर्थ हो सकते हैं जबकि न्यायमत केवल रस को काव्य में प्रधानता देता है—वस्तु अथवा अलंकार माध्यम ही हो सकते हैं, वे चाहे वाच्य हों अथवा अनुमेय ।

(३) रसबोध स्थायी भाव की व्यञ्जना है, यह ध्वनिकार को अभिमत है जबकि अनुमितिवादी उसे अनुमान मानता है । फलतः जहाँ ध्वनिवादी वासनात्मक भाव को रसिक में उपस्थित मानकर उसी की चर्वणा को रसनिष्पत्ति मानता है, जो सहृदय की वासना (भाव) की व्यञ्जना ही है, वहाँ अनुमानवादी रसिक में भाव-संस्कार उसी

प्रकार मान्य करता है जिस प्रकार धूम देख देखकर अग्नि के संस्कार उद्बुद्ध होकर अनुमान कराते हैं—अर्थात् अनुमान में अग्नि की उपस्थिति अनुमाता में होती नहीं, उसी प्रकार भाव की सत्ता भी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, ध्वनिवादी विद्यमान भाव की रस-रूपता मानता है जबकि अनुमानवादी अविद्यमान भाव की।

(४) ध्वनि के अनुसार काव्य द्वारा सहृदय में ही स्थित भाव की व्यञ्जना की जाती है जबकि अनुमान के अनुसार अभिनेता या कवि द्वारा अनुकृत (अविद्यमान) भाव की सहृदय द्वारा अनुमिति होती है। अनुमिति के अनन्तर जो आनन्दानुभूति होती है उसे अनुमानवादी अनुकृतानुमित वस्तु के स्वभाव-सुन्दर होने के कारण मानता है और उसे लाक्षणिक रूप में व्यञ्जना कहने को तैयार है, पर वह व्यञ्जना शब्द-शक्ति न होकर वस्तु-स्वभावमात्र है।

(५) व्यञ्जना के लिए जिस प्रकार वक्ता, श्रोता, देशकाल, प्रकरण आदि की विशेषता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार अनुमान की व्याप्ति में उनकी आवश्यकता मानी जाती है।

घामु घरीक निबारिए, कलित-ललित-अलि-पुञ्ज।
जमुना-तीर-तमाल-तरु, मिलित-मालती, कुञ्ज॥

यहाँ अनुमान-वाक्य इस प्रकार होगा :

"स्वयंदूती स्त्री पथिक के प्रति संभोगेच्छायुक्त है। क्योंकि वह कुलटा है और मिलन-संकेत-स्थान आदि की उपयुक्तता का अकारण वर्णन कर रही है। जहाँ संभोगेच्छा नहीं होती है, वहाँ ऐसे विवरण नहीं दिये जाते—जैसे वैसी ही परिस्थिति में कोई सती स्त्री।"

अनुमान के ऐसे वाक्य बड़े जटिल होते हैं, पर दूसरा उपाय नहीं।

उक्त तथ्यों को सामने रखकर अनुमानमत की सीमाएँ ज्ञात हो जाती हैं। उन सीमाओं में काव्य-बोध की प्रक्रिया बड़ी जटिल हो जाती है और अनुमान के लिए आवश्यक व्याप्ति का (साधन और साध्य के सहभाव का) अनुसन्धान सरल नहीं रह जाता। ऊपर जो उदाहरण देखा गया है उसमें अनुमान-प्रणाली दूषित (फैलेटिक) है। कोई दयालु स्त्री भी घाम-निवारण हेतु श्रान्त-क्लान्त पथिक से कह सकती है और वर्णन द्वारा स्थान की विश्रामोपयोगिता वर्णन कर सकती है। अनिवार्यतः वैसी परिस्थिति में वैसा वर्णन करके भोगेच्छा ही अभीष्ट हो, ऐसा मान्य नहीं हो सकता और तब अनुमान-मत अपर्याप्त लगता है। व्यञ्जना के लिए यह सब अपेक्षित नहीं—यदि वैसा अर्थ आता है तो व्यञ्जना-शक्ति की देन है, अन्यथा कोई आग्रह नहीं। धूम और अग्नि के समान व्याप्ति का काव्य-वर्णनों में अभाव ही रहता है। इसके अतिरिक्त कतिपय आलोच्य तथ्य हैं :

(१) प्रतीयमान अर्थ को अनुमानीय सीमा में लाकर उसे शब्दार्थ-सीमा से बहिर्भूत करना काव्य की परिभाषा ही बदल देता है—अब अनुमेयार्थ-दायक शब्दार्थ-योजना काव्य ठहरती है। मूर्ति, चित्र और संगीत कलाएँ भी रसात्मक प्रत्यय कराती हैं

जहाँ अनुमान का समावेश दुराग्रहमात्र होगा। संगीत के स्वर जो भावानुभूति कराते हैं वह व्यञ्जना तो हो सकती है, अनुमिति नहीं, क्योंकि उसके लिए अपेक्षित व्याप्ति का अनुसंधान सम्भव नहीं है।

(२) संगीत का रस-प्रत्यय इस बात का प्रमाण है कि रसिक में वासनात्मक भाव उपस्थित रहता है—अविद्यमान भाव रस-प्रत्यय कैसे करा सकता है जबकि अनुकृति और अनुमिति की वहाँ सत्ता ही नहीं है और न वहाँ कृत्रिम विभावादि ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

(३) लोक में भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति के हास, रति, जुगुप्सा आदि भाव दूसरे में वैसे भाव प्रकट कर देते हैं जिससे स्पष्ट है कि वासना-रूप से भाव सबमें विद्यमान रहते हैं। अविद्यमान भाव की रसरूपता का आग्रह समीचीन नहीं लगता। व्यवहारवादी मनोविज्ञान भी इससे इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य में भौतिक-रासायनिक प्रतिक्रिया की उपयुक्त वासना रहती है, तभी उद्दीपन आने पर वैसी प्रतिक्रिया सम्भव होती है।

(४) शब्दशक्ति-मूलक अनुरणनात्मक व्यंग्य की सत्ता ही अमान्य करके महिम भट्ट ने अनुमान की अयोग्यता प्रमाणित कर दी है। उन्होंने देखा कि अनेकार्थक शब्द-प्रयोग में जब एक अर्थ प्रासंगिक होता है तो दूसरा अर्थ चमत्कारी होता है, व्यञ्जना मानकर ही चमत्कार की सत्ता प्रमाणित होती है, परन्तु वहाँ वे अभिधा से ही काम चलाना चाहते हैं जिससे श्लेष और उक्त ध्वनि में अन्तर ही नहीं रह जाता, जबकि अन्तर यह है कि श्लेष में सभी अर्थ प्राकरणिक या प्रस्तुत रहते हैं और शब्दानुरणन में एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत रहता है।

सब उपमा कबि रहे जुठारी।
केहिं पटतरिअ बिदेह-कुमारी॥ (मानस)

में 'बिदेह' शब्द में श्लेषालंकार मान्य नहीं है क्योंकि 'जनक' ही प्राकरणिक अर्थ है—'देहरहित' नहीं। कवि इस द्वयर्थक शब्द से व्यञ्जना करता है—"देह के बिना ही जिसकी उत्पत्ति हुई है उस अलौकिक (अजुष्ट) सौन्दर्य को जूठे उपमानों से उपमित नहीं किया जा सकता।"

(५) प्रतीयमान अलंकारों के लिए भी अनुमान-प्रणाली की संगति नहीं जान पड़ती।

मेरी उपासना करते वे
मेरा संकेत विधान बना,
विस्तृत जो मोह रहा उनका
वह देव-विलास वितान तना। (कामायनी)

यहाँ परिसंख्या अलंकार प्रतीयमान है—वे ईश्वर की नहीं, काम की उपासना करते थे, उनके लिए और कोई नियम-संहिता नहीं थी, काम का संकेत ही विधान था,

वे यज्ञकर्मों के लिए अब कोई मण्डप नहीं तानते थे, विलास ही वितान था। अनुमान में निषेध-प्रतीति का अन्तर्भाव सरल नहीं।

(६) कुछ भी हो, ध्वनिमत ने काव्य-भेदों को जिस रूप और जिन तथ्यों के साथ उपस्थापित किया था, उन्हें मान्य करके ही अनुमानमत चल सका, यह ध्वनिमत की उपलब्धि है।

(७) गुणीभूत-व्यंग्य की अस्वीकृति अनुमानमत की बहुत बड़ी दुर्बलता है। अपेक्षित सन्दर्भ में विस्तार से देखा जा चुका है कि काव्य-चमत्कार में तारतम्य रहता है। रस-प्रतीति अनेक वस्तुओं से अन्तरित होकर आयेगी तो प्रधानता कैसे पा सकेगी ? महिम भट्ट का यह दुराग्रह ही कहा जा सकता है कि रस कभी गौण नहीं होता। उनका यह तर्क कि वस्तु और अलंकार रस-प्रयोजन के लिए ही होते हैं अतः रस की ही प्रधानता है, तर्क ही तर्क है। शर्बत भी रस के लिए ही बनता है पर यदि मिर्च का तीतापन अधिक तीव्र होकर रस में व्यवधान करे तो सुख-प्रत्यय में क्षति तो होगी ही, और यही गुणीभाव है।

× × ×

इस प्रकार अनुमान और ध्वनि का सन्दर्भानुगत विवेचन किया गया। अनुमिति के साथ अनुकृति का बड़ा महत्त्व है और प्लेटो ने भी अनुकृतिवाद की स्थापना की थी। यहाँ इस महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रसंगतः विवेचन अभीष्ट है।

काव्य-बोध में अनुकृति : प्राच्य तथा पाश्चात्य :

'नाटच' नट-वृत्त का नाम है। नट अथवा अभिनेता का समस्त वृत्त या अभिनयात्मक आचरण ही मूलतः नाटच है। अभिनय में एक प्रकार के 'अनुकरण' का योग रहता है अतएव भरतमुनि की स्पष्ट स्वीकृति है :

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। (ना० शा० १।११२)

अर्थात् लोकाचरण का अनुकरण ही नाट्य है। दूसरे शब्दों में, वह 'कृतानुकरण' या किये हुए का अनुकरण है :

कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते। (वही)

इस सिद्धान्त पर अनेक सन्देह उठते हैं (१) अनुकार्य तत्त्व को यथावत् ग्राह्य नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वह वहाँ स्वरूप से उपस्थित नहीं रहता, (२) जुड़वाँ बालकों का सा सादृश्य भी अभिनय में संभव नहीं, (३) अभिनयात्मक प्रत्यय को उस प्रकार की भ्रान्ति नहीं कह सकते जैसी शुक्ति में रजत की होती है, (४) उसे आरोप भी नहीं कह सकते जैसा रूपक अलंकार में देखते हैं, (५) किसी व्यक्ति को 'बैल' कहने जैसा अध्यवसाय भी वहाँ संभव नहीं, (६) उत्प्रेक्षात्मक संभावना भी नहीं ठहरती, (७) वह अनुकरण चित्र के समान प्रतिकृति भी नहीं है, (८) तत्काल कोई अद्भुत रचना इन्द्रजाल के समान हो जाती हो, सो भी नहीं, (९) हस्तकौशल-जनित माया के

समान वह युक्तिरचित आभास भी नहीं कहा जा सकता। इन सभी पक्षों में सहृदय उदासीन रहेगा और रसास्वाद संभव न होगा। इन तथ्यों को सामने रखकर आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने नाट्यशास्त्र की कारिका की अवतारणा की है :

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥ (१।१०७)

अर्थात् लोक-भावना का 'अनुकीर्तन' ही नाट्य है। इस प्रकार 'अनुकरण' और 'अनुकीर्तन' पर्याय शब्द से बन जाते हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि अनुकीर्तनात्मक अनुकरण नाट्य का सर्वस्व है, परन्तु वह सामान्य अनुकरण से भिन्न भी है। जिस प्रकार कोई भाँड़ राजकुमारादि का अनुकरण करके हासमात्र उत्पन्न करता है, वैसा अनुकरण नाट्य से भिन्न है, यह तथ्य अभिनवभारती में स्पष्ट किया गया है। अभिनव के अनुसार सामान्य अनुकरण नाट्य में संभव ही नहीं है—यदि अनुकरण का अर्थ सदृश-करण लिया जाता है तो प्रश्न उठेगा, किसका अनुकरण किया जाता है ? जब तक कोई विशेष व्यक्ति प्रत्यक्ष न किया जाय तब तक उसके सदृश आचरण की संभावना नहीं। अतः रामादि विभावों का अनुकरण असंभव है। भावों का भी अनुकरण संभव नहीं है क्योंकि नट द्वारा रामादि के समान शोकादि अनुभव नहीं किये जाते, प्रत्युत अभिनेता में उन वृत्तियों का अभाव ही अपेक्षित है। अतः स्पष्ट है कि नट द्वारा उन चेष्टाओं को ही प्रस्तुत किया जाता है जो उस प्रकार की भावदशा में वैसे चरित्रों में सामान्यतः देखी जाती हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार संवेदन या भावतत्त्व ही प्रेषणीय है। अभिनय द्वारा भाव में प्रेषणीयता आती है। अभिनय अनुभावात्मक चेष्टाओं का अनुकरण होता है जिसके दो पक्ष हैं—(१) नट का स्वरूपावच्छादन प्रथम पक्ष है जिससे सहृदय-समाज कुछ क्षण के लिये भाँड़ जैसी नकल नहीं मानता और (२) दूसरा पक्ष विकल्प-संवेदन-निरसन या विकल्पात्मक प्रत्यय का तिरोधान है जिससे सहृदय केवल उसी संवेदना में तल्लीन होता है जो अभिनय द्वारा प्रेषणीय बनायी जाती है। इस प्रकार सहृदय-संवेदन एक प्रकार का ऐसा प्रत्यय है जिसे 'अनुव्यवसाय' कह सकते हैं और वही 'अनुकीर्तन' है :

"तस्माद् अनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषित-विकल्प-संवेदनं नाट्यम्।
तद्वेदन-वेद्यत्वात्।" (अभिनवभारती १।१०)

इस अनुव्यवसायात्मक प्रतीति की प्रक्रिया का स्पष्ट उपस्थापन अभिनवभारती में किया गया है।

(१) सर्वप्रथम सहृदय राम-रावणादि का नट में अध्यवसित बोध प्राप्त करता है जो सम्यक्-प्रतीति, संशय-प्रतीति, भ्रान्त-प्रतीति, संभावना-प्रतीति आदि प्रतीतियों से भिन्न केवल नाट्यक्षेत्रीय विशेष बोध-दशा है।

(२) तदनन्तर स्वयं में रामादि के संस्कारों का अध्यवसित (तदाकार) बोध प्राप्त करता है जिससे रामादि के चरित में सहृदय की चेतना प्रविष्ट होकर एकरूपता ग्रहण करती है।

(३) चरम परिणति के रूप में सहृदय शुभ और अशुभ का बोध करता हुआ शुभाचरण के ग्रहण और अशुभाचरण के परित्याग का फल प्राप्त करता है। यहाँ हम अरस्तू के विवेचनसिद्धान्त का भी समावेश पाते हैं। अशुभ का त्याग ही विरेचन है।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नट द्वारा जिस अनुकरण की व्यवस्था दी गयी है वह केवल लोकवृत्त का चेष्टागत अनुकरणमात्र है जिसका फल नट का स्वरूपावच्छादन है, अन्यथा सहृदय को रसबोध संभव न होगा। इसीलिए दशरूपककार ने नाट्य की परिभाषा में 'अवस्थानुकृति और 'वाक्यार्थाभिनय' शब्द रखे हैं—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।
वाक्यार्थाभिनयो नाट्यम्।

सारांश यह कि सामाजिक को रसास्वाद कराना ही एकमात्र लक्ष्य है जिसके लिए चेष्टाओं के अनुकरण को साधन बनाया जाता है। यही भारतीय नाट्य-परम्परा में मान्य रहा है।

इस सन्दर्भ में यूनान की मान्यता का आकलन किया जाय तो वहाँ प्लेटो से पहले भी दर्शकों को अनुकरण द्वारा मूढ़ बनाने की मान्यता प्रचलित थी।[१] इसी प्रचलन को लेकर प्लेटो की मान्यता स्थिर हुई जान पड़ती है—'एक तो भौतिक पदार्थ स्वयं ही सत्य की अनुकृति हैं और फिर काव्य तो इन भौतिक पदार्थों की भी अनुकृति होती है। अतएव अनुकरण का भी अनुकरण होने के कारण वह और भी त्याज्य है।'[२]

प्लेटो के अनुसार कलाकार की यथार्थ अनुकृति वहीं तक ग्राह्य है जहाँ तक उसमें वस्तु-सौन्दर्य अनुकृत हुआ है—अर्थात् वे कला में शुभतत्त्व के ही अनुकरण में सौन्दर्य मानते हैं।[३] वस्तु की उपस्थापना का सौन्दर्य प्लेटो को मान्य नहीं, वे अनुकार्य वस्तु के सौन्दर्य को ही कला का सौन्दर्य मानते हैं। अनुकृति का खरापन उन्हें प्रिय नहीं।[४] प्लेटो चाहते हैं कि कला में अच्छी ही बातों का अनुकरण हो।[५] इससे प्लेटो के मत की एकाङ्गिता स्पष्ट हो जाती है। अभिनव के मत का उल्लेख करते हुए देखा जा चुका है कि रामादि और रावणादि दोनों की अनुव्यवसायात्मक प्रतीति से सहृदय को शुभ के ग्रहण और अशुभ के त्याग का फल उपलब्ध होता है।

× × ×

न्यायमत में अनुकृति :

भारतीय नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं में न्यायमत का प्रतिनिधित्व भट्ट शङ्कुक को मिला है। भारतीय नाट्य से सहृदय को जो उपलब्धि होती है, वह रस है। वह रस

१. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय : काम्परेटिव् ईस्थिटिक्, ग्रन्थ २, पृ० ७।
२. डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० ५।
३. रिपब्लिक्, पृ० ४२०।
४. एन्० आर० मर्फ़ी : द इन्टरप्रेटेशन् आव् प्लेटोज् रिपब्लिक्, पृ० २३४।
५. रिपब्लिक्, पृ० ९८-१००।

शङ्कुक के अनुसार रसिक को अनुकारक (अभिनेता या नट) में मिलता है जो अनुकार्य (रामादि) का अनुकरण करता है। अनुकार्य और अनुकारक में सहृदय अभेद-बोध करता है और यह बोध कलात्मक बोध है जो चार लौकिक बोधों से भिन्न है :

(१) **सम्यक्-प्रतीति** :—'यह राम ही है' एवम् 'राम यही है' यह निश्चयात्मक प्रतीति ही सम्यक् प्रतीति है जो नट में संभव नहीं।

(२) **मिथ्या-प्रतीति** :—पहले 'राम है' ऐसी प्रतीति हो, तदनन्तर भ्रान्ति का बोध होने पर स्पष्ट हो कि 'यह राम नहीं है' तो प्रथम प्रतीति मिथ्या प्रतीति कही जाती है। नट को राम मानने में ऐसी भी प्रतीति नहीं होती जिसे मिथ्या प्रतीति कहा जा सके।

(३) **संशय-प्रतीति** :—'यह राम है या कोई अन्य' ऐसी द्वैविध्ययुक्त प्रतीति संशय-प्रतीति कही जाती है। नाट्य में ऐसा भी बोध नहीं होता कि सहृदय 'राम है या नट' ऐसा संशय करता हो।

(४) **सादृश्य-प्रतीति** :—'यह राम के सदृश है' ऐसी सादृश्य-प्रतीति भी अभिनयस्थल में नहीं देखी जाती कि नट को राम-सदृश माना जाता हो।

(५) **अनुकृत प्रतीति** :—उक्त चारों लौकिक प्रतीतियों से भिन्न पाँचवीं अलौकिक प्रतीति कला में देखी जाती है। जिस प्रकार चित्र में रेखानुकृति को तुरग या गाय आदि माना जाता है और उसे सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य चारों से भिन्न देखा जाता है, उसी प्रकार नट को राम मान लिया जाता है, नटगत चेष्टाओं एवं भावों को राम की चेष्टाएँ और राम के भाव समझा जाता है। यह प्रतीति उक्त चारों से भिन्न स्वतन्त्र लोकोत्तर (कलात्मक) पञ्चम प्रतीति-प्रकार है जो बोध का स्वतन्त्र रूप है।

इस प्रकार रस-बोध को लेकर न्याय-मत में दो पक्ष बनते हैं—अनुकार्य और अनुकारक। इन दोनों के चार-चार भाग हैं—(१) अनुकार्य पक्ष में रामादि कारण हैं, उनकी भावसूचक चेष्टाएँ कार्य हैं, स्थायी भावों के सहकारी या सहचारी भाव हैं और स्वयं स्थायी भाव हैं। (२) अनुकारक पक्ष में अनुकर्ता नट विभाव है, अनुकृत चेष्टाएँ अनुभाव हैं, अनुकृत सहचारी भाव संचारी या व्यभिचारी भाव हैं और अनुकृत स्थायी भाव रस है जो **नटनिष्ठ** है और सहृदय को अनुमान से प्रतीतिगम्य होता है।

न्यायमत में काव्यार्थ-बोध अनुमान का विषय है। अनुमान के लिए साधन, साध्य और पक्ष—ये तीन—अपेक्षित होते हैं। साधन वह है जिससे साध्य का अनिवार्य सम्बन्ध रहता है और जिसे प्रत्यक्ष करके ही साध्य की अनुमिति होती है, यहाँ नट की चेष्टाएँ साधन हैं। साध्य रस है जो नटगत अनुमित स्थायी भाव है। पक्ष वह आधार होता है जिसमें साधन के साथ साध्य की उपस्थिति रहती है फलतः साधन-प्रत्यक्ष द्वारा साध्य की उसी में अनुमिति की जाती है। नट ही पक्ष है जिसमें अनुकृत स्थायीभाव-रूप रस उपस्थित रहता है जिसका सहृदय नट में अनुमान करके 'वस्तु-सौन्दर्य-बल' से रसात्मक बोध सुलभ करता है। दूसरे शब्दों में, नट द्वारा अनुकृत और सहृदय द्वारा अनुमित स्थायी भाव रस है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि न्यायमत में अनुकृति की मान्यता एक अनिवार्य तत्त्व है। रसिक का रसबोध अनुमित है और अनुमान के लिए जिस पक्ष (आधार) की अपेक्षा है, वह नट है, तथा नट में रस अनुकृत है। नट स्वयं रस का अनुकारक है। प्लेटो भी मूलतः नैयायिक थे अतः अनुकृति की मान्यता उनके लिए भी अनिवार्य थी क्योंकि अनुमान की प्रणाली से काव्य-बोध का अन्य मार्ग ही संभव नहीं।

न्यायमत की समीक्षा :

आचार्य अभिनव ने उक्त न्यायमत की तीव्र आलोचना की है। उनके मत से भावानुकरण को रस मानना सर्वथा युक्तिहीन है।

(१) अनुकरण प्रमित वस्तु का होता है। रामादि अनुकार्य की चित्तवृत्ति प्रमाण-प्राप्त नहीं है कि उसे अनुकृत किया जा सके। राम स्वयं ही अप्रमित (कल्पित) शाब्द सत्ता है अतः उसका भी अनुकरण क्या हो सकता है ? जहाँ तक चेष्टाओं का सम्बन्ध है, उन्हें कोई अनुकरण नहीं मानता। भाव चित्तवृत्तियाँ हैं जिनका अनुकरण असंभव है, रामादि का कोई प्रमित रूप नहीं है जिसका अनुकरण होता हो और चेष्टाएँ—कटाक्षादि—तो प्रत्यक्ष हैं और यथार्थ हैं, जिन्हें नट शिक्षाबल से उपस्थापित करता है अतः उनके अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) सहृदय रत्यादि भावों को अनुकृत रूप में ग्राह्य नहीं बनाता प्रत्युत रत्यादि रूप में ही उनका बोध करता है और यही रसबोध है।

(३) अनुकरण कृत्रिम होता है जैसा कि भाँड़ों में देखा जाता है। रसिक कभी विभावादि को कृत्रिम रूप में ग्रहण नहीं करता है अन्यथा उसे अपेक्षित रस की प्रतीति न होकर केवल हास की प्रतीति ही हो।

(४) कृत्रिम साधन से अनुमिति भी असंभव है। शीतकाल में सरोवरगत बाष्प देखकर अग्नि की यथार्थ अनुमिति नहीं होती।

(५) अनुकरण में सादृश्य-प्रतीति रहती है। नट स्वतः क्रुद्ध न होकर भी क्रुद्ध-सदृश दिखता है, परन्तु वहाँ रसिक को सादृश्य की प्रतीति नहीं होती।

(६) नट और रामादि में अभेद की प्रतीति सामयिक होती है। अन्य अवसर पर दूसरे नट को राम से अभिन्न माना जाता है और पहले जिस नट ने राम का अभिनय किया है वह दूसरे अनुकार्य के साथ अभिन्नता का प्रत्यय कराता है। अवसरविशेष के पूर्व और पश्चात् नट व्यक्तिमात्र रहता है, उसमें कोई अभेद-प्रतीति नहीं होती।

(७) अनुकरण सदृश-विधान का ही रूपान्तर है, परन्तु नट भला किसका सदृशविधान करता है ? यदि कहा जाय कि राम व्यक्ति के शोक के सदृश शोक करता है तो असंगत है क्योंकि नट कभी शोक नहीं करता। अश्रुपातादि चेष्टाओं से शोक का अनुकरण नहीं होता, केवल चेष्टाओं का उपस्थापन होता है। हाँ, यह कह सकते हैं कि उत्तम प्रकृति के शोकानुभावों का अनुकरण नट करता है—रामव्यक्ति तो वहाँ हो ही नहीं सकता। इस दशा में व्यक्तिविशेष का अभाव होने से सामान्य उत्तम-प्रकृति को बुद्धि में

लाना असंभव है। वस्तुतः नट में सहृदय स्वयं प्रविष्ट हो जाता है और यही अभेद-प्रतीति का कारण है। इस दशा में अनुकार्य तथा अनुकारक की स्थिति नहीं रह सकती।

(८) चित्र-तुरग का दृष्टान्त भी नाट्यकला के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकता। रेखाओं द्वारा प्रकट किया हुआ तुरगानुकार उस तुरग से भिन्न है जिसे प्रकाश द्वारा सजीव रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। चित्र-तुरग सादृश्यविधान की देन है परन्तु नट में वैसा सादृश्य-विधान प्रतीत हो तो भाँड़ों की नकल से पृथक् उसका महत्त्व न रह जाय। अतः भावानुकरण की मान्यता असंगत है।

उक्त समीक्षा से यह स्पष्ट है अभिनव नट और सहृदय में एक प्रकार का एकीभाव मान लेते हैं। सहृदय की चेतना नट में प्रवेश लेती और अपने ही वासनारूप भाव का आस्वाद करती है। न नट में भाव होता है और न रामादि की कोई सत्ता रहती है प्रत्युत समस्त अभिनय एक 'लोकवृत्त' का उपस्थापन करता हुआ सहृदय को तन्मय कर लेता है और यही तन्मयता रसास्वाद का कारण है। (नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।)

इस सन्दर्भ में प्लेटो की स्थापना भिन्न है। उनके अनुसार 'कला किसी यथार्थ (नार्मल) स्थिति की उपज नहीं है, और न ही सामाजिक की नार्मल स्थिति को तुष्ट करती है, प्रत्युत कला जिस मनःस्थिति को तुष्ट करती है वह या तो परिवर्तित मनोदशा होती है या विनोदान्वेषी प्रवृत्ति होती है या दुर्बलता होती है। प्लेटो की मान्यता है कि कलाकार अपने कौशल को अपनी कल्पना के अधीन कर देते हैं और उसे अपनी मिथ्या-कल्पना की अनुभूति का साधन बनाते हैं।'[१५]

प्लेटो के अनुसार उक्त अनुकृति भ्रान्तिमात्र है जिससे 'सामाजिक में तर्कबुद्धि का अभाव हो जाता है—कविता भी हमारे भीतर रहनेवाले निम्नकोटि के मानस पर अपनी शक्ति सफल करती है। कविता में भावुकता का आकर्षण रहता है जो हमारे दुर्बल भावों—भय, करुणा आदि—को लपेट में लेकर हमारी समीक्षा-शक्तियों को अलग कर देता है जिसके कारण हम यथार्थ-गम्भीर चिन्तन से वञ्चित रह जाते हैं।'[१६]

अनुकृति : सदृशविधान अथवा तादात्म्यविधान :

आचार्य अभिनव के अनुसार 'लोकवृत्तानुकरण', 'कृतानुकरण' अथवा 'भावानुकीर्तन' शब्दों का सम्मिलित अर्थ करना चाहिए। अर्थात् सहृदय में अपेक्षित भाव का प्रतिजागरण ही भावानुकीर्तन है और उसी सन्दर्भ में शेष दोनों का अर्थ करें तो स्पष्ट होगा कि परिस्थितिविशेष में जैसी चेष्टाएँ सम्भव होती हैं, वैसी ही चेष्टाओं का करना ही 'अनुकरण' नाम से लिया गया है :

"यदि त्वेवं मुख्य-लौकिक-करणानुसारितयाऽनुकरणमुच्यते,
तन्न कश्चिद् दोषः।" (अभिनवभारती—१।१०७)

अभिनव यद्यपि 'अनुकरण' नाम से सन्तुष्ट नहीं हैं क्योंकि भाँड़ों की नकल के लिए भी उसका प्रयोग होता है, फिर भी अन्तर रहते हुए भी शब्द का प्रयोग किया ही

जाता है (दे० वही)। वस्तुतः वे उसे 'अनुव्यवसाय' मानते हैं जो प्रतीतिविशेष-पर्याय है। सभी लौकिक प्रतीतियों से भिन्न कलात्मक प्रतीति ही 'अनुव्यवसाय' या 'अनुकीर्तन' है और नट द्वारा स्वरूपाच्छादन उसी का अङ्ग होने से अनुकरण कहा जाता है।

यह 'अनुव्यवसाय' नाट्य की वस्तु से वर्तमानवत् प्रतीति का उदय लानेवाला तत्त्व है। यह पूर्णतः बौद्ध प्रत्यय है। इस तथ्य की पुष्टि वाक्यपदीय में भी की गयी है—"कृष्ण-कंसादि काव्यशब्दों में ही रूप लाभ करते हैं और सहृदय के बुद्धिगोचर होकर प्रत्यक्षवत् भासित होते हैं।"[१७] इसी को अभिनव ने 'अनुव्यवसाय' माना है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि अभिनव को 'अनुकरण' से 'सदृशविधान' अर्थ लेने का भय है. अतः वे इस शब्द की बड़ी ही सतर्कता से व्याख्या करते हैं। दूसरी ओर प्लेटो 'अनुकरण' में भ्रान्ति का महत्त्वपूर्ण योग मानते हैं। न्यायाचार्य शङ्कुक उसे चारों लौकिक प्रतीतियों से भिन्न लोकोत्तर प्रतीति मानते हुए व्याख्या देते हैं। परन्तु प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। इस जटिलता का निराकरण अपेक्षित मानकर आचार्य धनिक नाट्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं—"आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों द्वारा सहृदय को जो तादात्म्यानुभूति होती है, वही नाट्य है।"[१८] यह तदाकारता की प्रतीति सहृदय की तल्लीनता ही है जिसे आचार्य अभिनव ने 'अनुव्यवसाय' कहा है।

ऐसी ही दुविधा अरस्तू के प्रामाणिक व्याख्याता बुचर को भी 'अनुकरण' शब्द से (इमिटेशन् से) हुई थी अतएव अनुकृति को 'कार्बन कापी' न मानकर 'सादृश्यविधान' अथवा 'पुनरुत्पादन' कहा है।[१९] 'बुचर' महोदय कदाचित् 'सादृश्यविधान' कहकर सन्तुष्ट नहीं हैं, क्योंकि उसे 'कार्बन् कापी' से भिन्न मानने में कठिनाई हो सकती है अतएव वे दूसरा शब्द 'पुनरुत्पादन' सुझाते हैं। वस्तुतः 'कृतानुकरण' शब्द जो नाट्शास्त्र में आया है, वह 'पुनरुत्पादन' जैसा अर्थ देता है। परन्तु इतने से अर्थ संशय-शून्य नहीं हो पाता। रुई से सूत का उत्पादन होता है और फिर वस्त्र का पुनरुत्पादन होता है। 'अनुकृत' का वैसा अर्थ लेना भी तो अभीष्ट नहीं जान पड़ता। वस्तुतः लोकव्यवहार की सीमा में रहकर नाट्यवाली 'अनुकृति' समझना असम्भव है, यह बात बुचर को भी प्रतीत हुई है अतएव वे उसे अनेक शब्दों द्वारा समझाने का उपाय अपनाते हैं। अभिनव का 'अनुव्यवसाय' पूर्णतया भ्रमशून्य शब्द है जो रसिक के 'तादात्म्यबोध' का ही नामान्तर है।

मर्फ़ी महोदय 'पुनःस्थापन' और 'रचनात्मक' शब्दों के सहारे कलात्मक बोध की व्याख्या करते हैं। यद्यपि लोकोत्तर कला-बोध को समझने में ये शब्द भी पर्याप्त नहीं, तथापि खतरा कम समझकर वे 'रचनात्मक' को अधिक महत्त्व देते हैं। वे ललित कलाओं को दो भागों में विभक्त करके देखते हैं—मूर्ति, चित्र एवं वास्तु कलाओं में पुनःस्थापन तत्त्व अधिक रहता है, रचनात्मक तत्त्व अल्प होता है, जबकि काव्य एवं संगीत में रचनात्मक तत्त्व की पुनःस्थापन की अपेक्षा अधिकता रहती है। परन्तु मर्फ़ी के अनुसार रचनात्मक तत्त्व ही कला का सर्वस्व है।[२०]

मर्फ़ी का 'रचनात्मक' शब्द कला के सन्दर्भ में प्रायः वही अर्थ देता है जिसे शङ्कुक ने अनुकृति के सन्दर्भ में 'विलक्षण प्रतीति' कहा है। 'चित्रतुरग' का दृष्टान्त देकर शङ्कुक 'पुनःस्थापन' को ही स्पष्ट करते हैं जो नाट्य में रहता ही है, यद्यपि 'रचना' की अपेक्षा उपसर्जनीभूत रहता है। चित्रकार द्वारा चित्र की उपस्थापना होती है जबकि द्रष्टा उसे विलक्षण रचना के रूप में ग्रहण करता है। काव्य अथवा नाट्य में 'रचना-वैलक्षण्य' अधिक रहता है अतः सहृदय की तादात्म्य-प्रतीति उपलब्ध होती है जो रचना का फलीभूत रूप है।

यहाँ 'अनुकृति' के दो अर्थ फलित होते हैं—उसे सदृश-विधान कहें अथवा तादात्म्य-विधान। दोनों में बड़ा अन्तर है। दोनों के बीच में 'आरोप' आता है।

(१) 'मुख चन्द्र के समान प्रकाशित है।' वाक्य में सदृश-विधान स्पष्ट है। नाट्यानुकृति में ऐसी उपमा स्पष्ट नहीं रहती।

(२) 'मुख-चन्द्र प्रकाशित है।' यहाँ मुख में चन्द्रत्व का आरोप है जो 'रूपक' का विषय है। यह भी नाट्यानुकृति में प्रतीतिगम्य नहीं होता कि सहृदय, नट तथा प्रतिपाद्य विषय का पार्थक्य रहते हुए आरोपात्मक बोध होता हो।

(३) 'चन्द्र प्रकाशित है।' यहाँ मुख को चन्द्र से एकाकार करके अध्यवसित रूप में प्रस्तुत किया गया है जो 'रूपकातिशयोक्ति' का विषय है और यही नाट्यानुकृति यहाँ रामादि प्रतिपाद्य और अभिनेता अभिन्न रूप में सहृदय की प्रतीति का विषय बनते हैं और सहृदय स्वयं को भी उससे अभिन्न कर लेता है। यही प्रत्यय अभिनव का 'अनु-व्यवसाय' है तथा धनिक ने इसी को 'तादात्म्यापत्ति' कहा है। यही वह अवस्था है जहाँ मर्फ़ी महोदय का 'रचनात्मक तत्त्व' सहृदय के तादात्म्य बोध से संगति पा सकता है।

अनुकृति और विरेचन :

कलानुकृति का मुख्य प्रयोजन सहृदय की उपलब्धि है। वह उपलब्धि कोई भी और कैसी भी हो, उसके बिना कला लक्ष्यहीन होकर स्वरूपशून्य हो जाती है। यह उप-लब्धि ही अरस्तू के मत में 'विरेचन' है। ट्रैजेडी द्वारा दुःखात्मक भावों का परित्याग जो सहृदय सुलभ करता है, वही विरेचन है और वही कला की सार्थकता है। विरेचन तत्त्व की प्रमुखता के कारण ही अरस्तू ट्रैजेडी को अन्य रचनाओं से अधिक दार्शनिक तथा अधिक गम्भीर मानते हैं।[२१] इसका कारण यह है कि 'काव्य का वर्ण्य वास्तव में विशेष तथ्य नहीं होता, उसमें निहित सामान्य मानव-अनुभव होता है।'[२२] अतएव मानव के सामान्य दोषों (हैमर्शिया) का परिहार ही ट्रैजेडी का लक्ष्य है फलतः वह उत्तम रचना है।

यह विरेचन मूलतः अभावात्मक तत्त्व है अतः भारतीय काव्य-दर्शन में इसपर बल नहीं दिया गया है, फिर भी प्रकारान्तर से उसकी आवश्यकता मान्य ठहरायी गयी है। भारत में ग्रहण और त्याग, दो उपलब्धियाँ दो पक्षों के रूप में स्वीकृत रही हैं। आचार्य अभिनव के अनुसार इन उपलब्धियों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

(१) नटादि द्वारा जो कृतानुकीर्तन किया जाता है उसमें शुभ और अशुभ पक्ष रहते हैं—उन्हें 'राम' और 'रावण' नाम दिया जा सकता है।

(२) सहृदय उस कृतानुकीर्तन का तादात्म्यबोध करता है जिसे 'अध्यवसाय' कहा जाता है ।

(३) उसमें राम-पक्ष का ही सहृदय अध्यवसाय प्राप्त करता है जिसके संस्कार उसके मानस में दृढ़ीभूत हो जाते हैं ।

(४) उन संस्कारों की महिमा से सहृदय की बुद्धि चमत्कारी राम-चरित में प्रवेश कर जाती है ।

(५) इस बुद्धि-प्रवेश का सद्यः-फल रसास्वाद है ।

(६) तदन्तर सहृदय को वस्तुबोध होता है और वह उस कथ्य में से कुछ ग्रहण करना चाहता है और कुछ का परित्याग वाञ्छित मानता है ।

(७) सहृदय की बुद्धि-वृत्ति ग्रहण और त्याग से इस प्रकार अनुस्यूत हो जाती है कि वह शुभ या रामतत्त्व का ग्रहण तथा अशुभ या रावणतत्त्व का त्याग करता है । (अभिनव-भारती १।१०७)

यही वह कान्तासम्मित उपदेश है जिसके अनुसार सहृदय अनुभव करता है कि रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं । अशुभ तत्त्व का परिहार ही 'विरेचन' है ।

ट्रैजेडी में एक ही पात्र शुभ और अशुभ दोनों का आश्रय रहता है अतः अशुभ के 'विरेचन' को ही अरस्तू ने ट्रैजेडी का सर्वस्व माना है ।

× × ×

अन्त में अनुकृति को लेकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह लौकिक अनुकरण से भिन्न एक नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है । पूर्व और पश्चिम के मनीषी उसके वास्तविक अर्थ का अनुसन्धान करते रहे हैं । वस्तुतः अनुकृति लोकोत्तर कलाकृति का नाम है जो लोकवृत्त का कलात्मक उपस्थापन है । 'लोकवृत्तानुकरण' या 'कृतानुकरण' से यही अभिप्राय लेना चाहिए । 'कलात्मक उपस्थापन' से सहृदय को त्रिविध उपलब्धि होती है—रसानुभूति, शुभ-ग्रहण और अशुभ-विरेचन । इनमें प्रथम का सम्बन्ध संवेदन-मात्र से है जबकि शेष दो वस्तुरूप होने से संवेदन द्वारा विवेक-बुद्धि में अवतीर्ण होते हैं । वस्तुतः इन्हीं दो का रसात्मक या संवेदनीय उपस्थापन कला का विषय है और यही 'अनुकृति' का अभिप्राय है ।

लोकवृत्त देश, काल और पात्र के भेद से विविधता लेता है जिसमें परिस्थितियों के असंख्य रूप भेदक होकर आते हैं । इस प्रकार 'लोकवृत्त' की कोई मान्य इकाई अपने आपमें विशिष्ट होती है, फिर भी सहृदय समाज की दृष्टि से वह सामान्य या साधारणीकृत रूप लेकर उदित होती है जिससे रस और वस्तु दोनों की तादात्म्यानुभूति फलित होती है । यह 'तादात्म्यानुभूति' अनुकृति के अर्थ की सीमा में ही आती है । कहना चाहिए कि 'कलात्मक उपस्थापन' कलाकार के सन्दर्भ में और 'तादात्म्यानुभूति' सहृदय के सन्दर्भ

में आती हैं जो 'अनुकृति' के दो मुख्य पक्ष हैं। नट को राम से अभिन्न मानना सहृदय की तादात्म्यानुभूति का एक भाग है और दूसरा भाग वह है जिसमें सहृदय स्वयं ही तदाकार-परिणति अनुभव करता है। कला की यही चरम उपलब्धि है।

(अनुकृति में तादात्म्यानुभूति न होने से हास्य ही हाथ लगता है—भरत मुनि ने 'शृङ्गारानुकृतिर्हास्यः' कहकर यही मान्य किया है जिसपर प्रथम अध्याय में विचार हो चुका है।)

उपसंहार :

विविध आयामों में न्यायमत का पर्यालोचन करते हुए देखा गया कि ध्वनिमत को तर्क-शास्त्रीय प्रक्रिया में बाँधने का एक प्रयास ही महिम भट्ट ने किया था। भट्टशङ्कुक की मान्यता को लेकर रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में विस्तार से देखा जा चुका है। न्यायमत और ध्वनिमत दोनों को अमान्य करनेवाले आचार्य भट्टनायक का सैद्धान्तिक पक्ष आगे विवेचित किया जायगा।

भट्टनायक का रस-निष्पत्ति-सिद्धान्त ८

नाट्यशास्त्र में रसतत्व की विस्तृत व्याख्या छठे और सातवें दो पूरे अध्यायों द्वारा प्रस्तुत की गयी है। रस-निष्पत्ति को लेकर भरत ने जितना कुछ कहा था, उसे दार्शनिक कसौटी पर उतारना शेष था। भारतीय चिन्तन का बहुत लम्बा क्षेत्र दर्शन के आधार पर काव्यबोध की व्याख्या करता रहा है, यह तथ्य भट्टलोल्लट और भट्टशङ्कुक के मतों में स्पष्ट है। भट्टनायक ने उस व्याख्या को नया दार्शनिक मोड़ दिया था जिसे प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

भट्टनायक का समय :

कालक्रम की दृष्टि से भट्टनायक आचार्य आनन्दवर्धन (ध्वनिकार) और आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मध्य में आते हैं। ध्वनिकार का समय आठवीं शती है और अभिनव का नवीं शती। इसी बीच में, आठवीं के अन्तिम और नवीं के प्रथम चरण में, भट्टनायक की सत्ता मान्य है क्योंकि अभिनवगुप्त ने ध्वनि मत के कटु आलोचक ही नहीं, ध्वन्यालोक की पङ्क्तियों के परीक्षक के रूप में भट्टनायक का स्मरण किया है और यथावसर प्रत्यालोचना की है।[१]

भट्टनायक और काव्य-स्वरूप :

भट्टनायक ऐसे आचार्य हैं जो काव्य-बोध को योगियों की अनुभूति की अपेक्षा अधिक मनोरम बताते हैं। उनका कहना है—

'काव्य-वाणी धेनु के समान है। सहृदय उसका बछड़ा है। बछड़े की प्यास से जैसे धेनु स्वयं दुग्ध दे चलती है, उसी प्रकार काव्य-वाणी सहृदय की तृष्णा की तृप्ति हेतु स्वतः रसदान करती है। योगियों द्वारा समाधिरूपी धेनु से दुहे हुए रस से वह रस इतना अधिक सुन्दर है कि तुलना नहीं हो सकती।'[२]

भट्टनायक के अनुसार वाणी के तीन रूप हैं :—(१) शब्द की प्रधानता में शास्त्र-वाणी होती है, (२) अर्थ की प्रधानता में इतिहास-वाणी, और (३) व्यापार (शब्दशक्ति) की प्रधानता में काव्यवाणी होती है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों गौण रहते हैं।[3]

भट्टनायक काव्य के तीन व्यापार मानते हैं—(१) अभिधा व्यापार, जो शब्दों का प्रचलित अर्थ देता है, (२) भावना अथवा भावकत्व व्यापार, जिससे काव्यार्थ का साधारणीकरण होता है, और (३) भोग (भोजकत्व) अथवा रसचर्वणा-व्यापार, जिससे

रसनिष्पत्ति होती है। इन तीनों में अन्तिम रसचर्वणा-व्यापार ही काव्य का सर्वस्व है। इस प्रकार उक्त तीनों व्यापार काव्य के तीन अंश हैं क्योंकि काव्य व्यापार-प्रधान वाणी-विन्यास का नाम है।[४]

जब शब्द-व्यापार (शक्ति) काव्यरूप न होकर काव्य का अंग हो तब किसी ऐसे व्यापार की कल्पना नहीं हो सकती जो काव्यरूप हो। इसी दृष्टि से भट्टनायक ध्वनिमत पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि पहले तो ध्वनिव्यापार की कोई सत्ता ही नहीं प्रमाणित होती, और यदि किसी प्रकार प्रमाण-सिद्ध मान भी लिया जाय तो वह शब्द-व्यापार ही रहेगी। शब्दव्यापार-रूप 'ध्वनि' काव्य का अंशमात्र हो सकती है, काव्य का सम्पूर्ण रूप ध्वनि नहीं हो सकती—अर्थात् ध्वनिकार की मान्यता कि ध्वनि ही काव्य है, सर्वथा असंगत है, ध्वनि तो काव्य का अंगभूत व्यापारमात्र है।[५]

उक्त रीति से विचार करने पर भट्टनायक के काव्य-स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है :—

(१) काव्य व्यापार-प्रधान वाणी है, शब्द-प्रधान या अर्थप्रधान नहीं।

(२) व्यापार ही काव्य के अंश हैं जो तीन हैं—अभिधा, भावना और भोग (या रसचर्वणा)।

(३) तीनों काव्यांशों में से अभिधा लौकिक अर्थ देती है जबकि शेष दो व्यापार शुद्ध काव्यव्यापार हैं जो काव्यार्थमात्र देते और काव्यबोध के साधन होते हैं।

(४) (ध्वनि या) कोई व्यापार काव्य का अंश ही हो सकता है, काव्य-रूप नहीं।

(५) काव्य का अन्तिम अंश (भोग-व्यापार—रसचर्वणा) सर्वोपरि है।

(६) रस काव्य का सर्वस्व है और रसग्राही रसिक योगी से भी अधिक आनन्द प्राप्त करता है।

सारांश यह कि काव्य वह व्यापारप्रधान वाणी है जिसमें अभिधा द्वारा उपस्थापित लौकिक तथ्यों का भावना द्वारा साधारणीकरण होता और भोग-व्यापार द्वारा रसोपलब्धि होती है। रसनीयता ही अनुभूति की सुखात्मक पराकाष्ठा है, अतः रसिकजन को भट्ट-नायक काव्य में सर्वाधिक महत्त्व देते हैं—केवल लौकिक अर्थ का समझनेवाला अथवा उपदेश ग्रहण करनेवाला पुरुष काव्य का मर्मज्ञ नहीं हो सकता, काव्य की सार्थकता का उत्तरदायित्व रसिक पर है।[६] इस प्रकार अभिधा, भावना, साधारणीकरण, भोग (अथवा रसचर्वणा) और रसयिता (या भोक्ता), ये पाँच तत्त्व हमारे सामने आते हैं जिनपर क्रमिक विचार अपेक्षित है।

अभिधा :

सामान्यतः शब्द और अर्थ का वह अनादि सम्बन्ध (व्यापार) अभिधा है जिससे विदित होता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है। बालक जब भाषा के क्षेत्र में प्रवेश

करता है तो बड़ों के आचरण से शब्दार्थ-सम्बन्ध ग्रहण करता है और यही सम्बन्ध 'अभिधा' कहा जाता है। 'चन्द्रमा उदित हुआ' वाक्य का अर्थ बालक इसी के अनुसार लेता है—यदि चन्द्रमा को 'प्रेयसी-मुख' के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो बालक या तो समझता ही नहीं, या 'अभिधा' के क्षेत्र से बाहर (लक्षणा में) जाकर समझता है। यही प्रायः सर्वमान्य काव्यशास्त्रीय धारणा रही है जिसे ध्वनिमत में विशेष महत्त्व पाते हुए देख सकते हैं।

भट्टनायक अभिधा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत मानते हैं। रस से भिन्न जितना भी वस्तुबोध होता है, सब अभिधेय (शाब्द) है, वह काव्य-बोध की कच्ची सामग्री है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कोई कुलटा कहती है :

सासू यहाँ गहरी नींद में डूब जाती है, मैं यहाँ रहती हूँ, दिन में देख लो, रतौंधी-वाले पथिक, तुम कहीं मेरी शय्या पर न आ पड़ना।[७] इस कथन से जो यह अर्थ आता है कि रतौंधी के बहाने तुम मेरी खाट पर आ जाना, वह अभिधा में ही परिगणित है।[८]

भट्टनायक के मत में 'रसावेश' ही काव्यार्थ है, शेष सब अर्थ जो वस्तु-ध्वनि के क्षेत्र में आते हैं, या तो रस-सामग्री हैं, या रस से बोध्य बनते हैं, अतः वस्तु-ध्वनि जैसी कोई काव्य-विधा अभिधा से बाहर अस्तित्व नहीं रखती।[९] रही रस की बात, सो वह तो भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापारों से आता है। इस प्रकार साधारणीकरण के माध्यम से भावबोधात्मक रसदशा को छोड़कर सभी अर्थ भट्टनायक के अनुसार अभिधा की सीमा में ही आते हैं। रसबोध करानेवाले दो काव्य-व्यापार हैं—भावना (भावकत्व) और भोजना (भोजकत्व)।

भावना व्यापार :

भट्टनायक का समय मीमांसा और वेदान्त के आन्दोलन का युग था। आठवीं शताब्दी के ही आस-पास कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, मण्डन मिश्र जैसे मीमांसा-मनीषी विद्यमान थे। मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य वाक्य-विचार है और वाक्य-विचार में विधेय-तत्त्व की मुख्यता रहती है। वाक्य के विधेयांश में क्रियातत्त्व प्रधान होता है जिसका ही नामान्तर 'भावना' है। क्रिया में—(१) करनेवाला, (२) होनेवाला, (३) कृति का साधन या करण और (४) होने की सामग्री अथवा इतिकर्तव्यता, ये चार तत्त्व रहते हैं, तब क्रिया निष्पन्न होती है। क्रिया की यह निष्पत्ति उत्पत्ति का ही दूसरा नाम है।[१०] इन पाँचों में से अन्तिम तीन—साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता—को भावना के तीन अंश कहा जाता है। करनेवाला कर्ता है, अतः उसे भावना के अंशों से पृथक् रखा गया है। यह भावना दो प्रकार की होती है—(१) शाब्दी भावना और (२) आर्थी भावना।

(१) शाब्दी भावना :

शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना है (जिसपर आगे विचार होगा)। उसका साधन पुरुष को काव्य में प्रवृत्त करनेवाला शब्द होगा कि काव्य से रस की

भावना की जाय। और काव्य-प्रयोजनरूप आनन्दप्राप्ति के विषय में जो प्रशस्ति-वचन विद्वान् कहते हैं, वे ही इतिकर्तव्यता में आते हैं।[११] काव्य के सन्दर्भ में शाब्दी भावना का यही क्षेत्र है।

(२) आर्थी भावना :

भट्टनायक के अनुसार यही काव्य-व्यापार माना जाना चाहिए। यत्नविशेष ही आर्थी भावना है।[१२] काव्य के सन्दर्भ में श्रवण या पठन द्वारा उसके अर्थ को हृदयंगम करना ही वह प्रयत्न होगा जिसे आर्थी भावना नाम दिया जा सकता है। इस प्रयत्न का साध्य 'रसभोग' है, गुणालंकारादि काव्यतत्त्व इतिकर्तव्यता में आते हैं, पर साधन क्या है जिससे साध्यरूप रसास्वाद की उपलब्धि की जाय? निश्चय ही भट्टनायक की मान्यता में विभावादि रस-सामग्री ही कही जायगी। इस प्रकार भावना के तीनों अंश पूर्ण होते हैं तभी रसनिष्पत्ति सिद्ध होती है। रसास्वाद के पूर्व भावना द्वारा सहृदय की मानस-भूमि का परिष्कार होता है, यह सिद्धान्त है।

भट्टनायक को 'भावना' व्यापार की प्रेरणा रस-सामग्री—विभाव, अनुभाव और भाव—से मिली लगती है जिसे उन्होंने मीमांसा की त्र्यंश भावना से जोड़ा है। भाव रसिक को भावित करते, विभाव काव्यार्थ को विभावित करते (विशिष्ट रूप में बोध्य बनाते) और अनुभाव उसे अनुभावित (अनुभव योग्य) बनाते हैं।[१३] फलतः काव्य में 'भावना' रहती है जो सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अर्थ को भावित करती है, यही भट्टनायक को अभिमत है। भट्टनायक के सामने प्रश्न है कि भाव, विभाव और अनुभाव रसों को किस प्रकार भावित कर सकते हैं जबकि कारण, कार्य और सहकारी के रूप में रहते हुए लोक में रस-भावन नहीं करते? निश्चय ही काव्य में पृथक् शब्दशक्ति रहती है जो उक्त तीनों को साधारणीकृत करती है, वही भावना है। भावना-व्यापार साधारणीकरण का ही नामान्तर है।

मीमांसा और काव्य की भावना में अन्तर :

भट्टनायक ने 'भावना' तत्त्व को मीमांसा-सम्मत अर्थ में ही ग्राह्य नहीं बताया है, अतः उसका स्वरूप मीमांसा-सिद्धान्त की दृष्टि से खरा न उतर सके तो स्वाभाविक है।

(१) मीमांसा की भावना क्रियामात्र है जो आख्यात पद का मुख्य अर्थ है जबकि भट्टनायक को अभिमत काव्य-भावना 'अर्थ' न होकर 'शब्द-व्यापार' है।

(२) भट्टनायक के मत में (सर्वसम्मत रूप से) काव्य शब्द-प्रधान या अर्थ-प्रधान न होकर व्यापार-प्रधान होता है। अतः काव्य-भावना ही वह शब्द-व्यापार है जो सामान्य शब्दार्थ से काव्य-शब्दार्थ को पृथक् बनाती है। मीमांसा की भावना में ऐसी 'भावना' का कोई स्थान नहीं है जो शब्दार्थरूप-व्यापार न होकर शब्द-शक्ति-रूप व्यापार हो।

(३) मीमांसा में शाब्दी और आर्थी भावनाओं के क्षेत्र स्पष्ट हैं जबकि भट्टनायक का भावना-व्यापार-क्षेत्र व्याप्ति की दृष्टि से अस्पष्ट है क्योंकि उन भावनाओं के तीनों अंश पृथक् करके विवेचित नहीं किये गये हैं।

(४) मीमांसा की भावना को वैदिक कर्मकाण्ड के सन्दर्भ में व्याख्या मिली है जिससे यज्ञ द्वारा स्वर्ग-सुख-भोगरूप फल की प्राप्ति होती है जबकि भट्टनायक काव्य को भावक (कर्ता) का स्थान देते हैं जिससे 'भावना' ही यज्ञ का स्थान लेती है पर अपने आपमें पूर्ण नहीं है । काव्यानन्द का उपभोग उसके द्वारा संभव नहीं है । भोजकत्व नामक तृतीय व्यापार ही काव्यानन्द-भोग का उत्तरदायी है । भावना द्वारा रसिक को वह मनोदशा सुलभ होती है जिसमें विभावादि साधारणीकृत होकर प्रस्तुत होते हैं—उनका विशिष्ट व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है ।

(५) जिस प्रकार यज्ञ-भावना से अपूर्व अदृष्ट की उत्पत्ति होती है जो स्वर्ग-भोग की अवस्था आने तक व्याप्त रहता है, उसी प्रकार काव्य-भावना साधारणीकरण की दशा लाती है जिसकी व्याप्ति रसभोग पर्यन्त रहती है। भट्टनायक संभवतः यही अपेक्षित मानकर चले थे ।

(६) ऊपर देखा जा चुका है कि शाब्दी भावना एक प्रकार का आदेश है जबकि आर्थी भावना प्रयत्न है—यही मीमांसा-मत है । भट्टनायक के अनुसार काव्य को भावक मान लें तो क्या वह आदेशकर्ता (अथवा प्रयत्नकर्ता) के रूप में आ सकता है ? यह सब तो रसिक के अधीन है अतः वही 'भावक' है, न कि काव्य । भट्टनायक की भावना इस दृष्टि से भी अस्पष्ट है ।

यही कहा जा सकता है कि भावक काव्य है जिसका भावकत्व (भावना) वह प्रयत्न है जो विभावादि का साधारणीकरण करता है ।

(७) मीमांसा की 'भावना' क्रिया होने के नाते 'उत्पत्ति' रूप फल देनेवाली है—कार्य की उत्पत्ति ही प्रयत्न का फल होता है । ऐसी स्थिति में भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत काव्य-भावना का फल क्या 'भावोत्पत्ति' को माना जाय ? यदि वैसा मान्य हो तो लोल्लट का उत्पत्तिवाद ही हाथ लगता है। फिर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि काव्य के शब्दों को भावक नहीं मान सकते क्योंकि अर्थ-ज्ञान के बिना कोई रस नहीं आ सकता । यदि अर्थ-पक्ष को भावक माना जाय, तो भी समाधान संभव नहीं क्योंकि काव्यशब्दों से पृथक् काव्यार्थ की परिकल्पना नहीं हो सकती । शब्द और अर्थ दोनों को भावक कहा जाय तो व्यञ्जकत्व और भावकत्व में नाममात्र का अन्तर रह जाता है—व्यञ्जना और भावना एक ही हो जाती है ।[१४]

यहाँ द्रष्टव्य है कि भट्टनायक उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और अभिव्यक्तिवाद तीनों के विरोधी हैं ।[१५] फिर भी 'भावना' का कोई-न-कोई अर्थ तो लेना ही होगा और यहीं भावना का सिद्धान्त अस्पष्ट प्रतीत होता है ।

भोजकत्व व्यापार :

भट्टनायक का भावकत्व व्यापार रस-निष्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं है । वह तो विभावादि के साधारणीकरण द्वारा परिस्थिति उत्पन्न करता है—वह 'रस' को भावित करता है, आस्वादित नहीं कराता । रसास्वाद की दशा रसभावन के बाद आती है,

जिसके लिए भोग-व्यापार (भोजकत्व) काव्य की तीसरी शक्ति है। यह शक्ति रसिक की चेतना को पूर्ण सात्त्विक स्वरूप देकर रसास्वाद कराती है।

'भावकत्व व्यापार अभिधा की अपेक्षा काव्य का द्वितीय अंश है जो विभावादि का साधारणीकरण रूप है। भावकत्व से रस भावित होता है। तदनन्तर वह भोग-व्यापार आता है जो तीसरी कोटि है। भोग-व्यापार की दशा में (१) रजोगुण और तमोगुण का समावेश नहीं रहता, (२) इस विचित्रता के कारण वह (भोग) चित्त में द्रुति, विस्तार और विकास लाता है, यही उसका स्वरूप है, (३) भोजकत्व व्यापार प्रत्यक्षादि अनुभव, अनुमान अथवा स्मृति से विलक्षण होता है, (४) उसमें सत्त्वगुण का उद्रेक होता है जो प्रकाशरूप आनन्दमय होता है, वही संवेदन आत्म-विश्रान्तिरूप होता है और (५) वही आनन्द-दशा भोग है जो काव्य-व्यापार है, जिससे रसास्वाद होता है, (६) वह रस-दशा योगियों के ब्रह्मानन्द के समान होती है।[१६]

भट्टनायक और सांख्य :

भट्टनायक ने 'भावना' को मीमांसा से लिया है और 'भोजकत्व' को सांख्य से। मीमांसा का स्वर्ग वह सुख है जो दुःखमोह से अनुबिद्ध नहीं होता, न खण्डित होता है और जिसमें निरन्तरता रहती है। वैसा ही सुख योगियों का ब्रह्मानन्द है। रस भी उसी कोटि का काव्य-जनित आनन्द है। यहाँ तक मीमांसा (और वेदान्त) की सीमा में भट्टनायक का चिन्तन चलता है। त्रिगुण के आधार पर रस-व्याख्या करने में वे सांख्य की सहायता लेते हैं। सांख्य में प्रकृति त्रिगुणात्मक है :

(१) सत्त्वगुण लघु एवं प्रकाशकर (ज्ञान तथा आनन्द रूप) है।

(२) रजोगुण क्रियात्मक एवं दुःखजनक है।

(३) तमोगुण भारी होता है और मोहात्मक आवरण लाता है।

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होने पर भी एक साथ उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार दीपक में तेल, बाती और अग्नि रहते हैं।[१७] परिभाषा को इस प्रकार देखा जा सकता है :

(क) रसानुभूति एक प्रकार का संवेदन है।

(ख) वह संवेदन चित्त की विश्राम-दशा है, रजोगुणी दुःखात्मक चलदशा अथवा तमोगुणी मोहात्मक संवरण-दशा नहीं है।

(ग) रस-संविद् पूर्ण आनन्दघन होती है।

(घ) आनन्द-घन-दशा प्रकाशरूपा होती है जिसमें दुःख अथवा मोह का स्पर्श नहीं रहता।

(ङ) यह दशा रजोगुण और तमोगुण के तिरोभाव से आती है जब सत्त्वगुण का उद्रेक होता है।

भट्टनायक के काव्य-मत का सारांश :

भट्टनायक अभिधा, भावना और भोजकत्व काव्य-व्यापारों की सीमाएँ निर्धारित कर लेते हैं—(१) अभिधा की सीमा में शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुण, दोषाभाव आते हैं, (२) भावना भावित करके साधारणीकृत भावों को रसरूपता प्रदान करती है और (३) भोजकत्व व्यापार से रसिक को रससिद्धि होती है जिसमें चित्त रसात्मक संवेदन से व्याप्त हो जाता है।[१८]

भट्टनायक द्वारा अन्य मतों का खण्डन :

(क) भट्टनायक द्वारा पहला आक्रमण प्रतीतिवाद पर किया गया है। 'प्रतीति' से उनका तात्पर्य प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द तथा स्मृति से है। ये चारों प्रतीतियाँ लौकिक हैं जो रसनिष्पत्ति की सीमा से बाहर हैं। कुछ विद्वान् (जैसे आजकल के यथार्थवादी आलोचक) रसात्मक संवेदन को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते। दूसरे मनीषी उसे अनुमिति में अन्तर्भूत कर लेते हैं जिनमें भट्टशङ्कुक, महिम भट्ट का नाम आता है। तीसरी कोटि के विचारक उसे अभिधा से ही निकलनेवाला अर्थ (शब्दबोध) मानते हैं। और चौथी श्रेणी के समीक्षक रस को स्मृति-रूप में मान्य ठहराते हैं। उन चारों का एक साथ खण्डन करते हुए आचार्य भट्टनायक ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं :

(१) सीता आदि व्यक्तिरूप में विभाव नहीं हो सकते।

(२) यदि अपनी प्रिया की स्मृति से रसनिष्पत्ति मानी जाय तो रसात्मक संवेदन संभव नहीं—वह शुद्ध व्यावहारिक प्रतीति होगी।

(३) देवता पात्रों का साधारणीकरण असंभव होगा क्योंकि समुद्रलङ्घन आदि ऐसे कार्य हैं जो असाधारण हैं।

(४) असाधारण व्यापारोंवाले रामादि पात्रों को स्मृति को रस-बोध कहना भी संगत नहीं, क्योंकि स्मृति पूर्वानुभूत तथ्यों की होती है, रामादि और उनके अलौकिक व्यापार पूर्वानुभूत नहीं होते।

(५) इसी प्रकार शब्द (अभिधा) और अनुमानादि से भी सरसता नहीं आ सकती है। प्रत्यक्ष के समान ही वह असंगत है। सबसे बड़ी बात है कि श्रृंगार रस में नायक-दम्पती का आभास होने पर लज्जा, जुगुप्सा, लालसा आदि व्यक्तिगत चित्तवृत्तियों का रसिक में उदय होगा और व्यग्रता ही हाथ लगेगी। फलतः या तो अरसता ही निष्पन्न होगी या फिर अनेकरसता फलित होगी—दोनों प्रकार से विश्रामदशा अनुपलब्ध रहेगी।

इसलिए प्रत्यच्च, स्मृति आदि के रूप में रस की व्याख्या असम्भव तथा असंगत है।

(ख) उत्पत्तिवाद में भी उपर्युक्त दोष आते हैं।

(ग) अभिव्यक्तिवाद भी उक्त दोनों से ग्रस्त है। अभिव्यक्तिवादी यह मानकर चलता है कि शक्ति या वासना रूप में भाव सहृदय में स्थित रहता है जिसको काव्य

व्यक्त कर देता है। भट्टनायक का तर्क है कि यदि पूर्वावस्थित वासना की व्यञ्जना द्वारा रसिक विषय को रसरूपता में ग्रहण करेगा तब जिस प्रकार अन्य अर्जित वस्तुओं में कहीं कमी और कहीं अधिकता होती है वैसी कमी-वेशी होने से रसदशा सभी सहृदयों में समान न होगी—शक्ति (वासना) के अनुपात से कहीं कम, कहीं अधिक होगी।[१९]

अतः रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है (प्रत्युत) विभावादि-साधारणीकरण-रूप भावकत्व व्यापार से भावित होता और सत्त्वोद्रेक-जनित प्रकाशानन्दरूप-विश्रान्ति-स्वरूप भोजकत्व से आस्वादित होता है।[२०]

साधारणीकरण और उसके विविध आयाम :

भट्टनायक ने भावना-व्यापार को साधारणीकरण से अभिन्न बताया है। साधारणीकरण शब्द ही अपने स्पष्टीकरण में पर्याप्त है। जो साधारण या सामान्य नहीं प्रत्युत विशिष्टरूप (व्यक्तिरूप) है उसे साधारण या सामान्य रूप में प्रस्तुत करना ही साधारणीकरण है। विभावादि का उपस्थापन किसी-न-किसी (राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि) व्यक्ति के माध्यम से होता है परन्तु काव्य में वे व्यक्ति सामान्य रूप ले लेते हैं, यही साधारणीकरण है। भट्टनायक का साधारणीकरण अत्यन्त स्पष्ट है, फिर भी यह शब्द अनेक व्याख्याएँ लेने में समर्थ है और उन व्याख्याओं से भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत साधारणीकरण का सम्बन्ध न होने पर भी विद्वान् विविध रूप से विचार करते देखे जाते हैं, अतः सभी अपेक्षित आचार्यों पर यहाँ दृष्टिपात किया जा रहा है।

(क) साधारणीकरण और सार्वजनिकता :

सार्वजनीनता 'यूनिवर्सलाइजेशन' के अनुवाद में लाया गया है जो प्लेटो और अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त के सन्दर्भ का महत्त्वपूर्ण शब्द है। वहाँ नायक सार्वजनीन न होकर व्यक्तिरूप में ही स्थित रहता है और उसके दोषविशेष (हैमर्शिया) को सार्वजनीन रूप में पाया जाता है—अर्थात् नायक के दोष सभी सहृदय अपनी दुर्बलता समझने लगते हैं। इस दृष्टि से विचारने पर साधारणीकरण केवल भावों की सर्व-सहृदय-संवेद्यता में समाप्त हो जाता है, विभावादि का व्यक्तित्व बना रहता है जो भट्टनायक को अभिमत नहीं।

अरस्तू की सार्वजनीनता अत्यन्त सीमित है। उदाहरणार्थ 'ओथेलो' पुरुष है जिसमें पत्नी को लेकर एक दुर्बलता है। यह दुर्बलता सभी पुरुषों में सार्वजनीन हो सकती है : स्त्रियाँ उससे बची रह जाती हैं। भट्टनायक का साधारणीकरण विभाव, अनुभाव के साथ-साथ भाव को भी साधारण रूप देता है, अतः कोई भाव रसास्वाद-क्षण में स्त्री-पुरुष-सीमा से परे हो जाता है।

(ख) साधारणीकरण और जनसाधारणता :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की बात कहते हुए निरूपित करना चाहा है कि आलम्बन ऐसा हो कि सभी के भाव का आलम्बन हो सके; दूसरे शब्दों में, जनसाधारण का जो विभाव होगा, वही काव्य में विभाव होने के योग्य होगा। इस मान्यता के अनेक पक्ष हैं :

(१) आलम्बन सभी सहृदयों के भाव का सामान्य रूप से विभावक होता है। आलम्बन का व्यक्ति रूप तिरोहित नहीं होता।

(२) भाव सहृदय का ही होता है जो रसरूप लेता है।

(३) शुक्ल जी ने अपने मत में यह भी शर्त रखी है कि आश्रय के साथ सहृदय का तादात्म्य हो जाता है—अर्थात् सहृदय अपने में आश्रयत्व का आरोप करके स्वयं ही उस पात्र का रूप धारण करता है जिसके आलम्बन को काव्य में प्रस्तुत भाव का कारण बनाया गया है।

(४) उक्त तादात्म्य की सिद्धि के लिए आचार्य शुक्ल ने ठहराया है कि स्त्री अपने प्रिय के रूप में, पुरुष अपनी प्रिया के रूप में आलम्बन को ग्रहण करता है—इसे साधारणीकरण का वह पक्ष कहा जायगा जहाँ रसिक अपने आलम्बन और काव्यगत आलम्बन में तादात्म्य या अभेद आरोपित करता है।

(५) यह जनसाधारणता एक प्रकार के उभयपक्षीय तादात्म्यारोप का ही नामान्तर है।

भट्टनायक का साधारणीकरण शुक्ल जी की मान्यता से भिन्न है। वह आलम्बन के व्यक्तिरूप के तिरोभाव और सामान्यरूप के उदय का नाम है। भट्टनायक सहृदय के भाव की रसरूपता नहीं मानते और न ही तादत्म्यारोप का उनके यहाँ कोई स्थान है। वे स्वगत तथा परगत भाव का आस्वाद स्वीकृत नहीं करते।[२१]

(ग) साधारणीकरण और समाजवाद :

समाजवादी यथार्थवाद भी सोचने की एक दिशा हो सकती है। वहाँ काव्य में व्यक्ति समाज का प्रतिनिधि होता है, उसका समाज से पृथक् अस्तित्व अमान्य है। भट्टनायक ऐसे किसी प्रतिनिधित्व का समावेश अपने साधारणीकरण में नहीं चाहते, न उनके समक्ष ऐसे किसी चिन्तन का अस्तित्व ही है। वे सहृदय-मात्र की एक अवस्था का ही निरूपण करते हैं जिसमें रसानुभूति के क्षण में एक अलौकिक घटना घटित हो जाती है कि काव्य के विभावादि उसे व्यक्तिरूप नहीं प्रतीत होते, प्रत्युत वे नर-मात्र, नारी-मात्र, उनकी चेष्टाएँ उनके भाव बन जाते हैं। काव्य-भावना की यही सीमा है—रसास्वाद के बाहर विभावादि की व्यक्तिता अमान्य नहीं है।

(घ) साधारणीकरण और मनोविज्ञान :

साधारणीकरण मानसिक घटना से सम्बन्ध रखता है। विभावादि का साधारणीकरण सहृदय के मानस-पटल पर ही उदित होता है। इस दृष्टि से भट्टनायक का मनोविज्ञान सहृदय के अन्तःकरण में एक ऐसे धरातल को मान्य ठहराता है जहाँ रस-सामग्री को साधारण रूप में ग्रहण की क्षमता रहती है और उसी धरातल का अन्तःकरण सात्त्विक रूप में आनन्दमय रसानुभूति करता है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के सन्दर्भ में उसे नहीं लिया जा सकता। यहाँ फ्रायड और युंग के आधार पर विचार अपेक्षित है।

(१) फ्रायड :

फ्रायड के अनुसार मानवीय अन्तश्चेतना में स्थित दमित वृत्तियों का ही आस्वाद रस कहा जा सकता है। यही कारण है कि श्रृंगारी काव्य में लोगों को अधिक आनन्द मिलता है क्योंकि कामवासना सामाजिक मर्यादाओं द्वारा दमित होकर अन्तश्चेतना में अन्तर्हित होती है—यही काव्य द्वारा उद्‌बुद्ध होने पर आस्वादित होती है—यही रस है। हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० नगेन्द्र प्रायः यही निर्णय रखते हैं और कवि तथा सहृदय का भावात्मक तादात्म्य स्वीकार्य बताते हुए उसी तादात्म्य को साधारणीकरण की संज्ञा देते हैं। वे भट्टतौत को भी प्रमाणरूप में लेते हैं :

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोनुभवस्ततः।

अर्थात् काव्य से नायक, कवि और श्रोता का समान अनुभव होता है। डॉ० नगेन्द्र इसे सहज ही में अपने अभिमत अन्तश्चेतनावाद के साथ जोड़ लेते हैं। वे यह सोचने का प्रयास नहीं करते कि नायक की सत्ता ही अत्यन्त सूक्ष्म (काल्पनिक) होती है, तब उसके साथ अनुभव की समानता क्या होगी ? रही कवि की बात, सो नायक का अनुभव लौकिक होता है (जब उसे हम अनुकार्यरूप में प्रतिष्ठित मान लेते हैं—जो काल्पनिक है) जबकि कवि के अनुभव का परिवेश वही नहीं रह सकता, वहाँ नायक सामान्य-जन के रूप में राग-द्वेष का आलम्बन या आश्रय होकर अवतीर्ण होता है—स्पष्ट ही यह साधारणीकरण हुआ क्योंकि नायक की वैयक्तिक सत्ता कवि में नहीं आती—नायक शब्द ही वहाँ साधारणीकृत विभाव का बोधक है।

यहाँ अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि भट्टतौत साधारणीकृत नायक के साधारणीकृत भाव का कवि द्वारा ग्रहण और सहृदय द्वारा उसकी रसात्मक अनुभूति से तात्पर्य रखते हैं जबकि डॉ० नगेन्द्र समझते हैं कि तीनों की अन्तश्चेतनागत एकता साधारणीकरण है। प्राचीन विचारकों को उनके दार्शनिक परिवेश से हटाकर अपने चिन्तन-वृत्त में घसीटने का प्रयास ही इसे कह सकते हैं।

अज्ञेय जी और आगे बढ़कर मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतनावाद की परिधि में संभवतः इलियट को भी ले सकते हैं। इलियट व्यक्तिगत भाव से पलायन को काव्य मानते हैं, जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि काव्य-भाव साधारणीकृत होता है, वैयक्तिक नहीं। परन्तु अज्ञेय जी इसके विपरीत साहित्य को अप्रकृत मानस की उपज अथवा अप्रकृत-मात्र का चित्रण मानते हैं। वे इस प्रकार समझते हैं कि काव्य में अप्रकृत पात्र को पढ़कर हमारा मन अपने में ही उन अप्रकृत (ऐब्नार्मल) तत्त्वों को देखने लगता है और उनके मत में संभवतः यही सहृदयमन की अप्रकृतावस्था की वस्तु है—इस तथ्य को 'नदी के द्वीप' में भुवन से कहलाया भी है।

द्रष्टव्य है कि भट्टनायक के साधारणीकरण को इस संकुचित सीमा में नहीं घसीट सकते। भट्टनायक सहृदय की मनोभूमि को व्यक्ति-सीमा से परे अनिर्वचनीय विश्राम-दशा में देखना चाहते हैं जबकि अज्ञेय अथवा डॉ० नगेन्द्र उसे सहृदय व्यक्ति की

दमित इच्छा के वैयक्तिक परिवेश में लेने का दावा करते हैं जो नवीन विचार तो हो सकता है पर परम्परा से उसका 'नाम' का ही सम्बन्ध है।

(२) कार्ल युंग :

युंग बहुत समय तक भारत रहे और यहाँ के तन्त्र, पुराण आदि का अपेक्षित ज्ञान लेकर उन्होंने अपने मनोविश्लेषण-सिद्धान्त स्थिर किये। काव्य-रचना के विषय में उनकी मान्यता है कि पुरुष हो या स्त्री, दोनों की आन्तरिक रचना में दोनों तत्त्वों का योग रहता है—अर्थात् पुरुष में स्त्रीतत्त्व और स्त्री में पुरुषतत्त्व का मेल होता है, तभी कला उद्भूत होती है। साधारणीकरण के प्रसंग में यह मत बड़े महत्त्व का है। भट्टनायक के साधारणीकरण को इससे विस्तृत परिवेश मिलता है। साधारणीकरण-दशा में आया हुआ भाव पुरुषीय या स्त्री-सम्बन्धी न रहकर सामान्य हो जाता है। पुरुष में रहनेवाला स्त्रीतत्त्व और स्त्री में स्थित पुरुषतत्त्व इस प्रकार समन्वित रूप लेते हैं कि भाव-बोध में भेद तिरोहित हो जाता है। यद्यपि युंग ने साधारणीकरण को लेकर कुछ नहीं कहा है और इस दृष्टि से विवेचना भी नहीं की गयी है, तथापि यह ऐसा दृष्टिकोण है जो आधुनिक मनोविज्ञान और भावकत्व को एक स्थान पर सामञ्जस्य दे सकता है।

(ङ) साधारणीकरण और अभिव्यञ्जनावाद :

क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद प्रज्ञा (इन्ट्यूशन), अभिमूर्तन (इमेज-मेकिङ्) और अभिव्यक्ति (एक्स्प्रेशन) का क्रम स्वीकार्य करते हुए तीनों को एकरूप मानता है। ये तीनों कवि या कलाकार में उक्त क्रम से और रसिक में विपरीत क्रम से आते हैं। अर्थात् रसिक अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर मानसिक अभिमूर्तन करके अनुभूति (प्रज्ञा) में उतरता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो भाव का साधारणीकरण विभावादि के अभिमूर्तन के माध्यम से होता है। अभिमूर्तन की दशा में विभावादि का भी साधारणीकरण होगा और भाव भी सीमाओं में अभिमूर्तित होकर व्यक्त होगा जो साधारणीकृत ही रहेगा, वैयक्तिक नहीं। इस प्रकार क्रोचे और भट्टनायक में साधारणीकरण को लेकर आपाततः तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता यद्यपि अभिव्यञ्जनावाद में साधारणीकरण जैसी प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है।

यहाँ द्रष्टव्य है कि अभिव्यञ्जना की प्रणाली आन्तरिक होती है जो दूसरे शब्दों में अलौकिक है अतः क्रोचे को भी प्राकारान्तर से रसविषयक साधारणीकरण मान्य कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि भट्टनायक साधारणीकरण को काव्य का व्यापार मानते हैं परन्तु क्रोचे के अनुसार उसे कवि-व्यापार या कविगत रचना-प्रणाली तथा रसिक-व्यापार या रसिकगत रसप्रणाली के रूप में ग्रहण किया जायगा।

(च) साधारणीकरण और चैत्त प्रत्यय :

चित्त की रचना में सांख्य-योग, वेदान्त और शैवदर्शन प्रायः एकमत हैं। चित्त अन्तःकरण की एक वृत्ति है जिसमें मन, अहंकार और बुद्धि की समरसता रहती है अर्थात् तीनों का पार्थक्य नहीं रहता—वही प्रकृति है जिसे त्रिगुण की साम्यावस्था कहा जाता

है। इसी चित्त की एक वृत्ति को अहंकार कहते हैं जो रजोगुणी है और व्यक्ति-प्रतीति (अहंप्रत्यय) का कारण है, अन्तःकरण की वही इच्छाशक्ति है। दूसरी वृत्ति बुद्धि है जो सात्त्विक होने के साथ अहंप्रत्यय में उपस्थित पदार्थ का निर्णयात्मक बोध कराती है। तीसरी वृत्ति मन है जो तमोगुणी है और विविध संकल्प-विकल्प का कारण है। चित्त को ही प्रकृति कहते हैं और वह ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्तियों का समाहार है। वह शान्त-स्वरूप है।[२३]

उक्त दृष्टि से वैयक्तिक भाव मन का विकल्परूप होता है जो अहं से परिवेष्टित होकर व्यष्टि बनता है और बुद्धि उसी को निर्णयात्मक रूप देती है। परन्तु काव्य का भाव इन तीनों सीमाओं से परे शुद्ध, समरस चित्त की निष्पत्ति है। यही साधारणीकरण की अवस्था है। व्यक्तिरूप में असाधारण (व्यष्टिरूप) कहे जानेवाले विभावादि चित्त में साधारण रूप ले लेते हैं, एक समष्टि बन जाते हैं—इसे चैत्त प्रत्यय कहा जायगा। साधारण भाव ही प्राकृत भाव हैं, विशिष्ट भाव उसी की उपज हैं जो मन, बुद्धि और अहंकार के योग से व्यक्तिगत रूप ग्रहण करते हैं। साधारण भाव ही वह वासना है जहाँ से व्यष्टि-भावों का उदय होता है और वे व्यष्टि-भाव जब पुनः काव्य द्वारा रसिक में साधारणता लेते हैं तो साधारणीकरण होता है। अर्थात् यह समष्टि-रूप भाव का व्यष्टि-रूप लेने के अनन्तर पुनः समष्टि रूप लेना है जिसे साधारणीकरण कहा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि उक्त चैत्त-दशा ही यदि साधारणीकरण की अवस्था है तो शान्तरस में ही संभव है क्योंकि उसका स्थायी शम है और एक पूर्ण समरस अनुभूति उसी में संभव है। शेष रसों की चित्तवृत्तियाँ अहंकार की परिधि में आती हैं। इसका समाधान यही हो सकता है कि पूर्ण समरसता न होने पर भी सभी रसों की अनुभूतियों में समरसता की प्रधानता रहती है अतः वे भी समरस अनुभूतियाँ हैं—अन्तर यही है कि शान्त रस में समरसता पूर्ण रहती है जबकि शेष रसों में अन्तःकरण की तीनों वृत्तियों का पूर्ण लय नहीं हो पाता—वे अपना रूप किंचित् स्फुरित रखती हैं।[२४] वस्तुतः शान्त ही मूलरस माना गया है क्योंकि रसानुभूति मूल शान्तदशा का ही नाम है। रति आदि वृत्तियाँ चैत्त प्रत्यय को पूर्ण लयावस्था तक नहीं जाने देतीं और वे वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं तो पूर्ण आनन्दघन शान्त उदित होता है।[२५]

यद्यपि भट्टनायक उक्त दर्शन के आधार पर सोचते नहीं जान पड़ते तथापि काव्य-स्वरूप वे ऐसा ही निर्धारित करते हैं कि उनकी मान्यता स्वतः इसी प्रकार की बन जाती है।

(छ) साधारणीकरण चित्तदशा है या काव्य-व्यापार : कुछ प्रश्न :

(१) ऊपर की विवेचना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि साधारणीकृत भाव-दशा चित्त की अवस्था है अतः साधारणीकरण चित्त की ही एक वृत्ति कही जानी चाहिए जिसके बल पर रसिक का नाम ही सार्थक होता है। उसे काव्य-व्यापार कहकर भी भट्टनायक को रसिक के चित्त की अपेक्षा होगी क्योंकि अरसिक के लिए काव्य-व्यापार कुछ नहीं कर सकता। क्या काव्य किसी अरसिक को रसिक बनानेवाला साधारणीकरण कर सकता है ?

इसके उत्तर में भट्टनायक की ओर से कहा जा सकता है कि रसिक भी काव्य द्वारा ही साधारणीकृत भाव उपलब्ध करता है अतः काव्य में साधारणीकरण (भावकत्व) व्यापार रहता है जो विभावादि को व्यष्टि रूप में न रहने देकर सामान्य रूप में भावित कर देता है।

(२) यह साधारणीकृत भाव (रस) कहाँ से आता है ? सहृदय में वह पहले से स्थित रहता है या काव्य द्वारा तत्क्षण घटित हो जाता है ?

इस प्रश्न पर भट्टनायक और ध्वनिवादी आचार्य एकमत नहीं हैं। ध्वनिमत के अनुसार साधारणीभूत भाव ही वासना है जो रसिक में पहले से उपस्थित रहती है, उसका आयात नहीं होता। काव्य द्वारा वह सुप्त वासना व्यक्त हो उठती है और रसरूप में आस्वादित होती है। भट्टनायक उक्त वासना का सिद्धान्त अमान्य कर देते हैं।[२६] उनकी मान्यता है कि भाव सहृदय में पूर्वोपस्थित न होकर काव्य द्वारा भावित होता है। अतएव साधारणीकृति (भावकत्व) काव्य-व्यापार है, न कि रसिक की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण द्वारा काव्य ही उस चित्तवृत्ति का भावक है जो रस कही जाती है।

(३) साधारणीकृत भाव ही रस है। यह भाव कहाँ रहता है जो साधारणीकृत किया जाता है ? क्या सहृदय में उपस्थित वासनारूप भाव ही है, जैसी ध्वनिमत की स्थापना है ? भट्टनायक ऐसा नहीं मानते। वे साधारणीकृत भाव को काव्यमात्र की देन बताते हैं। स्थायी भाव पहले से उपस्थित नहीं रहता—अनुपस्थित भाव ही काव्य द्वारा भावित होकर आनन्दभोग प्रदान करता है।[२७]

(४) वस्तुतः रसरूप लेनेवाले भाव की भावना होती है जो सहृदय में अनुपस्थित होकर भी काव्य द्वारा भावित होता है, यही भट्टनायक की मान्यता का सार है। तो यह भावना (भावित होना) क्या है ? क्या उस भाव की उत्पत्ति होती है ? भाव की अभिधा होती है ? उसकी अनुमिति होती है ? वह स्मृत होता है ? उसकी व्यञ्जना होती है ? भट्टनायक इनमें से एक की भी मान्यता स्वीकार्य नहीं करते। वे अभिधा, स्मृति, अनुमिति, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति—सभी से भिन्न लोकोत्तर भावनाव्यापार (साधारणीकरण) को मान्य करते हैं। यहीं उनका सबसे मतभेद है।

(५) अब प्रश्न उठता है कि रसिक के लिए वह भाव स्वगत (रसिक-स्थित) होता है या परगत (काव्यगत अनुकार्य में स्थित) ? भट्टनायक दोनों को अमान्य कर देते हैं। वे तो अविद्यमान स्थायी भाव की काव्य द्वारा भावना मानते और उसी भाव की रसरूप में चर्वणा (भोग) स्वीकृत करते हैं, जैसा देखा जा चुका है। इतना अवश्य है कि चर्वणा सहृदय में होती है, अतः रसभोग रसिकगत होने से स्वगत कहा जा सकता है।

भोजकत्वव्यापार पर कुछ प्रश्न :

रसानुभूति एक चमत्कार है जो चित्त की दशामात्र है। यह दशा रजोगुण और तमोगुण के तिरोभाव से तथा सत्त्वगुण के उद्रेक (अतिशय) से आती है। दुःख तथा

मोह से रहित एक आनन्दमयी प्रकाशरूपा चिद्विश्रान्ति को ही रस माना गया है। चिद्विश्रान्ति से तात्पर्य चेतना की अवस्था है जिसमें अज्ञान का आवरण भङ्ग हो जाता और चेतना अपने निर्मल रूप में प्रकाश लेती है। इसे लेकर प्रश्न उठते हैं :

(१) क्या यह चिद्विश्रान्ति उत्पन्न होती है ?

(२) क्या वह अनुमित होती है ?

(३) क्या पूर्वोपस्थित होती है, आवरण नाश होने से पहले अव्यक्त थी ? भट्टनायक इन तीनों का उत्तर नकारात्मक देकर भी रस-भोग को परमानन्द की अवस्था मानते हैं। वे उसे काव्यमात्र की वस्तु मानना चाहते हैं। उनका मत इस विषय में अस्पष्ट है। आचार्य अभिनव का कहना है :

"रसभोग काव्य-शब्द से नहीं होता, प्रत्युत, घनीभूत मोहान्धकार की निविडता का भङ्ग हो जाने से आस्वाद नामक भोग होता है जो अलौकिक चित्तविस्तार का ही रूपान्तर है। इस दशा में रस व्यञ्जनीय ही ठहरता है क्योंकि भोग का एक ही अर्थ है—रस्यमान विभावादि से उदित हुआ चमत्कार।"[२८]

उक्त दृष्टि से विचार करने पर ध्वनिमत से भट्टनायक का वैमत्य स्पष्ट हो जाता है। अभिनव की मान्यता है कि चर्वणीय स्थायी भाव सहृदय में स्थित रहता है जिसकी चर्वणा काव्य द्वारा व्यक्त होती है, यही रसनिष्पत्ति है। भट्टनायक सहृदय में भावस्थिति नहीं मानते और सीधे काव्य को उत्तरदायी ठहराते हैं कि अविद्यमान भाव का ही काव्य आस्वाद कराता है। अतः काव्य भोजक है, रस भोज्य है। काव्यगत विभावादि भी साधारणीकृत होकर भोज्य या भोजक बनते हैं—स्थायी भाव भोज्य रहता है, शेष भोजक। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव भोजक हैं जिनका रस के साथ भोज्य-भोजक सम्बन्ध रहता है। फलतः

"विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।"

इस भरतसूत्र में संयोगपद का अर्थ है 'भोज्य-भोजक-सम्बन्ध' और रस-निष्पत्ति का अर्थ है 'रसभुक्ति।'

उपसंहार :

भट्टनायक के रस-सिद्धान्त की व्याख्या दार्शनिक परिप्रेक्ष्यों से जटिल रही है। वे ध्वनिमत से क्या अन्तर रखते हैं, इसे परखने का प्रयास किया गया है। परवर्ती आचार्य यह मानकर नहीं चल पाते कि काव्य में दो अतिरिक्त व्यापार रहते हैं। व्यक्त होने से पृथक् भोग का अर्थ अस्पष्ट है। रसिक में अविद्यमान और अन्यत्र भी अविद्यमान भाव काव्य द्वारा आस्वादित कराया जाता है। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या किसी भी दर्शन से नहीं आ पाती। अविद्यमान भाव का साधारणीकरण भी उसी प्रकार की एक समस्या है।

इन अरुचियों के होते हुए भी साधारणीकरण और रसास्वाद का जो स्वरूप भट्टनायक ने प्रस्तुत किया वह सर्वमान्य हो गया। केवल काव्य-व्यापार के रूप में उनकी

मान्यता ही संदिग्ध रही। काव्य को जिस प्रकार उन्होंने ब्रह्मानन्द सहोदर बताया वह साहित्य-मनीषा की अप्रतिम उपलब्धि है। आगे साधारणीकरण का आधुनिक परिवेश में पुनर्मूल्याङ्कन करना अभीष्ट है।

साधारणीकरण का पुनर्मूल्याङ्कन :

'साधारणीकरण' शब्द हिन्दी-समीक्षा में इतना महत्त्व ले चुका है कि संस्कृत-समीक्षाशास्त्र की तुलना में उसे वागाडम्बर की कोटि में उतरा हुआ मान सकते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा भट्टनायक के उद्धरण में ही सर्वप्रथम उसे देखते हैं। आचार्य धनिक ने दशरूपक की व्याख्या में 'षट्सहस्रीकृत्' के नाम से एक वाक्य लिखा है जिसे भरतमुनि का ही माना जाता है :

"एभ्यश्च सामान्य-गुण-योगेन रसा निष्पद्यन्ते।"

अर्थात् विभावादि से रस-निष्पत्ति का कारण है उनके सामान्य गुणों का संयोग। इसीलिए धनिक ने विभावादि को 'सामान्यात्मा'[२९] कहा है—उनका विशेष व्यक्तित्व नहीं रहता। यही बात बुचर ने 'युनिवर्सलाइजेशन्' और 'आइडियलाइजेशन्' शब्दों से व्यक्त की है। उनके अनुसार 'आइडियल' वह है जो क्षुद्र, अनावश्यक तथा आकस्मिक तथ्य से ऊपर उठ जाय, उसमें विश्वजनीन तत्त्व विद्यमान हों जो विषयवस्तु का वास्तव बौद्धरूप प्रस्तुत कर सके जिससे वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण हो।[३०]

अभिनव के अनुसार विघ्नविरह रस की पहली शर्त है और अन्तिम भी।[३१] विघ्न इस प्रकार हैं :

(१) **सम्भावना-विरह :**—संवेद्य तत्त्व यदि असम्भव लगे तो उसका रसात्मक प्रत्यय भी सम्भाव्य न होगा।

(२) **स्वगत-देश-काल-विशेषावेश :**—अपने ही सुख-दुःख को काव्य-भाव में आवेश करनेवाला पुरुष उस दशा में रस नहीं पा सकता। वह काव्यगत सुखादि को अपने पर ले लेता है।

(३) **परगत-देशकाल-विशेषावेश :**—परगत सुख-दु खादि के आवेश की दशा में पुरुष लौकिक भावान्तर में लीन रहता हुआ रस से वञ्चित रह जाता है। वह काव्य के सुखादि को परगत मानता है।

(४) **निजसुखादि-विवशीभाव :**—स्वगत-देशकाल-विशेषावेश से शून्य पुरुष भी अपने से सम्बन्धित भावान्तर द्वारा विवश किया जा सकता है :

"बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ।
अवकाश कहाँ है किनको
सुनने को करुण कथाएँ॥" (आँसू)

(५) **स्फुटत्वाभाव :**—रसप्रतिपत्ति के उपाय, साधन, स्पष्ट प्रतिपादित न हों तो भी रस सम्भव नहीं।

(६) **अप्रधानता :**—यदि प्रतिपाद्य वस्तु प्रधानीभूत हो तो उसकी अपेक्षा अन्य प्रधान तत्त्व की ओर मन भागा करता है जिससे प्रतीति बाधित हो जाती है ।

(७) **संशय-योग :**—सन्देह रहते हुए भी रसास्वाद नहीं हो सकता ।[३२]

बुचर ने 'युनिवर्सलाइजेशन्' अथवा 'आइडियलाइजेशन' के दो पक्ष माने हैं जिनमें से एक पक्ष का कार्य विघ्नापसारण भी है ।[33]

'रस' की स्थिति विश्रान्तिरूपा है । विश्रान्ति ही सुख है, अविश्रान्ति ही दुःख । सर्वात्मना अविश्रान्ति या चञ्चलता से शून्य चित्त-दशा रस है जो आनन्दरूप है; भाव अपने लौकिक रूप में चाहे दुःखवर्गीय ही क्यों न हो ।[३४] इस सन्दर्भ में स्त्रीजन की शोकावस्था में भी हृदय-विश्रान्ति का लौकिक उदाहरण दिया गया है जो बुचर की मान्यता से मेल खा जाता है ।[३५] सांख्य में रजोगुण चञ्चल तथा दुःखात्मक माना गया है अतः चञ्चल-चित्तता ही दुःख है । भट्टनायक ने रसदशा को सत्त्वोद्रेक से निष्पन्न आनन्दात्मक प्रकाशमय चिद्विश्रान्ति कहा है ।[३६] यह सांख्यानुसारी रस की व्याख्या है । हमारे पास ऐसी विवेचना के लिए अन्य साधन भी नहीं हैं अतएव दो दर्शनों के प्रचलित तथ्यों को आधार मानकर भट्टनायक को चलना पड़ा है । साहित्य अपने चरम लक्ष्य के निष्पादन में दर्शन का सहगामी हो जाता है, दोनों का संगम ही साधारणीकरण की प्रतिपत्ति लाता है ।[३७] बुचर के कथनानुसार यद्यपि ललितकला और दर्शन के क्षेत्र भिन्न हैं तथापि चरम निष्पत्ति के अवसर पर दोनों अतिसमीप हो जाते हैं ।[३८]

साधारणीकरण के सन्दर्भ में डा० नगेन्द्र ने भट्टतौत का एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण दिया है :

"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः ।"

इसके द्वारा सहृदय और कवि के भावों का साधारणीकरण सिद्ध करना डॉ० नगेन्द्र को अपेक्षित रहा है । 'रीतिकाव्य की भूमिका' में उन्होंने यही लक्ष्य भी सामने रखा है । उन्हें भारतीय काव्य-मनीषी के प्रति उपालम्भ रहा है कि शक्ति रहते हुए भी उसने कविहृदय की रचना-प्रक्रिया और रसिक की रसन-प्रक्रिया को एक साथ संसृष्टरूप में नहीं परखा है । वे स्पष्ट कहते हैं :

> "बस, यहीं वह चूक गया और स्थूलतः प्रतिभा-निपुणता आदि में इस प्रश्न का अकाट्य समाधान पाकर अपने विवेचन को अधूरा छोड़ गया । इसका बहुत बड़ा कारण था—वह यह कि भारतीय परम्परा अखण्ड रूप से काव्य के केवल निर्वैक्तिक रूप को ही मानती रही ।"
>
> (डॉ० नगेन्द्र : साहित्य की प्रेरणा-विचारणा, पृ० १२९)

इस आरोप की विवेचना पर आने से पूर्व हम भट्टतौत की मान्यता पर विचार कर लें । क्या भट्टतौत नायक की वस्तुगत सत्ता मानते हैं ? वह तो शब्द में ही रूप लेनेवाला ऐसा तत्त्व है जो सहृदय की बुद्धि का विषय बनकर प्रत्यक्षाभास की सृष्टि करता है । भर्तृहरि की प्रचलित स्थापना आचार्यों को मान्य रही है :

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥
(दशरूपक, ४।२ पर उद्धृत)

आचार्य अभिनव ने अपने उपाध्याय (भट्टतौत) के मत का उल्लेख अनुकृतिवाद के खण्डन के प्रसङ्ग में किया है जो विभावादि को 'शिक्षा-बल से उपकल्पित कृत्रिम' बताता है । अभिनव ने आगे स्पष्ट कहा है :

"नट शिक्षावश से विभाव-स्मरण करके चित्तवृत्ति के साधारणीभाव द्वारा हृदयसंवादमूलक अनुभावों का प्रदर्शन करता हुआ काव्य-पाठ करके चेष्टा करता है ।"[३६]

पश्चिमीय समीक्षा के पुरातन आचार्यों को साधारणीकरण की ऐसी ही बात मान्य थी—उनके अनुसार वैयक्तिक देशकाल के प्रभाव से मुक्त विश्वजनीन मानव-भाव जगाना काव्य का मुख्य प्रयोजन रहा है ।[३७]

ऐसी स्थिति में नायक कोई वस्तु-सत् न होकर सहृदय के मानसपटल पर उतारा हुआ चित्र भर है जिसका अनुभव तत्काल सहृदयानुभव से भिन्न हो ही क्या सकता है। कवि का अनुभव भी काव्य से बाहर की वस्तु नहीं है । यदि कवि का कोई व्यक्तिगत अनुभव हो भी तो वह सामान्य रूप लेकर सहृदय-संवेद्य बनता है । उसकी समस्त वैयक्तिक परिधियों का तिरोभाव ही कवि की उपलब्धि है । दूसरी बात यह भी है कि कवि शिल्पी हो सकता है—शिल्पकौशल द्वारा वह सहृदय को भावाविष्ट कर सकता है और स्वयं भावलीनता की शर्त नहीं भी पूरी कर सकता है । इलियट भी इसे अपरिहार्य नहीं मानते ।[३८]

दोनों प्रकार से सहृदय के अनुभव से कवि के अनुभव का विशिष्ट एवं वैयक्तिकता से आविष्ट किसी प्रकार का परिचय अपेक्षित नहीं । टी० एस्० इलियट ने इसीलिए दोनों निर्वैयक्तिकताओं का उल्लेख किया है, पर काव्य-बोध को सहृदय की व्यक्तिगत अनुभूतियों से मुक्त माना है । यद्यपि इलियट ने बाद में इस विचार में कुछ सुधार किया है, फिर भी उनके मूल विचार रसास्वाद के परिवेश में वे ही रहे हैं । वैयक्तिकता का आपेक्षिक परिहार ही काव्यबोध का मर्म है । इलियट ने 'प्योर कन्टेम्प्लेशन्' कहकर भारतीय सत्त्वोद्रेक की विश्रान्ति-दशा का ही उल्लेख कर दिया है ।[३९-४०]

अब भट्टतौत सहज ही समझ में आ जाते हैं । उनका अभिप्राय यही है कि काव्य द्वारा उपलब्ध श्रोता के अनुभव से बाहर नायक या कवि का कोई पृथक् अनुभव नहीं होता । दोनों की परिकल्पित सत्ता सहृदय की भावना में एकरूप होती है (समान नहीं) । कभी-कभी काव्य में कोई नायक या पात्र नहीं होता, कवि ही अपनी बात कहता जान पड़ता है, जैसा असंख्य मुक्तकों में होता है, तो वहाँ कवि नायक का स्थान ले लेता है । यह कवि का अनुभव भी सहृदय के काव्यप्रभूत अनुभव से पृथक् सत्ता नहीं रखता क्योंकि कवि का अनुभव भावित करके ही सहृदय का भाव रूप लेता है—ऊपर भर्तृहरि के उद्धरण में पात्र जिस प्रकार शब्दों में रूप लेते हैं, उसी प्रकार कवि भी शब्द से बाहर

की वस्तु नहीं रह जाता। रस की दृष्टि से सभी सामाजिक एक हो जाते हैं जिनमें कवि भी आ जाता है।[४१]

डॉ० नगेन्द्र कवि और सहृदय के तादात्म्य को साधारणीकरण मानकर चलते हैं जो मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं का शास्त्र पर आरोपमात्र है। कवि जिस स्वगत मनोग्रन्थि को काव्य में व्यक्त करता है, सहृदय अपनी उसी मनोग्रन्थि को काव्य में आस्वादित करता है और इस प्रकार दोनों की ग्रन्थियाँ एकीभूत हो जाती हैं। कामवासना ही काव्य की मूल प्रेरणा है—इत्यादि स्थापनाएँ आज अधिक महत्त्व की नहीं रह गयी हैं। कम-से-कम साधारणीकरण का अर्थ यह नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र ने तादात्म्य और साधारणीकरण को एक मान लिया है परन्तु ट्रैजेडी में तादात्म्य और साधारणीकरण की सीमाएँ स्पष्ट पृथक् मान्य रही हैं—ट्रैजेडी के नायक से तादात्म्य और उसकी भावना का साधारणीकरण दो तत्त्व हैं। विरेचन की प्रक्रिया में यह बात अनिवार्य भी है अतएव बुचर ने अरस्तू की मान्यता प्रस्तुत करते हुए कहा है :

> "ट्रैजेडी के नायक में इतनी अधिक मानवीय शील-सम्पत्ति होनी चाहिए कि हम एक प्रकार से अपने को नायक से अभिन्न कर सकें जिससे अन्ततः उसका दुर्दैव अपना ही लग चले।"

इसके साथ ही वैयक्तिकता का भावों की परिधि में परिहार साधारणीकरण है क्योंकि हमने नायक को मानवीय सामान्य भावों में ही साधारणीकृत करके लिया है और साधारणीकृत काव्य-तत्त्वों का परिणाम अरस्तू के मत से भी, आनन्दात्मा प्रभाव-परिणति है।[४२, ४३, ४४]

ट्रैजेडी का 'हैमर्शिया' ऐसा तत्त्व है जो विरेचन की स्थिति में सहृदय को लाता है। नायक की यह चरित्रगत भारी त्रुटि है। परन्तु वह बाधा भी साधारणीकरण को विच्छिन्न नहीं कर पाती क्योंकि नायक के शील एवम् उदात्त गुण उसे विश्वजनीनता प्रदान करते हैं।[४५]

भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों का एक ही व्यञ्जना-व्यापार में समाहार करके अभिनव ने विभावादि का ही नहीं, चेतना तक का साधारणीकरण मान्य कर लिया है। कवि की संवेदना ही साधारणीकृत हो जाती है और काव्य अथवा नाट्य का वही मूल है—वस्तुतः वही संवेदना रस है। वही संविद्रूपा प्रतीति सामाजिक को वशीभूत कर लेती है। बाद में जब वह उस प्रतीति से बाहर आता है तब कहीं विभावादि का पृथक् बोध होता है। नाट्य, काव्य और सामाजिक-बुद्धि—तीनों में यही संविद् प्रयोजन रूप में स्थित होती है। कविगत रस ही बीज रूप है और मूलभूत है—क्योंकि कवि निश्चय ही सामाजिक-तुल्य है।[४६] इस कथन से यह स्पष्ट है कि 'संवित्' तत्त्व की सर्वव्यापकता ही रसास्वाद का आधार है अतएव कवि और सामाजिक में तथा एक सामाजिक से दूसरे सामाजिक में संवेदनागत एकत्व उपलब्ध हो जाता है, जिसे आचार्य मम्मट नें 'सकल-सहृदय-संवाद' कहा है[४७] और पण्डितराज ने 'प्रमृष्ट-परिमित-प्रमातृत्व'

कहा है।[४८] अतएव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावगत साधारणीकरण की व्याप्ति का क्षेत्र मानवमात्र मानते हुए कहा है :

"किसी-न-किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं—हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही सन्तुष्ट रहे जो मनुष्यमात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है।" (चिन्तामणि, १९६५, पृ० २३८)।

× × ×

आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण के साथ तादात्म्य को पूर्ण रस की शर्त माना है। एतद्विषयक कतिपय अवतरण इस प्रकार हैं :

"काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं।........'बिम्ब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।" (वही, पृ० २२८)।

" 'साधारणीकरण' के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यञ्जना करनेवाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।" (वही, पृ० २३०)।

"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यञ्जना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं, अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी—आलम्बन हो जाता है।" (वही, पृ० २४६-२४७)।

"काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और विसङ्गता (Impersonality and detachment) कहते हैं।" (वही, पृ० २४७)।

"रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराये गये हैं—(१) अनुभूतिकाल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार, और (२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदयमात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों में उसी भाव का उदय।" (वही, पृ० २४९)।

"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।" (वही, पृ० २३०)।

"साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है । व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है ।....थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है । उसका अपना हृदय अलग नहीं रहता ।" (वही, पृ० २३०) ।

× × ×

आचार्य शुक्ल के मत को हम इस प्रकार समझ सकते हैं :

(१) सामाजिक हृदय सामान्य हृदय में बदल जाते हैं ।

(२) सामाजिक भाव सामान्य भाव हो जाता है ।

(३) विभाव व्यक्तिविशेष ही रहता है जिसके आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है ।

(४) सामाजिक और आश्रय का तादात्म्य हो जाता है ।

(५) आलम्बन का सहृदयमात्र के साथ साधारणीकरण का तात्पर्य है कि आलम्बन सभी सहृदयों में एक ही भाव जगाता है ।

(६) सामान्य हृदय का तात्पर्य है व्यक्तिगत वासनाओं से मुक्त हृदय-दशा ।

(७) आलम्बन विशेष ही रहता है पर वह सामान्य का प्रतिनिधि रहता है ।

(८) बिम्ब सामान्य का सम्भव नहीं ।

(९) सामाजिक व्यक्तिभावना से मुक्त हो जाता है ।

× × ×

क्रमशः इन तथ्यों की समीक्षा कर ली जाय :

(१) सर्वप्रथम 'तादात्म्य' के प्रश्न को लें । शुक्ल जी को यह प्रेरणा सम्भवतः साहित्यदर्पण से मिली है । आचार्य विश्वनाथ ने विभावादि की साधारणता, स्थायीभाव की साधारणता और आश्रय तथा प्रमाता का अभेद-प्रत्यय—ये तीन पक्ष—सधारणीकरण के मान्य ठहराये हैं ।[४९] समुद्रलंघनादि में सम्भावना विरहरूप विघ्न के अपसारण हेतु आचार्य विश्वनाथ को 'तादात्म्य' की आवश्यकता प्रतीत हुई जबकि आचार्य शुक्ल को आलम्बन के प्रति आश्रय के भाव का सामाजिक में उदय अभीष्ट है अतएव वे 'तादात्म्य' को एकमात्र उपाय ठहराते हैं । सामाजिक के भाव की सामान्यता का अर्थ वे यही मानते हैं कि आश्रय का ही भाव सभी सामाजिकों में उदय हो जाता है, वे भाव की वासना-रूपता को एक व्यापक तथ्य मानकर उसके उदय की बात करते हुए अभिनव की सतीर्थ्यता नहीं ग्रहण करते ।

इस सन्दर्भ में 'ट्रैजेडी' के तादात्म्य को तुलना में लेना चाहिए । ट्रैजेडी में नायक के 'हैमर्शिया' का अनुभव सहृदय अपने में करे और अन्त में उसका विरेचन हो जाय, इस लक्ष्य की पूर्ति तादात्म्य किंवा अभेदानुभूति के बिना सम्भाव्य नहीं, अतः वहाँ 'तादात्म्य'

एक अनिवार्य तत्त्व है। भारतीय रसानुभूति में विभावादियोजना साधनमात्र है, रसिक का रसास्वाद ही साध्य है जिसके व्यञ्जक साधन के रूप में विभावादि की सत्ता ही पर्याप्त है, आश्रय के तादात्म्य की अपरिहार्यता नहीं है। प्रत्युत, 'तादात्म्य' एक विकट समस्या बन जाता है—स्त्री-सामाजिक का तादात्म्य शकुन्तला के साथ तो हो सकता है, दुष्यन्त के साथ नहीं और पुरुष का तादात्म्य दुष्यन्त से होगा, शकुन्तला से नहीं, फलतः दुष्यन्त की आश्रयता में स्त्रियों को और शकुन्तला की आश्रयता में पुरुषों को तादात्म्य-लाभ न हो पाने से रसास्वाद होगा ही नहीं जो सहृदयों के अनुभव-प्रमाण के विरुद्ध है।

आचार्य विश्वनाथ का तादात्म्य भी इस दृष्टि से हीन ही है; फिर उससे समस्त असम्भावनाओं का तिरोभाव ही अभीष्ट रहा है।

(२) अब 'आलम्बनत्व धर्म' विचारणीय है। कोई पात्र शकुन्तला या सीता होने के नाते सामाजिक के स्थायी भाव का आलम्बन हो ही नहीं सकता और न ही दुष्यन्त अथवा राम होने के नाते, प्रत्युत, उन सामान्य गुणों के नाते जो वैसे स्त्री या पुरुष में होते हैं जो रति का आलम्बन हो सकता है—ऐसी दशा में व्यक्ति रूप में काव्य द्वारा उपस्थापित होकर भी वे उसी रूप में सामाजिक के आलम्बन नहीं हैं—सामान्य धर्म ही आलम्बनत्व का प्रयोजक है। न्याय की शब्दावली में शकुन्तला की आलम्बनता का अवच्छेदक (व्यावर्तक) धर्म शकुन्तलात्व (शकुन्तला व्यक्ति होना) नहीं है, प्रत्युत, उदात्तगुणसम्पन्न स्त्रीत्व है। आचार्य शुक्ल ने न्याय शैली का प्रयोग कर दुबिधा में डाल दिया है। शकुन्तला-दुष्यन्त के स्थान पर वेदवती–विष्णुमित्र का चित्रण होता तो भी सामाजिक की प्रतिपत्ति में विशेष अन्तर न आता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के विभाव होने की बात चिन्ता का विषय है।

सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति तो यह है कि व्यक्ति को विभाव मानना और धर्मों का साधारणीकरण, दो विरोधी तत्त्व हैं। साधारणीकृत पदार्थ ही विभाव हुआ करता है। वह पदार्थ यदि धर्ममात्र है तो भी कोई विशेष आपत्ति नहीं यदि धर्मी को साधारणता से बहिर्भूत न किया जाय।

(३) 'आलम्बन सभी में एक ही भाव जगाता है' इसका तात्पर्य यह तो लिया नहीं जा सकता कि शकुन्तला के प्रति सबकी समान आसक्ति संभाव्य है। वह भाव ही व्यावहारिक मनोवृत्ति से भिन्न वासनारूपा चित्तवृत्ति हुआ करती है। सहृदयमात्र की यह वासना शास्त्रानुसार एक ही रहती है जिसे आचार्य शुक्ल ने भी मनुष्यमात्र में 'एक ही तार की झंकार' कहकर स्वीकृति दी है।

(४) व्यक्तिगत वासनाओं से मुक्त हृदयदशा कोई मूर्त पदार्थ या पृथक् सत्ता नहीं जो उक्त वासना से भिन्न अस्तित्व रखती हो क्योंकि हृदय यदि चित्त है तो वह अपने कार्य से भिन्न अस्तित्व नहीं रखता, अन्तःकरण-व्यापार ही विविध संज्ञा लेते हैं।

(५) आलम्बन 'विशेष' रहकर 'सामान्य' का प्रतिनिधि होता है, यह भी विचारणीय है। संसद् में दलीय प्रतिनिधित्व से इसे भिन्नता देनी होगी। काव्य में चित्रण विशेष का होता है पर भाव (वासना) का आलम्बन सामान्य ठहरता है। काव्य पढ़कर सभी में भाव तो एक ही जगता है पर कल्पना में आकृति एक ही नहीं उभरती—उसके

लिए संस्कारों के पार्थक्यवश विविधता अनिवार्य है। रसदशा में वह आकृति तिरोहित हो जाती है, यह तो उपलब्धि हुई, पर कवि अथवा काव्य की उपस्थापना में आया पात्र सबमें सर्वात्मना एक ही रूपबिम्ब नहीं दे सकता।

(६) 'बिम्ब सामान्य का सम्भव नहीं' यह बात सामाजिक के लिए अधिक सत्य है। जैसा निवेदन किया गया कि काव्य पढ़कर सबके भीतर एक ही रूप शकुंतला-दुष्यन्त का नहीं उभर सकता। यदि सभी सहृदय चित्रकार हों तो अलग-अलग बिम्ब-चित्र बनायेंगे परन्तु वे बिम्बचित्र यदि वैयक्तिक आलम्बन से उपरञ्जित नहीं हैं तो वस्तु-जगत् में किसी आकृति से मेल नहीं पा सकते। सबमें सौन्दर्य-संस्कारों के भेद से अन्तर होगा, फिर भी स्त्रीत्व-पुरुषत्व को लेकर सामान्यता होगी और यही भट्टनायक को अभिप्रेत होना चाहिए।

× × ×

उपसंहार :

भट्टनायक का मत ध्वनिमत के सन्दर्भ में पूरक सिद्धान्त का काम करता है। साधारणीकरण और आनन्दभोग की गुण-परक व्याख्या भट्टनायक की महत्त्वपूर्ण देन है। आधुनिक सन्दर्भ में अनेक प्रकार से व्याख्या पाने की क्षमता साधारणीकरण में है जिसे ध्वनिमत में भी मान्य किया गया है। अन्तर इतना ही है कि वह काव्य-व्यापार के रूप में ध्वनिमत को मान्य नहीं है। रसिक की वासना साधारणीभूत ही रहती है जिसके लिए काव्य का पृथक् व्यापार अपेक्षित नहीं।

ध्वनि के विरोध में आनेवाला वक्रोक्तिमत आगामी अध्याय में विवेच्य है।

वक्रोक्तिमत और ध्वनि-सिद्धान्त

१

'वक्रोक्ति-जीवित' ग्रन्थ द्वारा वक्रोक्ति-सिद्धान्त को काव्य-विवेचन में पुरस्सर करनेवाले आचार्य कुन्तक का समय आनन्दवर्धन के अनन्तर है क्योंकि उन्होंने ध्वन्यालोक के व्यञ्जना-वाद का स्पष्ट विरोध किया है। कुन्तक अभिनवगुप्त के समय से कुछ पूर्व ही विद्यमान थे, ऐसी धारणा है। जिस प्रकार ध्वनिमत की स्थापना शैवागम के आधार पर हुई, उसी प्रकार वक्रोक्ति-मत की भी शैवागम के मनीषी कुन्तक द्वारा हुई। वे शैव-दर्शन के 'स्पन्द' शब्द का मङ्गलाचरण मे ही प्रयोग करते देखे जाते हैं। इस प्रकार कुन्तक मूलतः दार्शनिक थे और साहित्य-मीमांसा में इसलिए उतर पड़े लगते हैं कि उनकी मान्यता के विरुद्ध ध्वनिमत सुप्रतिष्ठित हो गया था तथा पूर्वाचार्यों की कतिपय स्थापनाओं से उनका मतैक्य न था। वे भामह के व्याख्याता भी हैं और आलोचक भी, जिसे आगे देखेंगे। उनका काव्य-लक्षण हमारे सम्मुख उनकी मान्यता स्पष्ट करने को पर्याप्त है :

> "वक्र कवि-व्यापार से सुशोभित तथा सहृदयजन को आह्लादकारी बन्ध में व्यवस्थित एवं सहित शब्दार्थ काव्य हैं।"[1]

> इसकी व्याख्या करते हुए कुन्तक ने स्पष्ट किया है :

> "सम्मिलित रूप से वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) एक काव्य बनाते हैं, इस प्रकार दोनों एक बनते हैं, यही विचित्र बात है। कुछ लोगों के मत से कविकौशल-कल्पित कमनीयतातिशय-युक्त केवल शब्द काव्य है, कुछ के मत से रचना-वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है; ये दोनों पक्ष अनुपयुक्त हैं। वस्तुतः आह्लादकारिता का तत्त्व एक में न होकर दोनों—शब्द और अर्थ—में इस प्रकार रहता है जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तेल।[2]

इस प्रकार वे काव्य-तत्त्वों को अपनी परिभाषा में ही दे देते हैं—(१) आह्लाद, (२) बन्ध या संश्लिष्ट रचना, (३) शब्दार्थ-सहितभाव, (४) शब्दार्थ की विशेष व्यवस्था और (५) कवि-व्यापार की वक्रता। प्रथम चार का एकमात्र कारण कवि-व्यापार की वक्रता है, अतः वही कविदृष्टि से काव्यात्मा है। कुन्तक के मत से अलंकारों का इसलिए महत्त्व है कि उनके माध्यम से उक्त वक्रता घटित होती है—वे उपाय (साधन) हैं, साध्य नहीं, साध्य तो अलंकार्य होता है।[3]

वक्रोक्ति :

'वक्रोक्ति' पद में 'वक्र' और 'उक्ति' दो पद सम्मिलित हैं। स्पष्ट है कि 'उक्ति' ही का एक प्रकार वक्रोक्ति है, अतः विचार कर लेना चाहिए कि 'उक्ति' के कितने भेद परम्परा से काव्य में मान्य रहे हैं। भामह ने 'वक्रोक्ति' को काव्यालंकारों का प्राण माना है। उनका स्पष्ट कथन है :

> "यह वक्रोक्ति सभी अलंकारों में (अनुस्यूत) है, इसके द्वारा काव्यार्थ को विशेषता दी जाती है। कवि को इसी में यत्न करना चाहिए। इसके बिना कौन अलंकार है ?"

भामह 'रस' को भी अलंकार ही मानते हैं और 'स्वभावोक्ति' भी अलंकार है। इस प्रकार भामह ने 'रसोक्ति' और 'स्वभावोक्ति' को 'वक्रोक्ति' में ही समाहित कर लिया है। 'वक्रोक्ति' का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह 'रसोक्ति' (अर्थात् रसवत् आदि अलंकार) और 'स्वभावोक्ति' (अलंकार) से पृथक् भी अन्य अलङ्कारों में पायी जाती है। भामह ने 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' को एकार्थक माना है जो (अतिशयोक्ति) कवि-प्रतिभा का उच्च निदर्शन है।

दण्डी ने 'स्वभावोक्ति को अलङ्कार तो माना है परन्तु 'वक्रोक्ति' से उसे पृथक् बताया है। 'रसोक्ति' को अलङ्कार मानते हुए भी वे उसे 'वक्रोक्ति' में ही अन्तर्भूत मानते हैं।

भोज ने इस परम्परा में एक परिवर्तन किया और कहा कि 'स्वभावोक्ति' के समान ही 'रसोक्ति' भी 'वक्रोक्ति' से पृथक् है। इस प्रकार 'उक्ति' को तीनों आचार्यों के मत से हम इस प्रकार संकलित कर सकते हैं :

(क) भामह :
उक्ति = वक्रोक्ति (= स्वभावोक्ति + वक्रोक्ति + रसोक्ति)।

(ख) दण्डी :
उक्ति = स्वभावोक्ति + वक्रोक्ति (= वक्रोक्ति + रसोक्ति)

(ग) भोज :
उक्ति = स्वभावोक्ति + वक्रोक्ति + रसोक्ति।

भोजराज का अभिमत है :

> वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
> सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥ (सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।८)

अर्थात् समस्त वाङ्मय (काव्य की उक्ति) के तीन प्रकार हैं—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। उन सभी में रसोक्ति को मनोहारी मानते हैं।

वक्रोक्ति-परमाचार्य कुन्तक :

आचार्य कुन्तक यद्यपि 'वक्रोक्ति' को काव्य का प्राण मानते हैं, 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्', फिर भी वे भोज के अनुसार ही 'उक्ति' के तीन प्रकार मानते हैं। इस

विषय पर आने के पूर्व देख लिया जाय कि वे 'अलंकार' से क्या समझते हैं। 'स्वभावोक्ति' के विषय में उनकी मान्यता है :

> "स्वभाव के बिना कथन ही सम्भव नहीं क्योंकि स्वभावरहित वस्तु अकथ्य हो जायगी।"

इससे स्पष्ट है कि वे 'स्वभावोक्ति' को अलंकार नहीं मानते। उन्होंने इसी प्रसंग में ऐसा कहा भी है। 'रसोक्ति' के विषय में भी कुन्तक ने भामह और दण्डी को अमान्य घोषित किया है। उनका कथन है :

> "रसवत् अलंकार नहीं हो सकता क्योंकि रस के अतिरिक्त किसी वस्तु की भावना (रसोक्ति में) सम्भव नहीं।" (वक्रोक्तिजीवित, ३।१०)
>
> "रसवत् तो सभी अलंकारों का प्राण है, जो काव्य का एकमात्र सारतत्त्व है।" (वक्रोक्तिजीवित)

इस प्रकार कुन्तक काव्य में तीनों की (रस, स्वभाव और अलंकार की) सत्ताएँ पृथक्-पृथक् विश्लेषणीय मानते हैं और तीनों का जीवन कविकौशल को बताते हैं :

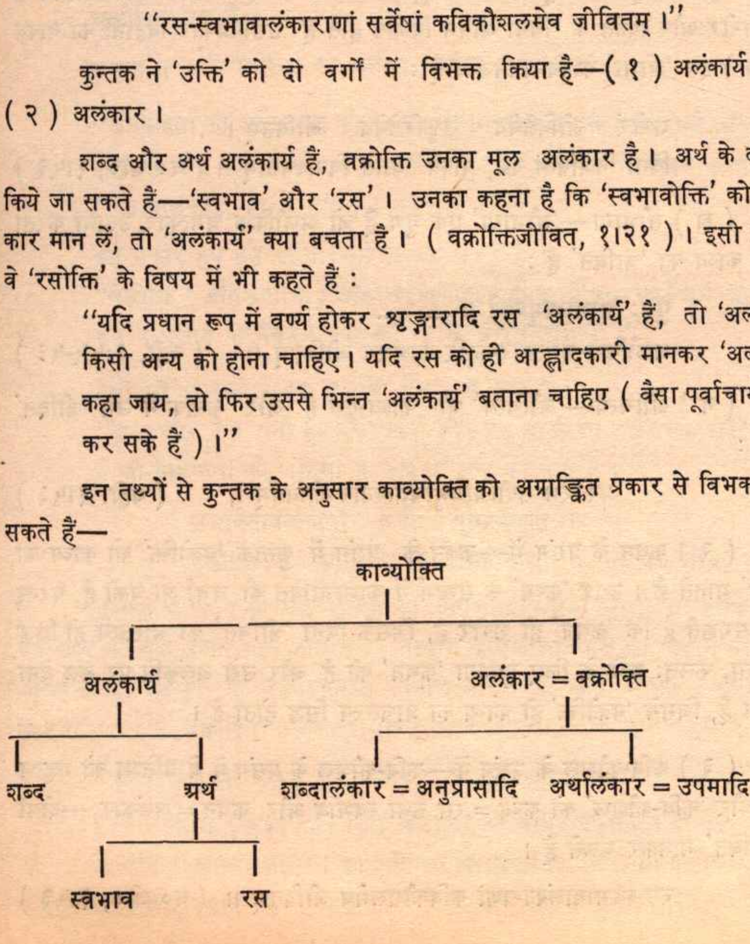
> "रस-स्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्।"

कुन्तक ने 'उक्ति' को दो वर्गों में विभक्त किया है—(१) अलंकार्य और (२) अलंकार।

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं, वक्रोक्ति उनका मूल अलंकार है। अर्थ के दो भेद किये जा सकते हैं—'स्वभाव' और 'रस'। उनका कहना है कि 'स्वभावोक्ति' को अलंकार मान लें, तो 'अलंकार्य' क्या बचता है। (वक्रोक्तिजीवित, १।२१)। इसी प्रकार वे 'रसोक्ति' के विषय में भी कहते हैं :

> "यदि प्रधान रूप में वर्ण्य होकर शृङ्गारादि रस 'अलंकार्य' हैं, तो 'अलंकार' किसी अन्य को होना चाहिए। यदि रस को ही आह्लादकारी मानकर 'अलंकार' कहा जाय, तो फिर उससे भिन्न 'अलंकार्य' बताना चाहिए (वैसा पूर्वाचार्य नहीं कर सके हैं)।"

इन तथ्यों से कुन्तक के अनुसार काव्योक्ति को अग्राङ्कित प्रकार से विभक्त कर सकते हैं—



वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् :

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय, इससे पूर्व हमें जान लेना चाहिए कि कुन्तक की दृष्टि में 'वर्ण्य' और 'वर्णन' का अन्तर स्पष्ट था। वे 'कथ्य' अथवा 'प्रेषणीय' तत्त्व अथवा 'आह्लाद' को कथन अथवा 'प्रेषण-साधन' से पृथक् समझते थे। अतः 'जीवित' शब्द का प्रयोग उन्होंने तीन प्रसंगों में किया है—(१) कथ्य के प्रसंग में, (२) कथन के प्रसंग में और (३) कवि-कौशल के प्रसंग में।

(१) कथ्य के प्रसंग में—काव्य के कथ्य अथवा अलंकार्य का जीवित वे शोभा, सौभाग्य और औचित्य को मानते हैं। इनके बिना वे काव्य की उपयोगिता ही सन्दिग्ध मानते हैं। स्पष्ट हो चुका है कि रस और स्वभाव ही कुन्तक के अनुसार 'अलंकार्य' हैं और इनका जीवन उक्त तीनों पर आश्रित है, जिनमें प्रथम तो काव्यात्मा ही है :

(क) शोभा—शोभा उस सौन्दर्य को कहते हैं, जो शब्द और अर्थ के साहित्य से प्रतीत होकर सहृदयों के हृदयों को आह्लाद प्रदान करता है। जिस प्रकार जीवन के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन निर्जीव होते हैं उसी प्रकार विद्वानों का वाक्य (काव्य) इस 'शोभा' के बिना निर्जीव है :

शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्॥ (व० जी०, १।५३)

(ख) सौभाग्य—'सौभाग्य' एक गुण है जो अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करता है और काव्य का 'जीवित' है :

गुणः सौभाग्यमुच्यते॥ ....
अलौकिक-चमत्कार-कारि काव्यस्य जीवितम्॥ (वही, १।५५-५६)

(ग) औचित्य—'औचित्य' भी काव्य-गुण है और कुन्तक ने उसे 'जीवित' कहा है :

प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान-जीवितम्॥ (वही, १।५३)

(२) कथन के प्रसंग में—कथन के प्रसंग में कुन्तक 'वक्रोक्ति' को काव्य का 'जीवित' मानते हैं। ऊपर 'कथ्य' के सन्दर्भ में काव्यजीवित की चर्चा आ चुकी है, परन्तु कुन्तक समझते हैं कि 'कथन' ही शरीर है, जिसके बिना 'जीवित' का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, फलतः कवि के लिए मुख्यता 'कथन' की है और उसे अलंकृति पर बल देना ही होता है, जिससे 'वक्रोक्ति' ही काव्य का प्राणतत्त्व सिद्ध होता है।

(३) कवि-कौशल के प्रसंग में—कवि-कौशल के प्रसंग में वे प्रतिभा को महत्त्व देते हैं और 'कवि-कौशल' को कथ्य = रस तथा स्वभाव और कथन = अलंकार,—दोनों का 'जीवित' मानकर चलते हैं।

रस-स्वभावालंकाराणां कविकौशलमेव जीवितम्॥ (व० जी०, १।५३)

इस प्रकार कुन्तक के दृष्टिकोण का उपसंहार हम कर सकते हैं :

काव्यजोवित

सहृदय की दृष्टि से = शोभा, सौन्दर्य, औचित्य	काव्य की दृष्टि से = वक्रोक्ति	कवि की दृष्टि से = कवि-कौशल

इससे कुन्तक का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि वे कथ्य अथवा संप्रेषणीय तत्त्व पर बल न देकर अपने ग्रन्थ में शैली-पक्ष अथवा कवि-कौशल-पक्ष पर बल देकर विचार करते हैं। यही कारण है कि वे 'वक्रोक्ति' पर सर्वाधिक शक्ति लगाते हुए पूरे विस्तार से उसकी विवेचना अपने ग्रन्थ में करते हैं। ग्रन्थ का नाम भी 'वक्रोक्तिजीवित' रखकर वे इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। ग्रन्थ की प्रस्तावना में वे सरस्वती की वन्दना में ही कह देते हैं कि 'काव्यालंकार-करण' ही ग्रन्थ का प्रस्तुत प्रतिपाद्य है।

प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालंकार-करणम्। (व० जी०, १।१)

वक्रोक्ति क्या है ?

भामह ने 'अतिशयोक्ति' को अलंकार-सर्वस्व मानते हुए कहा है :

"लौकिकता का अतिक्रमण करनेवाली, गुणातिशय से युक्त विविधरूप अतिशयोक्ति होती है और यह सबकी सब वक्रोक्ति है, जो अर्थ का विभावन करती है।" (काव्यालंकार, २।८१-८५)।

इस प्रकार हम इसे यों परिभाषित कर सकते हैं :

"वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) लोकोत्तर गुणोत्कर्ष देनेवाली तथा वर्ण्य अर्थ को विशेष-रूप में प्रस्तुत करनेवाली कवि-कौशल से प्रेरित उक्ति है।"

इसी को आचार्य कुन्तक ने अन्य प्रकार से कहा है :

"शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य हैं और उन दोनों का अलंकरण 'वक्रोक्ति' ही है जो विदग्धता की भंगिमा से उत्पन्न उक्ति का नाम है।"

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते॥ (व० जी०, १।१०)

कुन्तक के कथन का मूल भामह की यह मान्यता है—'वाणी के अलंकार अर्थ एवं शब्द की वक्र उक्ति माने जाते हैं।' वस्तुतः कुन्तक ध्वनिमत का विरोध करते हुए भामह के काव्यालंकार की नयी व्याख्या देनेवाले आचार्य हैं, अतः भामह के ही स्वर में स्वर मिलाकर वे 'वक्रोक्ति' को काव्यजीवित कहते हैं।

ध्वनिकार ने भी भामह का समर्थन करते हुए कहा है :

"अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) जिस अलङ्कार को अधिष्ठान बनाती है, उस अलङ्कार में कवि-प्रतिभावश चारुता का अतिशय आ जाता है, अतिशयोक्तिहीन अलङ्कार तो अलङ्कारमात्र रह जाता है।" (ध्वन्यालोक, पृ० २०८)

कुन्तक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से लाभ उठाया है। उनके अनुसार, शब्द-अर्थ को अलंकृत करनेवाले अलङ्कारों का प्राण 'वक्रोक्ति' है। वक्रोक्ति-रहित अलङ्कार होता ही नहीं है और अलङ्कारों से पृथक् भी रचना, पद, अर्थ, प्रकरण, प्रबन्ध आदि में 'वक्रोक्ति' का समावेश रहता है। कवि का लोकातिक्रान्त कथन ही 'वक्रोक्ति' है, जिसके बिना काव्य अकाव्य हो जाता है।

वक्रोक्ति के भेद :

वक्रोक्ति उक्ति-विशेष का नाम है। 'उक्ति' शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को कहते हैं। यह उक्ति अपने लघुतम रूप में 'वर्ण' होती है। फिर वर्ण-समुदाय पद कहे जाते हैं। पदों में प्रकृति-प्रत्यय-भेद से पूर्वार्ध (प्रकृति) और परार्ध (प्रत्यय) के दो भेद हो जाते हैं जिन्हें पदांश कहा जा सकता है। पद-समुदाय वाक्य होता है। वाक्यों से प्रकरण (प्रबन्ध का भाग) बनता है। प्रकरणों से पूरा प्रबन्ध निर्मित होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति के प्रमुख छह भेद किये गये हैं :

(१) वर्णविन्यास-वक्रता।
(२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता।
(३) पद-परार्ध-वक्रता।
(४) वाक्य-वक्रता।
(५) प्रकरण-वक्रता।
(६) प्रबन्ध-वक्रता।

इन्हें हम सुविधा के लिए तीन भागों में बाँट सकते हैं :

(१) शब्द-वक्रता
- (क) वर्णविन्यास-वक्रता
- (ख) पद-पूर्वार्ध-वक्रता
- (ग) वाक्य-वक्रता

(२) अर्थ-वक्रता
- (क) पद-पूर्वार्ध-वक्रता
- (ख) पद-परार्ध-वक्रता
- (ग) पद-वक्रता
- (घ) वाक्य-वक्रता
- (ङ) प्रकरण-वक्रता
- (च) प्रबन्ध-वक्रता

(३) उभय-वक्रता = वाक्य-वक्रता।

'पद-पूर्वार्ध-वक्रता' को शब्द और अर्थ दोनों की वक्रताओं में गिना गया है। 'शब्दगत पद-पूर्वार्ध-वक्रता' में शब्द-शक्तिज ध्वनि-भेद का समावेश होता है और 'अर्थगत पद-पूर्वार्ध-वक्रता' के अन्तर्गत अर्थ-शक्तिज पदगत ध्वनि आ जाती है। इसी प्रकार 'वाक्य-वक्रता' को दोनों वर्गों में लिया गया है जिसमें वाक्यगत 'शब्दशक्तिज ध्वनि' का अन्तर्भाव

हो जाता है। तीसरा विभाग प्रस्तुत लेखक ने अपनी ओर से कर लिया है, जिससे 'शब्दार्थोभय-शक्तिज ध्वनि' का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव समझा जा सके।

(१) शब्द-वक्रता—शब्द की वक्रता शब्द-विशेष की सत्ता में ही सम्भव होती है, उस शब्द के हटा देने से समाप्त हो जाती है। इसके तीनों भेदों को इस प्रकार देख सकते हैं :

(क) वर्ण-विन्यास-वक्रता—इसमें सभी प्रकार के शब्दालंकार आ जाते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त है :

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से
उतर रही है
सन्ध्या-सुन्दरी
परी-सी
धीरे धीरे धीरे। (निराला)

(ख) पद-पूर्वार्ध-वक्रता—कुन्तक ने शब्दगत और अर्थगत वक्रता को एक साथ ही रखा है। हम यहाँ केवल 'शब्दगत वक्रता' के ही रूप में पहले देख रहे हैं। इसके दो भेद अपनी ओर से कर सकते हैं :

(अ) योगरूढ़िगत :

श्रद्धे ! यह नव संकल्प नहीं—
चलने का लघु जीवन अमोल,
मैं निश्चय उसको भोग चलूँ
जो सुख चलदल-सा रहा बोल। (कामायनी)

यहाँ 'चलदल' योगरूढ़ शब्द है जिसका रूढ़ अर्थ 'पीपल' है, परन्तु यौगिक रूप में 'चञ्चल-पत्र' अर्थ देता हुआ सुखों की चञ्चलता एवं क्षणिकता को 'वक्रता' द्वारा प्रकट करता है। ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार इसे शब्दशक्त्युत्थ वस्तु-ध्वनि कहेंगे।

वर्तमान जीवन के सुख से
योग जहाँ होता है,
छली अदृष्ट अभाव बना क्यों
वहीं प्रकट होता है? (कामायनी)

यहाँ 'अदृष्ट' शब्द रूढ़रूप में 'भाग्य' अर्थ देकर भी वक्रता से 'न दीखनेवाला' अर्थ देकर रूपक अलङ्कार प्रकट करता है—"भाग्य उसी प्रकार सुखों में बाधक हो जाता है, जैसे मिलन के क्षणों में कोई छली व्यक्ति छिपे-छिपे प्रकाश में आ जाय और बाधा उत्पन्न कर दे।" इसे ध्वनिमत में शब्दशक्त्युत्थ अलंकार-ध्वनि कहेंगे।

(आ) अनेकार्थ-शब्दगत :

वह पागल सुख इस जगती का
आज विराट बना था,

अन्धकार-मिश्रित प्रकाश का
एक वितान तना था। (कामायनी)

यहाँ 'विराट' शब्द द्वयर्थक है जो प्रसंग में विशालता या प्रचुरता का अर्थ देकर भी 'ईश्वरत्व' अर्थ द्वारा सुखान्वेषण की प्रबल एवं व्यापक लालसा सूचित करता है जो पद की ही वक्रता के कारण है। इसे शब्दशक्त्युत्थ वस्तु-ध्वनि कहते हैं।

कर्म-यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा।
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा। (कामायनी)

यहाँ 'मानस' की द्वयर्थकता में वक्रता है जिससे रूपक अलंकार बनता है—"जिस प्रकार मानसरोवर में कमल-कुसुम खिलते हैं, उसी प्रकार हृदय में आशा प्रस्फुट होगी।" इसी को शब्दशक्त्युत्थ अलंकार-ध्वनि कहते हैं।

(ग) वाक्य-वक्रता—जब वाक्य के सभी शब्द अनेकार्थक हों और द्वितीय अर्थ प्रकट करें, तो शब्दगत वाक्य-वक्रता होती है :

जरी विषम जुर ज्याइए आइ सुदरसनु देइ। (बिहारी)

यहाँ 'विषम जुर' और 'सुदरसनु' पदों के द्वयर्थक होने से सम्पूर्ण वाक्य में वक्रता आ गयी है, जिससे नायिका के विषम विरह सन्ताप और नायक के चारु दर्शन की, क्रमशः, 'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' नामक औषध के साथ उपमा का अर्थ प्रकट हो जाता है।

(२) अर्थ-वक्रता :—यह वक्रोक्ति-मत का मुख्य विवेचनीय भाग है, जिसमें पाँच प्रकार की अर्थगत वक्रताएँ आ जाती हैं।

(क) पद-पूर्वार्ध-वक्रता :—हिन्दी में सुविधा की दृष्टि से इसे 'पदवक्रता' कह सकते हैं, परन्तु उस दशा में 'पद-परार्ध-वक्रता' को पार्थक्य न दिया जा सकेगा। वस्तुतः ये दोनों प्रकार संस्कृत में ही सुस्पष्ट रह पाते हैं। आचार्य कुन्तक ने इसके अनेक उपभेद किये हैं :

(अ) रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता :

यह बिनसत नगु राखि कै जगत बड़ो जसु लेहु। (बिहारी)

यहाँ 'नगु' शब्द रूढ़ है, परन्तु वक्रता से नायिका के लिए प्रयुक्त होकर अनिन्द्य सौन्दर्य का परिचायक हो गया है। ध्वनिमत में यह 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि' है।

मनु! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हन्त! बची क्या शवता! (कामायनी)

यहाँ 'मनु' शब्द रूढ़ होकर 'मानव-संस्कृति का महान् अधिष्ठाता मनु' अर्थ देता है, जो वक्रता से आकर पूरे पद्य को गरिमा प्रदान करता है। यही 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि' है।

(आ) पर्याय-वक्रता—एक ही अर्थ के वाचक बहुत-से शब्द हो सकते हैं, परन्तु कवि उनमें से किसी एक को चुनकर रखता है। इसके कई कारण होते हैं :

(क) शब्द अपने वाच्यार्थ के निकट होता है :

इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं।
जो तर्जनी देखि मरि जाहीं॥ (मानस)

यहाँ 'तर्जनी' शब्द अर्थ के अधिक निकट है। 'वह अँगुली जो फटकार में दिखायी जाती है, पर प्रहार नहीं कर सकती' का अर्थ वक्रता से ही आता है। इसे 'अर्थशक्त्युत्थ वस्तु-ध्वनि' कहेंगे।

(ख) शब्द अर्थातिशय का पोषक होता है :

अरे पुरातन अमृत अगतिमय
मोह-मुग्ध जर्जर अवसाद। (कामायनी)

यहाँ 'देव' पर्याय का प्रयोग न कर 'अमृत' का प्रयोग वक्रता को लिए हुए है। 'अमृत होने (न मरने के) कारण ही तो वे पुराने हो गये थे और प्रगतिहीन थे' का अर्थ वक्रता से आता है।

(ग) शब्द अपनी अर्थ-सुकुमारता से मनोहर हो :

विकल वासना के प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये,
आह ! जले अपनी ज्वाला से
फिर वे जल में गले, गये। (कामायनी)

यहाँ देवों के लिये 'विकल वासना के प्रतिनिधि' पर्याय का प्रयोग हुआ है जो इसी कोटि की वक्रता लिये हुए है।

(घ) शब्द असम्भावना का सूचक हो :

किन्तु पास ही रहो बालिके ! मेरी हो तुम,
मैं हूँ कुछ खिलवाड़ नहीं जो अब खेलो तुम ? (कामायनी)

यहाँ 'इडा' के लिये 'बालिके' का प्रयोग 'भाग बचने की असम्भावना' का सूचक है।

(ङ) ऐसा शब्द जो अलंकार-सूचक हो :

इस करुणा-कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती। (आँसू)

यहाँ 'रागिनी' कहने से हृदय-वीणा का रूपक प्रकट होता है। इसे अर्थशक्त्युत्थ अलंकार-ध्वनि कहेंगे।

(इ) उपचार-वक्रता : इसमें लक्षणा के सभी प्रयोगों का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ :

भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए,
जल-निधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए। (कामायनी)

यहाँ जड़ तत्त्वों पर चेतना का उपचार है, जिसे कुन्तक वक्रता में लेते हैं और ध्वनिकार 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' में लेते हैं।

(ई) विशेषण-वक्रता :

हर प्रकृति-संकेत के कुछ अर्थ होते हैं, अजाने,
लोक माने या न माने, किन्तु कैसे कवि न माने ? (बच्चन)

यहाँ 'अजाने' विशेषण की वक्रता से 'कवि के लोकोत्तर-संवेदन-सम्पन्न होने' का अर्थ निकलता है।

(उ) संवृति-वक्रता :

कौन हो तुम, खींचते यों मुझे अपनी ओर,
और ललचाते, स्वयं हटते उधर की ओर !
ज्योत्स्ना-निर्झर ! ठहरती ही नहीं यह आँख,
तुम्हें कुछ पहचानने की खो गयी सी साख ! (कामायनी)

यहाँ सुपरिचिता श्रद्धा के प्रति मनु की उक्ति में 'कौन' पद द्वारा संवृति (गोपन) की वक्रता है। 'कुछ' पद भी ऐसा ही है।

(ऊ) प्रत्यय-वक्रता :

अहो मुनीस महा भटमानी। (मानस)

यहाँ लक्ष्मण ने परशुराम को 'महाभटमानी' कहा है जिसमें 'मन्' धातु में आने-वाला 'इन्' प्रत्यय सूचित करता है—'मुनीश अपने को भट ही नहीं, महाभट मानते हैं, भट हैं या नहीं, अज्ञात है।' यह वक्रता कृदन्त शब्द के प्रत्यय से सम्पन्न हुई है।

(ए) वृत्ति-वक्रता—कृदन्त, तद्धित, समास आदि को संस्कृत में 'वृत्ति' कहते हैं।

हिम-शिखर गल-पिघल निर्झर
हो गया होगा मधुर-स्वर,
आज मरुस्थल में निकल
रस-धार होगी चमचमायी। (बच्चन)

यहाँ 'चमचमायी' में द्वित्व-वृत्ति है, जो चमकने की व्याप्ति सूचित करती है।

भारत के नभ का प्रभा-सूर्य
सांस्कृतिक सूर्य,
अस्तमित आज रे ! तमस्तूर्य दिङ्मण्डल। (निराला)

यहाँ 'तमस्तूर्य' की समास-वृत्ति संक्षेप में ही दिशाओं द्वारा अन्धकाररूपी तुरही बजने का संकेत कर देती है।

(ऐ) भाव-वक्रता :

लो, चला आज मैं छोड़ यहीं
संचित संवेदन-भार-पुञ्ज। (कामायनी)

यहाँ भावी चलने को 'चला' कहकर क्रिया की सिद्धता सूचित की गयी है; यही भाव-वक्रता है। भाव=क्रिया।

(ओ) लिङ्ग-वैचित्र्य-वक्रता :

कौन करुण रहस्य है तुम में छिपा छविमान !
लता-वीरुध दिया करते जिसे छाया-दान ? (कामायनी)

यहाँ प्रेयसी का पुँल्लिङ्ग में कथन इसी वक्रता का उदाहरण है जिससे उसकी गरिमा का उत्कर्ष प्रकट होता है।

(औ) क्रिया-वक्रता—इसे कुन्तक ने चार प्रकारों में बाँटा है :

(क) क्रिया कर्ता की अन्तरङ्ग हो :

तेहि अंगद कहुँ लात उठाई।
गहि पद पटकेउ धरनि भ्रमाई। (मानस)

यहाँ राक्षस-कुमार ने लात उठायी ही थी और अंगद ने 'पटकने' की क्रिया कर दी—यहाँ क्रिया की वक्रता कर्ता (अंगद) की अन्तरङ्ग है।

(ख) अन्य कर्ता की विचित्रता :

संकर चाप जहाज सागर रघुवर बाहुबल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस॥ (मानस)

यहाँ 'बूड़ने' में किसी शरीरधारी को कर्ता होना चाहिए, परन्तु कवि ने क्रिया की वक्रता से सीता के सोच, जनक के परिताप आदि को कर्ता बनाया है।

(ग) उपचार-मनोज्ञता :

खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें,
हृदय-कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें। (कामायनी)

यहाँ खुलने और खिलने की क्रिया में उपचार (लक्षणा) की वक्रता द्रष्टव्य है। यहाँ भी अविवक्षित-वाच्य ध्वनि है।

(घ) कर्मादि-गोपन :

इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग झलकता है,

मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ।
इतना ही सरल झलकता है। (कामायनी)

तृतीय चरण में 'देने' और 'लेने' के कर्मकारक का गोपन है।

(ख) पद-परार्ध-वक्रता—इस वर्ग में काल, कारक, वचन, पुरुष आदि की वक्रताएँ आती हैं।

(१) काल-वैचित्र्य-वक्रता :

आज मुस्कायी धरा होगी
कि तुम हो मुस्करायी,
आज कलिकाएँ सुमन में
फूट, होंगी रंग लायी। (बच्चन)

यहाँ 'मुस्करायी' का भूतकाल और 'मुस्कायी होगी' तथा 'रंग लायी होंगी' के सम्भावनात्मक भविष्यत्काल में वक्रता है। इससे प्रेयसी के मुस्कराने से ही शेष दो क्रियाओं के सम्पन्न होने का अर्थ निकलता है।

(२) कारक-वक्रता :

गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिर से हरियाली,
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली। (कामायनी)

यहाँ चेतन की क्रियाओं का कारक अचेतन को बनाने में वक्रता है।

(३) वचन-वक्रता :

दूर-पीछे की तरफ छूटे हुए—
पर्वत, बगीचे, गाँव !
और अनजानी प्रतीक्षा से बँधी
सूखी नदी के घाट पर अब भी पड़ी है
एक-सूनी नाव !
जिसकी ओर—
हारी दृष्टियों से देखता उस पार का
एकान्त निर्जन कटखना वन है। (शलभ श्रीरामसिंह)

यहाँ 'दृष्टियों' के बहुवचन की वक्रता 'बार-बार' देखते रहने का अर्थ देती है।

(४) पुरुष-वक्रता :

एक दिन सहसा सिन्धु अपार
लगा टकराने नगतल क्षुब्ध,
अकेला यह जीवन निरुपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध। (कामायनी)

श्रद्धा की इस उक्ति में उत्तम पुरुष के स्थान पर 'यह जीवन' का प्रथम पुरुष (अन्य पुरुष) वक्रता लिये हुए है, जो विस्मय, असहायता आदि की सूचक है।

(ग) पद-वक्रता—इस वर्ग में अव्ययों की वक्रता आती है, जिनमें प्रकृति से पृथक् प्रत्यय का अस्तित्व नहीं रहता।

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने को क्रीड़ा,
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा। (आँसू)

यहाँ 'अब' अव्यय अपनी पद-वक्रता के कारण विरहावस्था के वैपरीत्य का बोधक हो गया है।

हाँ कि गर्वरथ में तुरंग-सा
जितना जो चाहे, जुत ले। (कामायनी)

यहाँ 'हाँ' अव्यय गर्व की निःसारता सूचित करता है।

मुस्कुरा तुमने बुलाया,
और,
अपनी साधना मैं छोड़ आया। (बच्चन)

यहाँ 'और' मुस्कराने को साधना-त्याग के कारणरूप में प्रस्तुत करता है।

किन्तु मेरे टूटने से
तार जुड़ता एक हो तो ?—
दो तुम्हीं निर्णय, सुकण्ठिनि,
आज,
अपना व्रत कड़ा क्यों तोड़ आया। (बच्चन)

'तो' की पद-वक्रता रहस्यात्मक वितर्क की सूचक है।

(घ) वाक्य-वक्रता—वाक्य-वक्रता में उन सभी ध्वनि-भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है, जिन्हें ध्वनि-प्रकरण में विवेचित किया गया है। यहाँ उनका विस्तार अनपेक्षित है। काव्य के वाक्यार्थ को 'वस्तु', 'अलंकार' और 'रस' रूपों में विभक्त करके ध्वनिमत में भी देखा गया है और वही कुन्तक को मान्य है। अन्तर इतना ही है कि कुन्तक 'वस्तु' को शुद्ध स्वभावोक्ति के रूप में लेते हैं। वही 'वस्तु' वक्रता लेकर अलंकार बनाती है। कुन्तक के अनुसार, अलंकारों के दो भेद हो जाते हैं—वाच्यालंकार और प्रतीयमानालंकार। द्वितीय कोटि के अलंकार ध्वनिमत में व्यंग्य कहे गये हैं। कुन्तक ने वस्तु-स्वभाव के निरलंकार वर्णन में भी वाक्य-वक्रता मानी है। जहाँ अलंकारादि द्वारा वस्तु-स्वभाव प्रतीत होता है, वहाँ कुन्तक के अनुसार, 'आहार्य-वस्तु-वक्रता' होती है। इसी आहार्य-वक्रता को 'प्रतीयमान वस्तु' नाम भी दिया जा सकता है। यह नाम 'वस्तु-ध्वनि' के निकट है।

(१) शुद्ध-वस्तु-वक्रता :

धँसती धारा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निःश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास । (कामायनी)

(२) आहार्य-वस्तु-वक्रता :

मेरा कटा हुआ सिर
हँस रहा है
कटा हुआ है
इसीलिए हँस रहा है
यदि धड़ पर होता तो
चुप रहता
क्योंकि मैं देखती हूँ
धड़ पर रखे करोड़ों-करोड़ों
सिर चुप हैं । (शकुन्त माथुर)

यहाँ कटे सिर का हँसना और धड़ पर रखे सिरों का चुप रहना विरोधाभास और विभावना अलंकारों की वक्रता से वस्तु की वक्रता लाते हैं—'पूरा समाज, जो अपने को जीवित कहता है, यथार्थ बात कहने की स्थिति में चुप रहता है । जो इस अनुचित चुप्पी पर हँसता है, वह समाज से विच्छिन्न हो जाता है ।'

(३) अलंकार-वक्रता (वाच्य) :

रक्षक को भक्षक समझ, उन्नति माने रेड़,
नेता माने भेड़िया, जनता माने भेड़ ।
जनता माने भेड़, अर्थ उल्टे पहचानो,
जनसेवक का सही अर्थ तनसेवक मानो ।
काका कवि का कोश अनोखा और अजूबा,
सन्त फतेसिंह के माने पंजाबी सूबा । (काका हाथरसी)

यहाँ विरोधाभास अलंकार वाच्यरूप में ही आया है । सभी अलंकार इसी वक्रता के वर्ग में आते हैं ।

(४) अलंकार-वक्रता (प्रतीयमान) :

डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मङ्गलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि । (कामायनी)

"जिस प्रकार वैज्ञानिक गति-सिद्धान्त में जहाँ आकर्षण का केन्द्र होता है उसी ओर सभी वस्तुएँ खिंचती हैं—चुम्बकीय शक्ति से, उसी प्रकार जीवन आकर्षण-केन्द्र है

जिसकी ओर समृद्धि खिंचेगी।" यह उपमा प्रतीयमान है, अतः यह भी अलंकार-वक्रता है। सभी अलंकार-ध्वनियों का इसी में अन्तर्भाव कुन्तक को मान्य होना चाहिए।

(५) रस-वक्रता :

सोडा लेमनेड से करेगा तरपन हम,
होटलों में साहबों को बाँभन जिमावेगा।
अण्डों का सु-पिण्ड दे चढ़ावेगा बरण्डी बेस्ट,
ऐसा सुख-भोग आप स्वर्ग में न पावेगा।
वेल्कम माइ डियर फादर मदर सोल,
नयी सभ्यता का मजा अपको चखावेगा।
वंश में सपूत सिविलाइज्ड हुआ है हम,
आपके समेत सात पुश्त तर जावेगा। (वचनेश)

यहाँ हास्यरस की वक्रता स्पष्ट है। इसी प्रकार सभी रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावोदय और भावशबलता नामक रस-ध्वनियाँ (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि) इसी में समाविष्ट हैं, जिनके उदाहरण ध्वनि-निरूपण में आ चुके हैं।

(ङ) प्रकरण-वक्रता—इसमें सभी प्रकार की प्रकरणगत ध्वनियों का समावेश है। उदाहरण भी वहीं से लिये जा सकते हैं।

(च) प्रबन्ध-वक्रता—सभी प्रकार की प्रबन्धगत ध्वनियों के उदाहरण इसी वक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं।

समीक्षा :

ऊपर के विवेचन से जो स्पष्ट तथ्य सामने आते हैं उन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है—(१) कुन्तक स्पष्ट रूप में व्यञ्जना शब्दशक्ति का खण्डन कहीं नहीं करते और न उसका नाम ही लेते हैं—जैसे उनकी दृष्टि में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। (२) वे उपचार, प्रतीयमान जैसे शब्द कहने को विवश हैं क्योंकि अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण संभार अभिधा में समाता नहीं और यह कठिनाई उनके सामने अवश्य रही होगी। (३) फिर भी वे किसी शब्दशक्ति की चर्चा बिना किये हुए उक्ति की वक्रता की स्थापना करना चाहते हैं। (४) वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति = कविकौशल-चारुतापूर्ण उक्ति ही वक्रोक्ति है, यह कहकर वे छुटकारा नहीं पाते क्योंकि अन्ततः वैसी विलक्षण उक्ति शब्दार्थमयी ही होगी और तब देखना होगा कि शब्द और अर्थ की विविध वक्रताएँ किस प्रकार आती हैं, फलतः शब्दशक्ति-विवेचन ही मार्ग बचता है जिसे उन्होंने उपेक्षित कर दिया है। (५) वक्रोक्तियों के भेद, उनके लक्षण और उदाहरण इस कौशल से लाये गये हैं कि ध्वनिमत की ही स्थापनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं, परन्तु उन्हें व्यञ्जना नाम न देकर 'वक्रोक्ति' नाम से लाया गया है जो 'ध्वनि' का ही नामान्तर प्रतीत होता है क्योंकि ध्वनिकाव्य भी उक्ति है और वक्रोक्ति भी उक्ति ही है—वक्रता तभी आ सकती है जब अर्थ व्यंग्य हो, अन्यथा वक्र और अवक्र उक्तियों का भेदक कौन होगा ? (६) व्यञ्जना

न मानकर अभिधा को ही यह व्याप्ति दी जाय तो भी अभिधा के प्रकारान्तर मानने होंगे और भेद निर्धारित करने पड़ेंगे जिससे नाम का विरोध तो हो सकता है, पर ध्वनिमत में उठाये हुए सभी प्रश्नों का समाधान करना ही होगा और यहीं ध्वनिमत की विजय है। (७) जिसे ध्वनिमत में गुणीभूत-व्यंग्य कहा गया है उसकी स्थिति का कोई पता वक्रोक्ति-मत में नहीं मिलता। इससे वक्रता द्वारा उपलब्ध चमत्कार में तारतम्य का अध्ययन नहीं हो पाता और इसे वक्रोक्ति-सिद्धान्त की त्रुटि मानना चाहिए। संभव है, कुन्तक का पूर्ण ग्रन्थ मिलता तो और कुछ प्रकाश पड़ता। (८) माना कि वक्रता अलङ्कार का प्राण है, पर अलंकारों के चमत्कार में विविधता होती है अतः वक्रता की विविधता मान्य होनी चाहिए जो कुन्तक द्वारा प्रतिष्ठित नहीं हो सकी है। पद, पदांश, वाक्य आदि की वक्रताएँ भी एकरूप नहीं होतीं, जैसा व्यञ्जना-विवेचन में प्रकट हो चुका है। कुन्तक केवल शब्द और अर्थ को अलङ्कार्य मानकर इस तथ्य की उपेक्षा कर गये हैं। (९) वस्तुतः जिस प्रकार कुन्तक ने वक्रता के आधारभूत पद, पदांश आदि को लेकर वक्रोक्ति के भेद किये हैं, उसी प्रकार विविध आधारों में आधेयभूत वक्रता की विविधता भी स्थापित करनी चाहिए थी। यह कमी वक्रोक्तिमत को कोई पुष्ट आधार नहीं दे पाती। (१०) यदि वक्रता की विविधता की स्थापना अपनी ओर से की जाय तो व्यञ्जना की ही सभी बातें शब्द बदलकर कहनी होंगी और तब दोनों में नाम-भेद ही रह जाता है, तात्त्विक अन्तर नहीं ठहरता; इस तथ्य पर आचार्य महिम भट्ट ने अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कथन है :

> "शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्दार्थ-योजना से भिन्न जो काव्यगत शब्दार्थ-योजना की विचित्रता होती है वही वक्रता है और वही काव्य का जीवन है। इस कथन के दो ही अभिप्राय हो सकते हैं—(१) यह विचित्रता या तो शब्दार्थ के औचित्य-मात्र से मान्य होगी या फिर (२) प्रसिद्ध वाच्य अर्थ से पृथक् प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति से स्थापित होगी। क्योंकि शब्दार्थ की प्रसिद्ध योजना से भिन्न योजना का और कोई प्रकार असंभव है। इनमें से प्रथम पक्ष का कोई पुष्ट आधार नहीं है क्योंकि काव्य के स्वरूप में ही औचित्य का स्वतः समावेश रहता है, अन्यथा काव्यात्मा रस की ही उपलब्धि न होगी जो कुन्तक को भी अभीष्ट है। दूसरा पक्ष ही वक्रता कहकर स्थापित करना कुन्तक को अभीष्ट रहा होगा और तब तो ध्वनि की ही प्रकारान्तर से पुष्टि होती है। कारण कि जो बातें ध्वनिमत में कही गयी हैं, वे ही शब्दभेद से कही जा रही हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वक्रोक्ति के वैसे ही भेद और उदाहरण ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं।"[१४]

इस प्रकार महिम भट्ट कुन्तक को प्रकारान्तर से ध्वनिमत के क्रोड़ में ही पतित देखते हैं और यहीं ध्वनि-सिद्धान्त का पोषण वक्रोक्तिमत से हो जाता है।

यह मान लिया जाय कि आचार्य कुन्तक विचित्र अभिधावादी थे और काव्य-व्यापार के समस्त विस्तार को वे अभिधा शक्ति में ही अन्तर्भूत मानते थे; उक्त वक्रता अभिधा का ही प्रकार है—जैसे, धनुर्धर द्वारा चलाया बाण प्रभाव में अन्तर रखता है,

वैसा ही अन्तर शब्दशक्ति में देखा जाता है। यह मान्यता भी संगत नहीं, क्योंकि सामान्य अर्थ और वक्र कहे जानेवाले काव्यार्थ के बोध में काल-कृत अन्तर स्पष्ट भासित होता है। वर्मच्छेद, मर्मच्छेद और प्राणहरण करनेवाला एक ही बाण रहता है; उन क्रियाओं में पूर्वापरभाव तो रहता है, पर कार्य-कारण-भाव नहीं—अर्थात् वर्मच्छेद मर्मच्छेद का कारण पृथक् हो, ऐसा नहीं, जबकि वाच्य अर्थ काव्य के चमत्कारी अर्थ के बोध का कारण होता है—प्रथम को जानकर ही उसके फलस्वरूप (कार्यरूप) में हम दूसरे को जानते हैं। वाच्यार्थ के बोध का कारण शब्द का अर्थ में संकेत रहता है जबकि चमत्कारी अर्थ में उसका अनादि संकेत नहीं रहता; यही कारण है कि परिस्थिति-भेद से अर्थभेद देखा जाता है जबकि वाच्यार्थ वही रहता है। उदाहरणार्थ—'सूर्य अस्त हो गया' वाक्य का लें तो चरवाहों का अभिप्राय पशु लेकर घर चलने का होगा, खेलने गये बच्चों का खेल बन्द करना और अभिसारिका का अभिसार-सज्जा से होगा। द्वितीय कोटि के अर्थ संकेतित नहीं हैं। अतएव अभिधावाद का विस्तार से महिम भट्ट ने खण्डन किया है।[१५]

जहाँ तक काव्य के सूक्ष्म विवेचन का प्रश्न है, आचार्य कुन्तक ध्वनिकार की ही कोटि में आते हैं। परन्तु वे वक्रता को वही पुष्ट विवेचन नहीं दे सके जो व्यञ्जना को दिया गया। यदि मान भी लें कि उनके पूरे ग्रन्थ में वैसा ही सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना किया गया होगा, तो भी व्यञ्जना और वक्रता में नाम का ही अन्तर ठहरता है, तत्त्वतः कोई अन्तर प्रमाणित कर पाना असंभव है।

तात्पर्य-वाद और ध्वनि-सिद्धान्त १०

अब तक जो सिद्धान्त विवेचित किये गये हैं उनमें केवल ध्वनि-मत ही ऐसा है जो पूर्णता के साथ शब्दशक्तियों के आधार पर साहित्य की पर्यालोचना करता है। अनुमान-मत सम्पूर्ण चमत्कारी काव्यार्थों का उत्तरदायित्व अनुमान को देता है और ध्वनि का विरोध करता है। भट्टनायक केवल रस के सन्दर्भ में काव्य की दो पृथक् शक्तियाँ—भावकत्व और भोजकत्व—मानकर चलते हैं, अवश्य ही वे शेष अर्थों को अभिधा में ही समाहित करना चाहते हैं। वक्रोक्ति-मत भी अभिधावादी है। इससे स्पष्ट है कि शब्द-व्यापार की विविधता को लोक और काव्य दोनों में एकरूप मानकर ध्वनिमत ही चला है। तात्पर्यवाद भी शब्द-व्यापार को मानकर चलनेवाला ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त है। यह मत ध्वनि-मत के साथ-साथ ही सामने आ चुका था क्योंकि अभिनव ने ध्वन्यालोक-लोचन में उसका खण्डन किया है। फिर भी यह मत ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास तक अधिक मुखर नहीं देखा जाता। धारा-नरेश मुञ्ज के सभापण्डित धनिक और धनञ्जय तात्पर्यवादी साहित्य-मनीषी थे और मुञ्ज के भतीजे भोजराज को भी हम उस मत के अनुयायी के रूप में देखते हैं। धनञ्जय ने दशरूपक ग्रन्थ लिखा है और धनिक ने उसकी टीका की है। अपनी टीका में धनिक ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' का हवाला देकर बताया है कि उन्होंने वहाँ ध्वनि के विरुद्ध 'तात्पर्य' की पुष्ट स्थापना की है। उस ग्रन्थ के न मिलने से यह बताना कठिन है कि सम्पूर्ण काव्य-भेदों का समाहार तात्पर्य-सिद्धान्त में कैसे बना होगा, फिर भी उस मत के बिखरे हुए तत्त्व लेकर यहाँ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

तात्पर्य क्या है?

आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने अर्थ-विचार की दिशा प्रस्तुत करते हुए 'तात्पर्य-वृत्ति' नामक वाक्यशक्ति की प्रतिष्ठा की। वाक्य-घटक प्रत्येक पद अपना वाच्य (या लक्ष्य) अर्थ तो देता है पर पदों के विविध अर्थ फिर भी परस्पर असम्बद्ध रहते हैं और असम्बद्ध पदार्थों से वाक्यार्थ की निष्पत्ति संभव नहीं है। इन पदार्थों का परस्पर-सम्बन्ध-बोध करानेवाली वाक्य-शक्ति ही तात्पर्य-वृत्ति है जिससे बोधित वाक्यार्थ तात्पर्य (या तात्पर्यार्थ) कहा जाता है। वाक्य उस अर्थ में तत्पर होता है क्योंकि पदसमवाय का वही वाक्यार्थ 'पर' या प्रधान बोध्य रहता है—सः=वाक्यार्थः परः=प्रधानीभूतः यस्य तत् तत्परम्। तात्पर्य का व्यवहार में द्विविध प्रयोग प्रचलित है :—

(१) मीमांसा-शास्त्रीय व्यवहार में तात्पर्य से वाक्यार्थ जाना जाता है जो पदार्थों के परस्पर-सम्बन्ध से घटित होता है। वह वाच्यार्थ-सम्बन्ध रूप है और उस सम्बन्ध की बोधक शक्ति तात्पर्य-वृत्ति है। अर्थात् पदों के वाच्यार्थ-बोध में जो कार्य अभिधा करती है, वही कार्य सम्बद्ध-पदार्थरूप वाक्यार्थ के लिए तात्पर्य-वृत्ति करती है। वह एक प्रकार से वाक्य की अभिधा है, पर अभिधा के समान तात्पर्यवृत्ति संकेत-सापेक्ष नहीं है। जिस प्रकार किसी पद का कोई अर्थ संकेतित होकर परम्परारूढ़ रहता है, वैसा कुछ भी तात्पर्य के परिवेश में नहीं रहा करता, अतः सम्बन्धमात्र देनेवाली वृत्ति ही तात्पर्यवृत्ति है जिसके बिना पद-पदार्थ असम्बद्ध रहेंगे और वाक्य-वाक्यार्थ बनेंगे ही नहीं। यह शुद्ध मीमांसा-शास्त्रीय रूप है जो काव्य-शक्ति के रूप में ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, अतः व्यञ्जना-स्थापन में इसका खण्डन किया गया है।

(२) काव्य-समीक्षा में उसकी अवतारणा हुई है तो उसे नया नेपथ्य पहनाया गया। लोक-व्यवहार में भी तात्पर्य उसी को कहा जाता है जो वाक्य का मुख्य अभिप्राय रहता है—उदाहरणार्थ, शत्रु को अपने लिए उपकारी कहने का तात्पर्य हुआ कि अपकार की सीमा नहीं। बिहारी जब कहते हैं :

जरी विषम जुर ज्याइऐ, आइ सुदरसनु देहु।

तो विषम-ज्वर में सुदर्शन औषध की उपमा में उनका तात्पर्य ठहरता है। इस प्रकार सभी प्रतीयमान अर्थ व्यवहार में तात्पर्य की सीमा में आ जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का कारण 'तात्पर्य' शब्द की व्यापकता है। 'तात्पर्य' शब्द के स्थान पर 'तत्परत्व' या 'तत्परता' भी कह सकते हैं।* 'तत्पर' का अर्थ है 'वही जिसका प्रधान हो'। अतः तल्लीन, संलग्न आदि अर्थ में भी 'तत्पर' का प्रयोग चलता है। ऐसी स्थिति में वाक्य की विश्रान्ति जिस अर्थ में होती है, उसे तात्पर्य कहेंगे—चाहे वह वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य कोई हो। ध्वनिकार ने भी व्यंग्यार्थ के लिए 'तात्पर्य' का प्रयोग इसी आधार पर किया है—वे अलङ्कारों का रस-भावादि-तात्पर्य चाहते हैं[१], रसादि-तात्पर्य होने पर गुणीभूत-व्यंग्य को ध्वनि बताते हैं[२], कवि की विवक्षा को उनके अनुसार रसादि-तात्पर्यवती होना चाहिए[३], रस और भाव तात्पर्य से प्रकाशित होते हैं[४] आदि।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि तात्पर्यवृत्ति अभिधाबोध्य अर्थों की सम्बन्ध-बोधिका वाक्यशक्ति ही है[५] जो व्यवहार में विविधता लेती है। यही कारण है, धनिकाचार्य तात्पर्य की कोई सीमा नहीं मानते कि तराजू पर तोलकर केवल पदार्थ-सम्बन्ध-बोध कराने के लिए उसे माना जाय।[६] तात्पर्यवादी का आशय यह है कि प्रत्येक पुरुषोक्त वाक्य विवक्षा-पराधीन रहता है—वक्ता की कथनेच्छा ही सर्वोपरि रहती है अतः काव्य में कवि का अभिप्रेत अर्थ ही तात्पर्य होता है।[७] मीमांसा-संमत तात्पर्य-वृत्ति यद्यपि संबंध-

* मीमांसा में 'तात्पर्य' का दूसरा रूप :—मीमांसा में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' द्वारा तात्पर्य का एक भिन्न रूप भी दिया गया है। यहाँ उपात्त पदों से लब्ध वाच्यार्थ विधेयार्थ है और जो विधेयार्थ है वही तात्पर्यार्थ है।

मात्र का बोध कराती है तथापि काव्य में उसकी अनेक कक्ष्याएँ मान्य हैं—जब तक कवि का सम्पूर्ण अर्थ नहीं ज्ञात हो जाता तब तक तात्पर्य-वृत्ति सक्रिय रहती है, तात्पर्य का विश्राम पदार्थ-सम्बन्ध में न होकर जहाँ तक अर्थ जाता है वहाँ तक होता है अतः तात्पर्य से भिन्न व्यंग्य की स्थापना व्यर्थ है।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मीमांसा-सम्मत तात्पर्य-वृत्ति को अपेक्षित अर्थ-विस्तार देकर काव्य-विवेचन में लाया गया है जो कुमारिल की सीमाओं का प्रत्यक्ष उल्लङ्घन है। इतना होते हुए भी व्यञ्जना के अर्थ में 'तात्पर्य' का व्यापक प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि यह मत व्यवहार में बद्धमूल हो गया था। इसका कारण यह हो सकता है कि ध्वनिमत आने से पूर्व ही कुमारिल का प्रभाव लोक-व्याप्त हो गया होगा और उनके द्वारा प्रतिष्ठापित तात्पर्यवृत्ति को परिभाषा से मुक्त करके शिथिल प्रयोग प्रचलित हो गया होगा।

तात्पर्य और ध्वनि :

तात्पर्य-वाद की परम्परा भले ही ध्वनि-पूर्व-काल से चली आयी हो, परन्तु ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के अनन्तर काव्य के सन्दर्भ में उसका पुनर्मूल्यांकन किया जाने लगा। व्यञ्जना, व्यङ्ग्य, काव्य के स्वरूपगत तथा आधारगत वैविध्य की जिस विस्तार के साथ ध्वनिकार ने विवेचना की थी, वह सब तात्पर्यवादियों को सुलभ थी, अतः वे अनुमानवाद के समान ही अपने मत में ध्वनिमत का अन्तर्भाव करने में लग गये। ये आचार्य मीमांसा की मान्यताओं के प्रति आग्रही थे अतएव किसी नयी विचारधारा का स्वागत न करके उसे व्यर्थ मानकर चल पड़े। धनञ्जय और धनिक ऐसे ही आचार्य थे जो तात्पर्य को वाक्य-गत पद-सम्बन्ध तक नहीं मानते थे, प्रत्युत, जहाँ तक अर्थ जाता हो वहाँ तक तात्पर्य ही मानकर चलते थे। उदाहरणार्थ :

विष खा लेना पर इसके घर में न खाना।

वाक्य पिता अपने पुत्र से कहता हो तो 'इसके घर का भोजन विष-भोजन से भी भयानक है', जैसा अर्थ तात्पर्य की ही सीमा में आयेगा। अर्थ की दूसरी कक्षा तब तक पूरी न होगी जब तक पूरा तात्पर्य न आ जाय।[१]

तात्पर्य की इस स्थापना को मान लेने पर भी ध्वनि की विविधतावाले सभी क्षेत्रों में तात्पर्य की व्याप्ति दिखानी शेष रह जाती है और तब नाममात्र का अन्तर शेष रहता है क्योंकि वे सभी भेदोपभेद तात्पर्यमत में भी विवेच्य होंगे जो ध्वनिमत में पूर्व-स्थापित रहे हैं। ऐसी स्थिति में तात्पर्यमत स्वतः दुर्बल हो जाता है। सम्भवतः, यही देखकर भोजराज ने तात्पर्य-विविधता पर विचार करते हुए 'ध्वनि' को उसी के भेद में परिगणित करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं :

> "शब्द का जो प्रधान अर्थ होता है वही शब्दार्थ तात्पर्य है। वह तात्पर्य वाक्य में ही होता है क्योंकि पदमात्र से अभिप्राय-प्रकाशन सम्भव नहीं है। वह वाक्य-बोध्य अर्थ तीन प्रकार का होता है—अभिधीयमान, प्रतीयमान और ध्वनिरूप।"

(१) वाक्य में अभिधा और लक्षणा शब्दशक्तियों द्वारा अर्थ का अभिधान करके विरत हो जाने पर जो वाक्यार्थ (तात्पर्य) आता है वह अभिधीयमान है—जैसे, गाय जाती है।

(२) वाक्यार्थ-बोध के अनन्तर प्रकरण आदि के औचित्य से जो अर्थ वाक्य से आता है वह प्रतीयमान है। जैसे, 'विष खा लेना पर इसके घर न खाना' वाक्य से प्रतीयमान अर्थ आता है कि 'इसके घर में खाने की अपेक्षा विष खाना अच्छा है।'

(३) जहाँ शब्द और अर्थ उपसर्जनीभूत होकर वाक्यार्थ-बोध के अनन्तर अनुरणनरूप अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करते हैं वहाँ ध्वनि होती है। जैसे, 'वह पलकें चलाती है' कहने से तीन अर्थ-कक्षाएँ बनती हैं—(१) आँखों का निमेष अभिधीयमान है, (२) देवजाति की स्त्री नहीं है (देव पलक नहीं चलाते), यह प्रतीयमान अर्थ है और (३) रूपातिशय ध्वनि है।

ध्वनिरूप अर्थ सार्वत्रिक नहीं है। जैसे, आघात देने के बाद किसी-किसी कांस्यादि में ही अनुनाद पैदा होता है, किसी-किसी कन्दरा में ही प्रतिध्वनि होती है, उसी प्रकार किसी-किसी वाक्य से अभिधीयमान और प्रतीयमान अर्थों के अतिरिक्त ध्वनि अर्थ निकलता है।[१०]

भोजदेव की स्थापना से प्रकट होता है कि वे ध्वनि से आतंकित थे और तात्पर्य से प्रभावित। अतः तात्पर्यमत की स्थिति पुष्ट करने के लिए वे मार्गान्तर खोजने में लग गये जिससे ध्वनि को भी तात्पर्य का एक भेद मानने लगे। यह तो स्पष्ट है कि भोज तात्पर्य को मीमांसा-सीमा से स्वतन्त्र करके ही ले सके, अन्यथा सभी अर्थभेदों का समावेश सम्भव न होता। पद, पदांश आदि की ध्वनियाँ वे स्वतन्त्ररूप से ले नहीं सकते थे क्योंकि तात्पर्य को वाक्य-सीमा से निकालना असम्भव था।

भट्टनायक का भावकत्व, तात्पर्य और ध्वनि :

वाक्य से आनेवाले अर्थमात्र का तात्पर्य में समावेश कर लेने पर रसनिष्पत्ति की समस्या तात्पर्यवादी के सामने रह जाती है। यह कार्य तात्पर्य-वृत्ति से सम्भव नहीं है क्योंकि भोजराज अनुरणनात्मक ध्वनिभेद को ही तात्पर्य में अन्तर्भूत कर सके। रस का सम्बन्ध अनुभूति और साधारणीकरण से है जो तात्पर्य-सीमा में नहीं आते। इस समस्या पर धनिक ने अपेक्षित प्रकाश डाला है और भट्टनायक के भावकत्व व्यापार से ही भावों की प्रतीति स्वीकार की है। वे काव्य का भावकत्व व्यापार मानते हैं और भाव तथा काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध मान्य करते हैं। वे व्यञ्जना का खण्डन करते हुए कहते हैं :

> "रसादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध नहीं है। फिर क्या सम्बन्ध हो सकता है ? उनमें परस्पर भाव्य-भावक-सम्बन्ध है। काव्य भावक है और रसादि भाव्य हैं। वे स्वतः होते हुए ही भावकों (रसिकों) में विशिष्ट-विभावादि-युक्त काव्य से भावित होते हैं। यह आक्षेप कि काव्य से बाहर वैसा

सम्बन्ध नहीं होता है तो काव्य में भी अमान्य होना चाहिए, भावना-व्यापार-वादी आचार्य भाव्य-भावक-सम्बन्ध ही अङ्गीकार करते आये हैं। यदि काव्य से बाहर भावकत्व-व्यापार न होता हो तो भी क्या हानि है, काव्य में तो 'भावन' अनिवार्य है। अतएव भरत की उक्ति है कि भाव वे हैं जो रसों का भावन करते हैं।"[११]

धनिक ने इस सन्दर्भ में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये हैं जिनसे ध्वनिमत की आधारभूत मान्यता पर प्रकाश पड़ता है :

(१) काव्यार्थ से उद्दीपित रत्यादि स्थायीभाव रसिकवर्ती होता है और वही परमानन्द-संवित् का रूप लेकर रसिक में ही रस कहा जाता है। अनुकार्य रामादि में रस-सत्ता असंभव है क्योंकि वह तो अतीत होता है।

(२) यद्यपि विभावादि की सत्ता केवल शब्दमयी होती है अतः वे अविद्यमान रहते हैं, फिर भी उनका अवभास इस प्रकार होता है कि विद्यमानता अनुभव होती है। यह अवभासमयी स्थिति हमारे लिये असत् ही रहती है जिससे रामादि अनुकार्य व्यक्ति-रूप में भासित न होकर विभावरूप में भासित होते हैं।

(३) कवि रामादि में रसोत्पत्ति के लिए काव्य-रचना नहीं करता, प्रत्युत रसिकों को आह्लादित करने के लिए करता है अतः रस सभी भावकों का स्व-संवेद्य तत्त्व है।

(४) अनुकार्य रामादि का श्रृंगार हो तो उसके देखने में अन्य श्रृंगारी लौकिक पात्र के कान्तायुक्त देखने के समान प्रतीति होगी, रसास्वाद न होगा। उसमें सत्पुरुषों को लज्जा, औरों को असूया आदि ही प्रतीत होगी।

(५) रस व्यंग्य तो तब हो जब पहले से कहीं विद्यमान हो। वह रस-रूप में सहृदय-स्थित नहीं रहता कि व्यक्त हो। वह तो विभावादि द्वारा प्रेक्षकों में भावित होता है।

(६) सीता आदि जनक-तनया आदि विशेष रूप छोड़कर काव्य में स्त्रीमात्र हो जाती हैं।

(७) जिस प्रकार खिलौनों से खेलनेवाला बालक अपने ही उत्साह का आस्वादन करता है, उसी प्रकार सहृदय अर्जुन आदि से (स्वगत भाव का ?) आस्वादन करता है।

(८) यदि अभिनेता भी भावक की स्थिति प्राप्त कर ले तो अन्य रसिकों के समान ही रसास्वाद कर सकता है।

(९) काव्यार्थ के स्फुरण से जो आत्मानन्द होता है वही रस है। उससे चार प्रकार की अनुभूति होती है—श्रृंगार और हास्य में विकास, वीर और अद्भुत में विस्तार, बीभत्स और भयानक में क्षोभ तथा रौद्र और करुण में विक्षेप।

(१०) शान्त रस अभिनेय नहीं होता अतः उसका नाट्य में प्रवेश नहीं है। वह शुद्ध मोक्षावस्था की अनुभूति के रूप में काव्यानन्द की वस्तु भी नहीं है। मैत्री,

करुणा आदि के माध्यम से ही उसका आस्वाद माना गया है। मुदिता विकास है, मैत्री विस्तार है, करुणा क्षोभ है और उपेक्षा विक्षेप है, इस प्रकार उक्त चार रसगुणों में ही शान्तरस भी आस्वादित होता है।

(११) व्यक्तिगत भाव से पृथक् काव्य द्वारा विभावित भाव ही आस्वादित होता है और वह काव्य-भाव वाक्यार्थ (तात्पर्य) रूप ही होता है।[१२]

× × ×

उक्त विवरण से ध्वनिमत का विरोध अल्प होता हुआ देखा जा सकता है। ध्वनि-मत में वासनारूप भाव की रसिक में ही उपस्थिति मान्य है। वह भाव अव्यक्त रहता है परन्तु काव्य के विभावादि द्वारा व्यक्त होने पर रसरूप लेता है। तात्पर्यमत में रसरूप लेनेवाला भाव पूर्वस्थित नहीं रहता प्रत्युत काव्य द्वारा ही सहृदय में भावित होता है और रसरूप में आस्वादित होता है। शेष बातें प्रायः ध्वनिमत में भी यथावत् हैं।

भट्टनायक का भोजकत्व व्यापार तात्पर्य-वाद में स्वीकृत नहीं है। भावित भाव का आस्वादन काव्य की वस्तु न होकर भावक रसिक की वस्तु है अतः भोजकत्व पर विचार नहीं किया गया है।

समीक्षा :

तात्पर्य-सिद्धान्त काव्यालोचन को परिपुष्ट आधार देने में असमर्थ रहा, इसका कारण उन परिस्थितियों को माना जाना चाहिए जिनमें तात्पर्यवृत्ति की स्थापना हुई और बलात् ध्वनि-विरोध के आग्रह में उसे घसीटकर उसका अर्थ-वृत्त बढ़ाया गया। बढ़े हुए वृत्त में भी तात्पर्य के भेद करके व्यञ्जना का स्थानापन्न बनाने के प्रयास हुए, फलतः मीमांसा की तात्पर्यवृत्ति अपने मूल अर्थ से ध्वनि तक व्यापक बनायी गयी और ध्वनि को तात्पर्य का ही एक भेद मानकर भोजराज ने अपनी परम्परा की रक्षा का निर्बल प्रयास किया। वे काव्य-तात्पर्य के रूप में ध्वनि को ही आदर देकर चलने को विवश देखे जाते हैं—उन्होंने शृङ्गार को रसराज बताने के सन्दर्भ में कहा है कि "वाक्य में केवल तात्पर्य, काव्य में केवल ध्वनि, गुणों में केवल सौभाग्य, सुन्दरी के शरीर में केवल लावण्य और मनस्वी के हृदय में केवल शृङ्गार स्वदित होता है।"[१३] इस प्रकार भोज काव्य में ध्वनि को ही सर्वस्व मानते हैं। साहित्य-समीक्षा में तात्पर्यवाद दुर्बल रहा, इसके कारणों पर नीचे विचार किया जा रहा है :

(१) यदि तात्पर्य में ही सब कुछ समा सकता है तो अभिधा को ही विस्तार दिया जा सकता है और अभिधा के पदगत तथा वाक्यगत भेद किये जा सकते हैं। बात तो यहाँ तक बढ़ायी जा सकती है कि ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान सब एक ही बुद्धितत्त्व के रूपान्तर हैं और तब शब्द, अर्थ, शब्दशक्ति में भी तात्त्विक अन्तर नहीं। ऐसा मान लेने पर तो विवेचना का अवसर ही नहीं बचता और शब्दशक्तियों में पार्थक्य-विवेचन ही व्यर्थ ठहरता है, परन्तु तात्पर्यवाद एक ओर तो ध्वनि-विरोधी होकर आना चाहता है, दूसरी ओर ध्वनि के समस्त रूपों और प्रकारों को तात्पर्यक्षेत्र में समेटने का दुर्बल प्रयास करता है।

(२) जहाँ एक हीं पद या पदांश से ध्वनि होती है, उसे पूरे वाक्य के तात्पर्य में नत्थी तो किया जा सकता है पर वाक्यार्थ के भीतर उसके चमत्कार का पार्थक्य कैसे काटा जा सकता है ? उदाहरणार्थ :

सब कहते हैं खोलो-खोलो
छवि देखूँगा जीवन-धन की । (कामायनी)

यहाँ एक ओर तो 'कहते हैं' में बहुवचन है और दूसरी ओर 'देखूँगा' में एक-वचन। व्यञ्जना है कि सम्पूर्ण समाज का प्रत्येक सदस्य अलग-अलग अपना प्राप्य चाहता है। इसे पूरे वाक्य का तात्पर्य मानकर भी उक्त एकवचन और बहुवचन की योजना के चमत्कार को मानना ही होगा और तब व्यञ्जनावृत्ति के अतिरिक्त उपाय नहीं क्योंकि तात्पर्य तो पूरे वाक्य का होता है, यहाँ तो पूरा पद भी नहीं, पदांश चमत्कारकारी है। पद और पदांश का तात्पर्य होता नहीं, फिर भी मान्य किया जाय, तब तो शब्दशक्तियों का विभाग ही अनावश्यक हो जाता, सब अभिधा ही क्यों न मान ली जाय।

(३) रस-निष्पत्ति के सन्दर्भ में धनिक की मान्यता है कि कवि का तात्पर्य सहृदयों को आह्लादित करना होता है और काव्य रस का भावन करता है जिससे रसिक आह्लादित होता है। यह 'भावन' अस्पष्ट है—इसे उत्पत्ति कह नहीं सकते क्योंकि तात्पर्य-वादी भी भट्टनायक के समान ही उत्पत्तिवाद का विरोधी है, अनुमिति-विरोध भी समान है, व्यञ्जना तो मान्य ही नहीं। भावन का अर्थ तन्मयता से लिया जा सकता है पर जब सहृदय में या अन्यत्र कहीं भाव की सत्ता ही नहीं है तब तन्मयीभाव भी कहाँ होगा ? बालक खिलौनों से अपने ही उत्साह का आस्वादन करता है, यह उपमा देकर धनिक ने ध्वनि-सिद्धान्त का ही प्रतिपादन कर दिया है, अनजाने ही वे रसिक की वासना का आस्वादन मान चले हैं, जो भावकत्ववादी को अमान्य रहा है।

(४) भोजराज तात्पर्य के भेदरूप में ध्वनि को मानकर भी कहीं स्पष्ट विभाजन नहीं करते कि जब व्यञ्जना मान्य नहीं है तो विविध ध्वनियों के, जो व्यंग्य के आधार पर स्थित हैं, तात्पर्यवाद में क्या नाम होंगे। इनकी परिभाषा भी बदलनी होगी, जिस-पर कोई विचार न हो पाने से तात्पर्यवाद शिथिल सिद्ध होता है।

ध्वनि-सिद्धान्त में पदार्थ-बोध के लिए अभिधा और लक्षणा, वाक्यार्थ बोध के लिए लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति की सीमाएँ स्पष्ट रखी गयी हैं। उनसे पृथक् व्यञ्जना की स्थिति पदांश, पद, वाक्य, प्रकरण, प्रबन्ध सभी में सिद्ध किया गया है। तात्पर्य के नाम पर ध्वनि-विरोध केवल विरोध के लिए जान पड़ता है।

× × ×

भारतीय चिन्तन में भक्ति-रस का सिद्धान्त बड़ा ही विवादग्रस्त रहा है। ध्वनि-मत में रस की स्थिति की पर्यालोचना करेंगे तो स्पष्ट होगा कि भक्ति को वहाँ अत्यन्त नगण्य स्थान रतिभाव-काव्य में मिला है जो निश्चय ही अधिक रुचिकर नहीं जान पड़ता। अगले अध्याय में इसपर प्रकाश डाला जायगा।

भक्ति-रस-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त ११

गौड़ीय सम्प्रदाय का भक्ति रस :

चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी श्री रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वल-नीलमणि ग्रन्थों द्वारा भक्ति-रस की स्थापना की है। वे नौ रसों से पृथक् भक्ति-रस की स्थापना के पक्ष में नहीं हैं, प्रत्युत भक्ति रस में ही सभी रसों का समावेश मानते हैं ? श्री जीवगोस्वामी ने उक्त ग्रन्थों पर विस्तृत टीका प्रस्तुत की है। रस-सिद्धान्त को लेकर यह स्थापना उससे पूर्णतया भिन्न है, जिसे परम्परा से प्राप्त करते रहे हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुसार एकमात्र रतिभाव ही भाव-राज है और भक्ति ही रस है।

स्थायीभाव—ईश्वरविषयक रति ही स्थायी भाव है।

भेद—उस रति के पाँच भेद हैं—(१) शम रति, (२) सख्य रति, (३) दास्य रति, (४) वात्सल्य रति और (५) मधुर रति।

(१) ईश्वर के प्रति वौराग्यपूर्ण रति शम रति है ?
(२) ईश्वर को सखा मानकर की हुई रति सख्य रति है।
(३) ईश्वर को स्वामी मानकर की हुई रति दास्य रति है।
(४) ईश्वर को पुत्रादि मानकर की हुई रति वात्सल्य रति है।
(५) ईश्वर को प्रिय मानकर की हुई रति मधुर रति है।

इन्हीं पाँच रतियों से पाँच मुख्य रस बनते हैं।

(१) शम भक्ति-रस—जगत् के प्रति वैराग्यपूर्वक ईश्वर-भक्ति शान्त भक्ति रस में परिणत होती है :

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥

....

बिन गोपाल कोऊ नहिं अपनो जस अपजस रहि जैहैं॥

(२) सख्य भक्ति-रस—कृष्ण की रति सखा के रूप में जब आश्रय करता है और तदनुसार विभावादि द्वारा रसिक में रसनिष्पत्ति होती है, तो सख्य रस नामक 'भक्ति रस' होता है :

सखा कहत हैं स्याम खिसाने ।
आपुहि आपु ललकि भये ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने ॥
बीचहि बोलि उठे हलधर तब, 'इनके माय न बाप ।
हार जीत कछु नेकु न जानत, लरिकन लावत पाप ॥
आपुन हारि सखा सों झगरत,' यह कहि दियो पठाई ।
सूर स्याम उठि चले रोइकै, जननी पूछत धाई ॥

यहाँ गोपाल-बालक आश्रय हैं जिनमें कृष्णविषयक रति है । कृष्ण आलम्बन हैं, उनका खेलना, रिसाना आदि उद्दीपन है । सखाओं का चिढ़ाना आदि अनुभाव हैं । हर्ष आदि संचारीभाव हैं । इनसे रसिकगत 'सख्य' रतिभाव भक्ति रस में परिणत होता है ।

(३) **दास्य-भक्ति-रस**—कृष्ण को स्वामी के रूप में आलम्बन मानकर आश्रय जहाँ दास के रूप में 'रति' करता है वहाँ यह भक्ति-रस होता है ।

कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज ।
महापतित कबहूँ नहिं आयौ, नेकु तिहारे काज ॥
माया सबल धाम धन बनिता, बाँध्यो हौं यहि साज ।
देखत सुनत सबै जानत हौं, तऊ न आयो बाज ॥
कहियत पतित बहुत तारे तुम, स्रवननि सुनी अवाज ।
दई न जात पार उतराई, चाहत चढ़न जहाज ॥
लीजै पार उतारि सूर को, महाराज ब्रजराज ।
नई न करन कहत प्रभु, तुम हो सदा गरीब नेवाज ॥

कवि आश्रय है । कृष्ण आलम्बन और उनका महत्त्व उद्दीपन है । अपने को अधम और कृष्ण को महाराज कहना अनुभाव है । दैन्य, ग्लानि आदि संचारी हैं । इनसे व्यक्त होकर सहृदयगत दास्यरतिभाव दास्य भक्ति-रस रूप में परिणत हो जाता है ।

(४) **वत्सल भक्ति-रस**—पुत्र के रूप में कृष्ण को आलम्बन बनाकर जब आश्रय भक्ति करता है, तो वत्सल नामक भक्तिरस-भेद होता है ।

चलत देखि जसुमति सुख पावै ।
ठुमुकि-ठुमुकि धरनी पर रेंगत, जननी देखि दिखावै ॥
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि, फिरि इतही कौं आवै ।
गिरि गिरि परत, बनत नहिं नाँघत, सुरमुनि सोच करावै ॥
बहु ब्रह्माण्ड करत छिन भीतर, हरत बिलम्ब न लावै ।
ताकौं लिए नन्द की रानी, नाना रूप खिलावै ॥
तब जसुमति कर टेकि स्याम कौ, क्रम करि-करि उतरावै ।
सूरदास प्रभु देखि-देखि, सुर-नर-मुनि-बुद्धि भुलावै ॥

यशोदा जी आश्रय हैं । कृष्ण आलम्बन और उनकी बाललीलाएँ उद्दीपन हैं । यशोदा द्वारा खिलाया जाना अनुभाव है । हर्ष आदि संचारी हैं । इनके द्वारा व्यक्त होकर रसिक का 'वात्सल्य' रतिभाव भक्ति रस में परिणत होता है ।

(५) मधुर भक्ति रस—पति के रूप में कृष्ण को आलम्बन मानकर जब पत्नी या प्रेयसी के रूप से आश्रय 'रति' करता है तो 'मधुर' नामक भक्ति रस होता है। इसी को शृङ्गार, शुचि और उज्ज्वल कहा जाता है। इसे रूपस्वामी ने अत्यन्त रहस्य एवं गोपनीय कहा है। जीवगोस्वामी का कथन है कि प्रथम चार भेदों में कामवृत्ति छुट्टी दिये रहती है, अतः साधारण जन उन्हीं को भक्ति के रूप में अपनाते हैं। मधुर रति लौकिक काम-वासना से अनुभूत होने के कारण दुर्लभ है, अतएव सबके वश के बाहर है।

आलम्बन विभाव—(१) श्रीकृष्ण जी नायक के रूप में और (२) गोपियाँ उनकी विविध नायिकाएँ दूतियों आदि के रूप में आलम्बन हैं।

उद्दीपन विभाव—सभी प्रकार की ऋतु, वन, उपवन तथा समस्त प्रकृति उद्दीपन है।

स्थायीभाव—मधुर नामक रतिभाव जिसमें दाम्पत्य प्रेम प्रधान होता है, स्थायी भाव है।

अनुभाव—शृङ्गार के सभी अनुभाव कटाक्षादि।

संचारी भाव—मरण को छोड़कर सभी संचारी।

इस रसभेद का वर्णन एक विशाल ग्रन्थ में हुआ है जिसका नाम 'उज्ज्वलनीलमणि' है। विद्यापति, मीरा, सूरदास, जयदेव ग्रादि सभी शृङ्गारी कवियों के काव्य की व्याख्या का आधार इस ग्रन्थ में मिलता है। यही 'भक्तिरस' प्रधान है। रीतिकाल की सम्पूर्ण शृंगारी रचना इसी की विभूति है। इसमें शृङ्गार के सभी भेदों का भाववेश प्रथमोक्त रीति से कर लिया जाता है। नायिकाभेद, नायकभेद, भावभेद की बहुसंख्यता इसकी विशेषता है। संभोग और विप्रलम्भ निर्मर्याद होकर इसमें आया है।

ध्यान रहे कि कृष्णरूप परमेश्वर को लेकर ही रतिभाव भक्ति रस के अन्तर्गत आता है। अन्य सभी शृंगार इस मत से शृङ्गार रस हैं ही नहीं।

चितवनि रोके हू न रही।
स्याम-सुन्दर-सिन्धु-सनमुख सरित उमँगि बही॥
प्रेम-सलिल-प्रवाह-भँवरनि मिलि न थाह लही।
लोल-लहर-कटाच्छ, घूँघट-पट करार ढही॥
थके पल-पथि, नाव-धीरज परत नहिंन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहि फेरेहू न चही॥

गोपी आश्रय है। कृष्ण आलम्बन और उनका सौन्दर्य उद्दीपन है। चितवनि, घूँघट हट जाना, टकटकी आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, दैन्य, मति आदि संचारीभाव हैं। इनसे व्यक्त होकर रसिक का रतिभाव मधुर भक्ति रस में परिणत होता है।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि कोई भी आराध्य भक्ति का आलम्बन हो सकता है। गौड़ीय सम्प्रदाय में केवल कृष्ण को ही आलम्बन बनाकर भक्ति-रस की व्याख्या की

गयी है। शिव को आलम्बन बनाकर कामायनी में भक्ति रस के अनेक प्रसंग आये हैं। उदाहरणार्थ :

नील गरल से भरा हुआ
यह चन्द्र कपाल लिये हो,
इन्हीं निमीलित ताराओं में
कितनी शान्ति पिये हो।
अखिल विश्व का विष पीते हो,
सृष्टि जियेगी फिर से,
कहो अमर! शीतलता इतनी
आती तुम्हें किधर से?
अचल अनन्त नील लहरों पर
बैठे आसन मारे,
देव कौन तुम? झरते तन से
श्रमकण-से ये तारे।

इसी प्रकार विराट के प्रति भक्ति-भावना देखी जा सकती है। पद्मावत आदि में असीम ब्रह्म को आलम्बन बनाया गया है।

गौण भक्ति रस :

ऊपर मुख्य भक्ति-रसों का परिचय हो चुका है जिसमें 'शान्त' रस का भी समावेश कर लिया गया है। अब शेष सात रस बचते हैं—हास्य, वीर, अद्भुत, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स। इन्हें गौण भक्ति रस कहा गया है। यहाँ कृष्णभक्ति से भिन्न भक्तियों से भी उदाहरण लिये जा सकते हैं। उनका क्रमिक विवेचन नीचे दिया जा रहा है :—

(१) हास्य भक्ति रस—आराध्यदेव अथवा तत्सम्बन्धी अन्य को आलम्बन मानकर जहाँ 'हास' स्थायीभाव रसनीय होता है, वहाँ हास्य भक्ति रस होता है। उदाहरणार्थ :

विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रत–
धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी 'तुलसी'
सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वैहैं सिला सब चन्दमुखी
परसे पग मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू
करुना करि कानन को पगु धारे॥ (कबितावली)

(२) वीर भक्ति रस—आराध्यदेव अथवा उसी के सुहृद् का 'उत्साह' स्थायीभाव आस्वाद्य हो, तो 'वीर' भक्ति रस होता है :

गूलरि फल समान तव लंका।
बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असंका॥
मैं बानर फल खात न बारा।
आयसु दीन्ह न राम उदारा॥ (मानस)

यहाँ अंगद का उत्साह वीर-भक्ति-रस में परिणत है।

(३) अद्‌भुत भक्ति रस—आराध्यदेव अथवा उसके सहयोगी को आलम्बन बनाकर जहाँ 'विस्मय' स्थायीभाव आस्वादित हो, वहाँ 'अद्‌भुत' भक्ति रस होता है :

जस जस सुरसा बदन बढ़ावा।
तासु दुगुन कपि रूप देखावा॥ (मानस)

(४) करुण भक्ति रस—आराध्यदेव अथवा उसके सहयोगी के 'शोक' स्थायीभाव के आस्वाद्य होने पर 'करुण' भक्ति रस होता है :

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥ (मानस)

यहाँ लक्ष्मण आलम्बन हैं जिनके शक्ति लगने पर राम का शोक भक्तसहृदयों में 'करुण' भक्ति रस बनता है।

(५) रौद्र भक्ति रस—आराध्यदेव अथवा उसके सहयोगी का 'क्रोध' स्थायीभाव रसनीय होकर 'रौद्र' भक्ति रस बनता है :

लछिमन ! बान सरासन आनू।
सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥ (मानस)

यहाँ राम में समुद्र के प्रति क्रोध है जो भक्त रसिक में व्यक्त होकर 'रौद्र' भक्ति रस कहलाता है।

(६) भयानक भक्ति रस—आराध्य अथवा सहयोगी के प्रति 'भय' स्थायीभाव का रसरूप 'भयानक' भक्ति रस में होता है :

जरइ नगर भा लोग बिहाला।
झपट लपट बहु कोटि कराला॥
तात मातु हा सुनिअ पुकारा।
एहि अवसर को हमहि उबारा॥ (मानस)

(७) बीभत्स भक्ति रस—आराध्यदेव और उसके सहयोगियों द्वारा जो कार्य किये जाते हैं उन युद्धादि से जो 'जुगुप्सा' स्थायीभाव आस्वाद्य होता है, वही 'बीभत्स' भक्ति रस है :

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला।
प्रथम महा झोटिंग कराला॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं।
एक ते छीनि एक लै खाहीं॥ (मानस)

यहाँ रामकृत युद्ध में बीभत्स रस भक्ति रस का गौण रस है।

भक्ति रस की मूल मान्यता :

भक्तिरस-सिद्धान्त में ध्वनि-सिद्धान्त की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण अन्तर आलम्बन-गत है। ऊपर ध्वनि तथा उसके विरोधी मतों में लौकिक आलम्बन की मुख्यता रही है, भले ही अलौकिक परमेश्वर (राम, कृष्ण आदि) विभाव हों, पर वे लोकरूप होकर ही आते हैं, उनका लोकोत्तर रूप रसोपयोगी नहीं रहता जबकि भक्ति रस में आलम्बन को ही लोकोत्तर होना चाहिए। इस मत में लौकिक आलम्बन से लोकोत्तर रस की निष्पत्ति अमान्य है। श्रीमद्भागवत इस मत का आकर ग्रन्थ है जिसमें उसे भागवत रस कहा गया है :

"पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।"

चैतन्य मत में इस मत को काव्यशास्त्रीय आधार दिया गया तो उसी के आसपास अद्वैताचार्य मधुसूदन सरस्वती ने दार्शनिक आधार दिया—शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र और नारद-भक्तिसूत्र आदि में पहले से दार्शनिक रूप में भक्ति की प्रतिष्ठा हुई थी पर काव्य-रस मानकर स्थापना शेष थी। शाण्डिल्य ने ईश्वर में परम अनुरक्ति को और नारद ने परम प्रेम को भक्ति बताया है।[1] मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"भगवद्धर्म से द्रवीभूत चित्त की वृत्ति जब परमेश्वर में धारावाहिक हो जाती है तब उसे भक्ति कहते हैं।"

अथवा

"द्रवीभावपूर्वक चित्तवृत्ति का सविकल्प रूप में परमेश्वर से एकाकार होना भक्ति है।"[2]

"विभावादि सामग्री से भक्तों के हृदय में श्रवण आदि द्वारा आस्वादनीय रूप लेनेवाली स्थायीभाव कृष्ण-रति भक्तिरस होती है।"[3]

भक्तिरस की आस्वाद-प्रक्रिया और उसके स्वरूप में जो विशेषताएँ हैं उन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है :

(१) ध्वनिमत भाव-वासना को अनादि मानकर चलता है। भक्तिरस-प्रक्रिया उससे कुछ भिन्न है। सभी भाव (रति को छोड़कर) वासना रूप हो सकते हैं परन्तु भगवद्विषयक रति जन्मान्तर की वासना भी हो सकती है और अर्जित भी होती है क्योंकि श्रवण, मनन आदि से वह अर्जित की जाती है।

(२) जन्मान्तर की ईश्वर-रति-वासना हो तो भी अर्जन का प्रयास अनिवार्य रहता है क्योंकि "विषयों (की वासना) के प्रति कठिनता और भगवान् के चरणों में द्रवीभाव लाने हेतु प्रतिक्षण भक्त को शास्त्र-सम्मत उपायों से काम लेना होता है।"[४]

(३) ईश्वर-रति वह भाव है जिससे अन्य वासनाओं का परिहार या विरेचन हो जाता है। चित्त जब द्रुत होकर ज्ञान-सुख-स्वरूप, व्यापक, नित्य, पूर्ण परमेश्वर को ग्रहण कर लेता है तब अन्य कुछ भी शेष नहीं रहता।"[५] यही दशा भक्तिरसानुभूति में पहली शर्त है।

(४) ध्वनि-सिद्धान्त यह नहीं बताता कि वासनात्मक भाव आनन्दरूप में क्यों व्यक्त होता है—उसे वह वस्तु-स्वभाव ही मानकर चलता है जो काव्याभिव्यक्ति में स्वतः घटित होता है। परन्तु भक्तिरस का आलम्बन स्वतः परमानन्दरूप है, वही मनोगत होकर तदाकारता ग्रहण करता है तो पूर्णरसरूप लेता है।[६] यह तदाकारता अथवा एकाकारता (तन्मयता) ही भक्तिरस में चित्तवृत्ति कही जाती है।[७]

(५) रूप गोस्वामी ने इसीलिये भक्तिरस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि "चित्तवृत्ति में (विभावादि से) आविर्भूत होकर ईश्वर-रूप होती हुई यह भक्ति नामक चित्तवृत्ति स्वयं-प्रकाश होती है और ईश्वर उसका प्रकाश्य बनता है तो उसी का रूप ले लेती है।"[८] तात्पर्य यह कि भक्ति जब चित्त में उदय होती है तो पहले भगवदाकार होती और फिर भक्त को भगवदाकार कर देती है—यह एकरूपता का प्रत्यय ही भक्ति-काव्य का प्रदेय है।

भक्तिरस-निष्पत्ति :

ध्वनिमत के सन्दर्भ में जिस रसध्वनि की विवेचना की गई उसमें लौकिक विषय की चित्तवृत्ति का परिहार नहीं है, अपितु उसका वासनात्मक रूप ही रसरूप में व्यक्त होता है। मधुसूदन सरस्वती ने उसे भी मान्य किया है और उसे भी परमानन्द रूप माना है। उनका तर्क है कि विषय-संपर्क के कारण वह रस अन्ततः लौकिक रहता है और सीमित होता है। भक्तिरस में असीम तत्त्व का स्फुरण होता है जबकि वैषयिक रस में विषयसीमित चैतन्यांश स्फुरित होता है—यही दोनों में अन्तर है।[९]

भक्ति रस की निष्पत्ति में ध्वनिमत की व्यञ्जना-प्रणाली ही अभिमत है क्योंकि स्वगत ईश्वरविषयक रतिभाव की ही भक्तिरसरूप में परिणति मान्य है और वह व्यञ्जना ही है :

> विभावैरनुभावैश्च व्यभिचारिभिरप्युत।
> स्थायिभावः सुखत्वेन व्यज्यमानो रसःस्मृतः ॥ (भक्तिरसायन, ३।२)

अर्थात् विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों से व्यक्त होता हुआ स्थायी भाव सुख-रूप लेकर रस कहा जाता है। इस प्रक्रिया में चित्त की द्रुति अनिवार्य है जो ध्वनि आदि मतों में भी मान्य रही है। "द्रवीभूत चित्त में वस्तु का एक विशेष आकार बन जाता है (अभिव्यञ्जनावाद में उसे अभिमूर्तन कहते हैं)। वही संस्कार, वासना, भाव और

भावना शब्दों से अभिहित होता है ।"[१०] यह वासना चित्त का अपरिहार्य गुण बन जाती है जो कभी छोड़ती नहीं, जैसे, लाक्षा कठिन होकर भी द्रवदशा का गुण नहीं छोड़ती (वही, १।८) । भक्तिरस के सन्दर्भ में द्रुत हुए चित्त में ईश्वराकारता प्रवेश कर जाती है जो कभी छोड़ती ही नहीं फलतः ऐसा व्यक्ति सर्वत्र परमेश्वर के ही भाव में लीन रहता है ।[११]

स्थायी भाव और रस का अन्तर भक्तिरस में तन्मयता या तदाकारता के आधार पर किया गया है । द्रवीभूत चित्त में वस्तु का जो आकार निहित हो जाता है, वह भाव है । परमानन्द रूप में व्यक्त होने पर वही रस कहा जाता है ।[१२] यह रसरूपता कान्ता आदि के स्थायी भाव से भी समानरूप से उदित होती है—अन्तर केवल मात्रा का रहता है, जैसा ऊपर देख चुके हैं ।[१३]

रस और द्रुति :

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा ।
सा भक्तिरित्यभिहिता.... (वही, २।१)

अर्थात् चित्त द्रवीभाव लेकर वस्तु से एकाकारता ले लेता है जो चित्त की स्थायी वासना बन जाती है । वही चित्त जब गोविन्दाकारता लेता है तब भक्ति होती है । मधुसूदन सरस्वती ध्वनिमत के परिवेश से हटकर द्रुति की व्याख्या करते हैं । ध्वनि में केवल माधुर्यगुण का कार्य द्रुति है जबकि भक्ति-सिद्धान्त में द्रुति का स्वरूप व्यापक माना गया है । वस्तु का आकार लेने की चित्त में अद्भुत क्षमता रहती है और वही 'द्रुति' है । चित्तवृत्ति भावरूप होती है अतः वस्तु की विविध भावात्मक परिणतियाँ देखी जाती हैं, फलतः कारणों के भेद से यह द्रुति विविधता लेती देखी जाती है :

(१) कामजन्य द्रुति चित्त में रतिरूप लेती है ।

(२) ईर्ष्याजन्य चित्त-दीप्ति से जो द्रुति उत्पन्न होती है, उसे द्वेष (क्रोध) कहते हैं । इसका भी रतिभाव में अङ्गरूप से उपयोग देखा जाता है जब सपत्नी-द्वेष करके भी गोपियाँ कृष्ण के प्रति प्रीति रखती हैं । सामान्यतः क्रोध में उपद्रवकारी के नाश की प्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु प्रीति में वह क्रोध अल्प होकर 'अमर्ष' संचारी बना रहता है ।

(३) वही द्रुति भयरूप लेती है जब उसका कारण विप्लवकारी होता है । रतिभाव में उसका भी उपयोग देखा जाता है (ध्वनि में यह भय व्यभिचारी भाव है) ।

(४) विकृत चेष्टा आदि कारणों से जनित चित्त-द्रुति में जो चित्तविकास होता है, वही हास भाव है ।

(५) लोकोत्तर-चमत्कारी वस्तु के दर्शन से उत्पन्न द्रुति में जो चित्तविकास होता है, वह विस्मय है ।

(६) युद्ध आदि से जनित वीर पुरुषों में द्रुति द्वारा जो चित्तविस्तार जनित होता है, वह उत्साह है ।

(७) प्रिय जन के विच्छेद से चित्त में क्लेश-विशेष का उदय होता है, उससे द्रुति होती है और उस द्रुति में रति का समावेश रहता है जिसे शोक कहा जाता है ।

(८) वस्तु की तुच्छता के ज्ञान से उत्पन्न चित्तद्रुति द्वारा कहीं रुधिर आदि से उद्वेग, कहीं श्मशानादि से क्षोभ और कहीं नश्वर देहादि से दुर्विचार उत्पन्न होते हैं जिन्हें जुगुप्सा नाम दिया जाता है ।

(९) वैराग्य, विषय-निरीहता से उत्पन्न हुई द्रुति से चित्त में जो विकास आता है वही शम (निर्वेद) है ।[१४]

ऊपर देखा गया कि द्रुति-भेद से ही स्थायी भावों की विविधता घटित होती है । उक्त नौ द्रुतियाँ ही नौ रसों (स्थायी भावों) का कारण हैं । जितनी द्रुतियाँ हैं, उतने स्थायी भाव हैं और वे ही भाव विभावादि-संयोग से रसरूप लेते हैं ।[१५]

इस विवेचन से महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि चित्तद्रुति ही स्थायी संस्कारों की जननी है और उसके नौ ही प्रकार बनते हैं अतः नौ ही स्थायी भाव हैं । मधुसूदन सरस्वती से पूर्व इस आधार पर स्थायी भावों की स्थापना पर विचार नहीं किया गया था । चित्त की तदाकारता को आधुनिक विज्ञान में भी मान्य किया जाता है । वैज्ञानिक दृष्टि से वस्तु के प्रति हमारे मस्तिष्क की क्रिया यह होती है कि उसमें वस्तु का चित्र-सा उतर आता और स्थिर रूप ले लेता है, उस वस्तु के प्रति शारीर-रासायनिक प्रतिक्रिया भी होती है—दूसरे शब्दों में वस्तु के प्रति वही हमारी चित्तवृत्ति कही जा सकती है जो यहाँ नौ भावों में परिगणित की गयी है । द्रुति का व्यापक अर्थ रासायनिक प्रतिक्रिया से साम्य रखता है । वस्तुविषयक अन्य प्रतिक्रियाएँ व्यापक न होकर उक्त नौ के भीतर ही रूप लेती हैं और उन्हें संचारी भाव कहा जाता है ।

ध्वनिमत में रतिभाव-काव्य और भक्तिरस :

ध्वनि-सिद्धान्त में सभी व्यभिचारी भाव स्थायी भाव को आधार बनाकर उन्मग्न-निमग्न होते हुए उदय लेते हैं । जब वे ही व्यभिचारी भाव प्रधान होकर व्यंग्य बनते हैं, स्थायी आधारभूत रहकर भी व्यञ्जना की दृष्टि से गौण रहता है, तब भावध्वनि काव्य होता है । यहाँ तक कोई अनुपपत्ति नहीं, परन्तु रति एक ही स्थायी भाव है जिसे भावकाव्य में लिया गया है जिससे ईश्वर-विषयक रति भी भाव-श्रेणी में गिन ली गयी है । इसके पीछे यह मान्यता काम करती है कि प्रत्येक स्थायी भाव एक ही रसरूप लेता है अतः रति स्थायी भी एक ही शृंगार का रूप ले सकता है । जहाँ शृंगार रूप में नहीं आता वहाँ वह भावमात्र है, रस नहीं । ध्वनिमत में अन्य कोई स्थायी भाव शुद्ध भावरूप में नहीं माना गया, रतिभाव के लिए ही ऐसा कहा गया है । जब रतिभाव को लेकर यह अपवाद-नियम मान्य किया गया तो यह भी मान्य हो सकता है कि रति-भाव अनेक रसों का रूप लेने की क्षमता रखता है और यहीं हम भक्तिरस की स्थापना का आधार पा जाते हैं ।

यह रति दाम्पत्यविषयक होकर शृंगार का मूल है, पाल्य-पालक भाव में वात्सल्य और सेव्य-सेवक भाव में दास्य एवं सख्य भक्तियों का रूप लेती है। दाम्पत्य विषयक रति भी भगवद्विषयक होने पर मधुर भक्तिरस कही जाती है।[१६]

कुछ मनीषियों ने भक्ति को दशम रस मानने की बात उठायी है परन्तु उसे अलग एक रस मानने का प्रश्न भक्तिरसाचार्यों के समक्ष न था। वे तो भक्ति को ही लोकोत्तर रस मानते हैं और अन्य रसों को उसी का अङ्गभूत मानकर चलते हैं जिससे ध्वनिमत की रस-विषयक सम्पूर्ण मान्यता उलट जाती है, जैसा आरम्भ में सोदाहरण विवेचन हो चुका है।

शान्त-रस और भक्ति-रस :

ध्वनि-प्रवर्तकों ने शान्तरस को मूलरस माना है, जैसा प्रथम अध्याय में देखा जा चुका है, परन्तु ब्रह्मज्ञान से (या तत्त्वज्ञान से) सम्बद्ध होने के कारण शान्तरस भक्ति-रस से सर्वथा भिन्न है। ब्रह्मविद्या और भक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है :—

> "द्रवीभाव-पूर्वक मन की परमेश्वराकारता भक्ति है जो सविकल्पक ज्ञान के क्षेत्र में आती है जबकि ब्रह्मविद्या निर्विकल्प मनोवृत्ति है, जिसमें द्रवीभाव नहीं होता, अद्वैत आत्मविषयक होती है। भगवान् के प्रति प्रेम-प्रकर्ष भक्ति का फल है जबकि अज्ञान-निवृत्ति ब्रह्मविद्या का फल है।"[१७]

वस्तुतः भक्ति रागात्मिका वृत्ति है जिसमें लोक-दुःख सुखात्मक होकर व्यक्त होते हैं।[१८]

निष्कर्ष :

जहाँ तक व्यञ्जना व्यापार का सम्बन्ध है, ध्वनिमत और भक्ति-रस-सिद्धान्त में मतैक्य है। रस-स्वरूप की मूलभूत मान्यता में दोनों मतभेद रखते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त आलम्बन-पक्ष में लौकिकता का समावेश अनिवार्य मानकर भी काव्य-विभाव के रूप में उसे लोकोत्तर बताता है जबकि भक्तिसिद्धान्त आलम्बन ही लोकोत्तर मानकर चलता है। लोकोत्तर आलम्बन के अभाव में रस मानकर भी भक्तिसिद्धान्त उसे निम्नकोटि का ही रस मानता है।

इस प्रकार भारतीय चिन्तन-परम्परा में ध्वनि और उसके आधारभूत एवं तुलनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। आगे देखा जायगा कि अन्य काव्यालोचन के सिद्धान्त कहाँ तक ध्वनि के सन्दर्भ में विचारणीय ठहरते हैं।

तृतीय खण्ड

प्रकीर्णक

ध्वनि-सिद्धान्त के मनोदार्शनिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक निकष

१२

दर्शन और मनोविज्ञान में वैचारिक विविधता है और आधारभूत मान्यताओं में अन्तर है। न तो दर्शन एक है और न ही मनोवैज्ञानिक चिन्तन में एकरूपता है कि ध्वनिमत को किसी निर्धारित मानक से परखा जा सके। देखना यही है कि वैविध्य के रहते हुए भी उन चिन्तनों के आयामों में ध्वनि-सिद्धान्त का किस सीमा तक समर्थन हो सकता है। व्यञ्जना शक्ति से बोधित व्यङ्ग्य अर्थ का सम्बन्ध हमारे अन्तःकरण से है और उससे जनित सुखात्मक प्रत्यय का भी क्षेत्र अन्तःकरण ही है। अन्तःकरण या मनस्तत्त्व पर सभी दर्शन अपने ढङ्ग से विचार करते हैं, अतः मनोदर्शन में विविधता स्वाभाविक है। इसी प्रकार मनोविश्लेषण, व्यवहारवाद, गेस्टाल्ट और क्षेत्र-सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान की धाराएँ हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब से मनोविज्ञान का पश्चिम से आयात हुआ है, काव्यबोध को लेकर मतभेदों का भी सूत्रपात हुआ है। सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि हम काव्य-बोध की प्रणाली का समाधान मनोविज्ञान से नहीं माँगते और समाधान न पाकर मनोविज्ञान की सीमाएँ नहीं स्वीकार करते, प्रत्युत काव्यबोध को ही मरोड़कर मनोविज्ञान की नित्य-विकास-शील (अपूर्ण) पद्धति से जाँच कर मूल्याङ्कन करना चाहते हैं। यह प्रश्न तब और भी जटिल हो जाता है जब किसी एक मनोवैज्ञानिक पद्धति को आधार बनाकर परिकल्पना-प्रधान निर्णय देने का कार्य समीक्षा में प्रसार पा चलता है। कुछ-कुछ यही स्थिति दार्शनिक मतभेदों की भी रही है जिसके कारण ध्वनिमत का विरोध किया गया जो शुद्ध काव्य-दर्शन है। आवश्यक नहीं कि ध्वनि-सिद्धान्त के समकक्ष अन्य समीक्षा-सिद्धान्त सामने न लाया जाय, पर दार्शनिक मतवाद को काव्य पर न लादकर काव्य-बोध की मूल प्रणाली पर विचार करना चाहिए, इसमें जिस दर्शन का जितना उपयोग हो उतना भर वह दर्शन काव्य के आयाम में उपयोगी है। आगे हम विविध दर्शनों को लेकर काव्यबोध का परिशीलन करते हुए ध्वनि की मान्यता का निकष प्रस्तुत करना चाहेंगे।

(क)

न्याय-वैशेषिक :

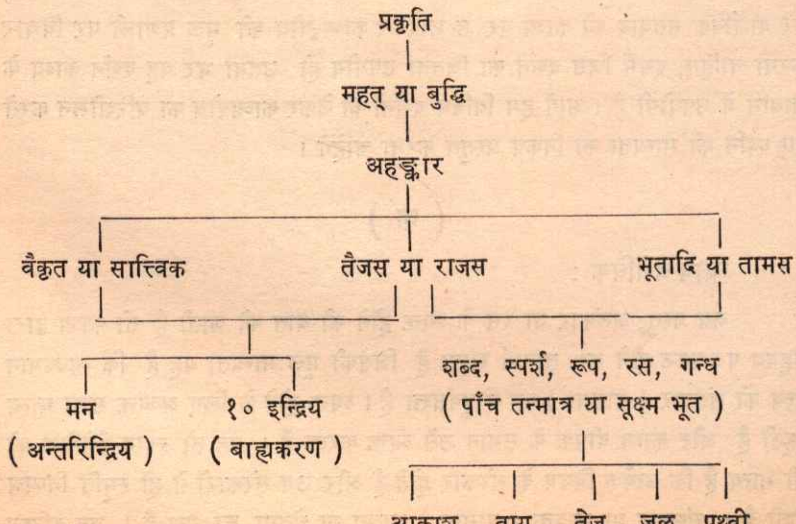
जब वस्तु, अलंकार या रस के व्यक्त होने की बात की जाती है तो काव्य द्वारा सहृदय पर प्रकट होने का तात्पर्य रहता है जिसकी मूल मान्यता यह है कि व्यज्यमान तत्त्व की संस्कार (वासना) रूप में पूर्वसत्ता है। व्यक्त होने के लिए अव्यक्त सत्ता मान्य रहती है और काव्य दीपक के समान उसे व्यक्त करता है। यह तो न्याय-वैशेषिक को भी मान्य है कि प्रत्येक विषय के संस्कार होते हैं और उन संस्कारों से ही स्मृति निष्पन्न होती है। संस्कार या भावना (वासना) आत्मा या चेतना का गुण है। मन इन्द्रिय

की सहायता से, उद्दीपन पदार्थ आने पर, आत्मा में संस्कार उद्‌बुद्ध होते और स्मृति की उत्पत्ति करते हैं। इस दशा में ध्वनिसिद्धान्त को न्याय का समर्थन मिल सकता है, यदि स्मृति-क्षेत्र से पृथक् भी संस्कारोद्‌बोधन मान्य किया जाय। प्रत्यभिज्ञा (पहचान) में न्याय संस्कारोद्‌बोधन मानता ही है, उसे केवल काव्य द्वारा ऐसा संस्कारोद्‌बोधन मानना होगा जो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा से विलक्षण है। काव्य द्वारा यह संस्कारोद्‌बोधन व्यञ्जना ही है जो रम्य वस्तुओं को देख-सुनकर होती है। इसे कालिदास ने अबोध-स्मृति नाम दिया है जिसमें जाग्रत् चेतना की स्थिति नहीं रहती।[1]

न्यायमत का अनुमितिवाद वस्तु के स्थूल प्रत्यय तक सीमित है, उसका आस्वाद-बोध फिर भी शेष रह जाता है—अनुक्त वस्तु का अतिरिक्त सौन्दर्य उस बोध का कारण है, इसमें कोई मतभेद नहीं, परन्तु उस बोध का सुषुप्त-सा स्वरूप बिना संस्कारोद्‌बोधन के संभव नहीं और उसके लिए काव्य को ही कारण मानना होगा। फलतः काव्य द्वारा संस्कार-व्यञ्जना का सिद्धान्त सर्वथा पुष्ट है। न्याय का अनुमान पर आग्रह भी उसे टाल नहीं सकता, जैसा देखा जा चुका है। न्याय वस्तुवादी दर्शन है जो विषय-परक चिन्तन तो देता है पर विषयी में होनेवाली रसात्मक प्रतिक्रिया की व्याख्या नहीं कर पाता जबकि उसकी सीमाओं में भी वह असंभव नहीं है, पर न्याय में व्यञ्जना शक्ति अमान्य है अतः अनुमान पर आग्रह करके तथ्यों की स्थूल वस्तु-परक व्याख्या मात्र दे पाता है।

साङ्ख्य-योग :

सांख्य का तत्त्वविभाग प्राकृताद्वैतवादी है—अर्थात् समस्त सृष्टि प्रकृति का परिणाम है अतः प्रकृति से अद्वैत है। त्रिगुण की साम्यावस्था प्रकृति है जिसके विविध परिणाम ही सृष्टि रूप में देखे जाते हैं। कार्य की अव्यक्त सत्ता कारण में रहती है जो कार्यावस्था में व्यक्त होती है—यह सांख्य का सत्कार्यवाद है। सांख्य का सृष्टिक्रम इस प्रकार है :—



साङ्ख्य में प्रत्येक रचना त्रिगुण है, एक गुण की कोई सत्ता नहीं है अतः जिस गुण की अधिकता सृष्टि में होती है उस आधार पर सात्त्विक, राजस और तामस व्यवहार चलते हैं।

हम सुविधा की दृष्टि से पुरुष (आत्मा) को सम्मिलित न करें तो विज्ञान की भी यह सूक्ष्म रचना-प्रणाली हो सकती है। जीवित शरीर में निर्णयात्मक बोध का रूप लेनेवाला तत्त्व बुद्धि या बोध है, अहम् (मैं) का प्रत्यय आत्मा है (सांख्य में सर्वत्र पुरुष-प्रतिबिम्ब अनिवार्य माना गया है), संकल्पन-विकल्पन की क्रिया मन है। ये ही तीन—बुद्धि, अहंकार और मन—अन्तःकरण हैं जिन्हें चित्त कहा जाता है। चित्त तीनों की समरस-दशा भी है जो प्रकृति का अविकृत रूप है।[2]

हमारे सभी व्यावहारिक प्रत्यय उक्त तीनों अन्तरिन्द्रियों की परिणति हैं अतः त्रिगुणात्मक होते हैं—सत्त्व या सुख, रजस् या दुःख और तमस् या मोहावरण सर्वत्र अनुस्यूत रहते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि सभी लौकिक बोध सुख-दुःख-मोहात्मक होते हैं। काव्य-बोध में रजस् और तमस् तिरोभूत हो जाते हैं, सत्त्वगुण का उद्रेक या प्रकाश प्रभावी रहता है अतः आनन्दात्मक प्रत्यय होता है। भले ही मूलरूप में भाव दुःखात्मक ही क्यों न हो, प्रत्यय में वह दुःख सुखात्मक परिणति ले लेता है—कह सकते हैं कि वैसे भावों का काव्यात्मक बोध दुःख के आधार पर सुखात्मक होता है। यही बात जीवगोस्वामी ने भी कही है कि अधिक दुःख भी चित्त में सुखरूप से व्यक्त होता है, इसका कारण प्रणय का उत्कर्ष होता है और उसे 'राग' कहते हैं।[3] भट्टनायक इसी रस-दशा को भोग-दशा कहते हैं और काव्य की भोजकत्व-शक्ति को उसका उत्तरदायित्व देते हैं।

भावों की आनन्दात्मक परिणति का अर्थ इतना ही है कि वे भाव सात्त्विक चित्त-दशा में व्यक्त होते हैं अथवा काव्य द्वारा भाव-वासना की सत्त्वदशा चित्त में व्यक्त होती है जो काव्य की व्यञ्जना का कार्य है, यह ध्वनि-मत की स्थापना है। व्यञ्जना अव्यक्त वासना को व्यक्त करती है, इसका अर्थ ही यह है कि दुःखात्मक और मोहात्मक आवरण तिरोभूत हो जाते और सुखात्मक भावदशा प्रकट हो जाती है अतएव योगानन्द के समान एक चैत्त प्रत्यय होता है जिसे रस कहते हैं। व्यञ्जना का कार्य विषय-परक प्रत्ययमात्र नहीं है, विषयी या चेतन में उसकी प्रतिक्रिया-पर्यन्त उसका व्यापार है, यही ध्वनिमत का सारांश है।

योगदर्शन चित्तवृत्ति-निरोध को योग की संज्ञा देता है। योग में प्रयत्नपूर्वक निरोध सम्पन्न होता है जबकि काव्य द्वारा कुछ क्षण के लिए चित्त की निरुद्धदशा व्यक्त हो जाती है—क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ दशाएँ तिरोहित हो जाती हैं, यही काव्य-बोध की दशा है। निरुद्धदशा सविकल्पक और निर्विकल्पक दो प्रकार की होती है जिनमें काव्य-बोध सविकल्प चित्तवृत्ति की उपज है।[4] योगी अपने भीतर ही निरोध के कारणों का अनुसन्धान करता है जबकि रसिक में काव्य द्वारा उसे व्यक्त किया जाता है जो व्यञ्जना नामक काव्यशक्ति का कार्य है, इसमें तत्त्वतः मतभेद नहीं दिखायी पड़ता।

इस प्रकार भट्टनायक का भोजकत्व-व्यापार व्यञ्जकत्व का नामान्तर कहा जा सकता है। भट्टनायक वासनात्मक भाव का रस में समावेश नहीं मानते, यह मतभेद अवश्य है, जैसा देख चुके हैं।

मीमांसा-दर्शन :

मीमांसा-दर्शन का व्यावहारिक उपयोग वाक्यविचार में है। उसके दो शब्द—तात्पर्य और भावना—काव्यशास्त्रीय विचार में बड़े आटोप के साथ प्रस्तुत किये गये। इन दोनों पर यथावसर विस्तृत विचार हो चुका है। तात्पर्य से हम अधिक-से-अधिक व्यङ्ग्य कहे जानेवाले वाक्यार्थ को ले सकते हैं जो वस्तुनिष्ठ होगा। अनुभूति से तात्पर्य का सम्बन्ध नहीं बन पाता अतएव धनञ्जय और धनिक आचार्यों ने रस-सन्दर्भ में भावना पर बल दिया है और भट्टनायक भी उसे काव्य-व्यापार के रूप में मान्य ठहराते हैं। यह मान लेने पर कि भाव को काव्य भावित करता है, प्रश्न शेष रह जाता है कि भाव को काव्य अनुभूतिगम्य कैसे बनाता है—उसका भावकत्व व्यापार क्या चित्त तक व्याप्त है? यदि वैसा हो तो चित्त में भाव की भावना का क्या अभिप्राय है? चित्त में वासना-रूप भाव की उपस्थिति मान लेने पर भावित होना और व्यक्त होना एक ही हो जाते हैं, नाममात्र का अन्तर बचता है, परन्तु भाव की उपस्थिति भावनावादी को अमान्य है। ऐसी स्थिति में भावना को उत्पत्ति या अनुमिति माना जाय तो भट्टनायक आदि अमान्य करते हैं।

भावना की सीमा साधारणीकरण तक मान लेने पर उनके दो कार्य कहे जा सकते हैं—(१) वस्तुनिष्ठ रूप में भावना विभावादि और भाव का साधारणीकरण करती है, और (२) आत्मनिष्ठ रूप में रसिक के व्यक्तित्व का परिहार होता है जिससे उसकी चेतना सामान्य मानव-चेतना बन जाती है। यह सब व्यञ्जना में भी यथावत् घटित माना जाता है। विवाद इतना बचता है कि भाव की वासना सहृदयगत होती है और वही आस्वादित होती है, यह ध्वनिवादी को अभिप्रेत है जबकि भावनावादी अनुपस्थित भाव का आस्वाद मान्य करता है। जब तक वासना पहले से विद्यमान न हो, कोई मानस प्रत्यय क्या सम्भव है? अनुमितिवादी तक को इतना मानना पड़ता है कि धूम से अग्नि का अनुमान करने के लिए अनुमाता में अग्नि की वासना आवश्यक है। यहाँ भावनावादी शिशु और खिलौने का उदाहरण देकर कहना चाहता है कि खिलौने से बालक अपने ही उत्साह का आस्वादन करता है, उसी प्रकार सहृदय अपने अभिमान का भोग करता है। अभिमान के आस्वाद की बात सर्वथा मान्य है क्योंकि अभिमान (अहंकार तत्त्व) ही विविध भावों का रूप लेता है, परन्तु तब भाव की सहृदय में उपस्थिति का खण्डन संभव नहीं है और तब पूर्वोपस्थित भाव (वासना) की व्यञ्जना कैसे अमान्य होगी?

इस विवाद से बचने के लिए भट्टनायक भाव का आस्वाद नहीं मानते। साधारणीकृत भाव-विभावादि से विशेष चित्तदशा उपलब्ध होती है जिसमें सत्त्वगुण का प्रकर्ष रहता है, अतः जो मानसिक विश्राम सुलभ होता है वही रसास्वाद है। अर्थात् भाव आस्वाद रूप नहीं लेता प्रत्युत भाव के सहकार से मिलनेवाली चैत्त-विश्राम की अवस्था

है और वह विश्राम ही आस्वाद है जिसके लिए भोजकत्व नामक काव्य-व्यापार उत्तरदायी है। यहाँ वे रसास्वाद को काव्योपस्थापित भाव से तदाकार न मानकर भाव को आस्वाद का कारण मानते हैं—भाव आस्वाद का निमित्त कारण है, उपादान नहीं। इस प्रकार वे निर्विकल्प चित्तदशा को रसास्वाद-दशा मानते हैं जिसमें किसी वासना का स्पर्श नहीं होता। इसका संकेत भट्टनायक तब देते हैं जब योगज प्रत्यय से काव्य-बोध की तुलना करते हुए रस को श्रेष्ठ ठहराते हैं।[५]

ध्वनि-सिद्धान्त इस सीमा तक रस को नहीं ले जाता। रस को भावरूप मानते हुए वह उसे सविकल्प प्रत्यय ही मानता है जो अतीन्द्रिय तत्त्व नहीं। व्यावहारिक ऐन्द्रिय प्रत्ययों से भिन्न होने पर भी वह वासना-वृत्ति से अछूता आस्वाद नहीं है—उसे अलौकिक इसीलिए कहा जाता है कि भाव-वासना व्यक्ति-परिवेश से मुक्त सामान्य रहती है। अव्यक्त वासना का आनन्दरूप में व्यक्त होना ही रसास्वाद है, अतः व्यक्त हुई भाव-वासना (या वासनात्मक भाव) ही रस है। व्यक्तित्व से मुक्त वासना की व्यञ्जना आनन्दरूप होती ही है, यह वासना का स्वभाव है, अतः रस की सुखात्मकता में कोई क्षति नहीं आती। भाव (वासना) दुःखात्मक हो या सुखात्मक, काव्य में उसका सुखात्मक उपभोग ही रहता है। इसका कारण है कि काव्य द्वारा व्यञ्जित भाव तन्मयतारूप होता है जिसमें स्व-पर का द्वैत तिरोहित रहता है।[६]

"सुख-दुःखात्मके भावे भावस्तद्भाव-भावनम्।"

का यही अर्थ है। नाट्यशास्त्र में स्थायी भाव को ही रस कहा भी गया है :

"एवमेते स्थायिनो भावा रस-संज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः।" (पृ० ३५५)

ध्वनिमत आस्वाद-दशा और रस-दशा में अन्तर नहीं करता जबकि भावनावादी दोनों में अन्तर मानकर चलता है। साधारणीकृत भाव ही भावनावादी का रस है परन्तु उसका आस्वाद चित्त की विश्रामदशा है। ध्वनिवादी के अनुसार भाव का व्यक्तरूप में स्फुरण ही रस है।

वेदान्तदर्शन :

वेदान्त के पदार्थ-विभाग को दो रूपों में देखा जा सकता है—(१) ज्ञान (ब्रह्म) और (२) अज्ञान (माया)। अज्ञान अथवा माया भावरूप तत्त्व है (अभावरूप नहीं), वह त्रिगुणात्मक एवम् अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय से तात्पर्य है कि न उसे सत् कह सकते हैं, न असत्—सुवर्ण से बना कुण्डल वस्तुतः सुवर्ण ही है फिर भी कुण्डल की प्रतीति होती है, कुण्डल को 'सत्' नहीं कह सकते क्योंकि वह वस्तुतः सुवर्ण है और 'असत्' भी कैसे कहें जबकि 'कुण्डल' का व्यवहार होता है। इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण शक्ति, जैसे, छोटा मेघ अनेक योजन दूर के सूर्य को ढक लेता है, (२) विक्षेप-शक्ति, जैसे, रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। माया से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेजस्, तेजस् से जल और जल से पृथ्वी नामक सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। इन्हीं सूक्ष्मभूतों के सात्त्विक भाग से अन्तःकरण उत्पन्न होता है। अन्तःकरण दो हैं—(१) निश्चयात्मक

बुद्धि और (२) संकल्प-विकल्पात्मक मन। वेदान्त में बुद्धि और चित्त एक ही हैं तथा मन और अहंकार में अन्तर नहीं है। ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति इस प्रकार है :

(१) आकाशतन्मात्र के सात्विक अंश से श्रोत्र
(२) वायुतन्मात्र के ,, त्वक्
(३) तेजस्तन्मात्र के ,, चक्षुः
(४) जलतन्मात्र के ,, रसना
(५) पृथ्वीतन्मात्र के ,, घ्राण

की उत्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है :

(१) आकाश के राजस भाग से वाक्
(२) वायु के ,, पाणि
(३) तेज के ,, पाद
(४) जल के ,, पायु
(५) पृथ्वी के ,, उपस्थ उत्पन्न होते हैं।

वायु शरीर में रहकर स्थानभेद से कार्यभेद लेता हुआ प्राण कहा जाता है जो पाँच प्रकार का है :

(१) नासिका-वर्ती आगे को चलनेवाला प्राण है।
(२) नीचे को चलनेवाला गुदवर्ती वायु अपान है।
(३) सम्पूर्ण शरीर में रक्तादि-संचार करनेवाला व्यान है।
(४) कण्ठगत ऊर्ध्वगतिशील वायु उदान है।
(५) अन्नादि पचानेवाला उदरस्थ वायु समान है।

ऊपर जिस तत्त्वविभाग का उल्लेख किया गया उससे तीन शरीर बनते हैं—(क) कारणशरीर, (ख) सूक्ष्म शरीर और (ग) स्थूल शरीर :

(क) माया के सूक्ष्म व्यापक रूप ते आवृत चैतन्य कारणशरीर है। यह चेतना की 'सुषुप्ति' दशा है। इसी से अन्य शरीरों की रचना होती है अतः कारणशरीर कहते हैं, और इसे आनन्दमय-कोश भी कहते हैं क्योंकि वहाँ विविधता का स्पर्श न रहने से आत्मा का आनन्दरूप ही रहता है, फिर भी चेतना आच्छादित रहती है, अतएव कोश भी कहते हैं।

(ख) इन्द्रिय, प्राण, मनस् और बुद्धि के समवाय को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसमें तीन कोश होते हैं :

(१) बुद्धियुक्त ज्ञानेन्द्रियों का विज्ञानमय कोश
(२) मनोयुक्त ज्ञानेन्द्रियों का मनोमय कोश
(३) प्राणसहित कर्मेन्द्रियों का प्राणमय कोश।

(ग) स्थूल महाभूतों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—से स्थूल शरीर बनता है जिसे अन्नमय कोश कहते हैं।

× × ×

उक्त विवेचन के आधार पर काव्य-बोध समझने के पूर्व बोधमात्र की वेदान्त-प्रणाली पर विचार आवश्यक है :

(१) वेदान्त में कारणशरीर तक बोध की व्याप्ति है। कारणशरीर में होनेवाला बोध आनन्द-घन होता है, उसमें दुःख का स्पर्श नहीं रहता। सामान्य प्रयोग में आनन्दमय कोश को भी अन्तःकरण कहा जा सकता है।

(२) स्थूल शरीर अपने समस्त नाड़ी-संस्थान के साथ उस प्रतिक्रिया में सहभागी रहता है जिसे बोध कहते हैं। स्थूल शरीर पर ही बल देकर चेतना का 'स्थूल-शरीराभिमानी' होना वेदान्त में मान्य है।

(३) मुख्यतः हमारे सभी प्रत्यय मनोमय और विज्ञानमय कोशों की सीमा में आते हैं जिनमें दो अन्तःकरणों और पाँच बाह्य करणों (इन्द्रियों) का योग रहता है। अन्तःकरण भी अन्तरिन्द्रिय हैं।

(४) कारणशरीर एक प्रकार की अचेतन (व्यावहारिक रूप में) दशा है, फिर भी वहाँ सूक्ष्म मायावृत्ति द्वारा आनन्द-प्रत्यय होता है। अतः माया भी अपने कार्य द्वारा अन्तरिन्द्रिय कही जा सकती है।

(५) प्रायः अन्तरिन्द्रियमात्र को मन या चित्त कहते हैं जिसकी व्याप्ति कारणशरीर से सूक्ष्मशरीर तक है।

(६) कोई प्रत्यय पूर्णतः एक ही कोश का नहीं होता, सभी का योग रहता है, मुख्यता की दृष्टि से किसी एक को कारण माना जाता है।

(७) चिदाभास (मायिक अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब) और अन्तःकरण दोनों इन्द्रिय के माध्यम से ज्ञेय वस्तु को व्याप्त कर तदाकार हो जाते हैं। फिर अन्तःकरण (बुद्धि) वस्तुविषयक अज्ञानावरण का भङ्ग करता और चिदाभास वस्तु के आकार में ज्ञानरूप से व्यक्त हो उठता है। यही वेदान्त में व्यावहारिक बोध की प्रणाली है।[७]

(८) आत्म-ज्ञान की अवस्था उक्त प्रणाली से भिन्न है क्योंकि चैतन्य ही ज्ञान है जिसे बाह्य-वस्तु-बोध नहीं कह सकते। अतः उस दशा में बुद्धि केवल अज्ञानावरण का भङ्ग कर देती है जिससे चित्प्रतिबिम्ब और चित् (आत्मतत्त्व) एक हो जाते हैं जो उसका स्वरूप है। यही मुक्तदशा है।

(९) वैज्ञानिक मान्यताओं का दो बातों में विरोध है। आत्मज्ञान से विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं बनता। दूसरे, चिदाभास जैसी किसी वस्तु को वैज्ञानिक परीक्षण में लाना अब तक असंभव है। शेष बातों को लें तो बोध की सूक्ष्म से स्थूल तक व्याप्ति सर्वमान्य है—केवल अन्तःकरण आदि के विभागों की बात वैमत्य की वस्तु नहीं क्योंकि चेतना चाहे भौतिक ही हो तो भी बोध के विविध स्तर मानने पड़ते हैं।

(१०) सभी प्रत्यय, चाहे अतिसूक्ष्म कारणशरीर के ही हों, भौतिकता (माया) से मुक्त नहीं होते। इस विषय में विज्ञान, मनोविज्ञान और वेदान्त एकमत हैं।

× × ×

वेदान्त की दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक बोध अव्यक्त का व्यक्त होना ही है। चेतना ज्ञानरूपा है, अज्ञान उसे आवृत कर अव्यक्त बनाता है और आवरण हटने पर ज्ञान स्वतः व्यक्त हो जाता है जो आन्तरिक अथवा बाह्य अर्थाकार लेकर प्रकट होता है। आन्तरिक बोध ही साहित्य की वस्तु है और वह वासनारूप से स्थित बौद्ध वस्तुओं का ही बौद्ध प्रत्यय है जो एक प्रकार से अव्यक्त वासना की व्यञ्जना ही है। इस प्रकार दो तथ्य सामने आते हैं :

(१) भाववासना की व्यञ्जना 'रस' है जबकि भावातिरिक्त वासनाएँ वस्तु या अलङ्कार रूप में व्यक्त होती हैं।

(२) व्यञ्जना व्यापक तत्त्व है जिसकी व्याप्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द सर्वत्र समान है क्योंकि अव्यक्त का व्यक्तीकरण ही व्यञ्जना है जो सर्वत्र देखी जाती है। साहित्य में शब्दगत व्यञ्जना का विचार किया जाता है अतः कह सकते हैं कि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य सभी अर्थ अव्यक्त से व्यक्त होते हैं और उस दशा में सबकी व्यञ्जना ही होती है। इस प्रकार व्यञ्जना ही एकमात्र शब्दशक्ति ठहरती है और तब अभिधा आदि को कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस तथ्य को सामने रखकर देखें तो निम्नलिखित विचार आते हैं :—

(क) व्यञ्जना मूल शब्दशक्ति है जो शब्द द्वारा अव्यक्त अर्थ को व्यक्त करती है।

(ख) वही व्यञ्जना साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है तो अभिधा कही जाती है।

(ग) संकेतित अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध करानेवाली व्यञ्जना ही लक्षणा कही जाती है।

(छ) उक्त दोनों क्षेत्रों से पृथक् बचा हुआ शब्दशक्ति का भाग शुद्ध व्यञ्जना है अतः काव्यशास्त्र में उसी को 'व्यञ्जना' नाम से व्यवहृत किया जाता है।

स्पष्ट है कि वेदान्त से ध्वनिमत का कोई विरोध नहीं है। इसीलिए पण्डितराज ने कहा है :

"व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।" और
"रत्याद्यवच्छिन्ना चिदेव रसः।"

शैवदर्शन :

ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना कश्मीर में उसी समय हुई जिस समय अद्वैतपरक शैवागम का प्रचार प्रबल हो चला था। अभिनवगुप्त के दादा-गुरु शैवाचार्य सोमानन्द और ध्वनिकार आनन्दवर्धन का समय एक है। भारतीय व्याकरण-दर्शन का चिन्तन भी आगे चलकर शैवागम से प्रभावित हुआ और कश्मीर में भी शैवागमीय आधार पर व्याकरण-चिन्तन प्रसृत हुआ। शब्दशक्तियों में व्यञ्जना की स्थापना स्फोटवादी दर्शन के

आधार पर हुई है, यह विचार किया जा चुका है और स्फोट-सिद्धान्त व्याकरण का वह सिद्धान्त है जो वाग्यन्त्रीय ध्वनियों को स्फोट-व्यञ्जक मानकर चलता है। स्फोट-वाद व्याकरण का अतिप्राचीन सिद्धान्त है जो शैवागम के आधार पर पुनर्व्याख्या पाने में समर्थ हुआ।

शैवदर्शन वेदान्त के मायावाद का विरोधी है। वह परमशिवतत्त्व को सर्वोपरि मानकर उससे अभिन्न शक्तितत्त्व को मानकर चलता है। उसकी दृष्टि में 'शिवतत्त्व' द्रव्यरूप है और 'शक्ति' क्रियारूप। दोनों अभिन्न हैं—एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं। न द्रव्य की कल्पना क्रिया के बिना संभव है और न क्रियातत्त्व द्रव्य के आश्रय के बिना रह सकता है। शक्ति इसीलिए स्पन्द रूप है और 'स्पन्द' से ही जगत् की सृष्टि होती है।

सृष्टि-प्रक्रिया पूर्ण से अपूर्ण की ओर, असीम से सीमा की ओर होती है, अतः शिवतत्त्व का 'संकोच' ही जगत् है। शैवदर्शन सृष्टिक्रम में मायावादी न होकर शक्ति-संकोच-वादी दर्शन है। शक्ति त्रिविध रूपों में देखी जाती है—'ज्ञानशक्ति', 'इच्छाशक्ति' और 'क्रियाशक्ति'। इन तीनों के आधार पर शिवतत्त्व त्रिरूप हो जाता है।

(१) ज्ञानशक्ति + शिव = सदाशिव
(२) इच्छाशक्ति + शिव = ईश्वर
(३) क्रियाशक्ति + शिव = शुद्धविद्या

वस्तुतः ये तीनों एक ही तत्त्व के कार्यभेद से नामान्तरमात्र हैं। इसीलिए इन तीनों को सृष्टिक्रम में 'शुद्धमार्ग' कहा जाता है। शिव-शक्ति और ये तीनों मिलकर पाँच आरम्भिक तत्त्व बनते हैं। इसके आगे की सृष्टि 'मिश्रमार्ग' कहलाती है जिसके सात रूप हैं :

(१) शिवतत्त्व का माया से संकुचित चेतन रूप 'अणु' (पुरुष या जीव) है।

(२) 'अणु' को संकुचित रूप देनेवाली 'माया' शक्ति का संकुचित रूप है जो अलगाव या प्रत्यय कराती है। वस्तुतः तत्त्वों को परिमित रूप में प्रतीत कराने की क्रियाशक्ति ही 'माया' है। यह एक प्रकार का 'कंचुक' या आवरण है जिससे आवृत चैतन्य व्यक्तिरूप में प्रतिष्ठा पाता है।

(३) अणुरूप में शिव के संकोच पाते ही पाँच कंचुक बन जाते हैं। ये कंचुक असीम का परिसीमन मात्र हैं। शिव सर्वज्ञ हैं, परन्तु 'अणु' अल्पज्ञ। सर्वज्ञता ही सीमित होकर 'अविद्या' (विद्या) कही जाती है।

(४) शिव की सर्वकर्तृत्वशक्ति संकुचित होकर 'कला' नामक कंचुक बनती है। यह जीव की सीमित क्रियाशक्ति ही है।

(५) शिवतत्त्व पूर्ण अहंता-रूप है, परन्तु वह अहंता संकुचित होकर 'राग' बनती है जो जीव की विषयों के प्रति आसक्ति का नाम है। इसी आसक्ति का दूसरा पक्ष ईर्ष्या है। इस प्रकार 'राग' के दो पहलू बनते हैं—जीव विषय को स्वयं पाने की आसक्ति अपनाता है और दूसरे के पाने में ईर्ष्या करता है; यही राग है।

(६) शिव की पूर्णत्व-शक्ति संकुचित होकर जीव के परिवेश में 'काल' कंचुक बनती है जिससे जीव देश-काल-सीमा में ही प्रत्ययों का अभ्यासी बनता है।

(७) शिव की व्यापकता शक्ति संकुचित रूप में 'नियति' कही जाती है जिससे अणु (जीव) के समस्त व्यापार नियन्त्रित रहते हैं, स्वतन्त्र नहीं रह जाते। जीव के संकल्पन को नियमित पूर्ति ही देनेवाली 'नियति' है।

उक्त पाँच अथवा मायासहित छह कंचुकों से संवृत 'अणु' जीव कहा जाता है और इस प्रकार व्यक्तित्व की सृष्टि होती है। इस व्यक्तित्व के निर्माण में चौबीस तत्त्व जुड़ते हैं और सृष्टिक्रम पूरा होता है। आगे के २४ तत्त्व 'मलिन अध्वा' (मलिन मार्ग) कहे जाते हैं :

(१) प्रकृति—माया का संकुचित रूप ही 'प्रकृति' है। इसमें तीन गुण—सत्त्व, रजस्, और तमस्, रहते हैं और उनकी साम्यावस्था ही प्रकृति का स्वरूप है। प्रकृति को ही 'चित्त' भी कहते हैं। यही 'अन्तःकरण-समष्टि' है। बुद्धि, अहंकार और मन के क्षेत्र के सभी प्रत्ययों का एक आधार यही है। इसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों ही शक्तियाँ सम-रूप (साम्यावस्था) में रहती हैं।[८]

(२) बुद्धि—सत्त्वगुणी ज्ञानशक्ति ही संकुचित रूप में जीवगत 'बुद्धि' अन्तः-करण बनती है जो निर्णयात्मक बोधों का कारण है।

(३) अहंकार—रजोगुणी इच्छाशक्ति संकुचित होकर 'अहंकार' नामक अन्तः-करण कही जाती है। इसका कार्य व्यक्तिसीमा में प्रत्ययों की स्वीकृति कराना है।

(४) मनस्—तमोगुणी क्रियाशक्ति संकुचित रूप में 'मन' है जो विविध संकल्प-विकल्प का कारण अन्तःकरण है।

उक्त चार अन्तःकरणों में अन्तिम तीन का स्वरूप-लाभ 'चित्त' में ही होता है जिसे प्रकृति कहते हैं। तीन अन्तःकरणों के प्रत्ययों में पार्थक्य रहता है जबकि चैत्त प्रत्यय समाहाररूप होता है जिसमें एक शमदशा रहती है। काव्यबोध का मनोदर्शन (या मनोविज्ञान) चित्त से सम्बद्ध है।

प्रकृति से ही शेष २० तत्त्वों की सृष्टि होती है—पाँच विषय, (१) शब्द, (२) रूप, (३) रस, (४) गन्ध और (५) स्पर्श। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, (१) शब्द-ग्राहक श्रोत्र, (२) रूपग्राहक चक्षुः, (३) रसग्राहक रसना, (४) गन्धग्राहक घ्राण और (५) स्पर्शग्राहक त्वक्। पाँच कर्मेन्द्रिय, (१) पाणि, (२) पाद, (३) पायु, (४) उपस्थ और (५) वाक्। पाँच महाभूत, (१) आकाश, (२) वायु, (३) तेजस्, (४) जल और (५) पृथ्वी।

काव्य-बोध के प्ररिप्रेक्ष्य से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि वह एक सम-रस प्रत्यय है जो मन, अहंकार और बुद्धि के विश्लिष्ट संकल्पन, वैयक्तिकता और निर्णय

से परे 'चित्त' का कार्य है। चित्तस्थित वासना राग-कञ्चुक से भले समन्वित रहे, पर गुणात्मक बोध न रहने से काव्य एक चैत्त प्रत्यय देने में समर्थ होता है, यही साधारणी-करण की दशा है। इसीलिए उसे यौगिक प्रत्यय से उपमित किया गया है। योग चित्त-वृत्ति-निरोध का नाम है। उक्त तीनों चित्त-वृत्तियों के निरुद्ध होने पर शुद्ध चैत्त प्रत्यय सुलभ होता है। रागतत्त्व भी काव्य-बोध में आसक्ति न रहकर पूर्ण अहंता का विशाल वृत्त पा लेता है, केवल वासना का घेरा बना रहता है जिससे एक प्रकार की जीवनमुक्ति उपलब्ध होती है।

× × ×

दार्शनिक विश्लेषण से काव्य-बोध का स्वरूप यही बनता है कि काव्य द्वारा मानस-पटल पर अव्यक्त वासना व्यक्त हो उठती है और यह कार्य शब्द की शक्ति का है। उस शब्द-शक्ति को 'व्यञ्जना' मानने पर आपत्ति उठ सकती है कि वाच्य और लक्ष्य अर्थ भी मन में अव्यक्त ही रहते हैं और शब्द से व्यक्त या प्रकट होते हैं। ऐसी स्थिति में अभिधा और लक्षणा भी व्यञ्जना के भीतर समा जाती हैं और सम्पूर्ण ध्वनि-शास्त्रीय विश्लेषण असंगत हो जाता है। ध्वनिवादी भी अभिधा और लक्षणा की सत्ता मानकर ही व्यञ्जना को उनके आधार पर टिकाता है। व्यञ्जना के सर्वग्रासी हो जाने पर वर्ग-विभाजन ही असंभव हो जाता है। इस समस्या का समाधान यही है कि शब्द अपने मूलरूप में चित्रात्मक अर्थ ही देता है और विशिष्ट संवेदन का व्यञ्जक होता है, अतः मूल शक्ति भी व्यञ्जना है जो शब्द द्वारा अज्ञात या अव्यक्त को ज्ञात या व्यक्त बनाती है। जब शब्द स्थिर अर्थ के साथ जुड़कर व्यवहार में चल पड़ता है तब रूढ़ अर्थ ही चल पड़ता है। उस दशा में शब्दशक्ति अभिधा कही जाती है। वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थान्तर का बोध कराने से शक्ति का लक्षणा नाम पड़ता है। इन दोनों के क्षेत्र से बाहर जो अनन्त प्रसार बचता है, वह 'व्यञ्जना' का वृत्त है। इस प्रकार 'व्यञ्जना' को एकाकी शक्ति मान लेने पर भी व्यावहारिक अन्तर से शक्ति-वैविध्य को मान्यता मिल जाती है। कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में व्यञ्जना को ही अभिधा के भीतर क्यों न लिया जाय। निश्चय ही नाममात्र का अन्तर रहेगा, कार्य-भेद से नामभेद तो करना ही पड़ता है, अन्यथा व्याकरण सभी शब्दों को सभी अर्थों का वाचक मानता है, केवल प्रसंग होना चाहिए (सति प्रसङ्गे सर्वे सर्वार्थवाचकाः)।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शब्द का वाच्य अर्थ जिन गुणों या कार्यों के आधार पर स्थित होता है, व्यञ्जना का क्षेत्र उनसे भिन्न है। उदाहरणार्थ 'शुष्क' शब्द का वाच्य अर्थ शोषण क्रिया से सम्बद्ध है—जिसका शोषण हो गया हो; परन्तु जब हम किसी व्यक्ति को 'शुष्क' कहते हैं तब स्नेह-हीनता के अतिशय का बोध होता है जो वाच्य की सीमा में नहीं आ सकता। अतः पारिभाषिक रूप में 'व्यञ्जना' का पृथक् अस्तित्व ध्वनिमत में स्थिर किया गया है।

सबसे अनूठी मान्यता, जो ध्वनि-सिद्धान्त को उत्कर्ष देती है, सहृदयगत वासना के व्यक्त होकर रसरूप लेने की है। आज के वैज्ञानिक युग में स्वगत वासना का ही

आस्वाद अधिक संगत प्रतीत होता है। आस्वाद भी मानस प्रत्यय का नाम है जो पूर्वोपस्थित वासना के बिना संभव नहीं। यह वासना दो प्रकार की हो सकती है :

(१) स्वानुभूत भाव की वासना :—यह प्राणी के जीवन की घटनाओं के प्रभाव से जनित वासना है। प्रेम, क्रोध आदि अनुभूत तत्त्व हैं जो काव्य द्वारा व्यक्तिनिरपेक्ष रूप में व्यक्त किये जाते हैं।

(२) परम्परागत भाव-वासना :—बहुत-सी वासनाएँ जन्मजात रहती हैं। बिल्ली और चूहे का सहज वैर ऐसे ही संस्कारों का उदाहरण है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान भी इसे अमान्य नहीं कर सकता। ये संस्कार अनुद्बुद्ध स्मृति के ही नाम हैं।

दोनों में से कोई भी वासना रसरूप में आस्वादनीय हो सकती है। परम्परा या आनुवंशिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता, भले ही पुनर्जन्म या पूर्वजन्म की पौराणिक बात अमान्य कर दी जाय। आनुवंशिकता भी एक प्रकार का पुनर्जन्म है। इन तथ्यों पर प्रकाश डालने हेतु वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(ख)

काव्य-बोध का वैज्ञानिक स्वरूप :

आज विज्ञान का दुन्दुभिनाद हमारे मन पर छाया हुआ है। हम वैज्ञानिक गवेषणाओं की सीमाएँ अमान्य करके मानव-जगत् का समस्त क्रिया-कलाप उसके द्वारा प्रमाणित देखना चाहते हैं। विज्ञान-वेत्ताओं में ऐसा अहंकार नहीं देखा जाता। वे अपने शोधों, आविष्कारों तथा साधनों की सीमा मानकर चलते हैं तथा उन तथ्यों से भी अपरिचित नहीं हैं जिनको व्याख्या देने में वे अब तक असमर्थ रहे हैं। मानवीय व्यवहारों के विश्लेषण में विज्ञान अपने को पूर्णतः समर्थ नहीं मानता—वह मानकर चलता है कि "प्रयोगों और परीक्षणों की पद्धति से मस्तिष्क-सम्बन्धी कार्यों को संगत व्याख्या देना कठिन रहा है जिसपर आश्चर्य न करना चाहिए क्योंकि मानव-मस्तिष्क वह क्षेत्र है जहाँ वास्तव परीक्षण असम्भव रहता है और जहाँ मानवीय अन्तःकरण के कार्य-कलापों को सम्बद्ध करके देखने का कार्य कठिन है। इसका कारण यह है कि मानव-मस्तिष्क और उसके मानस व्यापारों को सम्बद्ध करना नितान्त उलझा कार्य है।"[१]

१० दिसम्बर, १९६९ को डॉ० डेलबुक ने नोबेल पुरस्कार लेते समय विज्ञान की सीमाओं की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हुए कहा है कि "विज्ञान भले ही जीव-जगत्, जनन, विकास, लक्ष्योन्मुख प्रगति आदि का लेखा दे सका हो, पर उसके साथ एक विरोधाभास भी है—वह भौतिक जगत् को योजनाहीन मानता है। इससे हमारी समस्या को समाधान नहीं मिलता, हम भाषा को 'चेतना', 'मनस्', 'प्रत्यय या संवेदन', 'तर्क', 'विचार', 'सत्य' जैसे विश्वजनीन तत्त्वों से जोड़ने में असमर्थ रह जाते हैं।"

"भाषा क्या है ? बालक शब्द से अर्थ को कैसे सम्बद्ध करता है ? निश्चय ही हमारे मस्तिष्क की स्फटिक-शिला में भावों (वासनाओं) को रूपायित करने

की क्षमता है ।........यह सब अध्ययन आगामी दशक की 'न्यूरोबायलोजी' का विषय होगा ।"[१०]

उक्त वार्ताओं से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(१) मानव-मस्तिष्क का पूर्ण अध्ययन विज्ञान द्वारा अब तक अशक्य रहा है, आगे इस दिशा में कार्य होगा और उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए । वैज्ञानिक निष्कर्षों को संशय-हीन मानकर मनोजगत् के विषय में निर्णय न लेने चाहिए ।

(२) विज्ञान एक ओर तो लक्ष्य की दिशा में प्राकृतिक विकास की बात करता है और दूसरी ओर सम्पूर्ण विकास-प्रक्रिया को योजनाहीन मानता है, यह अन्तर्विरोध भी दूर होना चाहिए । स्पष्ट है कि विज्ञान का मनीषी धीरे-धीरे हेतुवादी दर्शन (Teleology) की ओर बढ़ रहा है ।

(३) हमारा मस्तिष्क ऐसी स्फटिक-शिला है जिसमें असंख्य संस्कारों और वासनाओं को संचित रखने और रूप देने की शक्ति है । काव्य के सन्दर्भ में कह सकते हैं कि कवि और सहृदय के प्रत्ययों का मूलाधार यही शक्ति है जो वासनाओं को रूपायित करती है ।

उक्त सीमाओं के रहते हुए भी विज्ञान-मनीषा चुप नहीं रह सकती । प्रयोगों और परीक्षणों के आधार पर उसने कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त किये हैं । कार्य की दृष्टि से विज्ञान में मानव-मस्तिष्क के तीन भाग किये जाते हैं :

(१) स्वयंचालित मस्तिष्क-भाग—यह मस्तिष्क का सुषुप्ति भाग है जो गम्भीर निद्रा के क्षण में भी श्वास-प्रश्वास, रक्त-चालन अदि समस्त नाड़ी-संस्थान की क्रिया का कारण है । इसे पुरातन भाग भी कहा जा सकता है । चेतना के विकास की यह प्रथम अवधि है । (इसको मनोविज्ञान के 'अचेतन' का पर्याय कह सकते हैं और वेदान्त की सुषुप्तिचेतना के स्थान पर वैज्ञानिक शब्द मान सकते हैं ।)

(२) मध्यम मस्तिष्क-भाग—यही अनुभवों का पटल है । (वेदान्त का यही सूक्ष्म शरीर या स्वप्नलोक है और मनोविज्ञान में अवचेतन या स्वप्न-स्तर कहा जायगा जो जाग्रत्काल में भी सक्रिय रहकर समस्त व्यवहारों का अधिष्ठान रहता है ।) विचार-विनिमय इसी भाग से होते हैं और यह स्वयंचालित भाग का नियामक भी है ।

(३) बाह्य मस्तिष्क-भाग—यह उच्चतम वैचारिक कार्यों, गतियों और संवेदनों का संचालक भाग है । (यही वेदान्त की जाग्रत् दशा और मनोविज्ञान का चेतन मनस् है ।)[११]

जीव-विकास के साथ प्रथम से द्वितीय और द्वितीय से तृतीय का क्रम-विकास माना जाता है । ये तीन भाग अत्यन्त स्थूल विभाजन द्वारा स्थिर किये गये हैं—वस्तुतः सूक्ष्मेक्षा-यन्त्र की सहायता से दिखने (या अतिसूक्ष्म होने से न दिखने) वाले असंख्य

मस्तिष्क-भाग हैं जो मानव-जीवन और उसके अन्तरङ्ग-व्यापार के संचालक हैं। इन सूक्ष्म विभागों की गणना नहीं की गयी है। मध्यभाग शेष दोनों भागों के कार्यों का केन्द्र है। सुविधा के लिए उसे 'चित्त' मान लिया जाय तो उक्त अहंपरक, बौद्ध तथा मानस व्यापारों का वही अधिष्ठान कहा जायगा। अब यह विचारणीय रहता है कि क्या अन्तः-करण की तीन वृत्तियों का शमन विज्ञान-सम्मत हो सकता है। विज्ञान में मस्तिष्क की रासायनिक क्रियाओं के नियन्त्रण की चर्चा बहुत आती है और उसके निमित्त अनेक औषधों का प्रयोग किया जाता है जिससे शमन संभव होता है।[१२] यह शमन (जिसे Tranquillisation कहा जाता है) जिन विधियों से होता है, उनमें कला के प्रभाव की गणना यद्यपि नहीं की गयी है, तथापि उसे भी मान्य किया जाय तो प्रश्न का उत्तर स्वतः मिल जाता है। आज का वैज्ञानिक यह निरन्तर समझने लगा है कि शमनकारक तत्त्व हमारे भीतर ही होना चाहिए और वही अनुशासन-केन्द्र होगा।[१३] वस्तुतः काव्य भी ऐसा ही तत्त्व है जो शमकेन्द्र को प्रभावित कर समरसता की स्थिति लाने में समर्थ होता है।

उक्त तीन मस्तिष्क-भागों में-से मध्यभाग ही समस्त संस्कारों का केन्द्र-स्थान है। ध्वनिमत जिस वासना की व्यञ्जना की बात करता है, वह वासना वहीं सुरक्षित रहती है और काव्य द्वारा उद्बुद्ध कर दी जाती है। इस दशा में 'शम' भी पूर्णता के साथ रह सकता है और तब शान्तरस की अनुभूति होगी; साथ ही, अन्य भाववासनाओं के, शम के आधार पर व्यक्त होने से अन्य रसात्मक संवेदन सुलभ होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि रसानुभूति में वैयक्तिकता का तिरोभाव कैसे होता है। शमनकारक रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा भी वैसा ही विचित्र प्रभाव मान्य है तब काव्य को यदि उन्हीं में परि-गणित कर लिया जाय तो उत्तर सरल हो जाता है। मनोरोगी को शम-कारक ओषधियाँ दी जाती हैं और उनसे तृतीय मस्तिष्क-भाग अप्रभावित रह सकता है, फिर भी द्वितीय भाग के उलझे संवेदनों एवं संवेगों को शान्त किया जा सकता है। दार्शनिक दृष्टि से मन की अशान्ति भी एक रोग है और काव्य द्वारा उसे शान्त कर शमदशा उपलब्ध करायी जाती है। विविध वैयक्तिक भावों की उलझन लीन कर एक समरस व्यापक चित्तदशा की उपलब्धि ही काव्य की देन है। भट्टनायक जब रजोगुण की चञ्चलता और तमोगुण की संवरणशीलता हटाने की बात कहते हैं तो उनका अभिप्राय दूसरे शब्दों में वही होता है।

विज्ञान में आत्मा का स्वरूप और रसात्मक आत्मानुभूति :

जब हम काव्य-बोध-सम्बन्धी किसी सिद्धान्त की चर्चा वैज्ञानिक वृत्त में करना चाहते हैं तो उसके दो कारण होते हैं—प्रथम यह कि विज्ञान का युग है और हम उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहते, दूसरा यह कि हमारा अज्ञान हमें विज्ञान-सीमाओं से अपरि-चित रखता है जिससे हम प्रत्येक विषय पर विज्ञान की मुहर चाहते हैं। कारयित्री प्रतिभा का अब तक कोई वैज्ञानिक परीक्षण संभव नहीं हुआ है; केवल अन्तर्दृष्टि के सहारे ही निर्णय किये जाते हैं, यह कष्टप्रद स्वीकृति वैज्ञानिकों की है जो प्रतिभा के परीक्षण में अपने को असमर्थ पाते हैं।[१४]

ध्वनिमत या वैसे अन्य मतों में जब काव्यानन्द को आत्म-विश्रान्ति दशा या उसके समकक्ष माना जाता है तब प्रश्न उठता है—आत्मा क्या है? यह प्रश्न दार्शनिक परि-

प्रेक्ष्य से देखा जा चुका है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभी आस्तिक दर्शन 'आत्मा' को भौतिक तत्त्वों से परे मानकर चले हैं जिनमें पश्चिम के विचारक भी आ जाते हैं। इन विचारकों ने आत्ममनोविज्ञान (Soul-psychology) प्रस्तुत किया है। सी० ए० कैम्पबेल जैसे मनीषी इसी वर्ग में आते हैं जिनका कहना है कि आत्मा की सत्ता में भ्रम न करना चाहिए, जिसे 'मैं' कहा जाता है और वह अपनी सत्ता मानकर ही जागतिक कार्यों में प्रवृत्त होता है। वह अपेक्षाकृत स्थायी तत्त्व है जो अनुभव, विचार, व्यवहार आदि करता है और वह अपने बारे में भी सोचता है। आत्मा, चेतन या 'मैं' ही है जो अतीत व्यवहारों का स्मरण करता है जिससे क्षणिक भौतिक आकार में उसकी स्थिर सत्ता सिद्ध होती है।[१५]

सबसे बड़ी समस्या निरन्तरता की है। चेतना की निरन्तरता का क्षणभङ्गुर भौतिक आकारों में वैज्ञानिक (भौतिक) रूप दे पाना असंभव प्रतीत होता है। आत्मा को बाह्य व्यक्ति से अभिन्न नहीं मान सकते क्योंकि 'आत्मा कार्य-रत हो सकता है जबकि व्यक्तित्व व्यापार में अतत्पर दिख सकता है परन्तु व्यक्तित्व कोई कार्य नहीं कर सकता यदि आत्मा सक्रिय न हो।'[१६]

उक्त मान्यताओं का विरोध करते हुए वैज्ञानिक की स्थापना है कि आत्मा एक समवाय (Datum) है, कोई पृथक् तत्त्व नहीं; वह चेतन अनुभवों का जटिल एकीभाव है। आत्मा एकीभूत प्रत्यक्षणों, स्मृतियों, प्रत्ययों, संवेगों, इच्छाओं, संकल्पों तथा विविध स्थितियों—प्रत्यक्ष अभिमूर्तन, विचार, स्नेह, द्वेष, आशा, इच्छा आदि—का समवाय है। वह इन सबमें पृथक् से सत्ताधारी तत्त्व नहीं है। यह अनुभवकर्ता आत्मा परिवर्तनशील पर स्व-चेतन प्राणी है। इससे भिन्न कोई प्रायोगिक प्रमाण आत्मा का नहीं है। विविध अनुभवों से भिन्न आत्मसत्ता को वैज्ञानिक अमान्य करता है।[१७]

कैम्पबेल जिस आत्मा की बात करते हैं वह वेदान्त को भी मान्य है। विज्ञान का परिवर्तनशील आत्मा वेदान्त की मान्यता में नहीं आता, फिर भी विज्ञान आत्मा को बोधरूप मानने को विवश है। वेदान्त भी उसे ज्ञानरूप बताता है और भौतिक रूपों में भी उसी का प्रसार मानता है।

इस विवाद में न पड़कर विज्ञान-सम्मत आत्मा को ही लें तो भी उसके दो रूप मानने होंगे—एक वह जो 'मैं' रूप में सचेतन है और दूसरा क्षणिक प्रत्ययों में बँटा हुआ सखण्ड रूप। सखण्ड प्रत्ययों का एकीभूत रूप ही 'मैं' है जो अखण्डरूप में अपने को मान चलता है और यह अखण्डता की प्रतीति भी बड़ी विलक्षण है, भले ही मनुष्य को व्यक्तित्व-विकास के साथ-साथ वह अर्जित रूप में मिलती हो। संक्षेप में, विकसित व्यक्तित्व ही 'आत्मा' है। इसको तीन प्रकारों में देखा जा सकता है जिनमें दो प्रकार वैज्ञानिक हैं :

(क) आत्मा अपने से बाह्य विषयों के प्रति सचेतन होता है—वह सूँघता, देखता तथा अन्य विषयों का भोग या बोध प्राप्त करता है।

(ख) आत्मा स्व-चेतन भी है। वह अपनी सत्ता का भी बोध करता है, जैसा ऊपर देखा जा चुका है। और

(ग) द्वितीय के अन्तर्गत ही आत्मा की एक वह अचेतन–स्वचेतन अवस्था भी मान्य होगी क्योंकि गम्भीर निद्रा में उसके दोनों प्रकार तिरोहित रहते हैं—न वह विषय-चेतन होता है और न ही पूर्णतः स्वचेतन। फिर भी निरन्तरता बनी रहती है। वहाँ आत्मबोध की सत्ता मान्य होगी या नहीं? मान्य करने पर एक अचेतन बोधदशा भी माननी होगी और अमान्य करें तो निरन्तरता विच्छिन्न होती है जो आत्मा के स्वरूप का सर्वस्व है। आत्मा की यह तीसरी अवस्था महत्त्व की है जिसमें वह सत्ता-मात्र की स्थिति रखता है जहाँ खण्डित विषय-बोध या स्व-बोध, दोनों का अभाव है। वस्तुतः जब आत्मा स्वबोध की स्थिति में होता है तब भी सापेक्ष अखण्डता ही उसे मिलती है क्योंकि तब भी वह विषयों या वस्तुओं की अपेक्षा में अपने को अलग सत्तावान् मानता है अतः उन विषयों या वस्तुओं के सन्दर्भ में उसका अखण्ड रूप ही बोधगम्य होता है—विज्ञान इसी को आत्मबोध (Self-experience) मानकर चलता है।[१८]

निरपेक्ष-बोध की अखण्ड अनुभूति (आत्मसत्ता) का स्वरूप ही यह है कि उसमें किसी की अपेक्षा से बोध नहीं होता—यह बात जितनी दार्शनिक है, उतनी ही वैज्ञानिक भी क्योंकि निरन्तरता वहाँ भी मान्य है। परिवर्तन में भी निरन्तरता अमान्य नहीं हो सकती क्योंकि मूल-प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं की आत्मगत एकता व्यक्तित्व की निरन्तरता प्रमाणित करती है। इस निरन्तरता या अखण्डता को वैज्ञानिक प्रत्यय–धारा की अन्तर्बद्धता के आधार पर स्वीकृत करता है—अर्थात् प्रत्ययों में परस्पर व्यवस्था-प्रतिबद्धता रहती है अतः अखण्डता बनी रहती है।[२०] इस प्रकार आत्मा परिवर्तमान निरन्तरता-रूप हो तो भी एक विलक्षण बोध-समवाय कहा जायगा को प्रयोजनों के लिए संघर्ष करता है, अपनी पूर्णता के लिए तुष्टि की खोज करता है, क्षणिक क्रियाओं और प्रत्ययों के प्रकाश में प्रतिक्षण अपनी सत्ता बनाए रहता है और अपने तथा वातावरण के प्रति जागरूक रहता है।[२१]

क्या गम्भीरतम निद्रा (सुषुप्ति) में भी प्रत्ययों की उक्त (वैज्ञानिक) प्रतिबद्धता अविच्छिन्न रहती है? कहना न होगा कि सुषुप्ति में भी सूक्ष्म बोध-दशा वेदान्त को मान्य है और वही वैज्ञानिक भी मानने को विवश है—अर्थात् सुषुप्ति-दशा भी स्व-चेतन-दशा ही है जिसमें बाह्य विषयों का चेतन बोध नहीं रहता। एक बड़े वैज्ञानिक इरविन स्क्रोडिंजर ने वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मा का स्वरूप बताया है :

> "मैं सोचता हूँ, वह मैं—'मैं' शब्द के विस्तृततम अर्थ में—'मैं' हूँ। अर्थात् प्रत्येक चेतन चित्त जिसने कभी कुछ कहा या अनुभव किया है, वह मैं हूँ। मैं व्यक्ति हूँ, यदि कुछ हूँ जो प्रकृति के विधान के अनुसार समस्त परमाणुओं की गति का नियन्त्रण करता है।"[२२]

यहाँ पहुँचकर वह विद्वान् वेदान्त-मनीषी बन जाता है। उसे जगत् के रहस्य-वादियों का स्मरण आता है और भारतीय दर्शन तथा उपनिषद् को सामने रखकर सोचने लगता है। तब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आत्मा अधिष्ठान-तत्त्व है जिसपर ही समस्त प्राकृत वैभव की प्रतिष्ठा है :

> "आत्मा अनुभवों और स्मृतियों का एकाकी पुञ्जमात्र नहीं है, कुछ अधिक है; वह ऐसा पटल है जिसपर वे सब पुञ्जित होते हैं। और तब सूक्ष्म निरीक्षण से आप पायेंगे कि 'मैं' से जो कुछ समझते हैं, वह आधार-तत्त्व है जिसपर उक्त अनुभव आदि इकट्ठा होते हैं।"[२३]

× × ×

कुल मिलाकर हम ध्वनिमत के रसास्वाद पर पहुँचते हैं जिसे अखण्ड आत्मानन्दरूप कहा गया है। आत्मा को अनुभवों का पुञ्जमात्र मान लें तो भी कोई हानि नहीं। इस अनुभव-पुञ्ज का एक अनुभव यह भी है कि वह बाह्य संवेद्यों से विरत होकर अपने अखण्ड रूप में संवेदन कर चलता है जो उसका आत्म-संवेदन है, जिसमें काव्य-सामग्री से बाहर कुछ भी संवेदनीय नहीं है और काव्य-सामग्री से भी उसकी वासना ही व्यक्त होती है जिसे वह निरपेक्ष भाव से संवेदनीय बनाकर आनन्दलीन होता है। वैज्ञानिक प्रणाली से इस संवेदन के तत्त्वों पर इस प्रकार विचार किया जा सकता है :

(क) रस वासना का प्रत्यय है।

(ख) वासना बाह्य विषयों से सम्बद्ध होकर भी मस्तिष्क में एक छाप बनकर विद्यमान रहती है।

(ग) आत्मा असंख्य प्रत्ययों का निरन्तर प्रवाह है जो एकीभूत रूप में चेतन व्यक्ति कहा जाता है।

(घ) उस आत्मा की एक स्वचेतन-दशा यह भी है जब वह केवल वासना का प्रत्यय करता है।

(ङ) इस वासना-प्रत्यय में आत्मा विषय-चेतन न रहकर स्वचेतन हो जाता है जिसमें वासना-प्रत्यय का योग रहता है।

(च) काव्य की शक्ति से आत्मा को वह अनुभूति मिलती है।

यहाँ हम रसनिष्पत्ति के मतों की चर्चा कर सकते हैं। ध्वनिमत के अतिरिक्त जो भी मत हैं वे 'वासना' को अमान्य करते हैं। विज्ञान-सम्मत 'रस' का कोई रूप बिना वासना के असंभव है क्योंकि विषयों के अनुभवों की वासनात्मक निरन्तरता को छोड़कर कोई आत्मा अमान्य है। असंख्य प्रत्ययों की वासना ही निरन्तरता (Continuity) का निर्धारक विज्ञान को अभिमत हो सकता है और वह वासना मस्तिष्क पर पड़ी हुई वैषयिक छाप है। वासना ऐहिक भी हो सकती है और परम्परागत भी, जैसा देखा गया है और मनोविज्ञान के सन्दर्भ में देखा जायगा।

व्यञ्जना-शक्ति और वैज्ञानिक प्रतीक :

देखा गया कि ध्वनिमत का वासना-सिद्धान्त रूपान्तर से विज्ञान को भी चेतना की निरन्तरता के लिए मान्य है और उसी वासना को काव्य व्यक्त करता है तो काव्यानन्द का आस्वाद कहा जाता है। ध्वनिशास्त्र काव्य में व्यञ्जनाशक्ति की सत्ता मानता है जो वासना को व्यक्त करती है। क्या इस प्रकार की किसी शक्ति को वैज्ञानिक समर्थन दिया जा सकता है ? यहाँ हमें वैज्ञानिक प्रतीकों का स्वरूप समझ लेना चाहिए। विज्ञान में प्रायः तीन प्रकार के प्रतीक चलते हैं :

(क) वाचक शब्द का सुविधानुसार संक्षिप्त रूप कर लिया जाता है। इस वर्ग के प्रतीक मूल शब्द का बोध कराते और तब उस माध्यम से मुख्य अर्थ देते हैं।

(ख) मूल शब्द का आदि अक्षर लेकर भी प्रतीक बनाये जाते हैं—जैसे, 'हाइड्रोजन' के लिए 'ह'। ऐसे प्रतीक भी मुख्य शब्द के बोधक होकर ही मुख्य अर्थ देते हैं।

(ग) तीसरे प्रकार के प्रतीक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जो अर्थविशेष के लिए चुने जाते हैं पर उनका कोई प्रचलित अर्थ नहीं होता। क, ग, च, ह कुछ भी प्रतीक किसी अर्थ के लिए निर्धारित हो सकता है। ये प्रतीक यदि अपने-आपमें कोई अर्थ रखते हैं तो इतना ही कि अ का अक्षरात्मक रूप ही अ का अर्थ है, परन्तु वे जिस अर्थ के लिए निर्धारित किये जाते हैं, वह उनका अर्थ हो जाता है।

उक्त सभी प्रतीक वैज्ञानिक के लिए ही सार्थक होते हैं, अवैज्ञानिक जन उन्हें अक्षरमात्र मानते हैं। स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रतीक भी निर्धारित अर्थ के व्यञ्जक होते हैं, उनका व्यञ्जित (Suggested) अर्थ ही होता है, वाच्य अर्थ नहीं होता।

ध्वनि-सिद्धान्त का व्यञ्जक शब्द एक प्रकार का प्रतीक है जो साधारण जन के लिए केवल वाच्य अर्थ देता है पर सहृदय के लिए अर्थ-विशेष की व्यञ्जना कर चलता है। वैज्ञानिक प्रतीकों से ध्वनि-प्रतीक इस बात में भिन्न हैं कि विज्ञान के प्रतीक अपने आपमें निरर्थक होते हैं। विज्ञान के परिवेश में शब्दशक्तियों को विवेचित किया जाय तो व्यञ्जना (Suggestivity) को स्वतः स्थान मिल जाता है।

(ग)

ध्वनि-सिद्धान्त और मनोविज्ञान :

"कला का वही पक्ष मनोवैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में आ सकता है जो कलात्मक रूपायन से सम्बन्ध रखता है, कला का वह पक्ष जो कला की अनिवार्य प्रकृति का निर्माण करता है, मनोविज्ञान के क्षेत्र से बहिर्भूत है।"[२४] कार्ल युङ्ग की यह उक्ति न केवल काव्य-सिद्धान्तों को मनोविज्ञान से स्वतन्त्र मानती है, अपितु अनुचित मनोवैज्ञानिक हस्तक्षेपों और दावों को रोकती है। जब फ्रायड कहता है कि काव्य का वास्तविक आनन्द हमारे

मानसिक तनाव के दूर होने से मिलता है, तो वह ध्वनि-सिद्धान्त और भट्टनायक के रसास्वाद के बहुत निकट आ जाता है।

फ्रायड तीन प्रकार के तादात्म्य मानकर चलता है—(क) विषय के साथ संवेगात्मक सम्बन्ध, (ख) ऊर्जात्मक विषय-सम्बन्ध का स्थानापन्न सम्बन्ध और (ग) विषय के सामान्य गुण द्वारा नवीन अनुभूति देनेवाला सम्बन्ध। इनमें से तीसरे प्रकार का तादात्म्य कलात्मक बोध की वस्तु है जिसमें प्रतीकों का महत्त्व है।[२५] इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के बहुत-कुछ निकट आकर मनोविज्ञान में चिन्तन हुआ है जिसपर प्रकाश डालना अपेक्षित है :

मनोविज्ञान में व्यञ्जकत्वशक्ति के तत्त्व :

व्यञ्जकत्वशक्ति अथवा व्यञ्जना शब्द की ही शक्ति नहीं है, उसकी व्याप्ति विविध चेष्टाओं, स्वरों, बलाघातों आदि तक रहती है, यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है। एक विचित्र बात है कि मनोविज्ञान में 'सजेशन्' नाम से उसकी व्याप्ति का परिशीलन किया जाता है। इसका हिन्दी में 'संकेत' और 'संसूचन' नामों से अनुवाद किया गया है। यह एक प्रकार का 'सम्मोहन' है। सम्मोहनकर्ता के कथन से आश्चर्यजनक सम्मोहन होता है कि दर्शकवृन्द उसके आदेशानुसार अकारण क्रियाएँ कर चलता है। मनोवैज्ञानिकों ने उसको इस प्रकार परिभाषित किया है :

(१) मैकडूगल के अनुसार संसूचन (व्यञ्जना) आदान-प्रदान की वह प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप प्रसारित संदेश विश्वस्त रूप में गृहीत होता है, यद्यपि उसकी ग्राह्यता में पर्याप्त तर्कसंगति नहीं होती।[२६]

(२) के० युङ्ग के अनुसार शब्दों, चित्रों या चिह्नों की स्वीकृति के माध्यम से प्रतीकात्मक सन्देशवहन ही संसूचन (व्यञ्जना) है जिसको मानने का कोई स्वयंसिद्ध या तर्कानुगत आधार नहीं होता।[२७]

(३) थाउलस के अनुसार संसूचन शब्द सामान्यतया उस प्रक्रिया का बोधक है जिससे विचारों की किसी व्यवस्था को एक व्यक्ति से दूसरे में संक्रान्त किया जाता है और जिसमें तर्कानुगति का अभाव रहता है।[२८]

उक्त परिभाषाओं को मनोविज्ञान के परिवेश से साहित्य-समीक्षा के परिवेश में लाया जाय तो संसूचन के स्थान पर 'व्यञ्जना' का प्रयोग किया जा सकता है और उससे निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :

(क) व्यञ्जना तर्क-हीन अर्थ की वाहिका शक्ति है। यह मान्यता अनुमानवाद के विरुद्ध जाती है, जैसा ध्वनिमत में मान्य रहा है।

(ख) किसी भी प्रतीक से व्यञ्जना हो सकती है—शब्द, चित्र, चेष्टा आदि। ध्वनिमत में उसे शब्दशक्ति के रूप में लिया गया है।

(ग) व्यञ्जना एक मानसिक प्रक्रिया है जो काव्य-क्षेत्र में काव्य के शब्दों और अर्थों की व्यवस्था द्वारा रसिक के मानस में उद्बुद्ध की जाती है।

(घ) व्यङ्ग्य अर्थ को हम प्रमाण-निरपेक्ष होकर मान लेते हैं और मानस अनुभूति प्राप्त करते हैं ।

(ङ) मनोविज्ञान का 'संसूचन' यद्यपि पूर्णतया व्यञ्जना नामक शब्दशक्ति का ही वाचक नहीं है तथापि फलगत साम्य के आधार पर उसका एकत्व मान्य हो जाता है । संसूचन के भेदों पर विचार करें तो प्रस्तुत मान्यता को पुष्ट आधार मिल जाता है । वे भेद इस प्रकार हैं[२१] :

(१) भावात्मक संसूचन (Ideo-Motor Suggestion)—इसमें विचार उठते ही क्रिया हो चलती है, हमें सोचने-विचारने का अवसर नहीं मिलता—मस्तिष्क अचेतन रूप में अर्थ ग्रहण करता है ।

यही काव्य की वह व्यञ्जना है जो रसध्वनि का कारण है, जिसमें वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों का अन्तर शून्य प्रतीत होता है ।

(२) प्रतिष्ठा-संसूचन (Prestige Suggestion)—दूसरे की प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा का प्रभाव इस संसूचन के क्षेत्र में आता है । काव्य की प्रतिष्ठा से प्रभावित सहृदय ही काव्य-बोध के पात्र होते हैं, अतः यह भी काव्य-शक्ति (व्यञ्जना) के रूप में मान्य हो जाता है ।

(३) आत्म-संसूचन (Autc-suggestion)—इसका सम्बन्ध चरित्रनिर्माण से है जिसका उत्तरदायित्व व्यक्ति पर जाता है । काव्य द्वारा नैतिक तथ्यों की व्यञ्जनाएँ इस वर्ग में मान्य हो सकती हैं ।

(४) समूह-संसूचन (Mass-suggestion)—समूह में लोग एक-सा आचरण करने लगते हैं । व्यक्ति की वैयक्तिकता समाप्त हो जाती है । यह सामाजिक मनोविज्ञान से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण तथ्य है । काव्य द्वारा व्यक्तित्व का साधारणीकरण इस वर्ग में आता है ।

ऊपर कतिपय संसूचनों पर विचार करते हुए देखा गया कि मनोविज्ञान के संसूचन एक प्रकार के सम्मोहन का कार्य करते हैं जबकि काव्य अपनी व्यञ्जना द्वारा सहृदय के मानस-पटल पर कुछ भिन्न प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है जिसमें सम्मोहन का अंश भी विद्यमान रहता है, परन्तु वह मानसिक समरसता लानेवाला सम्मोहन है । मनोविज्ञान के चिन्तन और काव्य-चिन्तन की धाराओं में दृष्टिकोण का अन्तर है, फिर भी मूलतः व्यञ्जकत्व से संसूचन को एक मानने में कोई तात्त्विक आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती । मनोविज्ञान का संसूचन मन पर पड़नेवाले प्रभाव को महत्त्व देता है पर ध्वनि-सिद्धान्त उसे काव्यशक्ति मानकर चलता है, यह अन्तर महत्त्वपूर्ण है ।

विविध मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय :

भौतिक विज्ञान के समान मनोविज्ञान में एकरूपता नहीं है । मनस्तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि उसे व्याख्या देने की सर्वमान्य प्रणाली का अनुसन्धान अब तक असंभव रहा है । इस तथ्य को आधार मानकर सोचा जाय तो काव्य-विषयक मानस पक्ष का रहस्य मनोविज्ञान में भी रहस्य ही बना रह जाता है । फिर भी मनोविज्ञान के मुख्य सम्प्रदायों के परिवेश में उसे व्याख्या देने का प्रयास किया जा रहा है ।

(१) **संरचनावाद** (Structuralism) :

यह सम्प्रदाय मानस की और चेतना की रचना पर मुख्य रूप से विचार करता है। वह यह मानकर चलता है कि मानसिक क्रियाओं में एक आनुक्रमिक निरन्तरता रहती है। अनुभवों का आधार सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान है, पृथक् रूप में किसी मन या चेतना की सत्ता नहीं है। जीवन भर की स्नायविक प्रतिक्रियाओं का समुदाय ही 'मन' है और समय-विशेष की प्रतिक्रियाएँ 'चेतना' कही जाती हैं। अनुभव की प्रत्येक इकाई मानसिक तत्त्व है जिससे 'मनस्' की संरचना होती है। ये तत्त्व हैं—संवेदन (प्रत्यक्षीकरण), भावना जो संवेगों का आधार है, और प्रतिभा (अर्थात् स्मृति या कल्पना के अभिमूर्तन का आधारभूत तत्त्व)।

संरचनावादी ध्यान और अन्तर्दर्शन पर विशेष बल देता है। ध्यान वह तत्त्व है जिससे किसी विषय के प्रति एकाग्रता उपलब्ध होती है। अन्तर्दर्शन भी एक वैज्ञानिक तथ्य है—व्यक्तिविशेष का जो अनुभव होता है, उसका साक्षी वह स्वयं होता है, अपने सूक्ष्म निरीक्षण से वह अपने अनुभव को व्याख्या दे सकता है या व्याख्या देने में सहायक हो सकता है।

काव्य-बोध का सम्बन्ध जहाँ एक ओर एकाग्रता की मनोदशा से है वहीं अन्तर्दर्शन से भी। अतः मनोविज्ञान ध्वनिमत के चिन्तन का पूरक ही हो सकता है क्योंकि ध्वनिसिद्धान्त मनस्तत्त्व को लेकर पूर्वग्रह नहीं लादता, वह तो मानस-पटल पर अभिव्यक्त उस तत्त्व की व्याख्या करता है जो काव्यशक्ति से संभूत है। इस विषय में संरचनावादी भी सब-का-सब वही कह सकता है जो ध्वनिवादी कहता है। वाक्यपदीयकार का कथन है :—

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥

अर्थात् काव्य-तथ्य शब्दों में रूप लेते (अभिमूर्तित होते), बुद्धि में प्रतिफलित होते और कर्ता को प्रत्यक्षवत् भासित होते हैं। स्पष्ट ही भावना और प्रतिमा के साथ एकाग्रता और अन्तर्दर्शन की ही यह व्यवस्था है जो संरचनावाद के विरुद्ध नहीं है।

× × ×

(२) **प्रकार्यवाद** (Functionalism) :

यह सम्प्रदाय मन और शरीर का अविभाज्य सम्बन्ध मानता है और साथ ही मानसिक क्रियाओं में निरन्तरता स्वीकार करता है। ग्रहण, निश्चय, धारणा, संघटन, अनुभवों का मूल्याङ्कन और आचरणों का निर्देशन, ये सभी मानसिक क्रियाओं से सम्बद्ध हैं। मन और शरीर को पृथक् तत्त्व न मानना प्रकार्यवाद की महती उपलब्धि मानी जाती है। मनोदर्शन के विवेचन में देखा जा चुका है कि मन कोई अभौतिक तत्त्व नहीं है। शरीर और मन एक कारण से उत्पन्न दो कार्य हैं अतः दोनों में साथ-साथ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इस सम्प्रदाय से हम साहित्य के दो तथ्यों की भली भाँति व्याख्या

कर सकते हैं—(क) सात्त्विक भाव, जो कायिक चेष्टाओं के रूप में उभरते हैं, मनोव्यापार भी हैं, अतः उन्हें भाव मानने में कोई आपत्ति नहीं । (ख) निद्रा, धृति आदि, जो संवेगात्मक नहीं हैं, भी भाव कहे जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक काय-मानसिक चेष्टा किसी-न-किसी रूप में भावात्मक है । मानसिक क्रिया में निरन्तरता का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है—हम किसी भी अवस्था में मनोव्यापार को शून्य नहीं मान सकते ।

ध्वनिवादी जब रसानुभूति की मन और शरीर दोनों में व्याप्ति बताता है तो प्रकार्यवाद से उसे समर्थन ही मिलता है क्योंकि कोई क्रिया शरीर-निरपेक्ष शुद्ध मानसिक नहीं होती । रसास्वाद ऐसा अनुभव है जिसमें दोनों का योग एकाग्रभाव से रहता है ।

× × ×

(३) **व्यवहारवाद** (Behaviourism) :

यह सम्प्रदाय शारीरिक व्यवहारों के रूप में ही मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है । वाट्सन् जैसे विचारक मन की कोई सत्ता ही मान्य नहीं करते । इन्द्रिय भी शरीरावयव मात्र है और मानसिक कही जानेवाली प्रत्येक क्रिया ऐन्द्रिय होने से कायिक ही है । यह सम्प्रदाय शुद्ध वस्तुवादी है जो आत्म-निष्ठ अन्तर्दर्शन का विरोध करता है । आज व्यवहारवाद का महत्त्व व्यावहारिक अध्ययन (प्रयोगात्मक परीक्षण) तक सीमित है । उसे समग्र रूप में मान्य नहीं किया जाता ।

"एक विज्ञान के नाते मनोविज्ञान को अधिक-से-अधिक वस्तु-विषयक विधियाँ और प्रत्यय-प्रयोग करने चाहिए । परन्तु........अनुभव का एक आत्मगत पहलू भी है और इस पहलू को छोड़ देने पर स्वयं व्यवहारवादी अपनी बात नहीं समझ सकता ।.... वस्तुविषयक विधियों का मनोविज्ञान में अपना महत्त्व है, परन्तु इससे अन्तर्दर्शनविधि का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता । आज इस बात को सभी मनोवैज्ञानिक समझते हैं कि कम-से-कम व्यवहार के कुछ थोड़े से पहलू अवश्य हैं, जिनमें अन्तर्दर्शन का प्रयोग आवश्यक है ।" (मनोविज्ञान के आधार, पृ० ६९४) ।

व्यवहारवादी सम्प्रदाय को मानकर चलें तो काव्य-बोध की प्रणाली में संसूचनजनित सम्मोहन को सर्वोपरि महत्त्व देना होगा । काव्य द्वारा व्यञ्जित या संसूचित अर्थ की प्रतिक्रिया के रूप में सहृदय में रासायनिक परिवर्तन घटित होता है और वह एक प्रकार के सम्मोहन में पड़ जाता है । ऐसी ही बात प्लेटो भी मानते हैं जब वे सहृदय की दुर्बलता को काव्य-बोध का कारण बताते हैं ।[३०] भारतीय मत भी इसकी पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सका है । पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में एक ऐसी मान्यता का उल्लेख किया है जिसमें रसानुभूति का कारण एक प्रकार के दोष को माना गया है । सहृदय की विशेष प्रकार की भावना एक प्रकार का दोष है जो सहृदयता-वश उल्लसित हो उठता है और एक भ्रान्त अनुभूति देता है । ऐसा काव्य के व्यञ्जना-व्यापार से घटित होता है ।[३१]

यद्यपि प्लेटो और पण्डितराज का दार्शनिक आधार एक नहीं है और दोनों का दृष्टिकोण आधुनिक मनोविज्ञान के व्यवहारवाद से पूर्णतः मेल में नहीं लाया जा सकता, तथापि व्यवहारवाद के अनुसार काव्यबोध को ऐसा ही कुछ समझा जा सकता है ।

× × ×

(४) साहचर्यवाद (Associationism) :

यह सम्प्रदाय प्राचीन और अर्वाचीन दो वर्गों में विभक्त है। साहचर्य या संवेदनीय तथ्यों के आभ्यासिक सहभाव से मानसिक क्रियाएँ घटित होती हैं, यह इस सम्प्रदाय की मूल मान्यता है। टामस ब्राउन साहचर्य को संसूचन (Suggestion) नाम देते हैं जिसके अन्तर्गत मानसिक क्रियाओं के साथ-साथ विषयों के सम्बन्ध भी आ जाते हैं। जान स्टुअर्ट मिल ने मानसिक रसायन (Mental Chemistry) का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि 'मानसिक रसायन वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न संवेदनों तथा प्रत्ययों से मिलकर जो विचार विकसित होते हैं, वे इस सीमा तक नवीन रूप धारण कर लेते हैं कि उनके तत्त्वों के विषय में कुछ कहना असंभव हो जाता है।'[३२]

उक्त मानसिक-रसायन-सिद्धान्त के अनुसार काव्य-बोध भी वैसी ही विलक्षण मनोरासायनिक प्रक्रिया है जो नवीन रूप धारण कर अनिर्वचनीय हो उठती है कि उसे व्यावहारिक प्रत्यय से एक करके नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक बोध दूसरे से भिन्नता रखता है, तो काव्य-बोध सभी लौकिक प्रत्ययों से भिन्न हो सकता है, इसमें साहचर्यवाद को कोई विरोध न होना चाहिए।

साहचर्यवाद की नवीन धारा को 'मनोभौतिकी' भी कहा जाता है। जार्ज मुलर के अनुसार 'उद्दीपन और अनुक्रिया में स्नायुमण्डल के आधार पर सम्बन्ध होता है। स्नायुमण्डल के माध्यम से ही उद्दीपन से उत्पन्न अनुक्रिया मस्तिष्क पर पहुँचती है।'[३३] इस मान्यता के निम्नलिखित निष्कर्ष हैं—

(क) मस्तिष्क एकाकी कार्यरत नहीं होता, उसके पहले नाड़ी-संस्थान का कार्य होता है।

(ख). नाड़ी-संस्थान की क्रिया किसी उद्दीपन से घटित होती है, जैसा स्मृति में देखा जाता है—सदृश वस्तु को या सम्बन्धित वस्तु को उद्दीपन मान लें तो विषय की एक अनुक्रिया नाड़ी-संस्थान से होकर मस्तिष्क तक पहुँचती है और स्मरण होता है।

इस आधार पर हम ध्वनिमत की व्यञ्जनाशक्ति को नवीन व्याख्या दे सकते हैं। काव्य की अभिव्यञ्जना वह उद्दीपन है जो तत्काल हमारे स्नायुमण्डल को प्रभावित कर मस्तिष्क में अनुक्रिया घटित करती है जिससे भावों का विलक्षण संवेदन होता है।

× × ×

(५) मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) :

फ्रायड, ऐडलर और युङ्ग मनोविश्लेषण के प्रवर्तक हैं और तीनों के दृष्टिकोणों में तात्त्विक अन्तर देखा जाता है अतः तीनों की मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

(क्ष) फ्रायड कामवासनावादी विचारक हैं। उनके विचारों को इस प्रकार समझा जा सकता है—(क) मानस-क्षेत्र प्रक्रिया की दृष्टि से तीन प्रकार का है—(१) चेतन (Conscious), (२) अर्धचेतन या पूर्वचेतन (Fore-conscious)

और (३) अचेतन (Unconscious)। जिस प्रकार बर्फ का पर्वत समुद्र में तैरता हो तो दसवाँ भाग ही ऊपर रहता है, नव भाग पानी के भीतर निगूढ़ रहते हैं, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं का दशम भाग ही चेतन स्तर पर रहता है, शेष नव भाग अचेतन स्तर पर रहते हैं। (ख) मानसिक प्रवृत्तियाँ मूलतः दो भागों में विभक्त हैं (१) यौन प्रवृत्ति या कामवासना (Libido) और (२) अहम् (Ego)। (ग) मानवीय व्यक्तित्व की रचना में तीन तत्त्व होते हैं—(१) इड (Id), (२) इगो (Ego) और (३) सुपर इगो (Super Ego)। (घ) इड ही जीव के व्यक्तित्व का मूल स्तर है जिसमें दो मूल प्रवृत्तियाँ रहती हैं—(१) जीवन-प्रवृत्ति या संश्लेषवृत्ति (Life instinct or instinct of unity) और (२) मृत्युप्रवृत्ति या विश्लेष-वृत्ति (Death instinct or instinct of disunity)। (ङ) मनुष्य को कुछ इच्छाओं (Libido) या कामवृत्तियों का दमन करना होता है क्योंकि कुछ इच्छाएँ दुःखद होती हैं, कुछ सामाजिक दबाव से योग्य नहीं होतीं अतः दमित कर दी जाती हैं। ये इच्छाएँ व्यक्तित्व के इड भाग में मानस के अचेतन स्तर पर अधिकार कर लेती हैं और उद्दीपन मिलने पर अर्धचेतन से होकर चेतन को प्रभावित करती हैं। सुपर इगो व्यक्तित्व का आदर्शरूप है जिसे अन्तरात्मा कह सकते हैं। वह सामाजिक आदर्शों के अनुसार इड में रहनेवाली वासना या इच्छा का दमन करता है और इगो अथवा 'अहम्' उन्हें भोगना चाहता है। यह संघर्ष यदि प्रबल हो जाता है तो विविध मानस-रोग उत्पन्न होते हैं। यदि सामान्य संघर्ष रहता है तो स्वप्नों और दिवास्वप्नों की सृष्टि होती है।

सुपर इगो ही प्रतिरोधक तत्त्व है जो असामाजिक इच्छाओं का दमन करता है। वह इच्छाओं की पूर्ति द्वारा इड को तभी सन्तुष्ट होने देता है जब दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण हो जाय जिससे असामाजिकता का तिरोभाव हो सके। प्रतीकों के माध्यम से आनेवाले स्वप्न उदात्तीकरण का ही एक रूप हैं। कविता भी उदात्तीकरण का एक प्रकार है जिसमें सामाजिक आदर्शों का दबाव नहीं रहता, कवि अपनी दमित इच्छा (काम) का काव्य द्वारा प्रकाशन करके एक प्रकार का विरेचनात्मक सुख पाता है। सहृदय भी काव्य द्वारा व्यक्त दमित वासनाओं का मानस उपभोग कर लेता है; यह भी एक प्रकार का विरेचन-सुख है।

ध्वनि-सिद्धान्त सहृदय की वासना का ही आस्वाद मानता है। भाव-वासना का कोई भी मानस या व्यक्तित्व का स्तर हो, उसे आपत्ति नहीं और इस प्रकार फ्रायड के मनोविश्लेषण से उसका मूलतः विरोध नहीं है। फिर भी कतिपय मान्यताओं में भिन्नता है—(क) केवल कामवासना ही काव्य की वस्तु नहीं है, भले ही शृङ्गार रस की व्याप्ति अधिक हो और उसके सहृदय भी अधिक हों। (ख) अनुचित वासनाओं के दमन का फ्रायडीय सिद्धान्त ध्वनिमत को मान्य नहीं—वह तो प्रत्येक भाव का आधार ही वासना को मानता है। दमित वासना का आस्वाद तो एक रुग्ण प्रवृत्ति है जिसका चिकित्सात्मक या विरेचनात्मक मूल्य ही हो सकता है, वह स्वस्थ मानस-प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जबकि ध्वनिमत पूर्ण स्वस्थ प्रक्रिया के रूप में रस-व्यञ्जना को मान्यता देता है और योगी के पर-प्रत्यक्ष या समाधि-सुख के समकक्ष रस को सम्मान देता है। (ग)

उदात्तीकरण तो अनुदात्त (नीच) वासनाओं का उदात्तरूप में प्रस्तुतीकरण है जबकि ध्वनिमत भाव-वासना को पूर्णतः उदात्त मानकर चलता है क्योंकि वहाँ वैयक्तिकता का संस्पर्श ही नहीं रहता है। (घ) फ्रायड का उक्त विभाजन व्यक्ति-सीमा में है जबकि ध्वनि-सिद्धान्त चेतना का ऐसा स्तर मानता है जहाँ व्यक्तिता तिरोहित हो जाती है, एक व्यापक (सामूहिक) चेतना का उदय होता है जो 'सकल-सहृदय-संवादी' होती है—वस्तुतः रसबोध की चेतना व्यक्तिस्तरीय न होकर समूहस्तरीय होती है जिसकी व्याख्या समाजमनोविज्ञान या परा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में ही सम्भव है।

(त्र) ऐडलर हेतुवादी अथवा प्रयोजनवादी मनोविश्लेषक हैं जो प्रत्येक मानस प्रतिक्रिया को सोद्देश्य मानते हैं—मुख्य उद्देश्य हीनता से श्रेष्ठता अथवा अपकर्ष से उत्कर्ष अथवा अपूर्णता से पूर्णता पाना रहता है। मनुष्य शैशव काल में ही दूसरों से अपने को हीन या अपूर्ण पाता है और श्रेष्ठ या पूर्ण बनने को प्रयासशील होता है; इस प्रक्रिया के विविध पक्ष व्यक्ति और उसके परिवार तथा वातावरण से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की सत्ता सर्वोपरि है जो श्रेष्ठता पाने के हेतु कोई विशेष मार्ग निश्चित करता है, व्यक्ति का परिवेश सहायक होता है। उद्देश्य (Goal) का निर्धारण बहुत कुछ व्यक्ति पर अवलम्बित रहता है जिससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है, इस मान्यता के कारण ऐडलर का सिद्धान्त व्यक्तिवादी कहा जाता है, फिर भी वह सामाजिक उपयोगिता को अधिक महत्त्व देकर चलता है। उसके अनुसार हीनता की भावना (Feeling of inferiority) व्यक्ति की उदात्त चेतना से सम्बद्ध है जिसे अनुभव कर वह पूर्णता पाने के लिए समाजोपयोगी कार्य करता है। जब वह सामाजिक कार्यों में प्रवृत्त होता है तो वह शुद्ध हीन-भावना नहीं होती; प्रत्युत, हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) होती है जिसके अधीन मनुष्य उपयोगहीन श्रेष्ठता का प्रदर्शन करता है; यही हीनताग्रन्थि प्रदर्शन में श्रेष्ठताग्रन्थि (Superiority Complex) कही जाती है।

ऐडलर फ्रायड के समान कामवासना को सर्वोपरि महत्त्व नहीं देता। उसके अनुसार व्यक्ति के सम्मुख तीन मुख्य आन्तरिक समस्याएँ रहती हैं—(क) सामाजिक जीवन (Community life), (ख) व्यवसाय (Occupation) और (ग) यौन प्रेम (Sexual love)। इन्हें हम भारतीय शब्दों में धर्म, अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ या त्रिवर्ग कह सकते हैं। इस त्रिवर्ग में प्रथम का महत्त्व व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक है। उसी समस्या के समाधान हेतु मनुष्य व्यक्तिगत शैली अपनाता और विशेष-दिशा में अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, जिस प्रवृत्ति को ऐडलर ने 'प्रोटोटाइप्' नाम दिया है।

'साइन्स आव् लाइफ्' पुस्तक में ऐडलर ने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति की हीन-भावना जितनी ही तीव्र होगी, वह उतना ही ऊँचा लक्ष्य लेकर कार्य-रत होगा; यहाँ तक कि वह ईश्वर को पाने के प्रयास में योगी भी हो सकता है क्योंकि वही सबसे बड़ा लक्ष्य है।

इस दृष्टि से विचार करें तो काव्य अपूर्णता से पूर्णता पाने हेतु व्यक्ति (कवि) का समाजोपयोगी प्रयास है जो हीनता की भावना से निष्पन्न होता है। सहृदय-समाज

भी उसी हीन-भावना की तुष्टि करता हुआ एक प्रकार का भावात्मक उत्कर्ष प्राप्त करता है। कविता हमारी वासना को उदात्त रूप में व्यक्त करती है, यही बहुत बड़ी उपलब्धि है। ध्वनिमत के साथ उसका कोई विरोध नहीं है—दोनों ही वासनाओं की विविधता और उत्कर्ष की मान्यता में समान हैं। नाट्य को त्रिवर्ग का और काव्य को चतुर्वर्ग का साधन माननेवाले भारतीय विचारक ऐडलर के त्रिवर्ग-वाद के बहुत निकट हैं। यह समानता केवल काव्य के भावना-पक्ष के आधार पर मनोविश्लेषण के परिवेश में ही देखी जा सकती है।[३४]

(ञ) **युङ्ग** का मनोविश्लेषण अपेक्षाकृत दार्शनिक है। उसपर रहस्यवादी होने का आरोप भी लगाया जाता है। युङ्ग ने रागतत्त्व (Libido) को लेकर फ्रायड का विरोध किया। वह 'राग' को केवल कामेच्छा के रूप में अमान्य करता और उसे सम्पूर्ण जीवन-प्रक्रिया के रूप में लेकर व्यापक जिजीविषा मानता है। यह राग-नामक जीवन-प्रक्रिया शैशवकाल में 'पोषण', किशोरकाल में 'मैत्री' और तरुणकाल में 'यौन-प्रवृत्ति' का रूप ग्रहण करती है। फ्रायड वैयक्तिक भिन्नताओं को महत्त्व नहीं देता जबकि युङ्ग व्यक्ति-भेद को ऐडलर के समान ही महत्त्व देता है। वह व्यक्ति की आध्यात्मिक शक्तियों पर सर्वाधिक बल देता है। लिबिडो या राग को प्राणात्मक शक्ति के रूप में ग्रहण करके युङ्ग शैवागम के रागतत्त्व के अधिक निकट आ गया है। युङ्ग अचेतन के दो पक्ष मानता है—(क) व्यक्तिगत अचेतन और (ख) सामूहिक अचेतन जो आनुवंशिक होता है। सामूहिक अचेतन में ही फ्रायड का 'इड' अन्तर्भूत हो जाता है। वासनाओं का आधार यही सामूहिक अचेतन है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि युङ्ग व्यक्तित्व की रचना में स्त्रीतत्त्व और पुरुषतत्त्व दोनों का योग मानता है–अर्थात् पुरुष-व्यक्ति के अचेतन में शाश्वत (आनुवंशिक) नारीतत्त्व विद्यमान रहता है और स्त्रीव्यक्ति के अचेतन में परम्परागत पुरुषतत्त्व रहता है। युङ्ग कला सम्बन्धी रचनाओं के सम्बन्ध में यह मानता है कि पुरुष-कलाकार के अचेतन का स्त्रीत्व, स्त्री-कलाकार के अचेतन का पुंस्त्व रचना में सहयोगी रहते हैं।[३५]

उक्त दृष्टियों से विचार करें तो युङ्ग का मनोविश्लेषण काव्य-बोध की दृष्टि से ध्वनि-सिद्धान्त के सर्वथा समीप है। सामूहिक अचेतन की स्वीकृति से वह ध्वनिमत के 'सकल-सहृदय-संवादी' रसास्वाद को व्याख्या दे देता है और स्त्री-पुरुष दोनों में पुरुषत्व और स्त्रीत्व की सत्ता मानकर साधारणीकरण की समस्या का समाधान दे देता है। अर्थात्, साधारणीकरण वह दशा है जहाँ वासनाओं के अचेतन जगत् में स्त्री-पुरुष-भेद तिरोहित हो जाता है। यौन प्रवृत्ति पर बल न देकर उसने सभी प्रकार की वासनाओं के रसात्मक उपभोग का द्वार खोल दिया है।

× × ×

(६) पूर्णाङ्गवादी मनोविज्ञान (Wholistic Psychology) :

इस मत की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें न्यायदर्शन या फ्रायड के समान 'मन' और शरीर में अन्तर मान्य नहीं किया जाता—एडोल्फ मीयर (Adolf Meyer) का स्पष्ट कथन है कि :

"यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि विज्ञान आज भी मानसिक और कायिक के असंभव विभेद में संलग्न है—(वस्तुतः) मन एक पूर्णतः संघटित क्रियाशील जीवित प्राणी है, वह कोई मस्तिष्कीय उपादानों से बना हुआ आकार नहीं है।"[३६]

जैकब राबर्ट कैन्टर के अनुसार :

"पूर्ण व्यक्ति ही सदैव प्रतिक्रिया करता है—जब तक पूर्णरूप में क्रियाशील न हो तब तक प्राणी के लिए जैविक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से कोई क्रिया करना असंभव होगा।"[३७]

पूर्णाङ्गवादी और गेस्टाल्ट सिद्धान्त परस्पर बहुत-कुछ समान हैं। अन्तर यही है कि गेस्टाल्ट संप्रदाय विषय के क्षेत्र को अखण्ड इकाई मानकर चलता है जबकि पूर्णाङ्गवादी विषयी (प्राणी) को अखण्डरूप में लेकर प्रत्ययों की व्याख्या करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गेस्टाल्ट विषयपरक (Objective) है जबकि पूर्णाङ्गवाद विषयिपरक या व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) है।[३८] कहना चाहिए कि पूर्णाङ्गवादी मनोविज्ञान विषय और द्रष्टा के सम्बन्ध का विशेष अध्ययन करता है और द्रष्टा व्यक्ति में मन और शरीर को अलग नहीं मानता।

मनोदार्शनिक विवेचन में देखा जा चुका है कि न्याय-वैशेषिक को छोड़कर सभी विवेचित दर्शन 'मनस्' को एक व्यापक तत्त्व मानकर चलते हैं जिससे व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रतिक्रियाएँ केवल मस्तिष्क या हृदय तक सीमित नहीं रहतीं—अधिक प्रभावी प्रतिक्रिया उक्त अवयवों की रहती हो, यह बात बहुत-कुछ व्यावहारिक है। रसविवेचन के सन्दर्भ में देखा जा चुका है कि सर्वाङ्गव्याप्ति ही रस का स्वरूप है और वही रस-व्यञ्जना या रसनिष्पत्ति है। ध्वनिवादी मान्यताओं का पूर्णाङ्गवाद से तात्त्विक विरोध नहीं है।

× × ×

(७) **व्यक्तित्ववादी मनोविज्ञान** (Personalistic Psychology) :

इस सम्प्रदाय में आत्मा की सत्ता पर बल देकर विचार किया जाता है, पर 'आत्मा' को व्यक्तिरूप में माना जाता है—वेदान्त के समान आत्मा की व्यापक सत्ता की स्वीकृति मनोविज्ञान का विषय नहीं, फिर भी एकत्व की प्रतीति इस सम्प्रदाय में पूर्णतः मान्य है। आत्मा या व्यक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मेरी काल्किन्स् ने स्पष्ट किया है कि आत्मबोध की चार गतियाँ पाई जाती हैं—(क) मैं सापेक्ष रूप से स्थायी हूँ—मैं एक प्रकार से वही हूँ जो शैशवकाल में था, (ख) मैं जटिलतापूर्ण हूँ—प्रत्यक्ष, स्मृति, अनुभूति, संकल्प आदि करनेवाली आत्मा मैं हूँ, (ग) मैं विशिष्ट अपरिवर्तनीय हूँ—पिता, भाई अथवा मित्र आदि से समानता रखते हुए भी मैं (सबसे पृथक्) एक हूँ, (घ) मैं अनुभव करता हूँ कि मैं व्यक्तिगत अथवा निर्वैयक्तिक रूप में विषयों से सम्बन्ध रखता हुआ उनके प्रति चेतन हूँ।[३९]

इस दृष्टिकोण से भी ध्वनि-सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है, केवल साधारणीकरण में व्यक्तित्व के परिहार को लेकर मतभेद हो सकता है जिसे दूसरे प्रकार से माना

जा सकता है—कोई व्यक्ति अनुभूतिक्षण में आत्मविस्मृत हो सकता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही व्यक्तित्व-परिहार कहा जायगा।

× × ×

(८) **गेस्टाल्ट मनोविज्ञान** (Gestalt Psychology) :

क्षेत्रसिद्धान्त और समग्रता की ओर भौतिकी का सामान्य झुकाव हो गया है, तथा जन्तुविज्ञान विकास-प्रणालियों के यथा-तथ्य की दिशा में गतिशील है—जिसमें अवयवों, समग्र व्यक्तियों तथा जातियों का एक समुदित अध्ययन किया जाने लगा है। अतः मनोविज्ञान में गेस्टाल्टवादी आन्दोलन सर्वथा समयोचित कहा जायगा।[४०]

गेस्टाल्टवाद यह मानकर चलता है कि विषय अपने गुणात्मक स्वरूप में एक होता है—उनके गन्ध, स्वाद आदि गुण अलग-अलग न होकर एक अखण्ड इकाई का रूप लेते हैं और एकीभूत रूप में ही अनुभूतिगम्य होते हैं जिससे मूल उपादानों का अलगाव प्रतीत ही नहीं होता, प्रत्युत वे हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं, फलतः समग्रता में ही गृहीत होते हैं।[४१] इस सन्दर्भ में बर्गसाँ का विकासवादी दृष्टिकोण बड़े महत्त्व का है। वह कहता है कि तारकखचित रजनी में प्रत्येक वस्तु का एक समवाय ही अनुभूति का विषय बनता है—नक्षत्रों से लेकर मस्तिष्क तक सब एक साथ समुदित रूप में एक इकाई हैं।[४२] 'माख' जैसे मनीषी गेस्टाल्ट प्रत्यय की व्याख्या करते हुए चित्र का उदाहरण देते हैं—ज्यामितीय आकृतियों में रेखाओं की व्यवस्था विविध समवायों को प्रकट करती है जिन्हें हम वर्ग आदि नामों से जानते हैं।[४३] यहाँ हम शङ्कुक के उस अनुकृत अनुभव की झलक पाते हैं जिसे उन्होंने 'चित्रतुरगन्याय' से विलक्षण अनुभव बताया है।

गेस्टाल्ट का विषय-प्रधान एकत्ववाद क्षणिक प्रत्ययों तक ही सीमित नहीं है। प्रत्यय-धारा को भी गेस्टाल्टवाद में एक माना जाता है। प्रत्ययों के प्रवाह में आरम्भ या अन्त होता ही नहीं, एक के बाद दूसरे प्रत्यय आते हैं और एक रूप में समुदित होते हैं अतः क्षणिक प्रत्ययों का समवाय एक समग्रता प्राप्त करता है। प्रत्ययों की धारा में एक गत्यात्मक पुनर्व्यवस्था रहती है जिससे जटिल अनुभूतियों का स्वरूप खड़ा होता है। इन एकीभूत प्रत्यय-प्रवाहों की यान्त्रिक व्याख्या सर्वथा असफल रहती है।[४४]

कलात्मक बोध में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की मान्यताओं का बड़ा उपयोग है। किसी लय में स्वर-विशेष अथवा किसी चित्र में विविध रेखाएँ तथा रङ्ग ऐसे अवयव या भाग हैं जो समग्रता में ही लिए जाते हैं और प्रतीतिगम्य होते हैं। गेस्टाल्टवादी यह मानता है कि वस्तु के विविध गुण अथवा पक्ष उस वस्तु के अविभाज्य अङ्ग हैं और उनका विश्लेषण उस वस्तु की सम्पूर्ण व्यवस्था के ही अधीन किया जा सकता है, अलग नहीं।[४५]

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान आकृतियों का मनोविज्ञान है।[४६] उसका अध्ययन मानसिक प्रत्ययों के रूपायन का अध्ययन है। इस दृष्टि से काव्य-बोध पर विचार करें तो वहाँ प्रत्येक भावात्मक संवेदन का एक अखण्ड रूप बन जाता है और वह संवेदन वैयक्तिक पार्थक्य में नहीं लिया जाता, प्रत्युत उसका साधारणीकरण होता है, जिसका तात्पर्य हुआ

कि प्रस्तुत भाव जातीय भाव बनकर सम्पूर्ण सहृदयों की अनुभूति को अखण्डता प्रदान करता है। काव्य के भाव का यही रूप ध्वनिमत में मान्य है। गेस्टाल्टवाद के अनुसार मनोवेग या संवेग सम्पूर्ण जैव व्यवस्था की समुदित प्रतिक्रिया है, वह केवल मध्य-मस्तिष्क की स्थानीय प्रतिक्रियामात्र नहीं है। भाव, वासना या मूल प्रवृत्तियाँ और संकल्प अन्ततः हमारे सम्पूर्ण जातीय जीवन को ग्रस्त करनेवाली प्रणालियाँ हैं।[४७]

गेस्टाल्टवादी यह भी मानकर चलता है कि बोध की प्रत्येक इकाई अपना अलग रूप बना लेती है। एक बोधसमूह से दूसरा बोधसमूह इस प्रकार अलग रूप लेता है। संगीत के उदाहरण से इसे समझाया गया है—मध्य षड्ज स्वर अलग गेयों में अलग तारों पर बजाया जाय तो प्रतीत होगा कि षड्ज स्वर ही रूपान्तर ले लेता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ही तत्त्व पृथक् स्थितियों में पृथक् गेस्टाल्ट (इकाई) बनाता है जबकि पृथक् तत्त्व सम्मिलित होकर एक ही परिणाम (गेस्टाल्ट) देते हैं। ऐसी दशा में हम प्रतिबद्ध तत्त्वों के बोध को सर्वत्र एक-सा नहीं मान सकते। स्पष्ट है कि रूप-गुण अथवा गेस्टाल्ट-गुण विविधता लेते हैं—एक गेय, एक चित्र या एक कविता में ऐसा कुछ अतिरिक्त गेस्टाल्ट-गुण (या समग्र इकाई का अतिरिक्त गुण) रहता है जो उसके घटक स्वरों, रङ्गों या शब्दों में नहीं पाया जाता।[४८]

उक्त तथ्य के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त की यह मान्यता पूर्णतः मनोवैज्ञानिक समर्थन पा जाती है कि जिस प्रकार अङ्गों से पृथक् सौन्दर्य की सत्ता है, उसी प्रकार प्रतीयमान काव्यार्थ प्रसिद्ध गुणों, अलङ्कारों आदि से भिन्न अस्तित्व रखता है।[४९]

उपर्युक्त विवेचन से ध्वनिमत के कतिपय तथ्यों को मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—(क) काव्य शब्दार्थ-समूह का एक गेस्टाल्ट है जो लोक-प्रचलित वाक्यों के गेस्टाल्ट से भिन्न है, (ख) काव्य का प्रतीयमान अर्थ अतिरिक्त काव्य-धर्म है जो सामान्यतः अर्थों से पृथक् अर्थ-गेस्टाल्ट है, (ग) विभाव, अनुभाव और संचारीभाव पृथक् गेस्टाल्ट हैं जिन्हें लौकिक कारण, कार्य और सहकारी भाव के गेस्टाल्टों से पृथक् मानना चाहिए, (घ) विभावादि-त्रिक एक ऐसा गेस्टाल्ट बनाते हैं जो काव्य की अतिरिक्त वस्तु है, जैसे सामान्य रेखाओं और रंगों से पृथक् चित्र का अपना गेस्टाल्टिक अस्तित्व बनता है या जैसे प्रत्येक गीत के स्वर-संयोग का गेस्टाल्ट पृथक् होता है, (ङ) विभावादि-त्रिक से जनित मानसिक प्रतिक्रिया और लौकिक प्रतिक्रिया में गेस्टाल्टिक अन्तर रहता है अतः काव्य-बोध का गेस्टाल्ट लौकिक बोध के गेस्टाल्टों से भिन्न है, (च) काव्यजनित संवेदन ऐसा गेस्टाल्ट है जिसमें द्रष्टा की वासना एक गेस्टाल्ट बनाती है, (छ) लौकिक सुख-दुःख-प्रत्ययों से भिन्न काव्य-बोध का गेस्टाल्ट होता है, अतः उसपर लौकिक सुख-दुःख का आरोप नहीं हो सकता, (ज) प्रत्येक सहृदय एक गेस्टाल्ट है और सहृदय-समाज भी एक गेस्टाल्ट ही है अतः काव्य-संवेदन में विभावादि, स्थायी भाव-वासना, सहृदय की व्यक्तिचेतना और सामाजिक चेतना का एकीभूत गेस्टाल्ट बनता है; यही साधारणीकरण है, (झ) काव्यानुभूति का गेस्टाल्ट ऐसा है जिसमें पार्थक्य का बोध नहीं हो पाता, जैसे चलचित्रों में चित्र-बहुलता में भी एकरूप घटना का प्रत्यय होता है,

पार्थक्य तिरोहित हो जाता है[५०], (ञ) तात्पर्य यह कि काव्य, काव्यार्थ, काव्यशक्ति, काव्यबोध, काव्य-बोधमयी चेतना आदि सब लौकिक (व्यावहारिक) से पृथक् गेस्टाल्ट हैं, जैसे, लोकव्यवहार के बोधों के गेस्टाल्ट परिस्थितिभेद से पार्थक्य लेते हैं ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गेस्टाल्टवाद ध्वनि-सिद्धान्त के अधिक निकट है । मनोविज्ञान के परिवेश में ध्वनिमत को जितना समर्थन यह प्रस्थान देता है, उतना युङ्ग के मनोविश्लेषण के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता । युङ्ग केवल मनोदशा का ही विश्लेषण देता है जबकि गेस्टाल्टवाद समस्त परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण कर देता है ।

× × ×

(९) **क्षेत्र-गति-मनोविज्ञान** (Topological and Vector Psychology) :

भौतिक विज्ञान में क्षेत्रसिद्धान्त (Field theory) का महत्त्व १९३० के आसपास आइन्स्टीन की परिकल्पना का परिणाम है। आज यह मान्यता समस्त नवीन विचार-जगत् को प्रभावित कर चली है जिसमें मनोविज्ञान भी एक है । क्षेत्र-सिद्धान्त गेस्टाल्ट को अपूर्ण मानता है । कहना चाहिए कि इस सिद्धान्त ने गेस्टाल्ट को पूर्णता प्रदान की ।

> "क्षेत्र-सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार का निरूपण उन विभिन्न तथ्यों के आधार पर होना चाहिए जो किसी परिस्थिति-विशेष में एक साथ पाये जाते हैं । ये तथ्य, जो एक साथ एक ही स्थान पर पाये जाते हैं, व्यवहार-क्षेत्र को गत्यात्मक (Dynamic) बना देते हैं । इसका कारण यह है कि क्षेत्र की विभिन्न वस्तुएँ एक-दूसरे पर अपना-अपना प्रभाव डालती हैं । इस प्रकार क्षेत्र-सिद्धान्त में व्यवहार केवल वर्तमान पर अवलंबित होता है, अतीत और भविष्य पर नहीं होता ।"[५१]

ध्वनिमत के सन्दर्भ में क्षेत्र-गति-मनोविज्ञान के निष्कर्ष वे ही होंगे जो गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान के निरूपण में दिये जा चुके हैं । काव्य-बोध, काव्य-बोद्धा, काव्य-सामग्री और काव्य का सामान्य क्षेत्रों से पृथक् अपना क्षेत्र है और उसकी अपनी सत्ता है, यह 'विशेष' कहा जा सकता है । हम एक उदाहरण से इस बात को भली भाँति समझ सकते हैं—'हाय राम' एक ऐसा शब्दसमूह है जो क्षेत्र-भेद से अर्थ-व्यञ्जना में अन्तर लेता है और स्थिर तथ्य न होकर गत्यात्मक बनता है । जब कोई गृहिणी पुत्र के नटखट कार्यों से ऊबकर 'हाय राम' कहती है, जब कोई तरुणी प्रेमी की बात को असमञ्जस में लेकर वही शब्द कहती है, जब कोई भक्त सांसारिक नश्वरता के विषय में उसी का उच्चारण करता है अथवा जब रोगी व्यथा अनुभव कर 'हाय राम' कहता है तो उन सबके क्षेत्र पृथक् होते हैं और शब्द गत्यात्मक होकर क्षेत्रानुसार अर्थ-व्यञ्जना करता है । ध्वनिमत में इसीलिए वक्ता, श्रोता, देश-काल, स्वर आदि की विशेषताओं पर व्यञ्जना को अवलम्बित बताया है जिसे प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक प्रस्थान के सन्दर्भ में भली भाँति समझा जा सकता है ।

× × ×

(१०) ऊर्जा-मनोविज्ञान या शक्ति-मनोविज्ञान (Hormic Psychology) :

इसके प्रवर्तक विलियम मैक्डूगल मनोविज्ञान के क्षेत्र में दार्शनिक कहे जा सकते हैं—(क) वे अन्तर्दर्शन पर बल देते थे, (ख) वे केवल यान्त्रिक या व्यवहारवादी पद्धति से जटिल मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन असंभव मानते थे, (ग) मैक्डूगल आन्तरिक मानस ऊर्जा (शक्ति) को मानकर चलते थे, (घ) वह ऊर्जा उनके मत में व्यापक शक्ति है, उसे वे सामूहिक रूप में भी मान्य करते थे, अतः परिमनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान को दृढ़ आधार मिलता है, (ङ) उन्होंने बड़े विस्तार से मन की मूल प्रवृत्तियों (Instincts) का अध्ययन प्रस्तुत किया और स्थिर भावों (Sentiments) एवं संवेगों (Emotions) पर विस्तृत विचार किया जिन्हें मानस तत्त्व के रूप में लेकर बहुत कुछ आज भी मनोविज्ञान में कार्य होता है। सभी मानस तत्त्वों के विषय में आज ऐकमत्य नहीं रहा है, फिर भी साहित्य-समीक्षा में मैक्डूगल की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अतः ध्वनि-सिद्धान्त के सन्दर्भ में कतिपय मानसिक समस्याओं पर विचार अपेक्षित है।

ध्वनि-सिद्धान्त और कतिपय मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ :

ध्वनिमत सहृदय की भाव-वासना के (व्यञ्जना के) बोध को 'रस' मानता है। सहृदय की वासना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या हो सकता है ? भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन किस प्रकार किया जा सकता है ? स्थायीभाव, संचारीभाव और सात्त्विक भाव को मनोविज्ञान में क्या स्थान दिया जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर खोजना अपेक्षित है। यह मानकर ही चलना है कि आधुनिक मनोविज्ञान और ध्वनि-सैद्धान्तिक चिन्तन में देश-काल का ही नहीं, मूल प्रेरणाओं का भी अन्तर है, अतः सब कुछ वही ध्वनिमत में आ जाय जो मनोविज्ञान में है, या मनोविज्ञान अपने को बौना बना डाले, आवश्यक नहीं। कतिपय मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर विवेचन किया जा रहा है।

(१) मूल-प्रवृत्ति (Instinct) **और वासना :**

'इन्स्टिङ्क्ट्' शब्द जर्मन 'त्रेब' का अँगरेजी अनुवाद है। 'त्रेब' शक्तिशाली वेगयुक्त तथा निश्चयात्मक तत्त्व है जो जीवित शरीर में मानसिक रूप से बद्धमूल रहता है और शारीरिक स्रोतों से निकट-सम्बद्ध रहता है जहाँ से उसका उच्छलन होता है। इसे आन्तरिक प्रवृत्ति कह सकते हैं, जिसे 'सहज-प्रज्ञात्मक', 'अचेतन बोध', 'नैसर्गिक वृत्ति' आदि शब्दों से भी जाना जा सकता है। फ्रायड ने 'त्रेब' के लिए 'इन्स्टिङ्क्चुअल इम्पल्स' नाम दिया है जिसे 'इन्स्टिङ्क्चुअल ड्राइव' भी कह सकते हैं।[५२] अतः उसे हिन्दी में मूलप्रवृत्ति या सहज प्रवृत्ति नाम सरलता से दिया जा सकता है और यदि मनोवैज्ञानिक यान्त्रिकता के वृत्त से थोड़ा हटकर देखा जाय तो यह वही वासनात्मक शक्ति है जिसे कालिदास ने 'भाव-स्थिर जन्मान्तर सौहृद का अबोधपूर्वक स्मरण' कहा है—अर्थात् आनुवंशिक धारा में जो संस्कारात्मक प्रवृत्तियाँ हमारे अचेतन मानस में प्रेरक बनकर उपस्थित रहती हैं, वे ही मूलप्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। इस प्रकार 'भाव-वासना' मूल-प्रवृत्ति के क्षेत्र की वस्तु कही जा सकती है, यदि मनोविज्ञान के घेरे में ही उसे समझने का आग्रह न हो।

फ्रायड ने मूलवृत्ति का क्षेत्र 'इड' तथा अचेतन को माना है। उनके अनुसार दो ही चरम मूल-प्रवृत्तियाँ हैं—(क) संश्लेष प्रवृत्ति या काम-वृत्ति और (ख) विश्लेष-प्रवृत्ति या मरण-प्रवृत्ति या विनाशक प्रवृत्ति। मैक्डूगल ने १४ आधारभूत मूलप्रवृत्तियाँ मानी हैं—उन्हें आधारभूत प्रेरणाएँ तथा आनुवंशिक आन्तरिक प्रवृत्ति कहा जा सकता हैं। उन्होंने आत्माभिमान (Self-assertion) को भी मूलप्रवृत्ति माना है जिसे दर्शनों के 'अहम्' के साथ जोड़ा जा सकता है और मनोविश्लेषण के 'लिबिडो' तथा शैवागम के 'राग' के निकट कहा जा सकता है। विद्वान् फेनीसेल ने आत्माभिमान की प्रवृत्ति को क्षुद्र अहंता और पूर्ण अहंता की सापेक्ष सजगता के रूप में मान्य किया है, तदनुसार व्यक्ति मूलभूत व्यापक सत्ता के प्रति जागरूक रहता है।[५३]

हम मनोविज्ञान की जटिलताओं में न जाकर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि विचारकों ने यद्यपि किसी काव्य-समीक्षा को आधार बनाकर सिद्धान्त नहीं बनाये हैं, फिर भी वे ध्वनि-सम्बन्धी मान्यताओं के अत्यन्त निकट आ गये हैं। हम 'मूल-प्रवृत्ति' के अर्थ का वृत्त बढ़ाकर 'वासना' को उसमें ले सकते हैं। भाव-वासना हमारे भाव का मूल-प्रवृत्तिमय रूप है—आवश्यक नहीं कि मूल-प्रवृत्तियाँ उतनी ही हों जितनी मैक्डूगल ने गिनायी हैं, वे जन्मजात भी हो सकती हैं और अर्जित भी। आजकल मनोविज्ञान में फ्रायड की कामवृत्ति को जन्मजात न मानकर अर्जित माना जाने लगा है और मैक्डूगल की मान्यताएँ भी सर्वमान्य नहीं रही हैं।

मनोविज्ञान में मूल-प्रवृत्तियों का परिवर्तन (Vicissitude) मान्य है। यह परिवर्तन निम्नलिखित प्रकार का होता है—(क) अपने विपरीत रूप में परिवर्तन, (ख) व्यक्ति के अपने ही चारों ओर परिवर्तन, (ग) दमन और (घ) उदात्तीकरण। साहित्य का सम्बन्ध वासनाओं के उदात्तीकरण से जुड़ता है। मनोविज्ञान यह मानकर चलता है कि वासना का कलुष रूप उदात्तीकृत होता है जबकि ध्वनिमत में वासना निर्वैयक्तिक होती है, अतः उसमें कोई कलुष नहीं होता है जिससे उदात्तीकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। वासना अपने मूल रूप में पावन एवम् उदात्त है और उसी का आस्वाद रस है।

(२) प्रवृत्ति (Impulse) :

प्रवृत्ति (कार्योन्मुखता) वह क्रिया है जिसमें तात्कालिक झुकाव या इच्छा रहती है, यह मूलप्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक उपस्थापन है।[५६] हमारे भीतर भूख की मूल-प्रवृत्ति विद्यमान है जिससे खाने की ओर प्रवृत्ति होती है; यह व्यावहारिक उदाहरण है। हम मूल वासना की तृप्ति के लिए काव्य में प्रवृत्त होते हैं, यह भी एक प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति तो मूल-प्रवृत्ति का कार्योन्मुख रूप है जो हमारी क्रिया-प्रतिक्रिया में देखा जाता है। काव्य-बोध भी एक मानसिक प्रतिक्रिया है अतः उसमें भी प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति सहृदयों तक सीमित है।

(३) संवेग (Emotion) :

संवेग मूलप्रवृत्ति-जन्य एक प्रकार की उत्तेजना है जिसे प्राणी अनुभव करता है

और जो मूलप्रवृत्ति की आवश्यकता को पूरा करने को विवश करती है।[५७] मैक्डूगल के अनुसार आधारभूत संवेग मुख्यतः मूलप्रवृत्तियों की प्रवृत्तियों की कार्यप्रणाली के सूचक होते हैं।[५८] वुडवर्थ संवेग को मनोदैहिक क्रिया के रूप में ग्रहण करते हुए परिभाषित करते हैं—'संवेग एक परिचालित अथवा उत्तेजित शरीर-दशा है। वह उत्तेजित अनुभूति है, इस प्रकार वह (संवेगी) व्यक्ति के प्रति प्रकट होता है। वह व्याहत नाड़ी-संस्थान तथा नाड़ी गोलकों की क्रिया है, इस प्रकार वह बाह्य द्रष्टा पर प्रकट होता है।'[५९] इस प्रकार संवेग अनुभूति और दैहिक चेष्टाओं का समाहार हैं।[६०]

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि संवेग मूलप्रवृत्ति-जन्य आवश्यकता-पूर्ति-हेतुक मनोदैहिक प्रतिक्रिया है जो अनुभूति से चेष्टापर्यन्त व्याप्त रहता है। उसका आन्तरिक पक्ष साहित्य में 'भाव' कहा जाता है जबकि कायिक पक्ष को 'अनुभाव' कहते हैं—(क) सात्त्विक भाव ही साहित्य में उभयाकार माने गये हैं, (ख) शेष भावों को कायिक चेष्टाओं से पृथक् आन्तरिक अनुभूतिरूप ही मान्य किया गया है, इस प्रकार (ग) काव्यशास्त्रीय भाव पूर्णतः संवेग रूप नहीं कहे जा सकते, (घ) मनोदैहिक चेष्टा या विकार के रूप में मान्य करके ही भाव को संवेग-वर्ग में लिया जा सकता है, (ङ) साहित्य की भाव-वासना (जो रसरूप लेती है) कथमपि संवेग नहीं कही जा सकती, कम-से-कम संवेग से एकरूप नहीं हो सकती, यद्यपि अनुभूतिक्षण में रस की व्याप्ति मनोदैहिक होती है (सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्)—फिर भी उसमें वैयक्तिकता नहीं होती है, (च) उसे समूह-मनस् की वस्तु कहने से भाव-क्षेत्र में सभी अनुभूतियाँ समाविष्ट हो जाती हैं जिनमें कुछ स्थिर भाव (Sentiment), कुछ संवेग, कुछ मनःस्थितिविशेष हैं, कुछ मनःकायिक परिवर्तनमात्र हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें प्रभाव (Affect) कहा जा सकता है, जिसपर आगे विचार होगा।

काव्यशास्त्र के ५० भावों को उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो भाव उन सभी मनोदैहिक प्रतिक्रियाओं को कहते हैं जो काव्य द्वारा व्यक्त होने पर आस्वादनीय बनने की योग्यता रखते हों।

(४) प्रभाव (Affect) :

फ्रायड के अनुसार मूलप्रवृत्ति अथवा उसकी परिणति प्रकट रूप में नहीं आती, उनसे दो सृष्टियाँ होती हैं—(क) विचार या अमूर्त रूप जो मूलप्रवृत्तिजन्य इच्छाओं से सम्बद्ध रहते हैं तथा चेतन-अचेतन उभयात्मक होते हैं, और (ख) प्रभाव, संवेग आदि चेतन अमूर्त रूप हैं जिनका सम्बन्ध मूलप्रवृत्तिजनित उत्तेजनाओं से होता है। कुछ विद्वान् प्रभावों को भी विचारों के समान ही चेतन तथा अचेतन मानते हैं। वस्तुतः आजकल अहंकार (Ego) को ही नियामक तत्त्व माना जाता है जो अंशतः चेतन, अर्धचेतन और अचेतन माना जाता है, फलतः सभी प्रकार की अनुभूतियाँ त्रिविध हो सकती हैं।[६१]

लज्जा को एक प्रकार का 'प्रभाव' माना गया है और बताया गया है कि वह एक संवेगात्मक सूचक है जो हमें प्रदर्शनात्मक लालसाओं और उनके उद्रेक से उत्पन्न

होनेवाले खतरों से सावधान करती है।[६२] इससे स्पष्ट है कि 'प्रभाव' भी भावात्मक होते हैं, उनका स्रोत मूलप्रवृत्ति है और वे चेतन, अर्धचेतन, अचेतन त्रिविध हो सकते हैं।

काव्यशास्त्रीय भावों में लज्जा, अवहित्था, श्रम, ग्लानि, जड़ता आदि को प्रभाव वर्ग में लिया जा सकता है क्योंकि वे किसी-न-किसी बाह्य प्रभाव की परिणतियाँ हैं परन्तु उनके भावात्मक होने को अमान्य नहीं कर सकते, जैसा लज्जा के विषय में कहा गया है।

(५) स्थिरभाव (Sentiment) :

मैक्डूगल के अनुसार स्थिरभाव (जिसे हिन्दी की पुस्तकों में 'स्थायी भाव' नाम से मनोवैज्ञानिक शब्द मान लिया गया है, परन्तु काव्य के स्थायी भाव से पृथक् रखने हेतु यहाँ यह नाम दिया गया है) वह संवेगीय तथ्यों की व्यवस्थित धारा है जो किसी विषय के प्रति विचार को केन्द्र बनाती है।[६३] वुडवर्थ मानते हैं कि किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति हमारे बार-बार के अनुभवों से एक विशेष धारणा बन जाती है जो संवेगों का मिश्ररूप होती है, उसी को मनोविज्ञान में स्थिर भाव कहते हैं।[६४] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी आधार पर क्रोध को मनोवेग और वैर को स्थिरभाव (स्थायी भाव) मानते हैं (रस-मीमांसा)। स्टाउट ने संवेग और स्थिर-भाव में अन्तर बताया है कि संवेग प्रकट रूपवाली प्रतिक्रिया है जबकि स्थिर प्रभाव हमारी चेतना की स्थिति है। संवेगीय प्रतिक्रिया किसी वस्तु की उपस्थिति में विशेष प्रकार की अनुभूति के आधार पर खड़ी होती है (जबकि स्थिर भाव के लिए वस्तु की उपस्थिति आवश्यक नहीं)।[६५] उदाहरणार्थ रावण को सामने पाकर राम में जो प्रतिक्रिया होगी वह क्रोध-संवेग होगी, जबकि उसकी अनुपस्थिति में जो क्रोधवृत्ति रहेगी वह क्रोध-स्थिरभाव कही जायगी (जिसे आचार्य शुक्ल वैर कहेंगे)।

यहाँ भ्रान्तियों से बचने की आवश्यकता है—(क) स्थिरभाव और काव्य के स्थायी भाव भिन्न हैं। स्थायी भाव वासनात्मक होने के साथ-साथ रसरूप लेने की क्षमता रखता है, जबकि स्थिर-भाव कोई ऐसा भाव भी हो सकता है, जो उक्त स्थायी भाव का अङ्ग मात्र हो। (ख) काव्य में जिसे सञ्चारी भाव कहा जाता है, वह भी मनोविज्ञान का स्थिर भाव बन सकता है। काव्यशास्त्र में आशङ्का सञ्चारी भाव है जबकि मनोविज्ञान में वह एक अनुभूति है और अभ्यस्त होकर किसी विषय के प्रति स्थिर-भाव हो सकती है। उस दशा में मनुष्य को शङ्कालु कहा जायगा। (ग) स्थायी भाव काव्यशात्र में सापेक्ष शब्द है—उस भाव को स्थायी कहते हैं जो अङ्गीरूप में आने की योग्यता रखता हो और परिस्थिति-विशेष में दूसरे भाव का अङ्ग होकर सञ्चारी भी बनता हो। सञ्चारी भाव अङ्ग रूप ही होते हैं, अङ्गी होकर नहीं आते। स्थिर भावों पर यह बात लागू नहीं—किसी के प्रति क्रोध संवेग ही मन में जड़ जमाकर स्थिर भाव हो सकता है। (घ) मनोविज्ञान के स्थिरभाव का सहृय के साथ रसानुभूति में कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि स्थिर भाव किसी के प्रति अभ्यासवश बनता है जबकि काव्यशास्त्र में स्थायी भाव सहृदय की वासना का नाम है। (ङ) जो लोग रस का अँगरेजी

अनुवाद 'सेन्टिमेन्ट' करते हैं, वे निश्चय ही भ्रान्त हैं—यह हो सकता है कि अँगरेजी शब्द को नया अर्थ पहनाया जाय।

(६) **अनुभूति** (Feeling) :

"अनुभूति एक भावात्मक मानसिक क्रिया है जिसके दो पहलू होते हैं—सुखद और दुःखद। अनुभूति वस्तु-सापेक्ष होती है। किसी विशिष्ट अनुभूति को सुखद कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तेजनाओं की तुलना में वह अधिक सुखद है। दूसरी ओर सुखद उत्तेजना-समूह में शामिल होकर कोई भी अनुभूति सुखद बन जाती है।"

न्यायशास्त्र में अनुकूल-वेदनीय को सुख और प्रतिकूल-वेदनीय को दुःख कहा जाता है जो उक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य का ही रूपान्तर है। काव्य-बोध भी एक प्रकार की सुखानुभूति है, अतः विद्वानों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की लालसा देखी जाती है। डॉ० राकेश गुप्त रस का मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए अनुभूतियों के छह रूप मान्य करते हैं :

(क) सहानुभूति (Sympathy)—सहानुभूति में दयनीय व्यक्ति के प्रति दया होती है न कि स्वयं में दयनीयता की अनुभूति होती है।[६७]

(ख) विरुद्धानुभूति (Antipathy)—खलनायक के कार्यकलापों के प्रति सहानुभूति के विपरीत अनुभूति होती है। कभी-कभी निर्दोष व्यक्ति के प्रति भी परिस्थिति-विशेष में विरुद्धानुभूति हो सकती है।[६८]

(ग) स्मृतानुभूति (Recollection)—यह आवश्यक नहीं कि सुखात्मक परिस्थितियों में सदैव सुखानुभव स्मरण किये जायँ और न ऐसा ही होता है कि दुःखात्मक स्थितियों में दुःखानुभवों का अवश्य स्मरण हो। फिर भी वैसा प्रायः होता है।[६९]

(घ) जिज्ञासा या कौतूहल (Curiosity)।[७०]

(ङ) प्रतिबिम्बनात्मक अनुभूति (Reflexional feelings)—डॉ० गुप्त के अनुसार साहित्य का आस्वादात्मक अनुभव हमें उन समस्याओं से परिचित कराता चलता है जिन्हें हम प्रतिपद झेलते हैं जब जीवन के विषम मार्ग पर चलते हैं और प्रायः ऐसा होता है कि हम उन समस्याओं का प्रतिबिम्बन कर चलते हैं।[७१] अर्थात् साहित्य में वर्णित परिस्थितियों का प्रतिफलन हमारे मानस-पटल पर हुए बिना नहीं रहता।

(च) समीक्षात्मक अनुभूति (Critical feeling)—प्रशंसा अथवा निन्दा की प्रवृत्ति साहित्य के प्रति होती ही है जो इस अनुभूतिवर्ग में आती है।[७२]

डॉ० राकेश गुप्त के अनुसार काव्य-बोध इन्हीं छह अनुभूतियों से बनता है और इनसे भिन्न कुछ नहीं है। न वह अलौकिक है, न अनिर्वचनीय।[७३] यह मान्यता सर्वथा मनोविज्ञान-विरोधी है। मनोविज्ञान में काव्यानन्द को लोकोत्तर ही कहा जाता है :

"लक्ष्योन्मुख रहनेवाली (लौकिक) मूलप्रवृत्तियों की उदात्तरूपता से ही सौन्दर्यानन्द मिलता है। फलतः यद्यपि इसे आस्वादनीय (बाह्य) वस्तु की अपेक्षा नहीं होती, फिर भी प्रयोजन-परक आनन्द की सभी विशेषताएँ उसमें रहती हैं। यह आनन्दानुभव पूर्णतः सौन्दर्यानन्द है जो अपने-आपमें स्थिर रहता है, जिसका उद्देश्य उसी में है और जो जीवन के अन्य प्रयोजनों को पूर्ण नहीं करता।"[७४]

डॉ० गुप्त की छह अनुभूतियों को रसानुभूति के सन्दर्भ में देखा जाय तो भ्रान्तियों का निराकरण स्वतः हो जाता है—(क) सहानुभूति रसबोध में कभी-कभी सहायक हो सकती है, जैसे करुण रस में, परन्तु हास्य, श्रृंगारादि में उलटे सहानुभूति बाधक है। वस्तुतः सहानुभूति सर्वत्र बाधक तत्त्व है—जिससे हम सहानुभूति करते हैं, उसकी आनन्दात्मक अनुभूति में योगात्मक सत्ता नहीं रहती, यह गुप्त जी स्वयं मानते हैं। (ख) विरुद्धानुभूति तो रस-विरोधी तत्त्व है ही, जिसके प्रति विरुद्धानुभूति होती है, उसे लेकर क्रोध का उदय होता है, अतः उसके भाव का साधारणीकरण असम्भव है। (ग) काव्य से सहृदय अपने सुखों का स्मरण करता हो, ऐसा मनोवैज्ञानिकों के उक्त साक्ष्य से भी असिद्ध है। (घ) कौतूहल रसानुभूति में पूर्ववर्ती सहायक मात्र है, रस का घटक तत्त्व नहीं, अनुभूति-क्षण में कोई कौतूहल शेष नहीं रहता। (ङ) जीवन की घटनाओं का प्रतिफलन वस्तुरूप है, रसरूप नहीं, यह भी उक्त मनोवैज्ञानिक प्रामाण्य से सिद्ध है और वैसा प्रतिफलन उपदेशात्मक होता है, रसात्मक नहीं। (च) समीक्षा भी रसास्वाद से सर्वथा बाहर विश्लेषण एवं तर्क-बुद्धि की वस्तु है। वस्तुतः डॉ० गुप्त समानुभूति (Empathy) छोड़ गये जो मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है और कला के क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी भी है।

(७) **समानुभूति** (Empathy) :

समानुभूति आलम्बन (विषय) के प्रति अस्थायी तादात्म्य-विधान है जिसमें उस विषय को समझने का उद्देश्य रहता है, परन्तु स्थायी रूप से साम्यविधान नहीं होता। द्रष्टा अपनापन नहीं छोड़ता परन्तु सीमित समय के लिए आलम्बन की भूमिका ग्रहण कर लेता है।[७५]

समानुभूति का काव्य-क्षेत्र में दो दृष्टियों से महत्त्व है—(क) अनुकारक (कवि या नट) वर्ण्य चरित्र के साथ एकाकारता अनुभव करता या वैसा प्रकट करता है, (ख) रसिक भी अनुकार्य, अनुकारक के साथ समानुभूति रखता है, अतः सबमें एक प्रकार की भावधारा पायी जाती है। परन्तु पात्र के साथ तादात्म्य की अनुभूति ही रसानुभूति नहीं है, वह उसमें मनोवैज्ञानिक सहकारी अवश्य है। रसाभिव्यक्ति में वासनात्मक भाव (Instinct) का उदय होता है जिसमें विभावादि का तिरोधान हो जाता है। समानुभूति परिस्थिति लाने में सहायक है।

(८) **आनन्दानुभूति** (Pleasure) :

फ्रायड के अनुसार सभी मनुष्य सुख की खोज करते हैं और दुःख से बचना

चाहते हैं। उत्तेजना की वृद्धि दुःखानुभूति लाती है और उसकी अल्पता में सुखानुभव होता है। यह उसकी स्थापना पहले की थी, परन्तु आगे चलकर फ्रायड ने मान्य किया कि प्राथमिक सुख में उत्तेजना की अल्पता होती है जबकि चरम सुखानुभूति में पूर्णतया उत्तेजना का शमन हो जाता है। अन्य विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि सुखानुभूति के लिए मनुष्य में कुछ-न-कुछ दुःख-सहिष्णुता आवश्यक रहती है।[७६]

ध्वनिमत में जिस रसानुभूति की व्यञ्जना स्वीकार की गयी है वह फ्रायड की चरम सुखानुभूति है जिसमें उत्तेजनाओं का शमन अपेक्षित है अतएव उसे चेतना की विश्रामदशा कहा गया है और अभिनवगुप्त ने 'शम' को ही रस का आधार माना है।

काव्यशास्त्रीय भाव और मनोविज्ञान :

काव्यशास्त्रीय भावों को मनोविज्ञान की सीमा में सोचनेवाली प्रवृत्ति की तीन धाराएँ हैं—(क) यह सिद्ध करने के लिए कि पाश्चात्य सौन्दर्य-दृष्टि, काव्यविवेचन और मनोविज्ञान में कोई चीज ऐसी नहीं है जो प्राचीन आचार्यों को ज्ञात न रही हो, उन्होंने भरतमुनि तथा अन्य आचार्यों पर आधुनिक मनोविज्ञान को ज्यों-का-त्यों घटित करने की कोशिश की—यानी यह दिखाना चाहा कि रस-सिद्धान्त दर-असल एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है, और रस और भाव वास्तव में मैक्डूगल-शिण्ड-प्रभृति मनोवैज्ञानिकों द्वारा वर्गीकृत 'इमोशन्स्', 'सेन्टिमेन्ट्स्' और 'इन्स्टिङ्क्ट्स्' जैसी चीजें हैं। (ख) और चूँकि दोनों का समीकरण पूरी तरह सम्पन्न नहीं किया जा सका, इसलिए कुछ विद्वानों ने तो भरत मुनि तथा अन्य आचार्यों की गलतियों को सुधारने की भी चेष्टा की और रस, भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के प्राचीन वर्गीकरण को वैज्ञानिक और 'अप-टु-डेट' बनाने के दुःसाध्य प्रयत्न किये।[७७] (ग) इसलिए सेन्टिमेन्ट, इमोशन् या फीलिङ् से रस का समीकरण करने की अध्यापकीय प्रवृत्ति का अन्त होना जरूरी है, नहीं तो रस-सिद्धान्त में जो कालनिरपेक्ष सौन्दर्य-नियम निहित हैं, उनके प्रति संसार उदासीन बना रहेगा। रस कलानिर्मित (Creative process) और उसके आस्वादन (Aesthetic Experience) का संश्लिष्ट कन्सेप्ट है।[७८]

डॉ० शिवदान सिंह चौहान ने जो तीन प्रकार के विचारक बताये हैं उनमें प्रथम वर्ग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि का है। द्वितीय वर्ग में डॉ० राकेश गुप्त जैसे विद्वान् आते हैं जिनमें न केवल रससिद्धान्त की प्राचीनता के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, अपितु वे उसपर त्रुटियों का आरोप करने में आधुनिक मनोविज्ञान से सहायता लेते हैं। तीसरा वर्ग निष्पक्ष आलोचकों का है जिसमें डॉ० श्यामसुन्दर दास जैसे मनीषी आते हैं। डॉ० गुप्त ने पाँच वर्गों में भावों पर मनोवैज्ञानिक स्थापना की है :—

(क) रति, हास, उत्साह, विस्मय, जुगुप्सा, भय, क्रोध और शोक स्थायी भाव अनुभूतिमात्र हैं और संवेगात्मक प्रभाव के रूप में ही पाये जाते हैं।

(ख) चौदह संचारी भाव—निर्वेद, हर्ष, दैन्य, चिन्ता, त्रास, अमर्ष, गर्व, व्रीड़ा, शङ्का, आवेग, असूया, विषाद, औत्सुक्य और उग्रता—मानसिक प्रभावमात्र हैं।

(ग) धृति, अवहित्थ, तर्क और मति—ये चार—असंवेगात्मक अनुभूतियाँ हैं।

(घ) आलस्य, व्याधि, ग्लानि, श्रम और विबोध—ये पाँच—आङ्गिक प्रतीतियों से सम्बद्ध अनुभूतियाँ हैं।

(ङ) जड़ता, मरण, मद, निद्रा, स्वप्न, अपस्मार, मोह, स्मृति, उन्माद और चपलता—ये दस—अनुभूति या भाव नहीं हैं।[७९]

समीक्षा :

डॉ० गुप्त ने भरत के भावों को संवेगों में लेना चाहा तो उन्हें निराश होना पड़ा। निश्चय ही 'भाव' व्यापक शब्द है और ऊपर के मनोवैज्ञानिक वर्गों में एक साथ समाविष्ट नहीं हो सकता। जहाँ तक सहृदय का सम्बन्ध है, वह उन सबकी रसात्मक अनुभूति करता है, अतः सभी भाव हैं—जड़ता, मरण आदि भी भाव हैं, क्योंकि परिस्थिति-विशेष में उनकी रसनीय अनुभूति होती है। 'मरण' तो फ्रायड के अनुसार मूलप्रवृत्ति है क्योंकि वह अन्ततः 'लिबिडो' और 'डेथ', दो को ही मूल-प्रवृत्ति मानकर चलता है। वस्तुतः सहृदय की दृष्टि से सात्त्विक चेष्टाएँ भी भावात्मक होती हैं, अतएव उन्हें 'भाव' कहा गया है—भावित करना ही 'भाव' का लक्षण है। डॉ० गुप्त का वर्गीकरण अनुकार्य के सन्दर्भ में ही उचित हो सकता है।

जो भाव संवेगात्मक रूप में आते हैं उनको भी सहृदय प्रभावात्मक रूप में ही ले सकता है। उदाहरणार्थ, क्रोध संवेग की चेष्टाएँ सहृदय नहीं करता, प्रत्युत उससे प्रभावित होता है। मूलवासनात्मक अनुभूति ही काव्य की भावानुभूति है और उसकी व्यञ्जना का विवेचन ही ध्वनि-सिद्धान्त का लक्ष्य है। स्थायी भाव लोक में भले ही संवेगात्मक हों, काव्य में प्रभावात्मक अनुभूति ही ठहरते हैं—हास्य रस के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक स्थापना भी ऐसी ही है :—

> "हास्यानन्द चरम आनन्द है और शैशव की व्याप्ति से सम्बद्ध रहता है जिसमें कलाकार (जोकर) ऐसे शब्द खोजता है जो श्रोता में हँसी ला सकें और श्रोता में योग्यता होनी चाहिए कि आश्चर्यजनक विनोदप्रद अर्थ ग्रहण कर सके, किसी उक्ति या कविता से ऐसा प्रभाव हो सकता है।" "विनोद का यह आनन्द सौन्दर्यानन्द है जिसका सम्बन्ध उदात्तीकृत शक्ति के व्यय से रहता है।"[८०]

कतिपय भावों का मनोवैज्ञानिक पर्यालोचन :

(१) जड़ता :

भरत के अनुसार यह सभी कार्यों की अशक्ति (अप्रतिपत्ति) का नाम है जो इष्ट या अनिष्ट के श्रवण या दर्शन अथवा व्याधि आदि से उत्पन्न होती है। मौन, अज्ञान, अपलक दर्शन, परवशता उसकी कार्यभूत चेष्टाएँ हैं। मनोविज्ञान का 'ऐब्यूलिया' शब्द जड़ता के निकट है जिसमें संकल्पशक्ति की अयोग्यता, अनिश्चय, कार्य की अक्षमता आ जाती है। आघातात्मक अनुभवों से 'ऐब्यूलिया' (Abulia) का निश्चय होता है।[८१]

(२) शङ्का :

यह संदेहात्मक वृत्ति है जिसका कारण अपराध आदि होता है। मनोविश्लेषण में इसे 'ऐन्टिसिपेशन्' नाम दिया गया है जो मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी उत्तेजना से उत्पन्न होती है। शिशु में दण्ड पाने की संभावना आदि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।[८२] ऐन्टिसिपेशन् सुखात्मक संभावना का भी नाम है जबकि शङ्का का क्षेत्र दुःखात्मक ही है।

(३) चिन्ता :

भरत ने इसका कारण ऐश्वर्य-नाश, द्रव्यापहरण, दारिद्रय आदि को बताया है। निःश्वास, उच्छ्वास, सन्ताप, दुर्बलता आदि को सूचक चेष्टाएँ माना है। चिन्ता का कारण मानसिक तर्क-वितर्क भी होता है। मनोविज्ञान में भी वह दुःखात्मक संवेग है, परन्तु कायिक चेष्टाओं में उभरकर वह प्रभाव (Affect) का रूप लेती है। डॉ० राकेश गुप्त ने उसे प्रभावमात्र माना है जो अंशतः मनोविज्ञान-विरोधी कल्पना है। फ्रायड पहले मानते थे कि राग (लिबिडो) चिन्ता में परिवर्तन लेता है परन्तु बाद में चिन्ता और राग के पृथक् कारण मान्य किये। फलतः किसी भी इच्छा की हानि से चिन्ता उत्पन्न हो सकती है।[८३] चिन्ता एक मनःस्थिति का भी रूप लेती है जब उसका कारण बहुत गम्भीर युद्ध आदि होता है।[८४]

(४) धृति :

शौर्य, विभव, शास्त्र, उच्चाचरण, क्रीड़ा आदि अनेक विभावों से धृति की उत्पत्ति भरत को मान्य है। विषयों के प्रति चिन्ता का अभाव, उपेक्षासूचक चेष्टाएँ आदि अनुभाव हैं। इसमें भय, शोक, विषाद आदि का अभाव रहता है। मनोविज्ञान में इसे 'नियन्त्रण' (Control) नाम दिया गया है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व की वह योग्यता नियन्त्रण है जिसमें अहंकार (Ego) की दृढ़ता और संश्लिष्टता सम्मिलित रहती है। इसे आत्म-नियन्त्रण भी कहा जा सकता है। मनोविज्ञान का 'रिलैक्सेशन' भी एक प्रकार की धृति है जो प्रभावात्मक सुखात्मक उत्तेजना-हीन मनःस्थिति है जिसमें चेतना के स्तरों की समंजसता पायी जाती है। सन्तोष का भी धृति में ही समावेश है—सन्तोष मूलप्रवृत्तियों की शक्ति-हानि से उत्पन्न दुःख का परित्याग है जिसमें उत्तेजना से मुक्ति का सुख मिलता है। उत्तेजनाओं की सहिष्णुता भी एक प्रकार की धृति ही है।[८५]

(५) व्रीड़ा :

न करने योग्य कार्य का करना व्रीड़ा में प्रधान है। गुरुओं का व्यतिक्रमण, अवहेलना, प्रतिज्ञा-पालन न करना, पश्चात्ताप आदि इसके कारण हैं। मुख नीचे करता, मुख ढकना, चिन्ता करना, भूमिलेखन, अंगुलि से वस्त्रादि का स्पर्श, नाखूनों का खोंटना आदि चेष्टाएँ होती हैं। मनोविज्ञान में इसे दुःखात्मक प्रभाव कहा गया है जिसमें अपराध, असमर्थता, अवज्ञा का भय, अपमान या गुप्त बात का खुल जाना आदि कारण हैं। प्रदर्शन के विरुद्ध रक्षात्मक कार्य व्रीड़ा है जो इस आशंका पर अवलम्बित है कि बाह्य जगत् या अपना ही उच्च अहंकार कहीं प्रतिषेध न कर दे। फ्रायड ने व्रीड़ा और नैतिकता को ऐतिहासिक तत्त्व माना है (जो परम्परा से बद्धमूल होते हैं)।[८६]

(६) विषाद :

कर्तव्य-निर्वाह का अभाव, कार्य पूरा न होना, दैवी आपत्ति आदि से भरत विषाद की उत्पत्ति मानते हैं जिसकी चेष्टाएँ सहायता की खोज, उपाय की चिन्ता, उत्साह-हानि, अनमनापन, निःश्वास आदि हैं। अधम जनों में दौड़ भाग, ताकना, मुँह सूखना, ओंठ चाटना, अनिद्रा, आहें भरना आदि भी चेष्टाएँ देखी जाती हैं। मनोविज्ञान में इसे 'डिप्रेशन्' कहा जा सकता है, जो एक प्रकार का मानस रोग है, जिसमें रुचि का अभाव, आत्मोपघात की इच्छा, आत्मनिन्दा, अपराधी समझने की प्रवृत्ति आदि देखी जाती हैं। विषाद में, शोक के विपरीत, आत्म-दण्डन, रुचिहीनता, निद्रा और भूख का व्याघात पाये जाते हैं।[८७]

(७-८) निद्रा और सुप्त :

भरत ने 'निद्रा' को 'सुप्त' की पूर्वावस्था के रूप में मान्य किया है जिसके कारण दुर्बलता, श्रम, क्लान्ति, मद, आलस्य, चिन्ता, अतिभोजन आदि को माना है। उसमें शरीर का भारीपन, शरीर देखना, नेत्र-घूर्णन, अँगड़ाई, जँभाई, मन्दता, उच्छ्वास, गात्र-शैथिल्य, नेत्र-निमीलन आदि चेष्टाएँ होती हैं। निश्चय ही मनोविज्ञान में इसका प्रतिरूप नहीं है। 'सुप्त' के अनेक कारण हैं—निद्रा, विषय-भोग, मूर्छा आदि—मुख्य रूप से निद्रा ही सुप्त का कारण है। श्वास-प्रश्वास, गात्र-शैथिल्य, नेत्र-निमीलन, इन्द्रियों की निष्क्रियता, स्वप्न-दर्शन में बकना आदि 'सुप्त' की चेष्टाएँ हैं। सुप्त के दो भेद किये जा सकते हैं—सुषुप्ति और स्वप्न। मनोविज्ञान में सुषुप्ति (Sleep) विश्राम की इच्छा का तुष्टीकरण है जिसमें इन्द्रियों के बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यापार या तो निर्बल हो जाते हैं या शान्त रहते हैं। फ्रायड के अनुसार सुषुप्ति में 'अहम्' का केन्द्रीभाव होता है जिससे जीवन के सम्पूर्ण आकर्षणों से मानस शक्ति को समेट लिया जाता है। स्वप्न में इच्छाओं का आंशिक तुष्टीकरण और आंशिक अवसादन रहता है। स्वप्न का मुख्य कार्य है कि प्राणी सोता रहे। अचेतन प्रक्रिया के सहारे स्वप्न में बाह्य और आभ्यन्तर उद्दीपन सक्रिय रहते हैं। स्वप्न में पूर्ण सुख अथवा पूर्ण दुःख नहीं होते, वे तो जगने पर ही संभव हैं। अंशतः सुख और दुःख की अनुभूति स्वप्न का प्रदेय है। स्वप्न और सुषुप्ति दो दशाएँ हैं जो परस्पर भिन्न होने पर भी बाह्य रूप में समान होती हैं।[८८] पण्डितराज ने निद्रा को सुषुप्ति के अर्थ में लिया है।

(९) गर्व :

भरत के अनुसार ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन, विद्या, बल, धनलाभ आदि से गर्व होता है। ईर्ष्या, अवज्ञा, संघर्ष, उत्तर न देना, बात न करना, अपने अङ्गों का अवलोकन, विभ्रम, अपहसन, वाणी की कठोरता, गुरुओं का उल्लंघन, तिरस्कार-वचन आदि चेष्टाएँ होती हैं। मनोविज्ञान में गर्व (Pride) आत्मोत्कर्ष की अनुभूति है जो अपनी सफलता से उत्पन्न होती है। गर्व का सम्बन्ध मूलप्रवृत्ति से भी हो सकता है। यद्यपि साधारणतया गर्व व्यक्तित्व का भूषण है, तथापि अतिशयित होकर आत्म-महत्ता में परिणत होता है जो हीनभावना के प्रतिदान रूप में आकर व्यक्तित्व का भार बन जाता है।[८९]

(१०) हर्ष :

मनोरथ-लाभ, इष्ट-समागम, मनस्तोष, बड़ों की कृपा, उपभोग आदि से भरत हर्ष की उत्पत्ति मानते हैं। नेत्रों तथा मुख की प्रसन्नता, प्रियभाषण, आलिंगन, रोमांच, अश्रु, स्वेद आदि अनुभाव हैं। मनोविज्ञान में इसे 'इलेशन' कहा गया है जो प्रभावात्मक मनःस्थिति है जिसमें आत्मोत्कर्ष, आशा, प्रसन्नता, रागात्मक उपस्थापन, अहं-तुष्टि अथवा बाह्य लाभ अथवा दोनों सम्मिलित रहते हैं। इसकी प्रकृत (नार्मल) और अप्रकृत (ऐब्नार्मल) दोनों अवस्थाएँ होती हैं। हर्ष का एक रूप 'हैपीनेस्' भी है जो सुखात्मक अनुभूति है।[१०]

(११) असूया :

विविध अपराध, द्वेष, परैश्वर्य, परसौभाग्य, परमेधा, परविद्या आदि से असूया उत्पन्न होती है जिससे व्यक्ति सभा में दूसरे के दोष कहता है, गुणों पर प्रहार करता है, ईर्ष्या करता है, नेत्र-संकेत, भ्रुकुटी, अवज्ञा, गर्हणा आदि करता है (ईर्ष्या का ही यह बढ़ा-चढ़ा रूप है)। मनोविज्ञान में भी ईर्ष्या और असूया को पृथक् मानकर 'एन्वी' और 'जेलसी' नाम दिये गये हैं। ईर्ष्या (एन्वी) वह अनुभूति है जो तब अनुभव होती है जब व्यक्ति दूसरे की वस्तु चाहता है—चाहे वह भौतिक हो या गुणात्मक। ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे के सुख को अंशतः अपने में अनुभव करता और साथ ही समझता है कि उसमें अभीष्ट विषय का अभाव भी है। असूया (जेलसी) एक प्रकार की आशंका, भय, होड़ या निष्ठाहीनता है जो मिश्र प्रभावात्मक मनःस्थिति है जिसमें उक्त तथ्यों के साथ दुःख, द्वेष आदि सम्मिलित रहते हैं।[११]

(१२) रति :

यों तो रति केवल कामवासना-क्षेत्र की ही वस्तु नहीं, उसे स्नेहमात्र के रूप में देख सकते हैं, और भावध्वनि के सन्दर्भ में वैसा विचार किया भी गया है, परन्तु शृङ्गार रस के स्थायी भाव के रूप में ही भरत ने उसे परिभाषित किया है। रति प्रमोदात्मक है जो ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण, भोजन, वर-भवन, अनुकूलता आदि कारणों से उत्पन्न होती है। स्मित, कटाक्ष, मधुरकथन, भ्रूचालन आदि उसके अनुभाव हैं। मनोविज्ञान का 'एरास' इससे मिलता जुलता है। एरास प्राथमिक (आधारभूत) मूल प्रवृत्ति (वासना) है जिसका मुख्य कार्य संश्लेषण है। इसका कार्यक्षेत्र जीवन के आरम्भ से अन्त तक है और यह जीवन-मूल-प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होता है तथा मरण-मूल-प्रवृत्ति का विरोधी है। फ्रायड द्वेष, युद्ध आदि को 'डेथ-इन्स्टिङ्क्ट' की उपज मानता है और 'रति' या 'एरास' को उसके विपरीत जीवनवृत्ति स्वीकार करता है।[१२]

वस्तुतः मनोविश्लेषण का 'लिबिडो' युङ्ग के अनुसार सामूहिक चेतना की वस्तु है और उसी का एक रूप ही 'एरास' है। 'लिबिडो' को 'राग' और 'एरास' को 'रति' कहा जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रेम, स्नेह और रति को एक ही में गिन लिया है जबकि मनोविज्ञान में 'लव' को पृथक् मान्य किया है जिसे हम प्रेम और रति

दोनों रूपों में देख सकते हैं। 'लव' को प्रेम-पर्याय मान लें तो मनोविज्ञान में प्रेम वह प्रभावात्मक मनःस्थिति है या सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिवृत्ति है जो अपने प्रौढ़ रूप में होती है तो आलम्बन के प्रति अधिकार-भावना, एकात्म होना, कोमलता की भावना, देख-भाल करना, उसे सुख, सन्तोष आदि देना, यौन सुख देना-पाना, निकटता में सुख पाना आदि प्रतिक्रियाएँ देखी जाती हैं। भिन्नता, सहानुभूति, समानुभूति, लालसा, लगाव, निष्ठा आदि प्रेम की अभिवृत्तियाँ हैं। फ्रायड के अनुसार प्रेम यौन-प्रवृत्ति का ही रूपान्तर है। अपने प्रति या अपने आदर्श के प्रति या आदर्श व्यक्ति के प्रति प्रेम भी इसी में आता है।[९३]

(१३) क्रोध :

धर्षणा, आक्रोश, कलह, विवाद, प्रतिकूल आचरण आदि विभावों से क्रोध की उत्पत्ति होती है जिससे विकर्षण, नासा-स्पन्दन, नेत्रविकार, अधर-कर्तन, अधर-स्पन्दन, कपोलस्फुरण आदि चेष्टाएँ होती हैं। मनोविज्ञान में इसे 'हेट' कहा जा सकता है जो 'द्वेष' का नामान्तर है। किसी विषय के प्रति तीव्र विरक्ति, प्रतिकूलता या तीक्ष्णता को द्वेष कहते हैं जिसमें विषय को हत या आहत करके तुष्टि की तीव्र इच्छा रहती है। फ्रायड ने इसे अहंकारात्मक मूलप्रवृत्तियों में गिना है और अचेतन रागात्मक मूलप्रवृत्ति के विरोध में स्वीकार किया है। आगे चलकर (१९२० ई० में) फ्रायड ने प्रेम और द्वेष को 'इड' में समान स्थान दिया और उसे आक्रमणात्मक मृत्यु-मूलप्रवृत्ति के साथ परि-गणित किया जबकि प्रेम को यौन-मूलप्रवृत्ति के साथ स्थान दिया। द्वेष भी रति के समान ही अन्तःकरण के तीनों स्तरों में विद्यमान रहता है।[९४]

(१४) भय :

भरत ने भय का आश्रय (प्रकृति) स्त्री और नीच व्यक्ति को माना है। गुरुजन अथवा राजा के प्रति अपराध, हिंसक जन्तु, शून्य पर्वत, वन आदि का दर्शन, भर्त्सना, गर्जन, रात्रि, अन्धकार, उलूक, निशाचर आदि का शब्दश्रवण कारण हैं। कम्प, स्तम्भ, मुख-शोष, अधर चाटना, स्वेद, त्रास, रक्षा का अनुसन्धान, धावन, चिल्लाहट आदि अनुभाव हैं। मनोविज्ञान में भय के दो रूप हैं—(क) ज्ञात आलम्बन से भीतरी या बाहरी आक्रमण-शङ्का द्वारा भय का दुःखात्मक अनुभव होता है। (ख) संवेगात्मक भय, बाह्याभ्यन्तर चेष्टाओं के साथ सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभाव रूप में आक्रांत करता है। इससे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह प्रकट होता है कि भय का रूप प्रभाव (Affect) और संवेग (Emotion) द्वयात्मक होता है और वह अनुभूतिरूप भी होता है।

(१५) विषाद :

कार्य-निर्वाह के अभाव या दैवी आपत्ति से विषाद उत्पन्न होता है। सहायान्वे-षण, उपायचिन्तन, उत्साह-हानि, अनमनापन, निःश्वास, दौड़ भाग, निरुद्देश्य अवलोकन, मुखशोष, ओठ चाटना, निद्रा आदि उसकी चेष्टाएँ हैं। मनोविज्ञान में निकटवर्ती शब्द 'फ्रस्ट्रेशन्' है जिसकी उत्पत्ति मूल-प्रवृत्तियों की तुष्टि में व्याघात से होती है जबकि

जीवन-प्रवृत्ति या संहार-प्रवृत्ति का प्रवाह रुक जाता है। बाह्य कारणों से बाह्य विषाद होता है परन्तु उन कारणों से तादात्म्य स्थापित होने पर आन्तरिक विषाद बनता है।[९५]

(१६) हास :

भरत के अनुसार पर-चेष्टानुकरण, जादू, असम्बद्ध प्रलाप, मूर्खता आदि कारणों से हास की उत्पत्ति होती है। मनोविज्ञान में इसे तीन प्रकार से देखा जाता है—(क) ह्यूमर में 'जोक' की अपेक्षा अन्य प्रकार का गौरव होता है। दोनों ही कलात्मक आनन्द के कारण हैं। ह्यूमर की उत्पत्ति 'अहम्' की विजय से होती है जिससे व्यक्ति को कष्ट-मुक्ति अनुभव होती है। (ख) 'जोक' अथवा 'विट्' कलात्मक रचना है जिससे सुखात्मक अनुभूति होती है (मनोविज्ञान दोनों को रसात्मक मानता है)। (ग) हास वस्तुतः अपने वास्तविक रूप में अनचाहे कायिक रूप में प्रकट होता है। इसे 'लाफ्टर' नाम दिया गया है।[९६] काव्यशास्त्र का हास भाव प्रथम दो रूपों में और अनुभाव तृतीय में देखा जाता है। भरत ने 'हसित' आदि को चेष्टात्मक अनुभाव माना है।

(१७) शोक :

इष्टजन-वियोग, विभव-नाश, वध, बन्धन, दुःखानुभव आदि से शोक उत्पन्न होता है। अश्रुपात, रोदन, वैवर्ण्य, स्वरभङ्ग, गात्र-शैथिल्य, भूमि-पतन, क्रन्दन, दीर्घश्वास, जड़ता, उन्माद, मरण, मोह आदि अनुभाव हैं। मनोविज्ञान में प्रिय वस्तु की वास्तव हानि से जो दुःखानुभूति होती है, वह शोक है जिसकी प्रतिक्रिया में नैराश्य, अरुचि, विरक्ति, निष्क्रियता आ जाती है। प्रकृत रूप में कुछ समय के अनन्तर मूल-प्रवृत्तियों की सामान्य दशा आ जाती है। कुछ अवस्थाओं में अवसाद, उदासी रोग भी पाये जाते हैं।[९७]

× × ×

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भावों के विषय में मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र मत-भेद नहीं रखते। अनुभूति, प्रभाव, मूलप्रवृत्ति, अनुभव आदि सभी रूपों में भाव की सत्ता है। वह सब कुछ 'भाव' है जो मनोदैहिक रूप से घटित होता है और सहृदय को विशेष अनुभूति में तल्लीन करने की क्षमता रखता है। भाव को किसी एक मनोवैज्ञानिक अर्थ में नहीं ले सकते।

रस-ध्वनि का मनोवैज्ञानिक स्वरूप :

ध्वनि-सिद्धान्त में तथा अन्य मतों में भी रस को परमानन्द माना है। मनोविज्ञान भी इसमें एकमत है। भारत के ही सब मत एक प्रकार से नहीं सोचते तो आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से देखने पर चिन्तन-प्रणाली का अन्तर होना स्वाभाविक है, परन्तु परिणामगत अन्तर शून्य-प्राय है। कतिपय तथ्यों को सामने रखते हुए इसपर विचार किया जा रहा है :

(क) आधुनिक मनोविज्ञान में भी सुख और दुःख व्यक्ति की मूल वृत्तियों से सम्बद्ध हैं; हेतुवादी दृष्टि (Teleological approach) से कहा जायगा कि व्यक्ति के

अन्तिम लक्ष्य के आधार पर सुख का निर्णय होता है जबकि कार्य-कारण-सम्बन्धवादी (वैज्ञानिक) दृष्टि से कहा जायगा कि मूल-प्रवृत्ति-जनित उत्तेजनाएँ और तनाव व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति के प्रति उत्तरदायी हैं। दुःख-निवारण और सुखानुभूति के लक्ष्य कभी एक नहीं होते। क्षणिक दुःखों की सहिष्णुता से ही सुख मिल सकता है। जो जितना ही सुख चाहेगा, उसे उतनी ही दुःख-सहिष्णुता अपनानी होगी। यही संक्षेप में मनोविज्ञान का सुख-दुःख-सिद्धान्त है।[९८]

आधुनिक मनोविज्ञान में सुख की दो अवस्थाएँ मान्य हैं—प्रथम को भङ्गुर सुख (Fore-pleasure) और दूसरे को परमसुख (End-pleasure) कहते हैं। पहले में उत्तेजनाओं की वृद्धि रहती है जबकि दूसरे में उत्तेजनाएँ शान्त हो जाती हैं। फ्रायड की धारणा है कि कलाकार प्रथम कोटि का सुख प्राप्त करता है जब रचना करता है और सहृदयों को सौन्दर्य-सुख देता है। फ्रायड यह मानता है कि कवि के मानस-रहस्यों का मनोविश्लेषण को कोई पता नहीं, अतः उसकी सीमाएँ हैं। दुःख और प्रथम कोटि के सुख की अनुभूतियों में मनोदैहिक उत्तेजनाएँ कारण हैं फिर भी दुःखानुभूति की अपेक्षा सुखानुभूति में या तो उत्तेजनाएँ मात्रा में अल्प होती हैं या उनके लय में विशिष्टता रहती है।[९९]

सौन्दर्यानन्द को मनोविज्ञान में उद्देश्य-मुक्त सुख माना गया है। वह अपने-आपमें प्रयोजन है, उद्देश्य है, उसे बाह्य प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती, तभी वह शुद्ध सौन्दर्यानुभूति है। यदि किसी व्यक्ति में प्रयोजन-मुक्त मूल-प्रवृत्ति (या वासना) नहीं है तो उसे इन्द्रिय-सुख (Fore-pleasure) ही मिलकर रह जायगा और कुछ समय बाद वह सुखाभाव में बदल जायगा (स्पष्ट है कि उसे साधारणीभूत स्थायी भाव-वासना की अनुभूति न होगी), यदि वह व्यक्ति कला-दर्शन के तुरन्त बाद इन्द्रियों की भूख बुताने का साधन नहीं पा जाता। उदाहरणार्थ, इन्द्रिय-प्रयोजन लेकर कोई व्यक्ति नग्न-चित्र देखेगा तो केवल उसे एक उदाहरण ही नग्नता का मिलेगा, वह चित्र न देख पायगा, वह तो यौन बुभुक्षा की तुष्टि में दत्तचित्त होगा। उसी चित्र से दूसरा कोई सहृदय सौन्दर्यानन्द पाता है जबकि वासना-तुष्टि हेतु देखनेवाला नहीं पाता। अप्रकृत मानसरोगी सौन्दर्यानुभूति को आत्मरक्षा का साधन बना लेता है—वह भी सच्ची कलानुभूति नहीं पाता। सौन्दर्यानुभूति सम्पूर्ण आकृति को लेती है, उसके अङ्गों को नहीं (Aesthetic experience is dependent on form than on content)। फ्रायड परिहास (Joke) इत्यादि में निम्नकोटि का ही सुख मानता है, उसमें क्षणिक सुख (Fore-pleasure) ही मिलता है। क्रिस की मान्यता है (१९५२ ई०) कि कला अपने-आपमें आनन्दप्रद है जिसमें भावावेश (Passion) से मुक्ति मिल जाती है, उसमें कलाकार द्वारा निर्मित प्रातिभ सौन्दर्यानुभूति का शासन रहता है, व्यावहारिक उत्तेजनाएँ वहाँ शान्त हो जाती हैं।[१००]

उक्त मान्यता से ध्वनिमत या किसी काव्यमत का कोई विरोध नहीं, जिसे रस-ध्वनि के सन्दर्भ में देख चुके हैं।

(ख) ऊपर क्रिस महोदय के विचार दिये गये हैं। वे लौकिक भावावेश के शमन में ही सौन्दर्यानुभूति मान्य करते हुए मात्रागत अन्तर भी स्वीकार करते हैं। सभी लोग पूर्णतया आवेशमुक्त नहीं हो सकते, अतः लौकिक अपेक्षाओं का मोचन जितनी ही मात्रा में होगा, उतना ही सौन्दर्यानन्द मिलेगा। मनोविज्ञान, इस प्रकार, रस को निरपेक्ष आनन्द मानता है जिसमें बाह्य लौकिक अपेक्षाओं का शमन आवश्यक शर्त है। निरपेक्ष आनन्द ही योगियों का आत्मानन्द है, जिसे आध्यात्मिक सुख कहा जाता है। रस भी आध्यात्मिक सुख के रूप में ही ध्वनिमत में मान्य रहा है, भले ही वह यौगिक आनन्द से भिन्न हो और भले ही उसमें वासना का योग हो। ऐसी दशा में यदि 'आत्मा' का मनोवैज्ञानिक अर्थ समझ लिया जाय तो आध्यात्मिकता से भी चिढ़ने का कारण न रहेगा।

आस्तिक दर्शनों में आत्मा की सत्ता मनोदैहिक संरचना से पृथक् मानी गयी है, अतः आत्मानन्द या आध्यात्मिक सुख का अर्थ यही होता है कि मनोदैहिक समवाय से परे चेतना में पहुँच जाना, जिसमें लौकिक सीमाओं के दुःख का स्पर्श नहीं होता। कहना न होगा कि वासना की क्षीण वृत्ति के रहते हुए भी रस आत्मानन्द का ही रूप है। जैन-दर्शन में यह आत्मा व्यापक न होकर शरीर के ही परिमाण में रहता है अतः मनोविज्ञान एवं विज्ञान के अधिक निकट है। अन्तर यही है कि जैनमत का आत्मा मनोदैहिकता से पृथक् चैतन्यरूप है।

मनोविज्ञान में आत्मा बाह्य जगत् के विषयों से पृथक् व्यक्ति का अपना रूप है, वह व्यक्ति की सम्पूर्ण उपस्थापनाओं (क्रिया-प्रतिक्रिया, कार्यकलाप आदि) का अहंकार-केन्द्रित समवाय है। उसे एक शून्य-बिन्दु कह सकते हैं जिसके प्रति समस्त मनोदैहिक स्थितियों को सन्दर्भित किया जाता है और सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं एवं स्थितियों को जिसकी अपेक्षा में निर्णीत किया जाता है। अहं तत्त्व के विकास के साथ आत्मा का स्वरूप खड़ा होता है—बालक अपने प्रत्यक्षण के परिणामस्वरूप कायिक अहन्ता विकसित कर लेता है जिसमें वह अपनी कायिक अभिमूर्ति को बाह्य वस्तुओं से अलग समझने लगता है। इस प्रकार की असंख्य अवधारणाओं के समवाय (Totality), अहंकार और प्रतीतियों के असंख्य पुञ्ज को कुल में लें तो वही आत्मा है। (बौद्धों ने आत्मा को प्रत्यय-प्रवाह-रूप में माना है जो उक्त मान्यता के सर्वथा निकट है।)

द्रष्टा या आत्मा का स्वरूप जब दृश्य या विषय की अपेक्षा में पृथक्ता देकर मान्य किया जाता है तब मनोविज्ञान दोनों (Subject and object) में सीमारेखा नहीं कर पाता। अधिक अनुभवी तथा सूक्ष्म मानस बहुत से विषयों को आत्मगत (Subjective) मान लेता है और इस प्रकार आत्मा की सीमाएँ छोटी बड़ी हो सकती हैं क्योंकि वह तो प्रत्ययों का ही बंडल है। एक प्रवृत्ति महत्त्व की है कि सुख को आत्मीय और दुःख को परकीय (विषयगत) माना जाता है—अर्थात् सुख ही आत्मा है और दुःख अनात्मा है (The most important in this selective influence is the attempt to identify pleasure with the self and unpleasure with the not-self).[१०१]

मनोविज्ञान के आत्म-तत्त्व से स्पष्ट है कि हमारी प्रतीतियाँ दो भागों में विभक्त हैं—सखण्ड और अखण्ड। सभी व्यावहारिक प्रत्ययों को सखण्ड कहा जायगा क्योंकि

उनमें हमारी उत्तेजनाएँ एक सीमा में ही सुख या दुःख का प्रत्यय कराती हैं। आत्मा अपनी समग्रता में जब पहुँचता है—जिसका तात्पर्य मनोविज्ञान में इतना ही है कि वह सीमित सुख-दुःख की उत्तेजनाएँ देनेवाले विषयों से उदासीन (Neutral) हो जाता है—तब उसे आत्मानुभूति की दशा कहेंगे और यही दशा तो रसदशा है जिसमें वासनात्मक उत्तेजनाओं का पूर्ण अभाव मनोविज्ञान को भी मान्य है। ध्वनिमत यहाँ पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है क्योंकि वह आत्मा की कोई विशिष्ट दार्शनिक परिभाषा नहीं करता। आत्मा का जो दर्शन जो स्वरूप मानता हो, वैयक्तिक एषणाओं से परे उसका अखण्ड रूप आता है और वह आत्मा की स्वरूपस्थिति है, पूर्ण विश्राम-दशा है और वही रस है।

(ग) जब फ्रायड परिहास-विनोद में कला का परमानन्द अमान्य करता है, तो वह ध्वनि-सिद्धान्त के अत्यन्त निकट आ जाता है। ध्वनिमत में सभी रस रसाभास हो जाते हैं, यदि उनमें औचित्य की कमी हो। रसाभास पूर्ण रस की गरिमा नहीं लेता, केवल लौकिक सुख जैसा ही अनुभव होता है। भरत ने इसीलिए रसानुकरण को हास्य माना है जिसपर प्रथम अध्याय में विचार हो चुका है। रस की तो मूल सत्ता ही परमानन्द के सिद्धान्त पर टिकी है, अतः उससे नीचे कोई रस हो ही नहीं सकता और मनोविज्ञान भी उसे सापेक्ष सुख की कोटि में लेता है। फ्रायड ने जो निर्वसन चित्र का उदाहरण दिया है, उससे भी स्पष्ट है कि मर्यादाहीनता में परमानन्द की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और एषणा-परक उत्तेजनों की भरमार रहती है। यही कारण है कि ध्वनिमत में सामाजिक औचित्य को रस का परम रहस्य माना है :

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रस-भङ्गस्य कारणम्।
औचित्य-परिपोषस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (ध्वन्यालोक)

रस और रसाभास का दायित्व बहुत कुछ सामाजिक है और मनोविज्ञान-सम्मत चर्चा की जाय तो इसका सम्बन्ध सामाजिक मूल-प्रवृत्ति (Social instinct) से है जिसके अनुसार मनुष्य सामाजिक उत्थान का उत्तरदायित्व अपने पर लेने को विवश रहता है।[१०२]

(घ) ध्वनि-सिद्धान्त में वासना को ही रस का आधार माना गया है। प्रश्न यह है कि क्या भावों का वासनात्मक रूप मनोविज्ञान-सम्मत हो सकता है। स्मृति-जीन्स् (Memory-geres) के अनुसार उसपर वैज्ञानिक व्याख्या की जा चुकी है। मनोविज्ञान में सामूहिक अन्तश्चेतना (Collective consciousness) का सिद्धान्त वासना को पूर्ण स्वीकृति देता है। यहाँ वासना का सम्बन्ध वैयक्तिक पुनर्जन्म से न होकर आनुवंशिक पुनर्जनन से ठहरता है। फ्रायड ने (१९१३ में) मान्य किया था कि मानसिक प्रक्रिया एक पीढ़ी से दूसरी में संक्रमण करती है। उसने (१९३९ में) स्पष्ट किया कि मानस-संस्थान के तत्त्व आनुवंशिक होते हैं जिसके कारण भाषा आदि की आनुवंशिकता घटित होती है। बच्चों की प्रतिक्रियाएँ मूलप्रवृत्ति-जनित होती हैं जिससे प्रमाणित होता है कि उन्हें मानसिक विरासत प्राप्त होती है।

हार्टमन (Hartman) ने (१९६४ में) निश्चित किया कि फ्रायड के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ ही नहीं, अहंता भी आनुवंशिक होती है। हार्टमन के अनुसार जन्मजात संस्कार ही व्यक्ति का स्वत्व होते हैं जिनके आधार पर वह बाह्य जगत् से विविध सम्बन्ध बनाता है।[१०३]

अन्तश्चेतना के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों की मान्यता रही है कि अनेक प्रभाव, संवेग और कार्य अचेतन होते हैं और यह भी मान्य किया गया है कि भाषा-शैली, प्रतीक और रूपक आनुवंशिक अहंता तथा मूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। फ्रायड ने जातीय स्मृति का भी सिद्धान्त बलपूर्वक स्वीकार किया है। उसकी स्पष्ट धारणा है कि 'अचेतन स्मृति' में आनुवंशिक तत्त्व संकलित रहते हैं और उनका मनोवैज्ञानिक तथा जीव-वैज्ञानिक महत्त्व है। युङ्ग ने सामूहिक अचेतन को केवल आनुवंशिक ही नहीं, मानव-समाज से सम्पृक्त बताते हुए भाषा, प्रतीक, व्यवहार-प्रणाली आदि को उसी से जोड़ा है।[१०४] कालिदास ने ऐसे ही प्रत्यय को 'अबोध-पूर्वक स्मृति' कहा है जिसमें रमणीय वस्तुओं को देखकर या मधुर शब्द सुनकर मनुष्य में विलक्षण उत्सुकता जाग उठती है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि॥

(ङ) ध्वनि-सिद्धान्त जितना रचयिता को अनौचित्य से सावधान करता हुआ औचित्य के साथ उच्चतम भावाभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है, मनोविज्ञान में उतना ही बल उदात्तीकरण पर दिया जाता है। मनोविश्लेषण में वासनाओं की उदात्तीकृत अभिव्यक्ति ही रचना का सर्वस्व है और वही प्रतिभा का उच्चतम निदर्शन है—वह प्रतिभा वैज्ञानिक तथा कलात्मक क्षेत्र में देखी जाती है। फ्रायड कलात्मक रचना को व्यावहारिक सीमाओं से पृथक् मानता है। यही तो ध्वनिमत में लोकोत्तर अनुभूति की वस्तु कही गयी है और वही ध्वनि है। कला में मूल-वासना की तुष्टि उदात्तीकरण के माध्यम से होती है जिसमें लौकिक तुष्टि पर रोक लगी रहती है।[१०५]

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्याय में दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्यों से ध्वनि-सिद्धान्त की कतिपय मान्यताओं का आलकन करते हुए देखा गया कि सोचने के ढङ्ग में विविधताओं के रहते भी मूल अवधारणाएँ प्रायः एक हैं। ध्वनिमत को हम जितना दार्शनिक मानकर चलते हैं, उसे उतना ही वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक भी कह सकते हैं क्योंकि ध्वनिमत एक काव्य-दर्शन है जो कलात्मक अनुभूति के माध्यम 'काव्य' की व्याख्या करता है। वह किसी दर्शनविशेष को मूलाधार बनाकर कोई आग्रह नहीं रखता। व्यञ्जना शब्दशक्ति की अवधारणा आज के प्रतीकवाद में, भाषाविज्ञान में और मनोविज्ञान में भी मान्य है। यद्यपि मनोविज्ञान का प्रतीक-विधान एक अचेतन प्रक्रिया है जिसमें प्रस्तुत वस्तु का अप्रस्तुत वस्तु में रूपान्तरण होता है, तथापि प्रतीक के स्वरूप की व्याख्या 'व्यञ्जक शब्द' के समझने में सहायक है। फेनीखेल (Fenichel) के अनुसार

(१९४५) प्रतीक चेतन तत्त्व है जबकि उसका अर्थ अचेतन की वस्तु है और प्रतीक-विचार अस्पष्ट रहते हैं। प्रतीक दो या अधिक विचारों को प्रतिनिधित्व या अभिव्यक्ति देते हैं। भाषा के सन्दर्भ में प्रधानीभूत अर्थ प्रतीयमान रहता है। इससे ध्वनिसम्बन्धी 'व्यञ्जना' को अनजाने ही मनोवैज्ञानिक समर्थन मिल जाता है।[१०६]

ध्वनिकार ने काव्य की रचना-प्रणाली का विश्लेषण न करके रचना का ही पर्यालोचन किया है। फ्रायड भी रचना-प्रक्रिया समझाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से रहता है जो गहन एवं जटिल है परन्तु रचना का प्रभाव सर्वमान्य तथा सर्व-वेद्य रहता है, अतः दोनों उसी का स्वरूप समझने-समझाने का प्रयास करते हैं।

आगामी अध्याय में देखा जायगा कि पाश्चात्य काव्य-समीक्षा में ध्वनि-सिद्धान्त के तत्त्व किस प्रकार निगूढ़ हैं। जैसे, भारत में 'पाई' का सिद्धान्त प्रक्रियात्मक रूप से गणित में बहुत पहले से चल रहा था जबकि 'पाई' नामकरण यूनान में हुआ। इससे चिन्तन-धाराओं की समानता पर प्रकाश पड़ता है। बाह्य उपस्थापनाओं में अन्तर रहता है पर मूल चेतना-धारा एक लगती है।

पाश्चात्य समीक्षा और ध्वनि-सिद्धान्त 13

पाश्चात्य समीक्षा की लम्बी परम्परा में रस-सिद्धान्त तथा ध्वनि-सिद्धान्त जैसी पद्धति की स्पष्ट धारा का अभाव है। चिन्तन की विविधताओं में ऐसे तत्त्व अवश्य खोजे जा सकते हैं कि भारतीय समीक्षा-प्रणालियों के मेल में रखा जा सके और तुलना करते हुए भारतीय सिद्धान्तों को पुनर्मूल्यांकन या नूतन परिप्रेक्ष्य दिया जा सके। ऐतिहासिक क्रम से लेने पर महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता पाया जा सकता है जिनका महत्त्व ध्वनिमत के परिवेश में अप्रतिम है।

प्लेटो का अनुकरण-सिद्धान्त :

प्लेटो के दो ग्रन्थ हैं—'रिपब्लिक्' और 'लाज़्' दोनों में काव्य-सिद्धान्तों का अपेक्षित विवेचन है। विद्वानों ने 'लाज़्' की शैली को अधिक कलात्मक माना है, यों दोनों ग्रन्थ संवादशैली में लिखे जाने के कारण नाटकीय आनन्द देते हैं। 'रिपब्लिक्' का मुख्य पात्र 'सुकरात' है, जो प्लेटो का गुरु था, अतः हो सकता है कि प्लेटो ने वे विचार सुकरात से ही ग्रहण किये हों। इन ग्रन्थों से जो मुख्य तथ्य सामने आते हैं, उन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है।

भारत में न्यायमत रसानुमिति का आधार अनुकरण को मानता है, वर्ण्य पात्र को अनुकार्य और और नट या कवि को अनुकारक मानता है। लगभग यही मान्यता भट्ट लोल्लट जैसे मनीषियों की थी जो अनुकारक में रसोत्पत्ति को रसनिष्पत्ति मानते थे। अभिनव ने अनुकरण को सामान्य अर्थ में भाँड़ों की नकल मात्र माना क्योंकि ऐतिहासिक पात्रों का स्वरूपतः अनुकरण असंभव होता है। भरत ने भी शृङ्गारानुकृति को हास्य कहकर अभिनव की मान्यता को आधार दिया है। भरत ने नाट्य को लोकव्यवहार का अनुकरण कहकर 'अनुकरण' को विशिष्टता प्रदान की है और इसी आधार पर शङ्कुक का अनुकृति-सिद्धान्त टिका है, परन्तु अभिनव उससे अंशतः सहमत हैं। उनका कहना है कि चरित्र की प्रकृति का उपस्थापन अनुकरण का एक पक्ष है और दूसरा पक्ष है स्वरूपावच्छादन—अर्थात् नट या कवि अपने को सामने लाने में ध्यान रखता है कि उसमें अभिनेय पात्र की तद्रूपता भासित हो। स्वरूपावच्छादन से रसानुभूति में आनेवाली बाधाएँ दूर होती हैं, यही उसका प्रयोजन है।

प्लेटो अभिनवगुप्त के समान ही कहते हैं :

"यदि कवि अपना व्यक्तित्व अवच्छादित न करे तो काव्य से अनुकरण पूर्णतः अनुपस्थित रहता है। मान लिया जाय कि होमर वर्ण्य पात्र के रूप में न आकर इस

प्रकार से काव्य में प्रस्तुत हो कि आप उसे अब भी होमर ही मानते रहें तो यह अनुकरण नहीं हुआ, प्रत्युत साधारण कथन रहा।"[१]

प्लेटो अनुकरण की पूर्णता इसमें मानता है कि कवि-कथन में शब्दों का परिज्ञान ही न रहे, केवल संवाद (कथ्य) शेष रहे। हम कथन से भिन्न रूप काव्य से ग्रहण करते हैं। उसकी धारणा है कि बहुत सी बातें अनुकरणीय नहीं होतीं अतः उन्हें छोड़ देना चाहिए।[२]

प्लेटो यहाँ स्पष्ट ही ध्वनिसिद्धान्त की इस मान्यता का समर्थन करता है कि काव्य में शब्द और वाच्यार्थ गौण होते हैं, उनकी सामग्री से व्यक्त होनेवाला अर्थ ही प्रधान चमत्कार लाता है। यह बात दूसरी है कि प्लेटो अपने राज्य में कवियों को महत्त्व देने के प्रति अत्यन्त उदासीन है, फिर भी वह इस प्रश्न को भविष्यत् परिस्थितियों पर छोड़ देता है। वह नैतिक उपयोगिता के आधार पर ही काव्य को मान्य करता है, अतः प्रत्यक्ष का ही अनुकरण उचित ठहराता है, यद्यपि जनता उस ओर अधिक आकृष्ट नहीं होती।[३] जनसाधारण को प्रिय लगनेवाला काव्य यदि नैतिक गुणों से रहित है, और ऐसा कवि प्लेटो के पास राज्य में स्थान पाने की इच्छा करता है, तो वह उसके समक्ष उसी प्रकार घुटने टेक देगा जैसे किसी पवित्र, विलक्षण एवं मनोहर जीव के सामने, और कहेगा कि राज्य में आप जैसा कोई व्यक्ति नहीं है, परन्तु आपका राज्य में स्थान पाना अवैध है।[४]

भट्ट शङ्कुक ने अनुकरण को इतना महत्त्व दिया है कि वे उसे चार लौकिक प्रत्ययों से भिन्न चित्रात्मक प्रत्यय मानते हैं जिससे रसानुभूति होती है, परन्तु प्लेटो आगे चलकर अनुकरण का उपहास करता है। उसने पलँग के चित्र का ही उदाहरण लेकर बताया है कि कोई कलाकार वस्तु-सत्य की अनुकृति कर ही नहीं सकता—वह तो अंश की अनुकृति करता है। क्या चित्रकार पूर्णता में पलँग को अनुकृत कर सकता है?[५]

रस के विषय में प्लेटो जागरूक दिखायी देते हैं। उनकी अपेक्षित दृष्टि करुण रस पर गयी है :

> "जो शोक वह भावित करता है (Beholds) उसके पात्र अपने नहीं होते। इसमें उसे कोई संकोच नहीं होता कि वह उसकी प्रशंसा करे और दूसरे पर करुणा करे, जो (अनुकम्पनीय) व्यक्ति भला है और जब उस महापुरुष पर संकट-कालिक दुःख आ पड़ता है। दूसरी ओर वह (सहृदय) आनन्द (Pleasure) का स्पष्ट लाभ लेता है और वह उस (करुण) कविता को तुच्छ मानकर आनन्द से वञ्चित नहीं होना चाहता। ऐसा बहुत कम होता है कि हम उस भाव (Sentiment) पर, जो दूसरे व्यक्ति (अनुकार्य) से हममें आये हैं, तर्क करें क्योंकि यदि दूसरे के संकट में अनुकम्पा का भाव अपने में पा लें और दृढ़ कर लें तो उसे अपने आपमें रोक नहीं सकते।"[६]

करुण को लेकर प्लेटो के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं :

(क) काव्य में दूसरे के शोक का आनन्दात्मक अनुभव होता है।

(ख) सहृदय करुण कविता का आनन्द अवश्य लेना चाहता है और उसे महान् समझता है ।

(ग) हम अनुकार्य पर दया तो कर सकते हैं, यद्यपि यह वे ही करते हैं जो तर्क से काम लेते हैं, परन्तु अपने पर कभी दया नहीं करते ।

(घ) यह दया तर्क की देन है जो (रसात्मक) आनन्द से बहिर्भूत है ।

(ङ) करुण रस दूसरे के संकट का सुखात्मक अनुभव है ।

हास्यरस के विषय में प्लेटो अत्यन्त स्पष्ट हैं, पर उसे तुच्छ मानते हैं :

"यदि आपपर कोई परिहास करे तो आप लज्जित होंगे, परन्तु हासानुकरण (Comic imitation) में अपरिमित आनन्द लेते हैं; कविता में ही, नहीं अपने वैयक्तिक परिवेश में भी, और जब आप उपहसनीय व्यक्तियों की अनैतिकता के प्रति द्वेष नहीं करते (उलटे आनन्द लेते हैं) तो आप वैसा ही आचरण करते हैं जैसा करुण रस में पात्र के प्रति दया न करके कर रहे थे ।"

तात्पर्य यह कि तर्कशील प्राणी करुण प्रसङ्ग में पात्र के प्रति दया कर सकता है और हासानुकरण में अनैतिकता के प्रति द्वेष कर सकता है, परन्तु ऐसा व्यक्ति रसात्मक आनन्द नहीं ले सकता । आनन्द लेनेवाला तो दया और द्वेष से रहित दूसरे के शोक और हास का लाभ ही लिया करता है । प्लेटो आगे कहते हैं :

"हँसने की इच्छा आप अपने बारे में इसलिए रोक रखते हैं कि मूर्ख माने जायँगे, जबकि थियेटर में आप हास्य के ही शासन में आ जाते हैं, आपकी मनोदैहिक प्रतिक्रियाएँ आविष्ट (Lusty) हो जाती हैं, आप प्रायः वैयक्तिक सम्बन्धों के प्रति जागरूक नहीं रह पाते, आप हास्याभिनेता के बिन्दु पर पहुँचा दिये जाते हैं ।"[७]

इस प्रकार प्लेटो प्रकारान्तर से रस को निर्वैयक्तिक अनुभूति मान लेते हैं, यद्यपि उसे ऊँचा पद नहीं देते—तर्कशक्ति का खो जाना उनकी दृष्टि में दुर्बलता या दोष है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसनिरूपण के सन्दर्भ में नव्यमत की उपस्थापना करते हुए यही बात स्पष्ट की है कि भावुकता एक दोष है जिससे आविष्ट होकर सहृदय तन्मयता लाभ करता है ।

करुण के प्रति प्लेटो सहिष्णु हैं और हास्य को भी अपेक्षणीय मान सकते हैं परन्तु शृङ्गार, रौद्र आदि को सर्वथा असामाजिक मानते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि :

"ये आत्मा की दुःख-सुखात्मक वृत्तियाँ हैं जो हमारे कार्यों में साथ रहती हैं । काव्यानुकरण वैसा ही (व्यावहारिक) प्रभाव हमपर डालता है जिससे हमारे भाव (Emotions) पोषण और सेचन पाते हैं, जिसे सूख जाना चाहिए था, ताकि हम बुरे और दुःखी बनने के बजाय भले और सुखी बन सकें ।"[८]

स्पष्ट है कि यहाँ प्लेटो रस को लौकिक सीमाओं से ऊपर नहीं मानते और उसके प्रभाव को चरित्र-निर्माण में बाधक मानकर दर्शन को महत्त्व देते हैं । उनकी दृष्टि में

दार्शनिक व्यक्ति ही अनुकरणीय चरित्र की प्रतिष्ठा कर सकता है। वे होमर को भी सीमित महत्त्व ही देते हैं :

> "जब कविता का लक्ष्य आनन्द और अनुकरण है तो सुव्यवस्थित राज्य में उसकी क्या आवश्यकता ? हम जानते हैं कि कविता हमपर संमोहन करती है। सत्य के प्रति छलना करने से वह अपावन है। होमर में भी सर्वोपरि संमोहन (Magic) विद्यमान है।"[९]

संमोहन की चर्चा से प्लेटो काव्य की व्यञ्जनाशक्ति के निकट दिखायी देते हैं, परन्तु वे तर्कशास्त्र के अधिक निकट हैं जिसमें असत् का आनन्द ही रस है, जैसा न्यायमत की विवेचना में देखा जा चुका है। भारतीय तर्कशास्त्र काव्य के असत् आनन्द को भी गर्हणीय नहीं मानता जबकि प्लेटो उसे त्याज्य मानते हैं। करुण रस के विवेचन में प्लेटो साधारणीकरण की सी स्थापना प्रस्तुत करते हैं, परन्तु अन्यत्र वे रस को एक प्रकार का क्षणिक भौतिक सुखमात्र मानते हैं।

'लाज्' ग्रन्थ में प्लेटो अभिव्यक्तिपक्ष पर भी विचार करते हैं :

> "जब आप योग्य निर्णायक हैं और अनुकृत उपस्थापन (Reproduction) का विवेचन कर सकते हैं, तो आपको तीन पक्षों पर विचार अवश्य करना है— (क) उपस्थापित वस्तु क्या है ? (ख) क्या उस वस्तु का ठीक-ठीक उपस्थापन हुआ है ? और (ग) भाषा, लय और गेयता में वह अभिमूर्तन कहाँ तक उत्तम है ?"[१०]

प्लेटो वर्ण्य विषय की महत्ता पर सर्वाधिक बल देते हैं, दूसरा स्थान वर्णन के औचित्य का है और तदनन्तर अन्य बातें आती हैं। अपने यहाँ कान्ता-सम्मित उपदेश को काव्य का प्रयोजन माना गया है जिसमें नैतिकता का समावेश हो जाता है और इस विषय में ध्वनिमत तथा प्लेटो साथ-साथ देखे जाते हैं। परन्तु केवल रस-काव्य को ध्वनि-सिद्धान्त लोकोत्तर सम्मान देता है जबकि प्लेटो उसे घातक मानते हैं। मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में देखा जा चुका है कि श्रृंगार रस हमें प्रायः ऊपरी सुख ही दे चलता है जो कला की वास्तविक अनुभूति नहीं है—प्लेटो उसी को श्रृंगार का सर्वस्व मान लेते हैं। वैसे भी, वे कला को कला के लिए मान्य नहीं करते जबकि कला का आनन्द बाह्य प्रयोजनों से निरपेक्ष होता है, यही मनोविज्ञान और ध्वनि-सिद्धान्त दोनों को अभीष्ट है।

अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त :

(१) अनुकरण :

विरेचन पर आने से पूर्व देखना चाहिए कि प्लेटो के अनुकरण-सिद्धान्त को अरस्तू ने क्या रूप दिया। उन्होंने उसे अपने 'पोएटिका' ग्रन्थ में विस्तार से विवेचित किया है और प्रायः ध्वनि-सिद्धान्त के समीप ही आ गये हैं। वे मानते हैं कि :

> "ट्रैजेडी मनुष्यों का अनुकरण नहीं है, वह जीवन का अनुकरण है, वह जीवन के दुःख और सुख का अनुकरण है, जीवन का परमरूप विशेष प्रकार का व्यापार

है, वह गुणात्मक नहीं है (प्रकारात्मक है)। वही सुख अपने-आपमें चरम शिव है।"[११]

इससे हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

(क) अनुकरण में वैयक्तिक मानव-जीवन नहीं होता, प्रत्युत सम्पूर्ण मानव-जीवन के सुख-दुःख का समावेश होता है। यही बात भारतीय 'भाव' के लिए कही गयी है—'सुख-दुःखात्मके भावे भावस्तद्भाव-भावनम्।' अर्थात् सुख-दुःखात्मक अनुभूति में सहृदय को तदाकार कर देना ही 'भाव' है। यही साधारणीकरण है कि भाव निर्वैक्तिक रूप में प्रस्तुत होता है और काव्य-नाट्य के पात्र भी सामान्य हो उठते हैं। वे पात्र मानव-जाति के किसी समूचे प्रकार को रूपायित करते हैं।

(ख) चूँकि ट्रैजेडी करुण रस की रचना है अतः उसमें कवि का प्रयास शोक (Pity and fear) के अनुकरण से सहृदयों को आनन्दित करने का होता है। इस करुण तत्त्व की व्याप्ति सभी नियोजित घटनाओं में विद्यमान रहती है।[१२] इससे स्पष्ट है कि 'रस' जैसा कोई शब्द न रखकर भी अरस्तू आनन्द तत्त्व को काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं। करुण रस की आनन्दरूपता के प्रति वे भी आश्वस्त हैं और उसे ही काव्य का चरम प्रयोजन मानकर चलते हैं। करुण की रसनीयता पर बूचर ने विस्तृत विचार किया है जिसे आगे देखा जायगा।

(ग) साधारणीकरण के ऊपर 'युनिवर्सलाइज़ेशन्' के नाम से अरस्तू ने विचार किया है और इतिहास से काव्य की तुलना करते हुए निर्णय दिया है कि इतिहास व्यक्ति को उपस्थापित करता है जबकि काव्य सामान्य संभावनाओं तथा प्रतिबद्धताओं के नियम के अनुसार चलता है। अतः काव्य एक दार्शनिक कृति है और इतिहास की अपेक्षा उच्चतर है।[13] अरस्तू का 'युनिवर्सल' वही है जिसे भारतीय तर्कशास्त्र में 'सामान्य' या 'जाति' नाम से जाना जाता है। सामान्य (जाति) एक नित्य तत्त्व है जो एक रहता हुआ अनेक में व्याप्त रहता है, जैसे गाय में गोत्व जाति।[१४]

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रसङ्ग में जिस साधारणीकरण का विवेचन होता है उसमें 'जाति' का समावेश नहीं रहता। अरस्तू भी यह मानकर चलते हैं कि सुख-दुःखात्मक भाव सामान्य हो जाते हैं, जिससे माना जा सकता है कि 'भाव' अपने जाति रूप में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की प्रतिबद्धता से मुक्त होकर सामान्य भाव बन जाता है।

(घ) अरस्तू ने अनुकरण के दो पक्ष माने हैं—सामान्यीकरण और आदर्शीकरण। द्वितीय पक्ष ही सहृदय को वैयक्तिकता से ऊपर उठा ले जाता है जिससे रसिक का भी साधारणीकरण सम्भव होता है।[१५] इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण कोरी नकल नहीं है; यह वही अनुकरण है जिसे अभिनव ने स्वरूपावच्छादन-पूर्वक तद्रूपता-ग्रहण मानकर विवेचित किया है।[१६]

(ङ) 'सात्त्विक भाव' नाम न लेकर भी अरस्तू उनपर गम्भीर विचार करते हैं। बूचर ने 'मूल-प्रवृत्तिजन्य चेष्टा' (Instinctive movements) नाम देकर विचार किया है। सात्त्विक भाव, जो कायिक चेष्टाओं और रङ्ग-परिवर्तनों के रूप में

अङ्गों के धरातल पर प्रकट होते हैं, वे केवल यादृच्छिक चिह्नों से कुछ अधिक हैं, वे सूचित करते हैं कि शरीर स्वयं ही चेतन आत्मा के प्रति प्रतिक्रिया करता है, जो अपने चिह्न दृश्य संस्थान पर छोड़ देता है।[१७] यह तथ्य सभी अनुभावों के विषय में कहा जा सकता है, परन्तु सात्त्विक भाव अनिवार्य चेष्टाएँ हैं, अतः प्रस्तुत विवरण उन्हीं पर अधिक लागू है।

(च) अरस्तू अनुकरण की पूर्णता प्रत्यक्ष-कथन में नहीं देखते, वे अप्रत्यक्ष प्रतीकात्मक बिम्बयोजना को काव्य में अनिवार्य ठहराते हैं :

"अन्य कलाओं से काव्य में भिन्नता है—काव्य केवल प्रतीकों द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। वह प्रत्यक्ष आकार या रङ्ग-रूप आँखों के समक्ष नहीं लाता, वह केवल शब्दों का प्रयोग इसलिए करता है कि उपस्थापनीय विषय-वस्तु का अभिमूर्तन हो सके; यह भी आवश्यक नहीं कि शब्द श्रव्य हों, वे केवल लिखित प्रतीक भी हो सकते हैं। शब्दचिह्न और संसूचित वस्तु परस्पर प्रत्यक्ष अर्थसूचन द्वारा सम्बद्ध नहीं हैं।"[१८]

इस उद्धरण से प्रमाणित होता है, प्लेटो अभिधा को काव्योपयोगी शब्दशक्ति नहीं मानते। उसके शब्द भले ही शक्तिपरक न हों, पर उनका मन्तव्य स्पष्ट ही व्यञ्जना-शक्ति से लगता है जो ध्वनि-सिद्धान्त के निकट है। वे अनुमान की चर्चा तक नहीं करते। इस तथ्य की पुष्टि बूचर की व्याख्या से होती है :

"यद्यपि शब्दचिह्न (Signs) अभिव्यक्ति (Expression) का माध्यम हैं, परन्तु उपस्थापन पूर्णतया प्रतीकात्मक नहीं होता, क्योंकि चिह्न ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द होते हैं जो जीवन में प्राकृत एवं सुपरिचित माध्यम रहते हैं जिनसे विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त (Revealed) किया जाता है।"[१९]

यद्यपि अरस्तू रससिद्धान्त का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं करते, तथापि उनके 'सत्य विचार' या 'सच्चे आदर्श' (True idea) से साधारणीकृत भाव का सा आशय निकलता है। यह आदर्श भावरूप से प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है जो लोक-व्यवहार में अपूर्ण रूप से प्रकट होता है। वह रूप कलाकार के मानस-पटल पर भावबोध के रूप में प्रभाव डालता है, वह उसे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है, जिससे वह आदर्शरूप प्रकाश में आ सके जो यथार्थ जगत् में अर्ध-प्रकट रहता है। अर्थात् कवि विश्वजनीन (Universal) रूप की छाप से प्राप्त सामग्री को मुद्रित करता है।[२०]

भाव की पूर्णदशा ही ध्वनिमत में 'वासना' कही गयी है जिसमें व्यक्ति की अपूर्णता नहीं रहती और कवि उसी को देने का प्रयास करता है। अरस्तू अनुकृति को पूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में तभी मान्य करते हैं जब भाव की अपूर्णता न रह जाय।

(छ) बूचर ने अरस्तू के 'काव्य-सत्य' की भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहा है :

"काव्य जीवन तथा मानव-प्रकृति के विश्वजनीन तत्त्वों को पर्याप्त रूप में व्यक्त करता है। .... काव्य हमको दैहिक घेरे के अङ्कुश (Tyranny) से मुक्त

करता है। काव्य भौतिक अपेक्षाओं और पाशविक लालसाओं को तिरोभूत करता है।"[२१]

इससे रसानुभूति की अप्रतिम विश्रामदशा के संकेत मिलते हैं।

(ज) कुछ लोग कविता को शुद्ध आध्यात्मिक समझकर ही उपेक्षणीय बताते हैं परन्तु वह जीवन की अनुकृति है, जीवन का ही भाग है, सामान्य होकर भी द्रव्यात्मक व्यक्ति-सत्य से बहिर्भूत नहीं है, फिर भी अरस्तू कला-सृष्टि को स्थूल अर्थ में जीवित नहीं मानते क्योंकि उनके मत में जीवन या जीव समुचित वस्तुसंघटना में व्यक्त समुचित आकार का फलीभूत रूप है।[२२] कविता की अरस्तू एक ही सीमा मानते हैं कि साधारणीकृत तथ्य (Universal) को वह ज्यों-का-त्यों नहीं व्यक्त करती, प्रत्युत भावात्मक अभिमूर्तन के माध्यम से जैसा प्रत्यक्ष होता है, वैसा प्रस्तुत करती है।[२३] काव्य का तथ्य चाहे जितना स्थूल क्यों न हो, उसमें से विश्वजनीन सत्य व्यक्त होता रहता है।

× × ×

(२) विरेचन :

अरस्तू विरेचन पर विचार करते हुए एक आधारभूत तथ्य लेकर चले हैं कि रङ्गमञ्च हमारी उन मूल प्रवृत्तियों के लिए, जो तुष्टि चाहती हैं, हानिरहित एवं सुखात्मक परिणति प्रदान करता है और वे मूल-प्रवृत्तियाँ यहाँ यथार्थ जीवन की अपेक्षा अधिक निरातङ्क भाव से प्रवृत्त होती हैं।[२४] प्लेटो की धारणा थी कि काव्य या नाट्य से हमारी वासनाओं को तुष्टि मिलती है, उन्हें बुभुक्षित रखकर निर्बल नहीं किया जाता, जो प्लेटो की दृष्टि में चरित्रनिर्माण के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत अरस्तू को मान्यता है कि आत्मा के भावात्मक भाग को मार देना वाञ्छित नहीं, प्रत्युत अनुभूतियों की नियमित प्रवृत्ति हमारी प्रकृति में सन्तुलन लाती है। जब भावावेश का शमन हो जाता है तब आनन्दात्मक विश्रान्ति उपलब्ध होती है।[२५]

ध्वनि-सिद्धान्त सहृदय की वासना के आनन्दमय आस्वाद को रस मानता है। अन्तर इतना अवश्य है कि अरस्तू भावावेश के शमन या विरेचन को आवश्यक मानता और आनन्द को उसकी उपज बताता है जबकि ध्वनिमत में विरेचन की बात नहीं उठती, काव्य की व्यञ्जना शक्ति सीधे निर्वैयक्तिक भावभूमि पर रसिक को पहुँचा देती है। भट्टनायक यद्यपि भाव के साधारणीकरण द्वारा कुछ ऐसी बात करते हैं, जैसे वैयक्तिक भाव ही साधारण रूप लेता हो, जिससे अर्थ लिया जा सकता है कि व्यक्तिगत भाव का विरेचन हो जाता है, परन्तु भट्टनायक सहृदय की वासना को रसरूप में व्यक्त होने के विरुद्ध ही हैं। ध्वनिमत के साथ विरेचन को इतनी ही व्याख्या दी जा सकती है कि भावना के धरातल पर वैयक्तिकता का तिरोधान हो जाता है। अरस्तू को पूर्णतः यही अभीष्ट नहीं है, वे वैयक्तिक भाव की तुष्टि को विरेचन का प्रथम पक्ष मानते हैं और आनन्द को उसकी द्वितीय एवं चरम परिणति।

वस्तुतः अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त ट्रैजेडी के सन्दर्भ में स्थापित हुआ है जिसका भारत में अभाव-सा रहा है। करुण रस में भी विरेचन की चर्चा नहीं उठती क्योंकि वहाँ

भी शोक-वासना की चर्वणा मान्य है, वैयक्तिक शोक का विरेचन नहीं। परन्तु अरस्तू ट्रैजेडी के बाहर भी विरेचन की स्थिति मानने हैं—वे संगीत द्वारा प्रदत्त समरसता की शर्त विरेचन को ही स्वीकार करते हैं और तदनन्तर ही सुखद शान्ति की उपलब्धि उन्हें मान्य है। यही नियम वे ट्रैजेडी पर लागू करते हैं।[२७] वे सभी कलात्मक आनन्द में विरेचन का कोई-न-कोई रूप स्वीकार करते हैं। बूचर ने स्पष्ट किया है कि शोक और उत्साह का विरेचन एक नहीं हो सकता। अतः अरस्तू का 'विरेचन' केवल मनोविज्ञान या चिकित्सा-शास्त्र का शब्द नहीं रह जाता, वह कला का सिद्धान्त बन जाता है।[२८] इस प्रकार हम काव्यानुभूति की तीन दशाएँ मान सकते हैं—

(क) काव्य से उद्‌बुद्ध भाव वैयक्तिक धरातल पर ही एक सापेक्ष सुखात्मक अनुभूति (Fore-pleasure) दे और वैयक्तिक राग, द्वेष आदि व्यक्त हो उठें। ऐसे लोग रौद्र, करुण, बीभत्स, भयानक जैसे रसों को हृदयंगम नहीं कर सकते। अभिनव ने वैयक्तिक भाव को रसानुभूति की बाधा माना है और यहाँ बाधा ही सर्वोपरि रहती है, यद्यपि निम्न कोटि का विरेचन यहाँ भी रहता है।

(ख) सहृदय पहले तो व्यक्तिगत भाव को तुष्ट करता है और इस तुष्टि में कोई सामाजिक बन्धन न होने से तथा व्यावहारिक विषय-प्रवृत्ति के अभाववश निश्चय ही विशिष्टता रहती है। इस तुष्टि से वैयक्तिक वासना का तात्कालिक विरेचन हो जाता है जिससे हमारी चेतना विमल होकर निरपेक्ष आनन्द के लिए तैयार होती है। यही विरेचन का मुख्य कार्य है जो काव्य से सम्पन्न होता है। भट्टनायक साधारणीकरण को रस-भोग का माध्यम मानते हैं जिसमें वैयक्तिक भाव को नहीं, काव्य के भाव को सामान्यता मिलती है, जबकि अरस्तू सहृदय के भाव का वैयक्तिक धरातल पर तुष्टिपूर्वक मोचन चाहते हैं जिससे भाव-मुक्ति की दशा सुलभ होती है। इसी को यदि विरेचन का प्रमुख भाग मान लें तो उसका अभावात्मक मूल्य ही ठहरता है—अर्थात् विरेचन रसास्वाद के विघ्नों का अपसारण करके भूमि उर्वर करता है, स्वयं आस्वादरूप फल नहीं है।

प्लेटो उक्त प्रथम स्थिति से घबराते हैं। अरस्तू द्वितीय स्थिति पर बल देकर वैयक्तिक वासना का काव्य द्वारा तुष्टिपूर्वक निरसन चाहते हैं।

(ग) तीसरी अवस्था उक्त वासना-निरसन के बाद आती है जो विरेचन का फल है। वही विश्रामदशा है अतः परमानन्द (End-pleasure) है और उसी को रस कह सकते हैं।

अरस्तू भले ही तीसरी अवस्था को महामहिम मानते हों, पर उनका बल दूसरी अवस्था पर है जो रसात्मक प्रतीति के पूर्व विघ्नापसारण मात्र है। वैयक्तिक वासना चित्त-विश्रान्ति में बाधक है और विरेचन का वही मुख्य व्यवसाय जान पड़ता है। अरस्तू अपने गुरु प्लेटो के विरोध में यह सिद्धान्त खड़ा करते हैं अतएव उसी पर अधिक बल देना स्वाभाविक रहा है। यदि वे तीसरी अवस्था पर बल देते तो उन्हें प्रतीत होता कि विरेचन अनेक बाधाओं का होना चाहिए जिनमें वैयक्तिक वासना भी एक है। आचार्य अभिनव ने तीसरी दशा (रस) पर स्पष्ट बल दिया है :

"सर्वथा रसनात्मक-वीत-विघ्न-प्रतीति-ग्राह्यो भाव एव रसः ।"

(अभिनवभारती, पृ० २८०)

अर्थात् सब प्रकार से विघ्न-निरसन-पूर्वक आस्वादात्मक प्रतीति से गृहीत हुआ भाव ही रस है। वे साधारणीकृत विभावादि को विघ्नों का अपसारक मानते हैं—अरस्तू के शब्दों में कहें तो विभावादि आनन्दप्रत्यय के विघ्नों का विरेचन करते हैं। अभिनव और अरस्तू दोनों की मान्यता एक है जब अभिनव कहते हैं कि "सभी विघ्नों से सर्वथा मुक्त संवेदन को ही लोक में चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कहा जाता है।" आगे अभिनव ने विघ्नों की विवेचना की है :

(अ) संवेदनीय तत्त्व की असंभावना पहला विघ्न है कि सहृदय अपनी संविद् को काव्य-विषय में स्थिर ही नहीं कर पाता और तब विश्रान्ति की चर्चा ही नहीं उठती। इसीलिए नाटक आदि में प्रख्यात पात्र लिये जाते हैं जिससे असंभावना विघ्न न आने पाये।

(आ) दूसरा बहुत बड़ा विघ्न यह है कि स्वगत सुख-दुःख-संवेदन में ही सहृदय उलझ जाय। उस दशा में भीरुता, रक्षा-व्यग्रता, वैसी ही वस्तु की लालसा, त्यागेच्छा, ख्यापन की इच्छा, गोपनेच्छा आदि भाव आएँगे जिनसे मुख्य काव्य-संवेदन छूट जायगा और इतर संवेदन ही सहृदय को उलझा लेगा। भयानक में भीरुता और रक्षा-व्यग्रता, शृङ्गार में लालसा या गोपनेच्छा, बीभत्स, रौद्र आदि में त्यागेच्छा और वीर रस में अपने ही उत्साह की प्रसिद्धि करने की इच्छा सजग हो जायगी। अरस्तू का विरेचन बहुत कुछ इसी कोटि का मुख्य कार्य करता है।

(इ) यदि सहृदय ने काव्य-भाव को पराया मान लिया तो अपने में सुख, दुःख, मोह, तटस्थता आदि इतर संवेदन उत्पन्न होंगे जो अवश्यम्भावी विघ्न हैं। इनके निराकरण हेतु अनुकृति की पूर्णता अपेक्षित है जिसमें अभिनव के अनुसार नट का स्वरूपाच्छादन और अभिनेय वस्तु के साथ तद्रूपता मुख्य हैं। अनुकृति की इस पूर्णता पर प्लेटो और अरस्तू दोनों ने बल दिया है।

(ई) काव्य-वस्तु निश्चय ही सहृदय की व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। यदि वह व्यक्तिगत दुःख-सुख आदि के वशीभूत हो गया तो रसनीय वस्तु में उसकी संवेदन-विश्रान्ति असंभव होगी। इस महाविघ्न के निराकरण-हेतु गान, वाद्य, विचित्र मण्डपादि रचना, गणिका आदि से उपरञ्जन किया जाता है जिससे हृदयहीन का भी चित्त वैयक्तिक वासना-मल से रहित होकर रसास्वादोपयोगी बन जाय। साधारणीकरण भी इसी प्रकार का एक उपाय (साधन) है क्योंकि उपाय के बिना प्रतीति ही संभव नहीं। अभिनव की यह स्थापना विरेचन-सिद्धान्त का ही प्रकारान्तर है जो सर्वथा मनोवैज्ञानिक है।

(उ) अविश्रान्ति ही दुःख है, विश्रान्ति ही सुख है। उक्त में से कोई भी विघ्न अविश्रान्ति-जनक है।

उक्त तथ्यों के आधार पर अभिनव और अरस्तू में एक बड़ा अन्तर यही बचता है कि अभिनव ही नहीं, सम्पूर्ण रस-सिद्धान्त-परम्परा रस पर बल देती है, विरेचन को

उसका उपाय मानती है, जबकि अरस्तू विरेचन की सीमा में ही विश्रान्ति की बात करके रस-संवेदन को गौण कर देते हैं—यहाँ तक कि अरस्तू वैयक्तिक वासना के तुष्टिपरक विरेचन को काव्य की उपलब्धि स्वीकार करते हैं जो निश्चय ही 'रस' से बाहर है और मध्यम कोटि की तुष्टि है। ट्रैजेडी के सन्दर्भ में विरेचन का उत्कर्ष देखा जा सकता है क्योंकि वहाँ विश्राम की अपेक्षा आधिमुक्ति का अधिक महत्त्व है। फिर आनन्दात्मक सम-रसता ट्रैजेडी का भी लक्ष्य होना चाहिए अन्यथा 'विरेचन' एक निषेधात्मक काव्यसिद्धान्त हो जायगा। अतएव बूचर उसकी व्याख्या में स्पष्ट कहते हैं—

> "ट्रैजेडी चिकित्सात्मक (Curative) और शमात्मक (Tranquillising) द्विविध प्रभाव डालती है जिससे तत्काल अनुभूति का परिवर्तन हो जाता है, अतः ट्रैजेडी होमियोपैथिक दवा की अपेक्षा भावावेश-शोधन का अधिक कार्य करती है। इस दृष्टि से उसका कार्य केवल इतना ही नहीं है कि शोक (Pity and fear) का निःसरण हो जाय, अपितु उस अनुभूति को सौन्दर्यात्मक सन्तुष्टि देना भी है जिससे कला द्वारा उस भावावेश की शुद्धि तथा सफाई होती है।"[२९]

(ऊ) ट्रैजेडी और करुण रस में एक अन्तर स्पष्ट है और वह बहुत कुछ दार्शनिक है। ट्रैजेडी मनोविज्ञान के अधिक निकट है जिसमें शोक के घटक सहानुभूति (Pity) और भय (Fear) का विरेचन मुख्य रहता है। करुण का स्थायी भाव शोक उन दोनों से भिन्न है। बुचर ने स्पष्ट किया है कि :

> "भय आधारभूत संवेग है जिससे सहानुभूति या दया अपना अर्थ पाती है, भय का मनोवैज्ञानिक आधार स्व-विषयक मूल प्रवृत्ति है कि कहीं ऐसा ही कष्ट हमें भी न उठाना पड़े।"

आगे उन्होंने कहा है कि :

> "हमारे संवेग लौकिक नहीं रह जाते अतः हमारी सौन्दर्यानुभूति विशिष्ट रूप लेती है।"[३०]

(३) साधारणीकरण :

जहाँ तक साधारणीकरण का सम्बन्ध है, अरस्तू के अनुसार उसके दो पक्ष हैं—पहला वह जिसमें सहृदय अपना और पात्र का तादात्म्य अनुभव करता है, और दूसरा वह जिसमें भावों को विश्वजनीनता मिलती है जिससे वे भाव हमारे लिए निर्वैयक्तिक या सामान्य हो जाते हैं। यहाँ बूचर की व्याख्या कुछ भ्रामक लगती है—वे आगे चलकर सहृदय का साधारणीकरण भट्टनायक और अभिनव के समान ही मानते हैं जिसमें वह व्यक्ति-सीमा से परे सम्पूर्ण मानव जाति से एकाकार हो जाता है। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो कोई बड़ा विरोध नहीं है—सहृदय और पात्र दोनों साधारणीकृत होकर मानवजातीय रूप ले लेते हैं, फलतः सहृदय और विभावादि का साधारणीकरण अरस्तू को भी अभिमत है। तादात्म्य की चर्चा ही भ्रान्ति का कारण हो सकती है—जब दोनों मानव जाति की चेतना में उतर जाते हैं, तब दो नहीं रहते कि तादात्म्य को मनोवैज्ञानिक धरातल पर मान्य किया जाय। तादात्म्य के लिए दो व्यक्तियों की वैयक्तिक सत्ता अपे-

क्षित होती है। अतएव साधारणीकरण के पूर्व जब हम लौकिक सहानुभूति के क्षेत्र में रहते हैं, तभी तादात्म्य की बात की जा सकती है, साधारणीकरण में तो केवल मानव सामान्य रहता है जिसमें सबकी वैयक्तिकता तिरोहित हो जाती है। दूसरे के भाव से अपने भाव का तादात्म्य तब नहीं रहता जब सहृदय व्यक्ति-सीमा से परे चेतना ग्रहण कर लेता है। यदि बूचर के अनुसार तादात्म्य और साधारणीकरण दोनों को साथ माना जाय तो अरस्तू की मान्यता में विसंगति माननी होगी।[३१]

(४) रसानुभूति :

रसानुभूति एक चमत्कार है, यही उसकी लोकोत्तरता है जिसे ध्वनि-सिद्धान्त मुख्यता देकर चलता है और वह रसनिष्पत्ति के सभी सिद्धान्तों में मान्य रहा है। चमत्कार एक प्रकार की विस्मयात्मक अनुभूति है जो काव्य-कला की व्यञ्जनाशक्ति से प्राप्त होती है अतएव आचार्य विश्वनाथ ने अद्भुत रस की सर्वत्र व्याप्ति मानी है :

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

हम कह सकते हैं कि जब चमत्कार ही सार है तो रस एक अद्भुत संवेदन है। अरस्तू ने इस तथ्य को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है :

"अद्भुत सदैव आनन्द देता है जो इस बात से प्रमाणित है कि लोग श्रोताओं को तुष्ट करने हेतु किसी वस्तु के विषय में कुछ (विस्मयजनक) तथ्य जोड़ देते हैं।"[३२]

रस-काव्य सदैव व्यञ्जक रहता है और रस व्यंग्य है। इसपर विस्तृत विचार किया जा चुका है। गद्यात्मक (वाच्यमात्र) योजना रस में बाधक है। अरस्तू ने यूक्लिद के उद्धरण से इस तथ्य पर प्रकाश डाला है :

"यदि रस (Pleasure) में बढ़ा चढ़ाकर शब्दों की योजनामात्र को सम्मति दी जाय तो यह पद्यीकरण बड़ा ही सरल कार्य होगा।"[३३]

अरस्तू की स्पष्ट मान्यता है कि :

"सहृदय-समाज भावाविष्ट पात्र के ही भावावेश में तन्मय होता है—उदाहरणार्थ जो वस्तुतः क्रुद्ध दिखते हैं, उन्हीं के क्रोध में उसका योग रहता है।"[३४]

यही ध्वनिमत का (रौद्र) रस है।

बूचर के अनुसार अरस्तू का काव्यसिद्धान्त साधारणीकृत तत्त्व पर बल देता है। काव्य में भावों का साधारणीकरण होता है। इस प्रक्रिया का परिणाम यह होता है कि दुःखात्मक उत्तेजना के चमत्कार में हमारी अनुभूतियाँ विशेष परिवर्तन लेकर उदात्त भावात्मक तोष प्रदान करती हैं।[३५] करुण रस के सम्बन्ध में (यूनानी ट्रैजेडी के विषय में) 'अरस्तू इस मत पर बल देते हैं कि जिन संवेगों पर ट्रैजेडी अवलम्बित होती है वे यथार्थ (लौकिक) जीवन में दुःख का मिश्रण होते हैं परन्तु कलात्मक व्यापार से दुःख-पूर्ण अंश या तो निरस्त हो जाता है या तिरोहित कर दिया जाता है।....दुःख का दंश,

अशान्ति और अविश्रान्ति का उद्भव हमारे स्वार्थ से होता है जो यथार्थ लोकव्यवहार में हमारे संवेगों से प्रतिबद्ध रहता है। ज्योंही 'अहं' का आवरण निरस्त होता है त्योंही दुःखानुभूति भी निरस्त हो जाती है (और दुःख आनन्द को मार्ग दे देता है)।'[३६]

रसानुभूति के विषय में एक प्रश्न बड़े महत्त्व का है—क्या रस अपने-आपमें काव्य का प्रयोजन है, या उसकी अनुभूति से बाहर भी उपयोगिता है ? आचार्य मम्मट ने काव्य के दो मुख्य प्रयोजन माने हैं—एक तो तत्काल परमानन्द की प्राप्ति (सद्यः पर-निर्वृति) और दूसरा नैतिक उपदेश (कान्तासम्मित उपदेश)। राम के समान आचरण किया जाय, रावण के समान नहीं, यह नैतिक उपदेश भी काव्य का एक प्रयोजन है, परन्तु उसे रसानुभूति का प्रयोजन माना जाय या वह पृथक् प्रयोजन है। निश्चय ही ध्वनिकार रस को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानकर चलते हैं, उपदेश तो प्रासङ्गिक उपलब्धि है क्योंकि साधारणीकरण उत्तम पात्र के भाव का ही होता है जिससे नैतिक प्रभाव स्वतः आ जाता है, इससे 'रस' अपने-आपमें काव्य का परम प्रयोजन है।

अरस्तू के अनुसार काव्य का प्रभाव हमारी अनुभूति पर होता है, संकल्प पर नहीं। यद्यपि धर्मविषयक कुछ बाधाओं को काव्य हटा देता है, फिर भी मनुष्य का स्वभाव नहीं बदल जाता। अरस्तू किसी दूरगामी परिणाम की बात ट्रैजेडी की परिभाषा में नहीं बताते प्रत्युत उनका आशय है कि सौन्दर्यानुभूति की पूर्ति ही तत्काल मिलनेवाला काव्य-प्रयोजन है।[३७]

यद्यपि ग्रीक और भारत के ऐतिहासिक वृत्तों और परम्पराओं में अन्तर रहा है, जिससे जीवन-विषयक मान्यताएँ और दर्शन भी एक नहीं रहे हैं, फलतः चिन्तनधारा भिन्न रही है, फिर भी ध्वनि-सिद्धान्त और ग्रीक काव्य-सिद्धान्त में आश्चर्यजनक साम्य मिलता है। रस की आत्मविश्रान्ति प्रकृति है और वही अरस्तू को भी मान्य है। वे आनन्द की परिभाषा करते हैं कि आनन्द आत्मा की विशिष्ट क्रिया है और उसकी वह विश्राम-दशा है जिसमें तत्क्षण अनुभूतिगम्य सामञ्जस्य रहता है।[३८] यही तो रस-दशा भी है। अरस्तू का काव्य-दर्शन है कि अनुकार्य सुखात्मक न हो तो भी यदि उसका अनुकरण सफल हो तो आनन्द मिलता है। वर्ण्य वस्तु आनन्द-जनन नहीं करती, प्रत्युत उसकी अनुकृति से जो अनुमिति होती है, उसमें आनन्द मिलता है।[३९] यह कहकर अरस्तू ध्वनिमत से दूर न्यायमत की बात करते हैं, स्पष्ट है कि तर्क-मनीषी होने के कारण वे भी अनुकृति और अनुमिति में सहभाव मानकर चलते हैं। फिर भी अनेक विषयों में वे ध्वनि-सिद्धान्त के अधिकाधिक निकट हैं।

डेमेट्रियस का शैली-सिद्धान्त :

'शैली' और 'रीति' पर्याय नहीं हैं। 'रीति' अपने पारिभाषिक रूप में केवल शब्दार्थ-संघटना अथवा वर्णयोजना-विशेष है जबकि 'शैली' का सम्बन्ध कलाकार के कर्तृत्व के सम्पूर्ण परिवेश से रहता है—अर्थात् वह कवि के 'शील' का प्रतिबिम्ब है—'शीले भवा शैली'। इस प्रकार कला का समग्र अभिव्यक्ति-पक्ष शैली में समाहित हो जाता है। अरस्तू का कथन है कि "कोई कविता केवल एक बार आनन्दानुभव देती है जबकि दूसरी

आपका हृदय जीत लेती है और दसियों बार सुनने पर भी रस देती है।" इससे कवि की शैली का ही परिचय मिलता है।

आचार्य वामन जब दोषाभाव, गुण और अलंकार को सौन्दर्यानुभूति देनेवाले तत्त्वों के रूप में मान्य करते हैं तब प्रकारान्तर से सम्पूर्ण अभिव्यक्ति-पक्ष को समेट लेते हैं और उसे 'शैली' कहा जा सकता है। रीतियों का स्वरूप केवल गुणों के आधार पर प्रतिष्ठित होता है। ध्वनिमत में रीतियाँ शब्द-योजना-मात्र मानी जाती हैं। पाश्चात्य मनीषी शैली (Style) को उक्त व्यापक अर्थ में ही लेता है जिसमें निर्दोषता, गुण, वर्णयोजना, अलंकार, औचित्य एवं व्यञ्जनाशक्ति, सभी आ जाते हैं। ग्रीक विचारक डेमेट्रियस को प्रतिनिधि मानकर इसपर विचार अपेक्षित है।

(१) शील और शैली :

डेमेट्रियस ने कलाकार के स्वभाव से, जो देश-काल आदि के अनुरूप होता है, शैली को सम्बद्ध माना है। उनका कहना है कि प्राचीन लोगों की शैली में मसृणता (Polish) और संश्लिष्टता (Compactness) की प्रधानता रहती थी, सरलता और सुबोधता उसके गुण थे। अर्वाचीन लेखकों की शैली में उदात्तता (Sublimity) और सुव्यवस्थितता (Accuracy) का समायोजन मिलता है।[४०]

यहाँ 'शैली' को केवल कलाकार के ही शील से न जोड़कर कथ्य या प्रेषणीय तत्त्व के साथ भी जोड़ा गया है। कथ्य का भी अपना शील होता है और उससे प्रतिबद्ध होकर कलाकार शैली का उपयोग करता है अतएव डेमेट्रियस शैली को कथ्य वस्तु की प्रकृति के अनुसार ही मान्य करता है।[४१] इस प्रकार शैली का स्वरूप उभयात्मक होता है—व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) और वस्तुनिष्ठ (Objective)। इस दृष्टि से कवि अपनी प्रकृति को प्रेषणीय की प्रकृति से एकीभूत कर लेता है। इसके विपरीत शैली अग्राह्य हो जाती है।[४२]

ध्वनिमत में 'शैली' का इस प्रकार पृथक् विवेचन नहीं हुआ है, फिर भी भारत की सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र-परम्परा प्रकारान्तर से 'शैली' का ही विश्लेषण करती रही है। दोष-निरसन, गुण, औचित्य आदि से शैली का ही स्वरूप खड़ा होता है जिनपर विस्तार से विचार हो चुका है।

(२) शैली और रीति :

वामन के अनुसार "विशिष्ट पद-रचना ही रीति है जिसे शब्दगुण और अर्थगुण विशेषता देते हैं।" ध्वनिमत में गुणों का सम्बन्ध 'रस' से है और रीतियों से गुणों की व्यञ्जना होती है। डेमेट्रियस शैली के चार सामान्य प्रकार मानता है—(१) सरल (Plain), (२) वर्णनात्मक (Stalely), (३) मसृण (Polished), और (४) ओजःपूर्ण (Powerful) इनमें-से मसृण-शैली 'सरल' के साथ मिश्र रूप लेती है और वर्णनात्मक शैली तथा 'ओजःपूर्ण' एक-सी हैं।[४३] इससे स्पष्ट है कि हमारे यहाँ की वैदर्भी रीति में 'मसृण' और 'सरल' का समावेश है जबकि गौड़ी में शेष दो का। कभी-कभी उक्त चारों शैलियाँ मिश्रित रूप में आती हैं।[४४] हमारे यहाँ पाञ्चाली रीति

में वैदर्भी और गौड़ी का मिश्र रूप मिलता है, इसीलिए उसे मध्यममार्ग भी कहा जाता है।

(३) **शैली और दोष :**

आचार्य मम्मट आदि के अनुसार यदि रचनागत पदयोजना में उत्तरोत्तर उत्कर्ष न हो तो 'पतत्प्रकर्ष' दोष होता है। डेमेट्रियस इसपर विशेष विचार करते हुए उत्तरोत्तर प्रकर्ष पर बल देता है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष न होने पर पाठक सबल से निर्बल में जा पड़ता है (जो दोष है)।[४५]

ध्वनिमत में रसानुसार रीति-योजना होनी चाहिए, अन्यथा दोष होता है। माधुर्यगुण के प्रसंग में गौड़ी रीति से श्रुतिकटुत्व आदि दोष आते हैं जबकि ओजोगुण में श्रुतिकटुत्व भी गुण हो जाता है। इस प्रकार विषय के अनुरूप रीतियोजना अभीष्ट है। यही बात प्रकारान्तर से डेमेट्रियस को मान्य है। यदि उत्कृष्ट विषय को प्रभावहीन रीति से कहा जाय तो विषय की गरिमा नष्ट हो जाती है। ध्वनिमत में समास का प्रयोग गौड़ी रीति में आवश्यक होता है। इस तथ्य पर भी डेमेट्रियस ने विस्तृत विचार किया है।[४६]

(४) **शैली और रस :**

ध्वनि-सिद्धान्त रस-सापेक्ष शब्द-योजना को ही मान्य करता है। डेमेट्रियस भी संवेगों के अनुसार ही उसका पक्षपाती है।[४७] यहाँ विस्तार अनपेक्षित है। शैली के विवेचन में भाव की उपेक्षा पश्चिम के विचारक भी अमान्य करते हैं, इतना ही पर्याप्त है।

(५) **शैली और अलंकार :**

अलंकार-योजना से शैली का स्वरूप उत्कर्ष पाता है, इसे लेकर डेमेट्रियस ने बड़ा विस्तार किया है और साथ ही अधिक अलंकारों के प्रयोग को दूषित भी माना है क्योंकि इससे शैली में विषमता आती है। प्राचीन कवियों ने कलात्मक अलंकारों के प्रयोग किये हैं अतः दोष नहीं है। ऐसे ही विचार चित्रकाव्य के सन्दर्भ में आ चुके हैं। डेमेट्रियस की धारणा है कि अलंकृत भाषा-योजना में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है, अन्यथा रचना में तुच्छता आ जाती है।[४८]

(६) **शैली और व्यञ्जना :**

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों में शब्दशक्तियों का प्रत्यक्ष विवेचन नहीं मिलता, परन्तु उचित शब्दार्थ-योजना को ही शैली का सर्वस्व वहाँ भी मान्य है। व्यंग्य रूपक (Allegory) को डेमेट्रियस ने बड़ा महत्त्व दिया है। उसने काव्य में एक प्रकार की अस्फुटता को महत्त्व देते हुए अभिव्यक्त या व्यंग्य (Suggested) विचार को गौरवपूर्ण बताया है, क्योंकि कथन की अतिसामान्यता या वाच्यता तुच्छता प्रकट करती है।[४९]

डेमेट्रियस के शैली-निरूपण का संक्षिप्त परिचय देकर देखा गया कि 'शैली' नाम से सम्पूर्ण रचना के अपेक्षित तत्त्व लिये गये हैं और उसमें वही सब कहा गया है जो प्रकारान्तर से ध्वनि-सिद्धान्त में विवेचित हुआ है।

लांजिनस् का उदात्त-तत्त्व :

यदि हम 'उदात्त' शब्द की व्युत्पत्ति करें तो उसमें "उद्=ऊर्ध्व+आत्त= गृहीत या पहुँचाया हुआ" का समावेश मिलेगा। स्पष्ट ही 'उदात्त' उसे कहेंगे जो सामान्य से ऊपर लिया जाय। अँगरेजी के 'सब्लाइम्' और 'एक्सेलेन्ट्' ऐसे ही हैं। लांजिनस् काव्य में 'सब्लाइम्' को सर्वोपरि महत्त्व देता है। उदात्तता ही काव्य का प्राण है क्योंकि काव्य से असामान्य अनुभूति की ही अपेक्षा होती है। लांजिनस् ने 'उदात्त' शीर्षक के अन्तर्गत सभी काव्याङ्गों के समेटने का महनीय प्रयास किया है। उसका आरम्भ में ही कहना है :

"जहाँ कहीं भी उदात्त आ जाता है, एक ऊँचाई तथा भाषा की गरिमा लाता है, और यही वह तत्त्व है, केवल यही है, जिससे महाकवियों तथा गद्यकारों ने ख्याति पायी है और यशोमन्दिर में स्थायी स्थिति बना ली है।"[५०]

यही बात व्यङ्ग्य अर्थ अथवा ध्वनि के विषय में आचार्य आनन्दवर्धन ने कही है :

सरस्वती स्वादु तदर्थ-वस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोक-सामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

अर्थात् रसात्मक ध्वनि-वस्तु को प्रवाहित करती हुई महाकवियों की सरस्वती उस विशिष्ट प्रतिभा को व्यक्त करती है जो चमत्कारपूर्ण एवं लोकोत्तर होती है। इससे स्पष्ट है कि लांजिनस् 'उदात्त' से वही अभिप्राय लेते हैं जो आनन्दवर्धन रसात्मक ध्वनि से लेते हैं। लांजिनस् ने 'उदात्त' के पाँच आधार बताये हैं :

(क) विचार की गरिमा,
(ख) समर्थ एवं हृदयस्पर्शी भावनाओं का निर्वाह,
(ग) शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का संतुलित प्रयोग,
(घ) उचित शब्दार्थ-योजना (रूपकालंकृत रचना) द्वारा उत्कर्षपूर्ण अभिव्यक्ति, और
(ङ) रचना का उत्कर्ष।

इन तत्त्वों को ध्वनिमत में शैलीतत्त्व या अभिव्यक्ति पक्ष के घटक माना जायगा। इससे लांजिनस् का अभिमत अभिव्यक्ति-निरूपण से प्रतीत होता है। काव्य से जो आस्वाद (रस) मिलता है, वही साध्य है जबकि लांलिनस् उसकी गरिमा पर प्रकाश न डालकर साधन-पक्ष का वर्णन करता हुआ जान पड़ता है। फिर भी उसका उदात्त शैलीतत्त्व 'रस' की व्यञ्जना के लिए ही है; इसपर उसने पर्याप्त प्रकाश डाला है :

"मैं विश्वासपूर्वक कहूँगा कि उदात्तता का उद्भावक इससे बढ़कर कुछ नहीं कि अकृत्रिम भाव का समुचित प्रकाशन हो, जो एक ललित उन्माद एवं दिव्य प्रेरणा के साथ विस्फुरित होता है और कानों में ईश्वर-वाणी के समान पड़ता है।"[५१]

इससे स्पष्ट है कि रससिद्धान्त और ध्वनि-सम्मत व्यञ्जना को प्रकारान्तर से लांजिनस् भी मान्य करता है। उसके सोचने की रीति भिन्न है। वह सर्वत्र उदात्त को देखता चलता है, जैसे क्षेमेन्द्र सर्वत्र औचित्य का दर्शन करते हैं। क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी होने के कारण विरासत में सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त की विवेचना-प्रणाली प्राप्त कर आगे बढ़ते हैं जबकि लांजिनस् क्षुद्र कवियों से ऊबकर किसी महान् काव्यसिद्धान्त के गवेषणा-हेतु प्रस्थान करता है। इस प्रस्थान में शब्दशक्ति-परक राजमार्ग उसको नहीं मिला है। लांजिनस् अपने ग्रन्थ 'आन द सबलाइम्' के अन्त में 'भाव' पर ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा स्मरण करता हुआ भावों की गरिमा मान्य करता है, जिससे प्रतीत होता है कि उसकी दृष्टि इस ओर विस्तार से विचार करने की थी।

ध्वनिमत में जहाँ व्यंग्य अर्थ पर बल दिया जाता है वहाँ पाश्चात्य मनीषी बिम्ब (Image) की बात करते हैं। शब्द और अर्थ के स्थूल समायोजन से बिम्ब नहीं बनता, वह तो व्यंग्यार्थ रूप ही होता है। शब्दार्थ-संघात से बिम्ब प्रकट होता है। लांजिनस् के अनुसार शैली की प्रतिष्ठा, महत्ता और शक्ति समुचित बिम्ब-योजना पर अवलम्बित रहती है।[५२] यह कहकर वह प्रकारान्तर से व्यञ्जना की बात भी करता ही है। अलंकारों की अपेक्षा में औदात्य को अलंकार्य मानते हुए दोनों के परस्पर सम्बन्ध पर लांजिनस् और ध्वनि-सिद्धान्त एकमत हैं। अन्तर यही है कि एक उदात्त को लेकर कहता है तो दूसरा व्यंग्य को लेकर।[५३]

अलंकारों को प्रधान अर्थ से दबकर आना चाहिए, तभी काव्य में उनकी शोभा है। अलंकार पर सहृदय का ध्यान न टिके, यही सच्ची अलंकारता उदात्त-मत और ध्वनिमत को अभिप्रेत है।[५४] इस प्रकार उदात्त और ध्वनि में नामभेद जितना है उतना अर्थभेद नहीं जान पड़ता। काव्य का उदात्त उत्कर्ष व्यङ्ग्य से आता है, इसमें लांजिनस् को विवाद न होना चाहिए, यद्यपि वे शब्दशक्ति-प्रणाली से विचार नहीं करते। अभिव्यक्ति की गरिमा के प्रति लांजिनस् वही बात कहते हैं जो ध्वनिसम्मत है।

कालरिज् का काव्यसिद्धान्त और ध्वनिमत :

उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य-मनीषियों में कालरिज् का नाम विवादग्रस्त रहा। उसके विचारों में विज्ञान और अध्यात्म का मिश्रण पाया जाता है, अतएव उसे अस्पष्ट विचारक कहा जाता है। वह मूलतः क्रिश्चियन् आस्था लेकर चला और उसने वैज्ञानिक परिवेश में चिन्तन को नई दिशा देने का प्रयास किया। काव्य-दर्शन की प्रतिष्ठा में अकेले विज्ञान को अपर्याप्त देखा जाता है क्योंकि प्रमाता या आत्मा के विषय में विज्ञान की अवधारणाएँ अब तक स्पष्ट नहीं हो पाई हैं। प्रमाता की सत्ता मानकर चलने से वैज्ञानिक दृष्टि में आध्यात्मिकता का मिश्रण होता है और इसे विवाद से परे नहीं कहा जा सकता। फिर भी कालरिज् की प्रतिभा ने जिस काव्य-दर्शन की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया, उसमें ध्वनि-सिद्धान्त के अनेक तत्त्वों का अनजाने ही समावेश हो गया है। यही कालरिज् की प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण पक्ष है और कदाचित् यही कारण है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(१) गुणात्मक स-सम्बन्धिकता (Qualitative Correlative) :

गुणात्मक स-सम्बन्धिकता का सिद्धान्त काव्य में महत्त्वपूर्ण है । कालरिज् की दृष्टि में काव्य और धर्म-दर्शन का गुणात्मक सम्बन्ध है—दोनों पिता-पुत्र, साध्य-साधन आदि के समान स-सम्बन्धिक हैं, अतः वह कहता है :

"स्वच्छन्दतावादी कवि और आस्तिक-धार्मिक दार्शनिक—दो नहीं हैं, न परस्पर भिन्न हैं ।—दोनों ही सर्वाङ्ग जगत् की दृष्टियाँ हैं । दर्शन बाह्य विश्व की वस्तुओं तथा व्यक्तियों के गुणों का आत्मा में संश्लिष्ट अवलोकन करता है, तो काव्य का आधार वह अनुकृति है जो एक व्यक्ति (कवि) अपने में देखी हुई सृष्टि की करता है ।"[५५]

दूसरे शब्दों में वह कहते हैं कि दर्शन का आधार यथार्थ जगत् है जबकि काव्य बाह्य जगत् की आन्तरिक प्रतिच्छवि को आधार बनाता है । दोनों ही वस्तुरूप में गुणात्मक स-सम्बन्धिक हैं—दोनों में मूल अन्तर नहीं है । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कालरिज् का कहना है :

"मैं प्रत्येक में समग्र की अभिव्याप्ति को गम्भीरता से अनुभव करता हूँ ।.... यद्यपि प्रत्यत्ततः वस्तुओं का पार्थक्य रहता है, फिर भी शाश्वत रूप में समानता अथवा सामान्य की ही अनुभूति होती ।"[५६]

गुणात्मक स-सम्बन्धिकता का दर्शन एक प्रकार का द्वन्द्वात्मक दर्शन है जिसमें वाद (व्यष्टि) और विवाद (समष्टि) का अन्तर संवाद (ईश्वर) में जाकर समाप्त हो जाता है क्योंकि वही सबमें अनुस्यूत रहनेवाली संश्लेषण सत्ता है । उसी सत्ता की अनुभूति मनुष्य को उदात्त रूप में प्रतिष्ठा देती है ।[५७] यही वह दर्शन है जिसपर कालरिज् का काव्य-दर्शन प्रतिष्ठित है । हम सहज ही इस तथ्य से परिचित हो जाते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को एक लय-दशा होती है और वही भारतीय रस-दशा है । उस अनुभूति में सीमाओं की समाप्ति हो जाती है और चेतना अपने उच्चतम रूप में विश्राम पाती है ।[५८]

(२) रसानुभूति :

कालरिज् आत्मवादी एवम् ईश्वरवादी कवि-दार्शनिक था और समस्त अनुभूतियों का अधिष्ठान आत्मतत्त्व को मानने के कारण वह प्रकारान्तर से रसवादी सिद्ध होता है । काव्य-संवेदनीय आत्मा ही मूलतः रस है और उस आत्मा को कालरिज् भावातिरेक तथा जीवन का स्रोत मानता है ।[५९] इस भावातिरेक का स्वरूप कालरिज् के अनुसार वही है जो रसानुभूति की अवस्था है :

"एक समय आ सकता है जब निष्क्रियता सार्थक सक्रियता की गरिमा प्राप्त करती है, जब लोग एक गम्भीर-शान्त संवेदन में रहकर अपने-आपमें समाहित हो सकते हैं, चाहे वे पढ़ते हों, सुनते हों या देखते हों, क्योंकि वे एक घण्टे के लिए चित्र-तुल्य कर दिये जाते हैं । आश्चर्य ! कितने थोड़े होते हैं जो मस्तिष्क के क्रियाकलाप को संवेदन में बदल सकते हैं, तथापि उस दशा में ऐसे-कुछ सक्रिय रहते हैं जैसे वेगशील वात्याचक्र अथवा समीरण के झोंके में खिलते हुए वासन्ती

कुसुम; ऐसे (सहृदय) जन तथापि एक साथ घण्टों तक विस्तृत एवं जागरूक हृदयोंवाले रह सकते हैं, और (विचित्र यह कि) उनकी स्मृति (वासना ?) और ग्रहणशीलता के अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति सुप्त रहती है ।"[६०]

'तर्क तथा अभ्यास' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कालरिज् ने कान्ट के अतिक्रान्त-सम्बन्धी दर्शन (Transcendentalism) के विपरीत अति-क्रान्त-दर्शन (Transcendentism) की अवतारणा करके उसे काव्य-बोध के उपयुक्त बताया है। अँगरेजी शब्द एक-से हैं, पर कालरिज् ने दोनों का अभिप्राय पृथक् मानते हुए कहा है :

"अतिक्रम-सम्बन्धी बोध वह है जिससे हम अपनी बौद्धिक शक्तियों के विश्लेषण के सहारे व्यावहारिक अनुभवों के ऊपर जाकर स्रोत में पहुँचते हैं, परन्तु किसी-न-किसी रूप में अनुभवों के ही कन्धों पर सवार रहते हैं और चाहते हैं कि अनुभवातीत सत्य पर जा पहुँचें । इसके विपरीत अतिक्रान्त दर्शन अपनी शक्तियों से परे ज्ञान पर प्रभुता पाने का प्रयास है । यहाँ शब्द बिम्बों के सामान्य रूपों को व्यक्त करते हैं और धुँधली-सी अनुभूतियों से सम्बद्ध अन्य शब्दों के साथ आते हैं । यह ऐसी प्रणाली है जो काव्य में क्षम्य है ।"[६१]

धूमिल शब्दावली में कालरिज् ने जो कुछ कहना चाहा है, वह ध्वनिवादी की रसव्यञ्जना के सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है । एक स्थान पर वह स्पष्ट कहता है :

"नैसर्गिक उद्दीपक भाषा कृत्रिम पद्यों में योजनापूर्वक साकार की जाती है कि संवेग के साथ आनन्द का मिश्रण हो सके ।"[६२]

कालरिज् की स्पष्ट धारणा है :

"कविता रचना की वह जाति है जो विज्ञान के कार्यों से भिन्न है, क्योंकि कविता का प्रयोजन तत्काल परमानन्द (Pleasure) है, अतएव वह अन्य सभी से भिन्न है । कविता के विविध अङ्गों से पृथक्-पृथक् तुष्टि होती है और तदनुरूप ही समग्र कविता से परमानन्द (Delight) का प्रयोजन सिद्ध होता है ।"[६३]

रसानुभूति की लोकोत्तरता पर प्रकाश डाला जा चुका है । कालरिज् भी प्रायः वही विचार रखता । उसकी स्पष्ट धारणा है कि काव्यानन्द लौकिक सुखों से भिन्न है । वह निर्वैयक्तिक आनन्द है जो हैज़लिट के साक्ष्य पर कहा जा सकता है :

"मिस्टर कालरिज् जब अपने विषय में कहता है तब अहंवादी न होकर अपने व्यक्तित्व को भावात्मक सामान्य में लीन देखता है ।"[६४]

काव्यानन्द-(रस-) सम्बन्धी कालरिज् की मान्यता को इस प्रकार देखा जा सकता है :

(क) काव्यानन्द एक लोकोत्तर अनुभूति है (जिसे भारतीय काव्य-शास्त्र में 'रस' कहा जाता है) ।

(ख) "काव्य परम आनन्द देता है जब पूर्णतया ज्ञात न होकर सामान्य रूप में बोधगम्य होता है । यही कारण है कि दार्शनिक कविता अत्यधिक आनन्द देती है ।"[६७]

काव्य का पूर्णतया ज्ञात न होना और सामान्यतया ज्ञात होना प्रकारान्तर से साधारणीकरण ही है। मिस् कोबर्न ने आशय यह लिया है कि कालरिज् काव्यार्थ में धुँधलेपन का समर्थन नहीं करता, प्रत्युत तर्क-सम्बन्धी ज्ञान या केवल तरुण उल्लास के सहज ज्ञान से काव्य-बोध को पृथक् बताना चाहता है।[६६] मिस् कोबर्न ने अपने स्पष्टीकरण में कहा है कि कलाकार का मानस स्पष्टता में न आनेवाले, अननुभूतपूर्व झिलमिल रहस्य को स्पष्ट कर देता है।[६७] कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि हमारे मानस में एक अस्पष्ट आभास का भी अंश रहता है और कालरिज् रसानुभूति में उसी को मान्य ठहराना चाहता है।[६८]

उक्त विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालरिज् भी रसात्मक अनुभूति को सीधे-सीधे शाब्द प्रत्यय नहीं मानता और यही ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता रही है। वह अनुमितिवाद या उत्पत्तिवाद या भोजकतावाद के निकट न होकर अभिव्यक्तिवाद के समीप है क्योंकि प्रकारान्तर से व्यञ्जना की बात भी उसने कही है जिसे आगे देखेंगे।

(ग) ध्वनिमत में माना जाता है कि काव्य का प्रत्येक पद या पदांश तक व्यञ्जक होते हैं और सम्पूर्ण वाक्य या प्रबन्ध की व्यञ्जकता में वे सहायक रहते हैं, फलतः अंशों से लेकर समग्र तक रसव्यञ्जना की व्याप्ति रहती है। कालरिज् के अनुसार :

> "प्रेषण-कला का यही महत्त्व है कि प्रतिपादन और भावोद्दीपन दोनों सहभावी रहते हैं परन्तु सद्यः परमानन्द के हेतु काव्य का प्रत्येक अवयव इस प्रकार व्यवस्थित रहता है कि स्वयं भी अधिकाधिक आनन्द देता हुआ समग्र काव्य से मिलनेवाले आनन्द का पूरक रहता है।"[६९]

(घ) विज्ञान और कला में कालरिज् यही अन्तर मानता है कि विज्ञान का लक्ष्य तत्काल सत्य का प्रेषण और उपलब्धि है जबकि काव्य का लक्ष्य आनन्द का प्रेषण है।[७०]

(ङ) भारतीय काव्य-शास्त्र में 'रस' शब्द प्रचलित हो गया, पर अंग्रेजी में वैसा कोई शब्द न होने से 'प्लेज़र' 'डिलाइट्' जैसे शब्दों से काम चलाना पड़ता है। विद्वानों को सन्तोष नहीं हुआ तो 'ब्यूटी' को जोड़ लिया, फिर भी अस्पष्टता बनी रही क्योंकि 'सौन्दर्य' शब्द स्वतः अस्पष्ट है। इस कठिनाई को कालरिज ने स्वीकार किया है, इससे उसका रसवादी होना सिद्ध होता है। 'रस' का अर्थवृत्त स्पष्ट न कर पाने से कालरिज् 'सुन्दर' की परिभाषा करता है—'सुन्दर वह है जो बहुत्व में देखा जाकर भी एक (अखण्ड) रहता—एकत्व में ही बहुत्व का सिद्धान्त मान्य है'।[७१]

विभावादि रससामग्री की अनेकता एक अखण्ड अनुभूति में आत्मसमर्पण करती है—विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः। यही कुछ कालरिज् भी कहना चाहता है परन्तु शब्द का अभाव उससे छलना करता हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः वह भारतीय चिन्तन के इतना निकट है कि पश्चिम का सामान्य समीक्षक उसे तत्त्वतः समझ सका है, इसमें सन्देह है।

(च) कालरिज् जब काव्यानुभूति की अस्पष्टता की बात करता है तब उसका कारण भी स्पष्ट करता है। "अपने सामने प्रत्यक्ष दीवाल का बिम्ब स्पष्ट रहता है परन्तु

विचार और 'विचारशील अहम्' दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अपने-आपके विषय में विचार इसलिए अस्पष्ट होता है कि हम नहीं जान सकते कि 'अपनापन' क्या है। फिर भी अनुभूति की गम्भीरता और निरन्तरता बनी रहती है—यह अहंता द्रष्टा और दृश्य को एकीभूत कर लेती है।''[७२]

ध्वनिमत में 'वासना' ही अनुभवनीय विषयवस्तु है जो चेतना या 'अहम्' से एकरूप हो जाती है और यही रसानुभूति है। इस दशा का तर्क द्वारा विश्लेषण संभव नहीं। देखा जा चुका है कि सविकल्प और निर्विकल्प यौगिक प्रत्ययों से रस-बोध भिन्न है अतः किसी प्रचलित शब्दावली में उसे समझाया नहीं जा सकता—वह तो अनुभव-साक्षिक है।

(३) व्यञ्जना शक्ति :

हमें यह जानकर विस्मय होता है कि कालरिज् शब्दशक्ति पर पृथक् पुस्तक लिखना चाहता है। वह प्रश्न करता है कि क्या यादृच्छिक शब्द-चिह्नों के बिना विचार असंभव है ? क्या शब्द यादृच्छिक हैं (वाच्य-वाचक भाव से शब्दार्थ-सम्बन्ध अनिवार्य है।)[७३] इस सबसे स्पष्ट है कि शब्द के वाचकत्व को लेकर कालरिज् सन्तुष्ट नहीं है, जैसा ध्वनि के सन्दर्भ में देखा गया है कि अभिधा शब्दशक्ति काव्य-बोध में अपर्याप्त है। 'शब्द-व्यापारों का विचारों और वस्तुओं के सम्बन्ध में विवेचन ज्ञान के कतिपय तथ्यों को व्यक्त करता है जो भाषा के सिद्धान्त में निहित हैं। विचार कभी अपनी पूर्ण सत्ता को प्रकट नहीं करते, यह ज्ञाताज्ञात-दशा अनिवार्य रहती है। यही वास्तविक ज्ञान का स्वरूप है।'[७४]

कवि वर्ण्य विषय से एकरूप होकर रसिक को अपने साथ एकाकार कर लेता है, यही कालरिज् के अनुसार काव्य-बोध है[७५] और यही सिद्धान्त अभिनवगुप्त का भी है, जो साधारणीकरण के सन्दर्भ में देखा जा चुका है। रस-दशा में 'हम शरीर में ही सुप्त कर दिये जाते हैं और जीवित आत्मा बन जाते हैं, इतना अस्पष्ट कि हम जान नहीं पाते कि यह सब क्या है। इस अनुभूति-क्रम का भाग निश्चय ही विचार और अनुभूति की एकता होती है।'[७६] इस अवस्था का उत्तरदायित्व शब्द की व्यञ्जकत्वशक्ति पर जाता है। यह (रसदशा) शब्दों से सीधे कही नहीं जा सकती, केवल व्यक्त होती है। 'यह सब एक प्रकार की लोकोत्तर एवं साधारणीकृत अनुभूति है।....कल्पना की जीवित वस्तु है और समरसता लानेवाली शक्ति की देन है जो तर्कशक्ति को अनुभूति-बिम्बों में प्रस्तुत करती है, अनुभूति-पुञ्ज को समन्वित करती है, प्रतीक-व्यवस्था को जन्म देती है और वे प्रतीक अपने आपमें समरस रहते हैं।....यही तो रूपक-तत्त्व है जिसमें भावात्मक अर्थ-बिम्बों का चित्रात्मक भाषा में अनुवाद किया जाता है। चित्रात्मक भाषा भी अनुभूति के विषयों को भावरूप देनेवाली वस्तु है।....प्रतीक सत्य को व्यक्त करता और अनुभवनीय बनाता है और जब सम्पूर्ण को अभिव्यक्ति देता है तब उसी एकत्व का भाग बन जाता है जिसका वह प्रतिनिधि है।'[७७]

उक्त भावानुवाद से कालरिज् की मान्यता स्पष्ट हो जाती है। व्यञ्जक शब्द ही प्रतीक होते हैं और उनसे घटित भाषा चित्रात्मक हो जाती है। चित्रात्मक भाषा अपनी

व्यञ्जना से ऐसे बिम्ब बनाती है जिनमें शब्द, अर्थ, वर्ण्य विषय और रसिक-चेतना सबकी अखण्डता अनुभूतिगोचर होती है। "इस अखण्डता की अभिव्यक्ति भाषा के रूपों और अलंकारों की धारावाहिकता में होती है जो (रूप और अलंकार) मूलतः भाव-क्षोभण (Passion) से उद्भूत होते हैं और कविता में शक्ति के दत्तक पुत्र बन जाते हैं। ये सब इच्छा और प्रयत्न से कहीं बढ़-चढ़कर होते हैं जहाँ हमारे भाव यथेच्छ (वैयक्तिक) रूप में प्रोत्साहित नहीं होते, प्रत्युत आनन्द के निमित्त सुरक्षित हो जाते हैं।"[७८]

पाल टिलिख के अनुसार प्रतीक का स्वरूप इस प्रकार है :

"प्रत्येक प्रतीक सत्य के उस स्तर का उद्घाटन करता है जिसके लिए प्रतीक-रहित भाषा अपर्याप्त होती है। ....परन्तु इस सत्योद्घाटन की प्रणाली में आत्मा के स्तर का भी उद्घाटन अनिवार्य रहता है जो आन्तरिक यथार्थ का स्तर है। प्रतीक द्वारा उद्घाटित दोनों भीतरी और बाहरी स्तर परस्पर समन्वय-लाभ करते हैं। अतः प्रत्येक प्रतीक दुधारा होता है। वह एक ओर सत्य को और दूसरी ओर आत्मा को उद्घाटित करता है।"[७९]

उद्घाटन और व्यञ्जना समानार्थक हैं क्योंकि शब्द द्वारा अर्थ का बिम्बात्मक रूप में व्यक्त कर देना ही उद्घाटन है। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य मनीषी भी काव्य-भाषा में व्यञ्जना जैसी अतिरिक्त शब्दशक्ति की खोज में रहे हैं। कालरिज् ने उसपर बल देकर विचार किया है।

कालरिज् के सोचने की रीति अत्यन्त दार्शनिक है। उसने दर्शन पर काव्य-दर्शन की प्रतिष्ठा की अतः शुद्ध काव्य-दर्शन उसके चिन्तन में बिखरा हुआ है। हमें प्रयास-पूर्वक उन तथ्यों का अनुसन्धान करना पड़ता है जो अध्यात्म-दर्शन के वृत्त में काव्य-दर्शन के घटक बन सकते हैं। यही कारण रहा है कि कुछ आलोचकों ने उसे अस्पष्ट बताया है। फिर भी विवेचना करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त ने जिस प्रकार के काव्य-दर्शन की प्रतिष्ठा की थी, उसकी सामग्री कालरिज् के मतवाद में खोजी जा सकती है। ध्वनिमत इसी में महान् है कि शब्दशक्तियों को केन्द्र बिना बनाये ही सोचनेवाले पश्चिम के मनीषी उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचते हुए देखे जाते हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर का शैली-दर्शन[८०] :

स्पेन्सर का चिन्तन मुख्यतः अभिव्यक्ति-शैली को विषय बनाता है। उसका विचार यह दिखायी पड़ता है कि शैली की गरिमा पर ही काव्य-बोध की उदात्तता अवलम्बित है। वह जब काव्य के बाह्य शैली-पक्ष पर विचार करता है तो आचार्य वामन के अधिक निकट दिखायी देता है। उसकी शैली प्रायः रीति के ही समकक्ष है। शैली में अलंकार, शब्दयोजना, दोषनिराकरण, शैलीगुण जैसे तत्त्वों को स्पेन्सर ने समेटा है, जबकि वामन की रीति में गुण ही आधार हैं और गुण विरोधी तत्त्व के रूप में दोष आते हैं। वामन के अलंकार रीति से बाहर हैं जबकि स्पेन्सर ने शैली में उनका भी ग्रहण किया है। स्पेन्सर का विचार ध्वनिमत के कितना निकट है, इसे उसके उद्धरणों के आधार पर दिखाना अपेक्षित है :

(१) स्पेन्सर् भाषा को कभी-कभी अभिव्यक्ति में व्याघात मानता है। 'कमरा छोड़ो' कहने के स्थान पर दरवाजे की ओर अङ्गुलिसंकेत करना अधिक व्यञ्जक (Expressive) है। 'मत बोलो' यह फुसफुसाने के बजाय ओठों पर अँगुली रखना अधिक शक्ति रखता है। 'यहाँ आओ' न कहकर अपनी ओर को हाथ हिलाया जाय तो अधिक अच्छा है।[८१] इस कथन से स्पेन्सर ध्वनिमत की चेष्टा-जनित व्यञ्जना का ही विवरण देता हुआ देखा जा सकता है। उसका अभिप्राय यही रहा है कि कम से कम शब्दों द्वारा अर्थ की व्यञ्जना ही कविता की शैली में ग्राह्य है।

(२) सामान्य-कथन के स्थान पर विशेष कथन का महत्त्व बताते हुए (कि 'क्रूरकर्म' न कहकर कोई विशेष 'नरबलि' जैसा कहा जाय) स्पेन्सर ने बताया है कि "यदि विशिष्ट शब्द दे दिया जाय तो सुनिश्चित बिम्ब तत्काल व्यञ्जित (Suggested) किया जा सकता है, (स-हृदय के) प्रयास की बचत होती है और अधिक विविक्त प्रभाव उत्पन्न होता है।"[८२] इससे स्पष्ट है कि स्पेन्सर को अभिधाशक्ति की अपेक्षा व्यञ्जना की काव्य में उपादेयता मान्य है, भले ही वह भारतीय ढङ्ग से विवेचन नहीं करता।

(३) एक स्थान पर स्पेन्सर यह भी कहता है कि 'मद्यपान से बचो' के स्थान पर 'बोतल से बचो' कहना उत्तम है। यहाँ विशिष्ट की अपेक्षा कुछ अस्पष्ट-सा शब्द कहना इसलिए काव्योपयोगी है कि उसमें प्रतिभा प्रकट होती है। इस प्रकारान्तर से वह व्यञ्जनाशक्ति का ही समर्थन करता देखा जाता है।[८३]

(४) अलंकार को अलंकार के लिए लाना उतना काव्योपयोगी नहीं होता। अलंकार जब वर्ण्य अर्थ को व्यक्त करता है, तभी वह उपयुक्त होता है। यह ध्वनिमत की मान्यता रही है। स्पेन्सर का भी ऐसा ही कहना है—उपमा प्रायः अलंकरण हेतु लायी जाती है परन्तु जब कभी वह शब्द-समूह की 'शक्ति' (Force) बढ़ाती है तब उपमा से थोड़े में बहुत कहा जा सकता है। यहाँ भी अलंकार की व्यञ्जकता पर ही बल दिया गया है।

(५) उपमा की अपेक्षा रूपक को स्पेन्सर इसीलिए श्रेष्ठ मानता है कि रूपक सादृश्य को वाच्य रूप में न लाकर व्यक्त करता है। इस अवसर पर 'सीधे कथन' और 'व्यञ्जित' के स्थान पर स्पेन्सर क्रमशः 'स्टेटेड' और 'इम्प्लाइड' शब्दों का प्रयोग करता है।[८४]

(६) वर्णन शैली के विषय में स्पेन्सर की धारणा है कि कथनीय दृश्य या घटना के तथ्यों में-से कुछ ऐसे तथ्य चुनकर काव्य में लाया जाय जो अन्य तथ्यों का बोध कराते हों। इस प्रकार कुछ थोड़े तथ्य कहकर कवि बहुत तथ्यों को व्यञ्जित (Suggest) कर सकता है। कथन (अभिधान) को संक्षिप्त करना प्रभावोत्पादन का रहस्य है।[८५]

ऊपर स्पेन्सर के अनुसार शैली-पक्ष का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया जिससे पता लगता है कि व्यञ्जना ही किसी-न-किसी रूप में शैली का प्राण है। व्यञ्जक भाषा ही ध्वनिमत में काव्य-भाषा है।

आई० ए० रिचर्ड्स् का समीक्षा-सिद्धान्त :

बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों में रिचर्ड्स् प्रकाश-स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने जड़ समीक्षा-पद्धति का विरोध करके गत्यात्मक समालोचना के मानक प्रस्तुत किये। यहाँ उनके सम्पूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख सम्भव नहीं, इतना ही प्रसंग-प्राप्त है कि शब्दशक्ति और व्यञ्जना से मिलती हुई कोई बात उन्होंने कही हो तो उसे प्रकाश में लाया जाय और ध्वनिमत की स्थापनाओं को यत्किंचित् तुलनीय बनाकर प्रस्तुत किया जाय।

(क) काव्य की भाषा :

रिचर्ड्स् के अनुसार कथन या अभिधान (Statement) वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग है जबकि काव्य की भाषा प्रभावक होती है, अतः वह भावात्मक होती है। यह भावात्मक भाषा ही आदिम भाषा है, वैज्ञानिक भाषा (जो बौद्धिक होती है) भाषा का उत्तर-विकास है। आज भी अधिकतर भावात्मक भाषा का ही प्रयोग होता है। वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग अब नैसर्गिक लगने लगा है, इसका कारण अभ्यासमात्र है। वस्तुतः आदि भाषा-स्वरूप रूढ़ अर्थ का वाचक नहीं माना जा सकता। भावात्मक भाषा के (व्यङ्ग्य) अर्थ के प्रति वैज्ञानिक अर्थ उपसर्जनीभूत हो जाता है और यही काव्य-भाषा की विशेषता है।[८६] यह मान्यता ही ध्वनि-सिद्धान्त का आधार है जो भाषा के चित्रात्मक रूप पर ही प्रतिष्ठित है जिसमें शब्द और अर्थ गौण रहकर अपर अर्थ की व्यञ्जना करते हैं :

> यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत-स्वार्थौ।
> व्यंक्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ (ध्वन्यालोक)

(ख) अर्थविचार :

काव्यार्थ-बोध में एक घटनाक्रम रहता है—(१) शब्दों का प्रत्यक्ष अर्थ-ग्रहण, (२) अर्थग्रहण से सम्बद्ध बिम्ब-बोध, (३) ऐसे बिम्बों का ग्रहण जो अपेक्षाकृत (शब्द और अर्थ से) स्वतन्त्र रहते हैं (ये ही व्यंग्यार्थ कहे जा सकते हैं), (४) विविध वर्ण्य-वस्तुओं के विषय में चिन्तन, (५) भाव-बोध और (६) संकल्पात्मक प्रभावानुभूति की चैत्त-दशा।[८७]

उदाहरणार्थ :

> सूनी कुटिया कोने में रजनी भर जलते जाना;
> लघु स्नेह भरे दीपक का देखा है फिर बुझ जाना। (आँसू)

वाच्य अर्थ-बोध के अनन्तर तेल से जलते हुए दीपक का सहज बिम्ब हमारे मानस में उभरता है, फिर प्रासंगिक अर्थ से स्वतन्त्र स्नेहशील जीवनवाले पुरुष का बिम्ब आता है (यह वस्तुरूप व्यंग्य है जिसे शब्दशक्तिमूलक अनुरणनात्मक व्यङ्ग्य कहा जाता है), तब हम उक्त वस्तुओं का ध्यान या चिन्तन करते हैं जिससे उक्त बिम्बगत पुरुष का उत्साह भाव प्रतीत होता है, और अन्ततः हमें उत्साह भाव की संकल्पात्मक (साधारणी-

कृत) स्वगत अनुभूति होती है जिसे रस-बोध कहा जाता है । इस प्रकार तीसरी से छठी कक्ष्या तक की घटनाएँ व्यञ्जना के क्षेत्र में आती हैं जिन्हें रिचर्ड्स् ने प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है । इसी सन्दर्भ में रिचर्ड्स् के अर्थ-भेद की चर्चा भी अपेक्षित है—वे अर्थ की चार स्पष्ट कक्ष्याएँ मानकर चले हैं :

(१) **वाच्य और लक्ष्य अर्थ** अथवा शब्द का व्यावहारिक शब्दकोशीय अर्थ तथा तत्सम्बन्धी अर्थ पहली कक्ष्या है जिसे रिचर्ड्स् 'सेन्स्' नाम देते हैं । वस्तु से विचार तक का अर्थक्षेत्र इसी में आ जाता है ।

(२) **अनुभूति** दूसरी कक्ष्या है जिसमें संवेग, संवेगात्मक वृत्तियाँ, संकल्प, इच्छा, सुख-दुःख आदि आ जाते हैं । 'अनुभूति' का प्रयोग एक साथ सभी के लिए अथवा एक या कुछ के लिए हो सकता है । वस्तुतः भारतीय परम्परा में 'भाव' शब्द से इस वर्ग का बोध होता है । 'भाव' शब्द अत्यन्त व्यापक है और रिचर्ड्स् के अनुसार वह 'शार्टहैन्ड' है ।[८८] सम्पूर्ण रस-ध्वनि का इसी में समावेश होता है ।

(३) **काकु** (Tone) के वर्ग में शब्दों का पूर्वापर-संगुम्फन, स्वरलहरी, कण्ठ-ध्वनि आदि आते हैं । इस प्रकार के अर्थ-वर्ग को रिचर्ड्स् ने विस्तार से देखा है परन्तु द्वितीय वर्ग को सर्वाधिक महत्त्व दिया है । ध्वनिमत में यह वर्ग गुणीभूत-व्यंग्य की वस्तु माना गया है । वाच्यार्थ से परे अर्थ का बोध अधिकांश द्वितीय वर्ग में आता है । तृतीय वर्ग को ध्वनिमत के अनुसार विस्तार देकर भी रखा जा सकता है, परन्तु यहाँ रिचर्ड्स् की ही मान्यताओं को ध्वनि-सिद्धान्त-सम्मत मानकर विचार अपेक्षित है ।[८९]

(४) **प्रयोजन** (Intention) वक्ता का वह उद्देश्य है जिसके निमित्त वाच्य-वाचक का प्रयोग किया जाता है । जब हम किसी की प्रशंसा द्वारा निन्दा करना चाहते हैं तब कह सकते हैं—'आपके सामने दिया नहीं जलता । तो हमारे दो प्रयोजन रहते हैं—एक तो यह कि श्रोता अपने को तेजस्वी मानकर प्रसन्न हो और दूसरा यह कि काले नाग के सामने दिया न जलने की जनश्रुति है और वह व्यक्ति वैसा ही महादुष्ट है । इस वर्ग में सम्पूर्ण वस्तु तथा अलंकार व्यंग्य आ जाते हैं । काव्य द्वारा कवि जो उपदेश देना चाहता है, वह भी इसी वर्ग की वस्तु है ।'

प्रथम वर्ग को 'सेन्स्' नाम देकर रिचर्ड्स् शेष तीन को 'नान्सेन्स्' वर्ग में रखते देखे जाते हैं । हम प्रथम वर्ग को वाच्य वर्ग और शेष को प्रतीयमान (व्यंग्य) वर्ग में ले सकते हैं । रिचर्ड्स् ने द्वितीय और तृतीय वर्ग को विस्तार से विवेचित किया है अतः तदनुसार विवेचना अपेक्षित है । काकुवर्ग को वे स्वयम् उपेक्षणीय बताते हैं ।[९०]

(ग) अनुभूति और प्रयोजन :

ध्वनि-निरूपण के सन्दर्भ में देखा गया है कि ध्वनि के तीन भेद होते हैं—रस, वस्तु और अलंकार । इनमें से रसध्वनि असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य होता है, शेष दो लक्ष्यक्रम-

व्यंग्य। रिचर्ड्स् के अनुसार प्रथम को अनुभूतिवर्ग में और शेष को प्रयोजनवर्ग में ले सकते हैं। अनुभूति को रिचर्ड्स् भी व्यवधान-रहित प्रतीति मानते हैं—वाच्य अर्थ के अनन्तर विचारादि को बिना अवसर दिये हुए ही अनुभूति हो जाती है।[११] यही कारण है कि उसमें क्रम लक्षित नहीं होता। रिचर्ड्स् ने एक महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है कि हमारी एक ऐसी अवस्था भी हो सकती है जब हम अनुभूति न करते हुए अनुभूति का विचार करते हो सकते हैं—ध्वनिमत में भी इस दूसरी अवस्था को रसबोध न कहा जायगा। रसबोध की दो स्थितियाँ हो सकती हैं—एक तो वह जब सीधे वाच्य अर्थ से रस-व्यंग्य पर पहुँचा जाय (तभी रसध्वनि होगी) और दूसरी वह जब वस्तुध्वनि से रसबोध होता है (अतः गौण रहता है)। अनुमान-मतवाले अध्याय में भी व्यवहित रस-बोध पर विचार किया गया है। रिचर्ड्स् ने भी काव्यार्थ की दो अवस्थाओं को मान्य किया है, एक तो सीधे और दूसरे प्रयोजन के माध्यम से। उक्त तथ्यों का सारांश इस प्रकार है :

(१) काव्य-बोध का अनुभूतिवर्ग ही ध्वनिमत का रसादिव्यंग्य कहा जा सकता है।

(२) अनुभूति साक्षात् भी हो सकती है और वस्तु (प्रयोजन) के माध्यम से भी। प्रथम में क्रम अलक्षित रहता है, वाच्यार्थ के अनन्तर तत्काल बोध होता और द्वितीय में क्रम स्पष्ट रहता है क्योंकि विचार मध्यस्थ होता है।

(३) अनुभूति पर विचार करना अनुभूति नहीं है। उस दशा में अनुभूति भी वस्तुरूप ही रह जाती है क्योंकि उसमें तल्लीनता का अभाव रहता है।

(घ) शब्द-शक्ति :

शब्दार्थ-विवेचन के प्रसंग में रिचर्ड्स् ने 'शक्ति' (Power) का नाम लिया है। प्रकारान्तर से यह शब्द-शक्ति की स्वीकृति ही है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि :

> "हमको अवश्य ही मानना चाहिए कि बहुत से पदों या वाक्यांशों की ध्वनियाँ और क्रियाएँ अपने अर्थ के साथ संवाद (संबन्ध—Correspond) रखती हैं। यही सम्बन्ध संभवतः उन्हें विशिष्ट 'शक्ति' देता है कि शब्द ठीक-ठीक हमारे मस्तिष्क तक अर्थ का वहन करते हैं जिससे हमें अर्थ-बोध होता है। यह अर्थबोध वस्तुतः अनुभूतियों का जागरण ही होता है।"[१२]

रिचर्ड्स् की मान्यता है कि "भावात्मक (व्यंग्य) अर्थ ही प्राचीनतम होता है क्योंकि मूलतः सभी शब्द चित्रात्मक (बिम्बात्मक) होते हैं। यही कारण है कि काव्य के शब्द हमारे भीतर अनुभूति जगाते हैं, जैसे वे कोई शक्ति (Spirit) हों। काव्य की वस्तुस्थिति विलक्षण होती है कि बौद्धिक वाच्यार्थ गौण हो जाता है और आत्मसमर्पण करता है। फलतः काव्य के शब्द अर्थ-व्यक्ति न प्रस्तुत कर सामान्य अर्थजाति के बोधक हो जाते हैं और अनुभूति-रूप प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट रूप में आने-वाला वाच्य अर्थ कविता में धूमिल आभास जैसा अर्थ बन जाता है। कविता में सर्वत्र वाच्यार्थ सहायक मात्र रहता है। कवि किसी वस्तु का कथन इसलिए नहीं करता कि

उसका विचारात्मक परीक्षण हो, प्रत्युत उसके कथन का परिणाम अनुभूति जगाना रहता है। अनुभूतियों को व्यक्त करके वाच्यार्थ परिसमाप्त हो जाता है। यह वाच्यार्थ सर्वथा अप्रासंगिक तथा निष्क्रिय हो जाता है कि उसपर आगे (अनुभूति से बाहर) कोई विचार नहीं हो सकता। यह उन लोगों के लिए कठोर सत्य है जो काव्य में सदैव किसी प्रेरक सन्देश की खोज किया करते हैं।'[९३] सारांश यह कि (ध्वनिमत के अनुसार) :

(१) वाच्यार्थ काव्य में गौण सहायक या साधनमात्र है, साध्य नहीं।

(२) कविता का चरम लक्ष्य भाव-व्यञ्जना है। आवश्यक नहीं कि रसानुभूति से बाहर कोई सन्देश देना सदैव कविता का साध्य रहता हो।

(३) जिसे व्यंग्य अर्थ कहा जाता है, वह अनुभूतिरूप में शब्द का प्राचीनतम अर्थ होता है। वाच्यार्थ तो बाद में रूढ़ हुआ वैज्ञानिक अर्थ है जो वैज्ञानिक वस्तु-बोधमात्र करा सकता है, पर कविता में वह अनुभूति रूप अर्थ देकर विरत हो जाता है।

(४) व्यंग्य अर्थ सामान्य होता है, विशेष या व्यक्ति नहीं, अतः कविता द्वारा व्यक्त संवेदन मानव मात्र की विभूति है।

(५) रिचर्ड्स् के अनुसार अनुभूति जगानेवाली काव्यशक्ति होती है जिसे ध्वनिमत में व्यञ्जना कहते हैं।

(६) यदि व्यंग्य (अनुभूति) वाच्य (Sense) के प्रति गौण हो जाय तो कवि की वैचारिक देन चाहे कितनी ही उदात्त क्यों न हो, उसे उच्च कवित्व का निदर्शन नहीं माना जा सकता।[९४] इसी आधार पर ध्वनिमत में मध्यमकाव्य (गुणीभूत-व्यंग्य) की स्थापना की गयी है और रिचर्ड्स् का विचार पूर्णतः तदनुरूप है।

(ङ) कल्पना :

भामह ने 'कल्पना' का नामोल्लेख किया है, परन्तु पाश्चात्य समीक्षा के समान भारतीय काव्यशास्त्रों में 'कल्पना' पर विस्तृत विचार नहीं देखा जाता। सच तो यह है कि आजकल हिन्दी में 'कल्पना' शब्द अँगरेजी के 'इमैजिनेशन्' का अनुवाद होकर ही आया है, अतः पहले इमैजिनेशन् पर विचार अभीष्ट है। इस शब्द का 'इमेज्' (बिम्ब) से सम्बन्ध है—वस्तु-बिम्ब उपस्थित करना ही इसका मूल अर्थ है। काव्य के सन्दर्भ में यह शब्द विविध अर्थवृत्त लेता हुआ आता है जिसपर रिचर्ड्स् ने विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होंने उसके छह अर्थ परिगणित कर अन्तिम को ही मान्य किया है जो कालरिज् का अभिमत अर्थ है।[९५]

(१) स्पष्ट बिम्बों का उपस्थापन 'कल्पना' का प्रचलित अर्थ है परन्तु उससे पूर्ण स्वरूप सामने नहीं आता।

(२) अलंकृत भाषा के प्रयोग को 'कल्पना' कहने की प्रथा है। परन्तु रूपक आदि अलंकार सर्वत्र काव्योपयोगी ही नहीं देखे जाते। इतिवृत्तात्मक अलंकार-प्रयोगों में काव्योपयोगी कल्पना का नितान्त अभाव रहता है—काव्य की भाषा अनिवार्यतः भावात्मक होती है।

(३) दूसरे के भावों के प्रति सहानुभूति को भी 'कल्पना' कह लेते हैं। यदि कोई दूसरे के भाव हृदयंगम नहीं कर पाता तो कह दिया जाता है कि 'आप कल्पना के धनी नहीं हैं।' यह अर्थ भी कल्पना के अर्थवृत्त से कम है।

(४) मौलिक आविष्कार को, जिसमें विविध तत्त्वों को समवेत करने की क्षमता रहती है, 'कल्पना' कहा जाता है। यह अर्थ बहुत कुछ मान्य अर्थ के निकट है, परन्तु सम्पूर्ण नहीं है तथा अत्यन्त सामान्य परिभाषा है जिससे अभिप्रेत कल्पना-स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

(५) पृथक् मानी जानेवाली वस्तुओं को सम्बन्ध के आधार पर एक वर्ग में स्थापित करना वैज्ञानिक की कल्पना है। यह कार्य यद्यपि प्रतिभा-सापेक्ष है, परन्तु तर्कशक्ति के अधीन है। काव्य जब तार्किक तथ्यों का निरूपण करता है तब इस कल्पना की बात उठती है। भामह ने भी कल्पना के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि तर्कशास्त्रीय तथ्यों का विवेचन किया है (काव्यालं०५), परन्तु रिचर्ड्स् ऐसे सीमित अर्थ में कविकल्पना को मान्य नहीं करते।

(६) अन्त में रिचर्ड्स् ने कालरिज् की परिभाषा देकर उससे पूर्ण सहमति प्रकट की है :—

"हम जिसे विशेष रूप से 'कल्पना' नाम देते हैं, वह समवेत उपस्थापन की अपूर्व ऐन्द्रजालिक शक्ति है। कल्पनाशक्ति विरोधी एवं विश्लिष्ट गुणों में सन्तुलन एवं समरसता लाती है। उदात्तता, प्राचीन तथा चिरपरिचित वस्तुओं में नवीनता, साधारण या व्यावहारिक की अपेक्षा विलक्षण भाव-स्थिति जिसमें असामान्य व्यवस्था हो, चिरजागरूक निर्णय, और उल्लास तथा अनुभूति के प्रति गत्यात्मक स्वाधिकार—ये सब—कल्पना के गुण हैं। कल्पना विविध तथ्यों के समूह को प्रभावगत एकता में परिणत करने की शक्ति रखती है और विचारों की शृङ्खला को एकीभूत प्रभावी विचार या अनुभूति में समाहित करती है। इस प्रकार कल्पना द्वारा एक प्रकार का संगीतमय आनन्द प्राप्त होता है।"[९६]

ऊपर कल्पना की जो परिभाषा दी गयी है उसके तत्त्वों का आकलन ध्वनि-सिद्धान्त के सन्दर्भ में करते हुए देखा जा सकता है कि 'कल्पना' शीर्षक के साथ विचार न करके भी भारतीय आचार्य वैसा ही सोचते थे।

(१) समवेत उपस्थापन :

काव्य-बोध को यदि रस-बोध का पर्याय माना जाय तो देखा जा चुका है कि विभावादि का समवेत रूप, उससे व्यक्त भाव और भावक की वासना इस प्रकार एक-रूपता ग्रहण करती हैं कि एक अखण्ड आनन्द-रूप विश्राम-दशा सुलभ होती है। काव्य-बोध की अखण्डता के स्वीकार में ही 'कल्पना' के इस पक्ष को मान्यता मिल जाती है। पदों और पदांशों के व्यंग्य वाक्य-व्यंग्य में समवेत होते हैं और वाक्य-व्यंग्य प्रकरण और

प्रबन्ध के अङ्ग बनकर अखण्ड अर्थ का उपस्थापन करते हैं। रीतिमत में भी गुण, दोषाभाव और अलंकार के समवाय से ही सौन्दर्य-बोध की निष्पत्ति मानी गयी है। सभी काव्याङ्गों के समूह से एक ही प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना में ही ध्वनिकार वास्तविक काव्यबोध मानते हैं :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

(२) ऐन्द्रजालिक शक्ति :

काव्य-बोध की लोकोत्तरता का आधार यही शक्ति है। इसे दो रूपों में ले सकते हैं—काव्यशक्ति और कविशक्ति। प्रथम रूप में वह ध्वनिमत की व्यञ्जनाशक्ति ही कही जा सकती है और दूसरे में वह कवि-प्रतिभा है जिसे पण्डितराज आदि आचार्यों ने काव्य का एकमात्र कारण माना है। पण्डितराज प्रतिभा को अखण्ड तत्त्व मानते हैं।[९७] आचार्य अभिनव के अनुसार कवि में रहनेवाली प्रतिभा अपूर्व वस्तु-रचना में समर्थ प्रज्ञा है; उसकी विशेषता यह है कि रसावेश के सौन्दर्य से युक्त काव्य-रचना की क्षमता आती है।[९८] आचार्य मम्मट ने शक्ति (प्रतिभा), शास्त्र, लोक आदि के अवलोकन से जनित निपुणता और काव्य-मनीषियों की शिक्षा से अभ्यास—इस त्रिक को काव्य का एक कारण बताया है।[९९] कालरिज् के समान ही आनन्दवर्धन ने भी कहा है—

"उस विलक्षण प्रतीयमान रसरूप अर्थ को प्रवाहित करती हुई महान् कवियों की सरस्वती लोकोत्तर प्रतिभाविशेष को अभिव्यक्त करती है।"[१००]

(३) समरसता कल्पनागुण :

कवि यदि विरोधी तत्त्वों में एकरसता एवं समञ्जसता न ला सका तो यह उसकी प्रतिभा का दोष कहा जायगा। ध्वनिकार ने इस सामञ्जस्य-निर्वाह के दो उपाय बताये हैं। विरोधी रसों से मुख्य रस शेष को बाधित करके लाने से सामञ्जस्य बनता है। भावशबलता का ऐसा ही उदाहरण है। दूसरा उपाय यह है कि विरोधी रस-भाव को मुख्य रस-भाव का अंग बनाकर लाया जाय :

मादक थी मोहमयी थी मन बहलाने की क्रीड़ा,
अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा। (आँसू)

इसमें हर्ष और विषाद विरोधी भाव हैं, परन्तु विप्रलम्भ शृंगार के प्रति दोनों अंग रूप में लाये गये हैं अतः समरसता में क्षति नहीं आती।[१०१]

(४) नवीकरण कल्पनागुण :

बहुत से तथ्य हमें पूर्व-ज्ञात रहते हैं और पहले के कवि कह चुके होते हैं, फिर भी समर्थ कवि उनको कुछ इस प्रकार लाता है कि रूढ़ प्राचीनता के स्थान पर आस्वादनीय नवीनता अनुभूति-गोचर होती है। इसपर ध्वनिकार ने बड़े विस्तार से विचार किया है। कहीं गुणीभूत-व्यंग्य की सुन्दर योजना से वाणी में नवीनता आती है, वर्ण्य वस्तु कितनी ही प्राचीन क्यों न हो।[१०२] इसी प्रकार रस-वैविध्य से काव्य में नवीनता आ

जाती है जैसे वसन्त में सभी पुराने वृक्ष नये लगते हैं।[१०३] ध्वनिकार के अनुसार ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य के असंख्य भेदोपभेद प्रकृति में बन सकते हैं अतः काव्योपयोगी अर्थयोजना का कोई अन्त नहीं है, कवि में केवल प्रतिभागुण (कल्पनाशक्ति) होना चाहिए।[१०४]

(५) जागरूकता कल्पनागुण :

यह गुण कवि और सहृदय दोनों का भाग है। ध्वनिकार ने दोनों को सजग रहने का संकेत दिया है। उनकी धारणा है कि विविध व्यंग्य अर्थों की विविध योजनाएँ हो सकती हैं परन्तु कवि को रसादि-व्यंग्य के निर्वाह में अधिक सावधान रहना चाहिए।[१०५] इसके लिए औचित्य, व्यंजक अलंकार-योजना, दोषाभाव आदि पर बड़े विस्तार से भारतीय काव्य-चिन्तन में विवेचन होता रहा है। सहृदय की कल्पनाशक्ति 'ग्राहयित्री प्रतिभा' या भावना कही जाती है। सहृदय को सतत जागरूक रहना होता है कि व्यंजक शब्द और अर्थ को सूक्ष्मता से समझा जा सके अन्यथा काव्य-बोध ही पूर्णता न पा सकेगा।[१०६]

(६) गत्यात्मक स्वाधिकार कल्पनागुण :

कवि और सहृदय का संवेदनीय तत्त्व पर अपना अधिकार या स्वामित्व हो जाता है। अपने-पराये का भाव मिट जाने पर भी हम संवेदन को तटस्थ नहीं मानते, प्रत्युत 'सकल-सहृदय-संवाद' होने से हम अपने को समग्र में सम्मिलित कर एकीभाव पा लेते हैं और तब स्वाधिकार स्वतः घटित होता है। यह 'स्वाधिकार' वैयक्तिक नहीं होता। यह स्वाधिकार गत्यात्मक होता है, रूढ़ या जड़ नहीं। वैज्ञानिक अधिकार जड़ता या रूढ़ि लिये रहता है, परन्तु कविकल्पना में गत्यात्मकता रहती है जिससे मानो हम अपने भीतर वह सब प्रत्यक्ष करते चलते हैं। इसीलिए भट्टनायक ने (दे० अध्याय ८) काव्य-भाषा को शब्द-प्रधान या अर्थ-प्रधान न मानकर व्यापार-प्रधान कहा है। व्यंजना-वृत्ति अभिधा या लक्षणा के समान पूर्वनिर्धारित रूढ़ अर्थ नहीं देती, प्रत्युत उससे वर्ण्य-वस्तु सजीव हो उठती है।[१०७]

× × ×

राजशेखर ने 'कल्पना' के ही अर्थ में 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया है और उसके दो भेद किए हैं—कवि में कारयित्री प्रतिभा (कर्तृत्वशक्ति) और रसिक में ग्राहयित्री प्रतिभा (ग्राहिका शक्ति)। अन्य आचार्यों ने उसके स्थान पर 'भावना' शब्द का भी उपयोग किया है जिनमें पण्डितराज जगन्नाथ भी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावना (कल्पना) का काव्यशास्त्रीय स्वरूप इस प्रकार विवेचित किया है :

> "भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।....साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आज-

कल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान—उसी प्रकार और भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"
(रसमीमांसा, पृ० २५)

"कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक।" (वही, पृ० २६)

"कवि को अपने कार्य में अन्तःकरण की तीन वृत्तियों से काम लेना पड़ता है—कल्पना, वासना और बुद्धि।" (वही, पृ० ९०)

ध्वनि-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य से विचार किया जाय तो 'भावना' के तीन रूप स्पष्ट प्रतीत होते हैं—कवि की कारयित्री प्रतिभाशक्ति, रसिक की ग्राहयित्री शक्ति और काव्य की व्यंजनाशक्ति। अन्तिम को भट्टनायक ने काव्य की पृथक् शक्ति (भावकत्व) कहा है जबकि ध्वनिवादी उसे 'व्यंजना' ही मानते हैं (दे० अध्याय ८)। 'कल्पना' को भी उक्त तीनों रूपों में कालरिज् ने मान्य किया है, ऐसा उनकी परिभाषा से स्पष्ट है। 'कल्पना' का अँगरेजी शब्द 'इमैजिनेशन्' वस्तुतः 'इमेज्' (बिम्ब) से सम्बद्ध है अतः बिम्ब-विधान की शक्ति ही 'कल्पना' है। भारतीय 'कल्पना' शब्द बड़ा व्यापक है। उसकी व्युत्पत्ति 'क्लृप् सामर्थ्ये' धातु से है अतः शक्ति-पर्याय है। उसकी प्रायोगिक विविधता बड़े महत्त्व की है :

(१) व्यवस्थित करना, निश्चित करना एक अर्थ है—
अनेक-पितृकाणां तु पितृतो भाग-कल्पना। (याज्ञवल्क्य, २।१२०)
एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत्।
उद्धारेनुद्धृते त्वेषमियं स्यादंश-कल्पना॥ (मनुस्मृति, ९।११६)

(२) आकृति-निर्माण :
विषमासु च कल्पनासु। (माल्विकाग्निमित्रम्, ३।१४)

(३) बिम्ब-विधान, कलात्मक रचना (Imagination) कल्पनापोढः = कल्पनाया अपोढः। (शाकुन्तल) आपटे।

(४) मानसिक बिम्ब (Image)—दे० आपटे का संस्कृत-शब्दकोश।

(५) अलंकरण (Decorating)—दे० वही। "कल्पना सज्जना समे।" (अमरकोश, ३।२।४२) में हाथी के अलंकृत करने के अर्थ में 'कल्पना' शब्द है।

(६) "प्रबन्ध-कल्पना कथा" (अमरकोश, १।६।६) प्रबन्धरचना के अर्थ में 'कल्पना' का प्रयोग है।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि 'इमैजिनेशन्' की अपेक्षा संस्कृत का 'कल्पना' शब्द अधिक व्यापक तथा सार्थक है। भारतीय काव्यशास्त्र में उसका अधिक उपयोग न होना ही आश्चर्य है।

अभिव्यञ्जना और व्यञ्जना : ध्वनि-सिद्धान्त और 'एक्सप्रेशनिज़्म' की तुलना :

भारतीय विद्यार्थी के लिए काव्यशास्त्रीय 'व्यञ्जना' चिरपरिचित एवं परम्परा-

निरूढ़ शब्द है जबकि 'अभिव्यञ्जना' पाश्चात्य मनीषी क्रोचे के 'एक्सप्रेशन' का अनुवाद है और 'एक्सप्रेशनिज़्म' को तदनुसार ही 'अभिव्यञ्जनावाद' कहा जाता है। इस प्रकार शुद्ध पुरातन विचारक के लिए व्यञ्जना, व्यक्ति, अभिव्यञ्जना और अभिव्यक्ति शब्दान्तर मात्र हैं, अर्थान्तर नहीं; परन्तु आधुनिक काव्यमनीषी निश्चय ही व्यञ्जना और अभिव्यञ्जना को तत्त्वतः पृथक् मानकर चलता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'क्रोचे' के सिद्धान्त को 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' नाम दिया है परन्तु 'वैचित्र्य' का समावेश 'क्रोचे' के 'अन्तर्दर्शन' अथवा 'सहजानुभूति' के प्रतिकूल पड़ता है और अकेला 'व्यक्ति' शब्द 'व्यञ्जना' से टकराकर अपना पृथक् अस्तित्व नहीं सिद्ध कर पाता। आचार्य शुक्ल को 'वैचित्र्य' से काव्य का आन्तरिक चमत्कार (रसादितत्त्व) अभिप्रेत नहीं, वे तो शुद्ध आलंकारिक चमत्कार का अभिप्राय रखते हैं। ऐसी स्थिति में 'अभिव्यञ्जना' शब्द को 'क्रोचे' के सन्दर्भ में मान्यता मिल गयी है और 'व्यञ्जना' से उसका पार्थक्य भी मान्य रहा है। इसी पार्थक्य की विवेचना अपेक्षित है।

ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार रसिक केन्द्र बन जाता है जिसमें काव्य के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अनुभूति-तत्त्व पर विचार किया जाता है, जबकि 'क्रोचे' कवि को केन्द्र बनाकर काव्य के कारण (उत्पादकतत्त्व) की खोज करता है। प्रथम देखता है कि काव्य में क्या होता है जो रसिक को आनन्दलीन करता है, और दूसरा देखता है कि कवि में क्या रहता है जो उसे काव्य-रचना के लिए विवश करता है।

अभिव्यञ्जना का आधार वह सहजानुभूति है जो कवि में उदित होकर वस्तु को बिम्बात्मक रूप दे देती है। सहजानुभूति बिम्ब (Image) और रूप (Form) के बिना होती ही नहीं। यद्यपि दोनों में कार्य-कारण-भाव हैं, तथापि दोनों की परस्पर अन्वय-व्यतिरेकी व्याप्ति है जिसका तात्पर्य हुआ कि दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। सहजानुभूति होने का अर्थ है—बिम्ब बना तो बिम्ब कोई न कोई रूप लेगा तथा यही रूपग्रहण अभिव्यञ्जना या 'एक्स्प्रेशन' है। वस्तुतः चारों ही नाम प्रतीतिक्रम के क्षणों के भेद से पृथक् किये गये लगते हैं। इस प्रकार 'सहज प्रज्ञा', अभिव्यञ्जना, रूप और सौन्दर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते हैं और उन्हें एक-दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते हैं।[१०८]

सहज प्रज्ञा से अभिन्न अभिव्यञ्जना कला का अन्तरङ्ग तत्त्व है जो संश्लिष्ट सौन्दर्य को व्यक्त रूप दे देता है। उसी अभिव्यञ्जना को संश्लिष्ट रूप में ही कविवाणी व्यक्त करती है। उस वाणी में पद-वर्ण-आदिकृत अनेकत्व क्रोचे को तत्त्वतः मान्य नहीं। वह अनेकत्व यदि विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है तो उसी संश्लिष्ट अभिव्यञ्जना का। यदि संश्लिष्ट अभिव्यञ्जना न हो तो विश्लिष्ट प्रतीति किसकी होगी ? अतः स्थूल शाब्दिक अभिव्यक्ति भी एक एवं संश्लिष्ट ही रहती है।[१०९]

क्रोचे के अनुसार प्रत्येक आत्मा (व्यक्ति) में वस्तु (Object) की वह प्रतीति ही सहजानुभूति है जो गुण, क्रिया, नाम, रूप आदि के पार्थक्य से विहीन एकात्मक होती है, जिसे महाकवि 'प्रसाद' ने 'संकल्पात्मक अनुभूति' कहकर काव्य-लक्षण माना है और कविवर पन्त ने उसे अनेक रूपों में अभिव्यक्त-स्वीकृत किया है :

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक-सेवा में शिव अविकार।

'शिव' तथा 'सुन्दर' रूपों में व्यक्त होनेवाली 'सहज प्रज्ञा' ही सत्य है। क्रोचे उसी को वास्तव मानकर कवि द्वारा शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति को वास्तविक अभिव्यक्ति की छाया-मात्र मानता है और ऐसा भी संभव मानता है कि सहजानुभूति शब्दार्थ की बाह्य अभिव्यक्ति न ले सके तो उस दशा में भी आन्तरिक अभिव्यक्ति—जो वास्तविक है—के आधार पर कोई भी व्यक्ति कवि कहा जा सकता है। इसे आचार्य राजशेखर ने 'हृदय-कवि' कहा है।

अभिव्यञ्जनावादी स्पष्ट मानता है कि शब्दमयी बाह्य अभिव्यक्ति तर्कलक्षणा बुद्धि की देन है जो सहजानुभूति का अत्यन्त स्थूल रूप है। फलतः वह कवि के आन्तरिक काव्य-रूप का आंशिक प्रतिनिधित्वमात्र करती है। वस्तुतः भाषा की संश्लिष्टता को व्याकरण का विश्लेषण इतना आच्छन्न कर लेता है कि एकात्मक अभिव्यक्ति असंभव हो जाती है।[११०]

क्रोचे के आलोचक इसी बात पर उसे किंचित् अतिवादी या प्रौढ़िग्रस्त बतलाते हैं। वह आन्तर और बाह्य अभिव्यक्तियों को समान दृष्टि से न देख सका। अन्तर्दृष्टि-वादी क्रोचे के लिए यह दोषारोप ही गुण बन गया, क्योंकि बाह्य अभिव्यक्ति को महत्त्व देकर वह अपने इस सिद्धान्त से च्युत हो जाता जिसे लेकर उसने वेद्य जगत् के सभी वेदनीयों को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है—"क्रोचे का कथन है कि मन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, और समस्त जीवन या जगत् का उसमें समाहार हो जाता है। मन जगत् से छाप ग्रहण करता है और वही उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। जगत् भी क्या है? वह मन का ही विवर्त है।"[१११] गोस्वामी तुलसीदास ने भी मन को सभी कार्यों का उपादान स्वीकार किया है :

विटप-मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाये,
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये।

(विनयपत्रिका, १२४)

शब्द मात्र को काव्य मानने का अर्थ होगा शारीरिक चेष्टा मात्रको काव्य मानना, जो असंगत है।[११२] इसीलिए प्रत्येक भाषा स्वभाषी जाति की ही भावाभिव्यक्ति ठीक कर पाती है, अन्य भाषा-भाषी के लिए अन्य भाषा ही अभिव्यञ्जक होती है।[११३]

× × ×

काव्यशास्त्र की प्राच्य चिन्ता-धारा में उक्त दोनों ही—आन्तरिक तथा बाह्य—अभिव्यक्तियों का समन्वय देखा जा सकता है। आचार्य कुन्तक के अनुसार :

(१) कवि के अन्तःकरण में प्रथमतः 'वस्तु' या वर्ण्य विषय प्रतिभा द्वारा भासमान होता है। (यह प्रतिभा हीं क्रोचे की सहज प्रज्ञा है और भासित होना ही अन्तर्दर्शन या बिम्बग्रहण है)।

(२) वस्तु की प्रातिभ प्रतीति (बुद्धिग्राह्य न होने से) उस मणि के समान होती है जिसका रूप बिना गढ़े हुए प्रस्तरखण्डवत् रहता है (इसी को क्रोचे के उत्तरकालिक अभिव्यञ्जनावादी कोलिंगवुड ने 'क्रूड फ़ीलिंग' कहा है)।

(३) वही प्रातिभ प्रतीति की वस्तु निपुण कवि द्वारा रचित वक्र वाक्य में आकर सान पर खरादी हुई मणि के समान मनोहारी हो उठती है। (वक्र वाक्य से कुन्तक का अभिप्राय उस अभिव्यक्ति से है जो रसिक को प्रातिभ प्रतीति की गहराई तक पहुँचा सके)।

(४) बाह्य अभिव्यक्ति पाने पर उसे काव्य नाम दिया जाता है और मर्मज्ञों को उससे आनन्द मिलता है।[११४]

क्रोचे और कुन्तक दोनों ही प्रातिभ वस्तु-प्रत्यय पर विश्वास रखते हैं। परन्तु क्रोचे जहाँ आन्तर अभिव्यक्ति पर बल देकर बाह्य (शाब्दिक) अभिव्यक्ति को न्यूनता दे देता है वहाँ कुन्तक रचना-प्रक्रिया में बाह्य (व्यावहारिक एवं शाब्दिक) अभिव्यक्ति को महत्त्व देकर रसिक-सापेक्ष काव्य-तत्त्व की प्रेषणीयता का निर्वाह आवश्यक बतलाता है। बाह्य अभिव्यक्ति के बिना काव्य-व्यवहार भी संभाव्य नहीं। अतएव अभिनव अभिव्यञ्जनावादी विचारक दोनों मतों के समन्वय की दिशा में अनजाने ही चल पड़े दीखते हैं। वे शाब्दिक अभिव्यक्ति को सिला-सिलाया जामा नहीं मानते जिसे अनुभूति को पहना दिया जाता है। प्रत्युत प्रत्येक अनुभूति के लिए भिन्न शाब्दिक अभिव्यक्ति मान्य ठहराते हैं जिसके बिना अनभिव्यक्त अनुभूति मानसिक धरातल की कच्ची वस्तु भर है जिसने साँचा नहीं लिया है। वस्तुतः अनभिव्यक्त अनुभूति का अस्तित्व ही कैसा ?[११५] यही बात आचार्य भर्तृहरि ने कही है कि समस्त ज्ञान शब्दानुबिद्ध होकर ही प्रतीति का विषय बनता है।[११६]

क्रोचे और कुन्तक को और अधिक समझने के लिए गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-शास्त्रीय मान्यता भी द्रष्टव्य है :

हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जो बरखइ बर बारि बिचारू।
होहिं कबित मुकुता मनि चारू॥

(रामचरितमानस, काण्ड १)

इसको 'अभिव्यंजना' के प्रकाश में देखें तो 'मति' से पृथक् 'विचार' का उल्लेख 'प्रातिभ प्रत्यय' और बुद्धि तत्त्व दोनों के समावेश का स्पष्ट संकेत दे देता है। स्वनामधन्य डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार तुलसी की 'मति' क्रोचे की 'सहजानुभूति' ही है, क्योंकि सीपी-समुद्र की तुलना में 'मति' और 'हृदय' को लाया गया है। 'मति' यहाँ बुद्धि नहीं है अन्यथा हृदय में उसका समावेश असंगत होगा। वाणी का विचार से जो सम्बन्ध गोस्वामी जी को मान्य है वह क्रोचे के अनुसार भी ठीक बैठता है। इतना अवश्य है कि

गोस्वामी जी ने शारदा अर्थात् वाणीतत्त्व या शाब्दिक अभिव्यक्ति का महत्त्व कम नहीं किया है।

यहाँ पूर्व और पश्चिम की दो दृष्टियों पर विचार किया गया है। दोनों में एक तात्त्विक अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। क्रोचे मनस्तत्त्व को रचनाप्रक्रिया में महत्त्व देता है जबकि भारतीय मनीषा शब्दतत्त्व को भी समान महत्त्व देती है। सच तो यह है कि काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में शब्दतत्त्व पर ही बल देना भारतीय विचारक का काम रहा है क्योंकि वह रसिक में होनेवाले अनुभूतितत्त्व का कारण काव्य-शब्द में खोजता है। क्रोचे रसिक को परे डालकर काव्य-रचना की प्रक्रिया पर बल देकर कवि की आन्तरिक भूमि की पर्यालोचना प्रस्तुत करता है। भारत का ध्वनिसिद्धान्त व्यंजना को शब्द (काव्य) की शक्ति मानता है, जिसे अब देखा जायगा।

× × ×

ऊपर देखा गया कि अभिव्यञ्जना कविगत रचनाप्रक्रिया या व्यापार है; अब ध्वनिमत की व्यंजनाशक्ति पर विचार अपेक्षित है। व्यंजना वह सारस्वत शक्ति है जो महाकवियों की वाणी में रहती है और सरस प्रातिभ वस्तु का निःष्यन्दन करती है जिससे असाधारण चमत्कारशाली कविप्रतिभा-विशेष अभिव्यक्त होता है।[११७] यहाँ हम स्पष्ट पाते हैं कि व्यंजना वाणी की शक्ति है जो कविगत प्रातिभ प्रत्यय को व्यक्त करती है। अतएव भट्टनायक ने वाणीरूपी धेनु द्वारा रस के दोहन का उल्लेख किया है।[११८] कवि की प्रतिभा ही कवि की शक्ति है और वही काव्य के स्फुरण का कारण है जैसी राजशेखर, पंडितराज, मम्मट आदि सभी मनीषियों की मान्यता है। परन्तु व्यंजना जैसी शक्ति तो शब्दशक्ति है। व्यंजना से व्यक्त अर्थ को व्यंग्य कहा जाता है और उसी को प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं, जो कविवाणी में इस प्रकार भासित होता है जिस प्रकार अङ्गनाओं में अङ्गों से पृथक् लावण्य की प्रतीति होती है।[११९]

अब हम व्यञ्जना और अभिव्यंजना में स्पष्ट अन्तर पा सकते हैं। काव्य द्वारा रसिक को काव्यानन्द की प्रतीति क्योंकर होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जायगा कि काव्य में व्यञ्जना व्यापार रहता है जो रसिक में आनन्दमय प्रत्यय को उद्बुद्ध कर देता है। कवि सुन्दर काव्य की रचना क्योंकर कर लेता है ? इसके उत्तर में कहेंगे कि कवि में एक व्यापार रहता है जिसे अभिव्यञ्जना कहते हैं, जो कवि के प्रातिभ ज्ञान को बिम्बरूप देकर अभिव्यक्त करती है तो काव्य बन जाता है। एक उदाहरण में :

मधु-राका मुसक्याती थी पहले देखा जब तुमको।
परिचित-से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको॥

यहाँ व्यञ्जना का यह काम नहीं कि कवि के आन्तरिक मनोव्यापार की प्रणाली समझाये, प्रत्युत वह इन्हीं शब्दों से बोधित प्रेमतत्त्व को रसिक में जगाकर अपना कर्तव्य पूरा कर देती है।

और स्पष्ट करना चाहें तो अभिव्यञ्जना कवि की शक्ति है जो कवि-मानस से काव्य तक व्याप्त रहती है जबकि व्यञ्जनारूपी काव्यशक्ति काव्य से रसिक तक व्याप्ति

लेती है। अभिव्यञ्जना कविगत काव्यरचना की उद्भाविका शक्ति है जबकि व्यञ्जना काव्यगत ग्राहिका शक्ति। अभिव्यञ्जना जब अपना कार्य समाप्त कर आन्तरिक वस्तुबिम्ब बुद्धि को सौंपकर तिरोहित हो जाती और बुद्धि उसे वाणी के आकार में भी ढाल चुकती है तब कहीं व्यञ्जना अपना काम आरम्भ करती और रसिक तक काव्यार्थ का प्रेषण करती है।

'रचना' और 'प्रेषणा' इन दो शब्दों पर ध्यान देकर देखें तो अभिव्यञ्जना रचनाप्रणाली का रहस्य बताती है और व्यञ्जना प्रेषणा-प्रक्रिया का मर्म खोलती है। क्रोचे रचनाप्रक्रिया पर बल देकर विचार करता है, प्रेषणा को गौण कर देता है। यही कारण है कि उसको प्रेषणीयता तत्त्व की उपेक्षा के लिए दोषी ठहराया जाता है।[१२०] जबकि व्यञ्जनावादी मनीषी प्रेषणीयता पर अपेक्षित बल देकर विवेचना को अग्रसर करता है, वह रचनाप्रक्रिया पर भी आवश्यक विचार करता है, जब काव्य-कारण की विवेचना प्रस्तुत करता है।[१२१] इस प्रकार अभिव्यञ्जना और व्यञ्जना के क्षेत्रों में अन्तर है।

यदि दोनों को मिलाकर देखा जाय तो कवि की सहजानुभूति से अभिव्यञ्जना में पहुँचेंगे और फिर वहाँ से शाब्दिक अभिव्यक्ति की मेंड़ पर जायेंगे, तदनन्तर व्यञ्जना के क्षेत्र में से होकर रसिक की चर्वणा का रहस्य प्राप्त कर सकेंगे।

इस प्रकार समन्वयवादी आलोचक यदि समीक्षा की धाराओं के सङ्गम पर पहुँचे, तो दोनों प्रवाह एक दिखायी पड़ेंगे, फिर भी शब्दमयी अभिव्यक्ति की रेखा दोनों को विभक्त किये रहेगी। इसका कारण है क्रोचे द्वारा कवि के मनस्तत्त्व पर बल देना, जबकि काव्य के सन्दर्भ में भारतीय मनीषी सरस्वती को महत्त्व देकर चलता है :

विविक्त - वर्णाभरणा सुखश्रुतिः
प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृत - पुण्यकर्मणां।
प्रसन्न - गम्भीर - पदा सरस्वती ॥ (भारवि)

× × ×

काव्य-भाषा की इङ्गित-रूपता और ध्वनिमत :

ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना यही है कि काव्य के शब्द और अर्थ स्वतः गौण रहकर अर्थान्तर की व्यञ्जना करते हैं। यह अर्थान्तर काव्य का प्रधानीभूत अर्थ रहता है। इस मान्यता का लम्बा इतिहास है। भामह के पूर्व दो मत प्रचलित थे—एक मत शब्द को ही काव्य मानता था और दूसरा अर्थ को। शब्द को काव्य मानने के पक्ष में यह तर्क है कि काव्य के शब्द अपरिवर्तनीय होते हैं; इतिहास, राजनीति के समान उसके शब्द बदले नहीं जा सकते। अर्थ-काव्य-वादी का तर्क होगा कि शब्दमात्र से कोई अनुभूति नहीं आ सकती अतः अर्थ ही 'काव्य' कहलाने का अधिकारी है। आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर समन्वय किया। उनका आशय है कि काव्य केवल शब्दप्रधान रचनाएँ हैं जिनके शब्द ही महत्त्व रखते हैं, अर्थ गौण रहता है; इतिहासादि में शब्द

परिवर्तनीय रहते हैं, अतः अर्थ की प्रधानता रहती है। काव्य में दोनों का समान महत्त्व है—न हम काव्य के शब्द बदल सकते हैं और न ही अर्थ में कुछ जोड़-घटा सकते हैं; अतः काव्य कवि-नियोजित शब्द और अर्थ के साहित्य या सहभाव का नाम है। भामह की मान्यता में नया अध्याय भट्टनायक ने जोड़ा। उन्होंने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को गौण बताया और व्यापार (भावकत्व तथा भोजकत्व) को प्रधान बताया। निश्चय ही शब्द और वाच्यार्थ से जो नया अर्थ देनेवाला व्यापार है, वही काव्य का सर्वस्व है, हम उस व्यापार को 'कल्पना' भी कह सकते हैं। ध्वनि-सिद्धान्त ने व्यञ्जक शब्द और अर्थ द्वारा आनेवाले व्यंग्य की प्रधानता के आधार पर चिन्तन को अग्रेसारित किया। तदनुसार काव्य की भाषा एक प्रकार से इङ्गित-भाषा है। पश्चिम के मनीषियों ने इस दिशा में भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इस सन्दर्भ में आर० पी० ब्लैकमूर के चिन्तन का सारांश प्रस्तुत किया जा सकता है। काव्य-रचना के विपरीत दो छोर हो सकते हैं—एक छोर यह होगा कि परम्परागत रूढ़ शब्दार्थ-योजना की जाय जिसे सभी समझ सकते हों, किसी प्रतिभा-कौशल की अपेक्षा न हो, दूसरा यह कि कवि के अतिरिक्त और कोई समझ ही न सके, सभी मनमाने अनुमान लगाते रह जायँ। ब्लैकमूर के अनुसार ये दोनों छोर काव्य के वृत्त से बाहर हैं, इसी आधार पर उन्होंने मिस्टर ई० ई० कूमिंग्ज् की खरी आलोचना की है।[१२२] ब्लैकमूर की समस्त स्थापनाओं में ध्वनिमत की प्रतिच्छवि देखी जा सकती है :

(१) "हमारी सामान्य धारणा है कि भाषा शब्दों से और इङ्गित चेष्टाओं से से निर्मित है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि शब्दों का निर्माण चेष्टाओं से होता है, क्रिया और प्रतिक्रिया ही शब्द-रचना के उपादान हैं, और इङ्गित भाषा से बनते हैं—अर्थात् शब्दों की भाषा के आसपास, नीचे-ऊपर जो भाषा का अन्तर्हित रूप होता है, उसी से इङ्गित निर्मित होते हैं। अतः यह मान्य है कि काव्य की भाषा प्रतीकात्मक व्यापारों (चेष्टाओं) का ही एक रूप है।"[१२३] तात्पर्य यह कि भाषा का एक कार्य इङ्गित या इङ्गित-सदृश भी है जिसे सुविधापूर्वक 'व्यञ्जना' कहा जा सकता है।

(२) "मेरी स्थापना यह नहीं है कि भाषा स्वयं ही इङ्गित (Gesture) है, प्रत्युत यह कहना अभीष्ट है कि विशेष परिस्थिति में वह इङ्गित की शक्ति प्राप्त कर लेती है।"[१२४] स्पष्ट है कि यह इङ्गन-शक्ति ही ध्वनिमत की 'व्यञ्जना' है। भाषा का आदिम रूप ही इङ्गितों से विकसित हुआ है, अतः 'व्यञ्जना' को आदिम शब्द-शक्ति कहा जा सकता है।

(३) "इङ्गित भाषा की आधारभूमि है और यदि आप भाषा को इङ्गित से हटा लें तो निर्जीव तथा रूढ़िग्रस्त भाषा ही हाथ लगेगी। परन्तु इङ्गित भाषा की जन्मभूमि ही नहीं है, अपितु वह उसके समक्ष अधिक सम्पन्न अर्थ में उपस्थित होता है, और जब कल्पनात्मक प्रसङ्ग होता है तब इङ्गित का योग अनिवार्य है।"[१२५] ब्लैकमूर का आशय है कि भाषा के माध्यम से जो अर्थ के इङ्गित होते हैं, वे भाषा के प्राण हैं। दूसरे शब्दों में, व्यञ्जना ही भाषा में प्राणवत्ता लाती है, अन्यथा भाषा जड़ वर्णराशि रह जाती है। बिम्बविधान तो व्यञ्जना से ही संभव है।

(४) "ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा का उच्चतम प्रयोग तब तक सम्भव नहीं जब तक उसमें इङ्गित के गुण समाहित न हों । ....भाषा में इङ्गितशक्ति बाहर तो होती ही है, बिम्बात्मक अर्थ और आन्तरिक नाटकीयता के रूप में भी प्रकट होती है । यह शब्दों में अर्थ-पूर्णता का लीला-विलास है जिसकी परिभाषा शब्दकोशीय नियमावली में नहीं हो सकती । ....इङ्गित वह अर्थ-पूर्ति है जो शब्द के प्रत्येक अर्थ में संचार करती है । वह शब्द को गतिमयता देती है जिससे हम भी गतिमय हो उठते हैं ।"[१२६] इस सन्दर्भ में ध्वनिकार के कथन यथा-सन्दर्भ आ चुके हैं । एक स्थान पर वे कहते हैं :

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ (ध्वन्यालोक, १।१५)

अर्थात् जो चमत्कार-चारुता अन्य किसी उक्ति से असंभव है, उसे प्रकाशित करता हुआ शब्द व्यञ्जकत्व-शक्ति से सम्पन्न होता है और तभी 'ध्वनि' नाम प्राप्त करता है ।

(५) ब्लैकमूर ने वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और नाट्य कलाओं में इङ्गितत्त्व-शक्ति की परिव्याप्ति मानते हुए कविगत इंगित-शक्ति पर विस्तार से प्रकाश डाला है ।[१२७] "उक्त कलाओं में इंगित की व्याप्ति है अतः काव्य-कला में भी उसी का प्रसार है क्योंकि कविता उसी वर्ग की नैसर्गिक प्रसूति है, अतः काव्य में विविध कलाओं के चिह्न प्रकट होते हैं और उसके अपने देदीप्यमान इंगित भी रहते हैं । तात्पर्य यह कि काव्यालोचन का इंगित ही है, समग्र इंगितों का आकलन है, अर्थ का सम्पूर्ण विलास-वैभव है, जो पूर्ण अस्तित्व प्रदान करता है । काव्य अर्थ का अर्थ है (कह सकते हैं कि वाच्यार्थ से व्यक्त अर्थान्तर है), कम-से-कम अर्थ की भविष्य-वाणी है (अर्थात् काव्य का अर्थ वाच्यार्थ का भावी अर्थ है जो बाद में व्यक्त होता है, जब वाच्यार्थ का बोध हो चुकता है ।)[१२८]

(६) यदि हम 'इंगित' के स्थान पर 'व्यञ्जना' शब्द का प्रयोग करें और रसानुभूति के ध्वनिसम्मत स्वरूप को सामने रखें तथा ब्लैकमूर के अनुसार कहें तो "हम अनुभव करते हैं, प्रत्येक वस्तु हमें इस प्रकार गहराई में उद्दीप्त करती है, जैसे वह इंगित हो, मानो अजन्मा आत्मा की अभिव्यञ्जना या संकेत हो । इस प्रकार कलाकार होने के नाते हमें महत्त्वपूर्ण व्यञ्जनाएँ करनी चाहिए, यदि हम वैसा करने में असफल रहते हैं तो इसलिए कि तमिस्रा का अन्धतमस् हमारी वाणी पर छा जाता है ।"[१२९]

उक्त विवरण से यह तो नहीं कहा जा सकता कि ब्लैकमूर ठीक वही कह रहे हैं जो व्यञ्जना के विषय में कहा जाता रहा है, फिर भी इतना अवश्य स्पष्ट है कि पश्चिम का विचारक बिम्बविधान, प्रतीक आदि के कारण की खोज शब्द-व्यापार में करने लगा है । अभिप्राय यह कि काव्य में किसी विलक्षण शब्दशक्ति को पाश्चात्य मनीषी भी मानता है जो शब्दकोशीय वाच्यार्थ देनेवाली अभिधाशक्ति से पूर्णतः भिन्न है, अतएव वह उस विलक्षण अर्थ को 'मीनिङ् आव मीनिङ्' या 'प्राफ़ेसी आव् मीनिङ्' कहता है ।

टी० एस्० इलियट का क्लासिक-वाद :

इलियट का नाम आज विश्वविख्यात है । ख्याति का कारण उसका विलक्षण व्यक्तित्व और कर्तृत्व रहा है—वह राजनीति में राजतन्त्रवादी, साहित्य में परम्परावादी

(क्लासिकवादी) और धर्म में कैथलिकवादी था, जैसा उसने स्वयं ही १९३३ में अपने विषय में कहा था ।[130] इलियट के काव्य में चर्च या क्रिश्चिऐनिटी जीवन-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है, काव्य-मार्ग को आकार देने में इलियट के लिए धर्म का विशेष महत्त्व है और तदनुसार ही वह काव्य-सामग्री का चयन करता है ।[131] इलियट धार्मिक होने के कारण ही काव्य में निर्वैयक्तिकतावादी है और उसका निर्वैयक्तिकीकरण प्रायः साधारणीकरण का नामान्तर है । अरस्तू के विश्वजनीनता-सिद्धान्त के मेल में आकर भी वह व्याख्या में कुछ भिन्न है । आगे इलियट के मानदण्डों पर विचार किया जा रहा है ।

(१) निर्वैयक्तिकीकरण :

काव्य अपने आपमें, कवि के कृतित्व में और सहृदय के अनुभव में निर्वैयक्तिक होता है :

(क) सम्पूर्ण देश-काल की सीमाओं में अस्तित्व रखनेवाले सभी काव्यों का समवाय एकीभूत तत्त्व है, काव्य-विशेष का कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं होता । ऐसा काव्य दुर्लभ होता है जिसमें 'काव्य' नाम की सार्थकता हो ।[132] इस प्रकार इलियट की दृष्टि में काव्य-मात्र एक जीवित संघटन है जिसे व्यक्तिरूप में किसी एक रचना में देखना असंगत है, अतएव काव्य स्वतः निर्वैयक्तिक वस्तु है ।

(ख) जब काव्य व्यक्तिरूप नहीं है तब उसमें देशकाल-सीमाओं के साथ रचयिता के व्यक्तित्व की सीमा भी नहीं है । कवि अपते कविरूप में व्यक्ति नहीं होता, वह असंख्य कवि-व्यक्तियों के निर्वैयक्तिक चैतन्य का ही एक प्रकट रूप होता है (कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः) । इस प्रकार कवि-प्रतिभा की समस्त देश और काल में व्याप्त एक-रूपता इलियट को मान्य है । कवि के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उसे रुचिकर नहीं । विशेष और विविध अनुभूतियाँ कवि-चेतना में व्यक्ति-सीमा-स्वतन्त्र होकर एक निर्विशेष अनुभूति-संघ का संघटन करती हैं । इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है—जब दो विशेष गैसें प्लैटिनम की उपस्थिति में मिश्रित की जाती हैं तब वे दोनों गैसें 'सल्फ्यूरस् ऐसिड' का निर्माण करती हैं । यह मिश्रण प्लैटिनम की विद्यमानता में ही संभव है, फिर भी उस रासायनिक मिश्रण में प्लैटिनम अदृश्य रहता है और साथ ही प्लैटिनम स्वयं प्रभावित नहीं होता, तटस्थ रहकर दोनों गैसों को प्रतिक्रिया-शील करता हुआ भी स्वयं प्रतिक्रिया-शून्य रहता है । ठीक इसी प्रकार कवि का मानस तटस्थ रहकर मानवीय अनुभूतियों का मिश्रण बनने में कारण तो बनता है, पर स्वयं प्रतिक्रिया-हीन रहता है । कवि में अनुभूतियों का भोक्ता और उनका रचयिता, दोनों रूप अलग रहते हैं, दूसरा रूप ही कवि-रूप है । यह पार्थक्य उतना ही अधिक स्पष्ट रहेगा, जितना कवि कला में प्रौढ़ होगा ।[133]

(ग) इलियट के अनुसार काव्य-जनित अनुभूति भी निर्वैयक्तिक होती है । कवि-चेतना प्लैटिनम का स्थान लेती है और उसके द्वारा अनेक अनुभूतियों, संवेगों आदि का एक मिश्रण (पानक-रस) बन जाता है । यह काव्य-बोध सभी व्यावहारिक बोधों से विलक्षण (दूसरे शब्द में, लोकोत्तर) होता है । यह एक या अनेक अनुभूतियों अथवा संवेगों की उपज हो सकती है ।

(घ) इस प्रकार सहृदय भी स्वगत (वैयक्तिक) अनुभूति काव्य से नहीं लेता। वह तो सर्वथा विलक्षण संवेदन प्राप्त करता है और यही सहृदय की चेतना का निर्वैयक्तिक रूप है जो उसे 'सहृदय' कहने योग्य बनाता है।[१३४]

ध्वनि-सिद्धान्त में काव्य-शक्ति 'व्यंजना' का यही स्वरूप है। भट्टनायक का साधारणीकरण इलियट की मान्यता से समर्थन पाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का यही तो संयोग है (इलियट के अनुसार वह मिश्रण या 'काम्बिनेशन्' है) जो सहृदय में रस की निष्पत्ति करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इलियट कवि के व्यक्तित्व को काव्य के मूल्यांकन में उपयोगी नहीं मानता क्योंकि कवि स्वयं कोई व्यक्तित्व नहीं है, एक निर्वैयक्तिक शक्ति है।[१३५] इस दृष्टि से भट्टतौत की उक्ति देखी जा सकती है :

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः ।

अर्थात् काव्य से नायक, कवि और श्रोता का समान अनुभव होता है। स्पष्ट है कि ये चारों—काव्य, नायक, कवि और श्रोता—कोई व्यक्ति नहीं हैं, जिनमें तादात्म्य के आरोप की बात उठती हो। आनुभविक चेतना का ऐसा वृत्त बन जाता है जहाँ चारों की व्यक्तित्त्व-शून्य एकता होती है और यही साधारणीकरण है। आचार्य मम्मट काव्य-वाणी को लोकोत्तर इसीलिए मानते हैं कि उसकी कृति सीमा-परतन्त्र नहीं, नियति के नियमों से परिबद्ध जैव-सीमा से परे है, एकमात्र आह्लादमयी है और नौ रसों की नवलता के चमत्कार से परिपूर्ण (अलौकिक) है।[१३६] ब्लैकमूर ने इलियट को ठीक ही समझकर कहा है कि "इलियट के अनुसार काव्य की आत्मा गहरी-गहरी तथा नामहीन अनुभूतियों में निवास करती है जहाँ हम विरलता से ही प्रवेश पाते हैं और वे ही हमारी सत्ता का अधिष्ठान बनाती हैं।"[१३७] रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में ऐसा ही ध्वनिमत का अभिमत दिया जा चुका है।

(२) अनुभूति के स्तर :

इलियट ने शेक्सपियर के नाटक को उदाहरण में लेकर काव्यबोध के अनेक स्तर गिनाये हैं—

(क) साधारणतम दर्शक के लिए कथावस्तु ही सर्वस्व है।

(ख) कुछ अधिक विचारशील के लिए चरित्र, चारित्रिक द्वन्द्व महत्त्वपूर्ण है।

(ग) कुछ और अधिक साहित्यिक को शब्दार्थयोजना भली लगती है।

(घ) संगीत-संवेदन से सम्पन्न व्यक्ति को लय रुचिकर है, परन्तु

(ङ) अधिक संवेदना तथा बोध-सम्पन्नतावाले दर्शक के लिए वह विलक्षण अर्थ महत्त्व रखता है जो अपने आपको क्रमशः (स्तर-प्रतिस्तर) व्यक्त करता है।[१३८]

उक्त पाँच बोध-स्तरों में अन्तिम ही काव्य-बोध का वास्तविक स्तर है। इस प्रकार के बोध से सम्पन्न थोड़े लोग होते हैं जो सहृदय कहे जाते हैं (सवासनानां

सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्) । ये सहृदय सभी स्तरों का क्रमिक बोध प्राप्त कर तत्क्षण एकीभूत अनुभूति (सद्यः परनिर्वृति) प्राप्त करते हैं ।[१३९]

इलियट क्रिश्चियन दर्शन को काव्य-दर्शन मानकर भी काव्य को मैथ्यू आर्नाल्ड के समान उपयोगितावादी दृष्टि से नहीं देखना चाहते । "काव्य की उपयोगिता" शीर्षक निबन्ध में आर्नाल्ड ने कहा है "तल में काव्य जीवन की समीक्षा है (Poetry is at bottom a criticism of life)" । इलियट का कहना है, जीवन को तल-स्पर्शी दृष्टि से आर्नाल्ड भी नहीं देख सकते, अतः ऐसे जीवन की समीक्षा कैसी ? यदि जीवन को समग्र रूप में लेना अभीष्ट है तो कठिनाई यह है कि जीवन की समग्रता अज्ञात रहती है, और समग्र तो ऊपर से तल तक होता है, जिसे आर्नाल्ड या कोई दृश्य नहीं बना सकता; और तब इस आतङ्ककारी रहस्य की समालोचना क्या होगी ?

अनुभूति के पञ्चम स्तर में शेष सभी का संगम हो जाता है जहाँ भावात्मक एकत्व की उपलब्धि होती है । यहाँ कवि व्यक्तित्व की व्यञ्जना नहीं करता, प्रत्युत विशिष्ट माध्यम को लाता है, वह माध्यम कोई व्यक्ति नहीं रहता । इस प्रकार विभाव के साधारणीकरण का भी समावेश निर्वैयक्तिक माध्यम के द्वारा इलियट ने मान्य किया है । सभी भाव और अनुभाव एक विलक्षण प्रकार से मिश्रण लाभ करते हैं । यहाँ इलियट यह नहीं कहना चाहते कि मानवीय अनुभवों से बाहर की कोई वस्तु काव्य में होती है, प्रत्युत उनका आशय है कि व्यक्तित्व जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु वहाँ नगण्य हो जाती है । यह भी ध्यान रहे कि काव्य-बोध में वेदान्त के आत्मैक्य की बात भी इलियट को अभिमत नहीं, वे तो भावात्मक ऐक्य ही चाहते हैं ।[१४१] इलियट का स्पष्ट अभिप्राय है कि "कवि का यह कार्य नहीं है कि वह नवीन भाव खोजता फिरे, प्रत्युत उसे साधारण (लौकिक) भाव ही प्रयोग में लाने हैं । वे जब काव्य में उपस्थापित होते हैं तो उन अनुभूतियों की व्यंजना हो जाती है जो वास्तविक संवेग (भाव) कभी नहीं रह जाते; और कवि को ज्ञात अथवा अज्ञात भाव, सभी काव्य के अनुगामी हो चलते हैं ।"[१४२]

ध्वनि-सिद्धान्त में 'भावशबलता' का महत्त्व है जिसमें विरोधी भावों का मनोरम संगुम्फन होता है । इलियट भावशबलता को एक अभिनव काव्य-बोध के रूप में मान्य करता है जिसमें विविध विरोधी भाव एकीभूत होते हैं ।[१४३]

जहाँ तक रसनिष्पत्ति का सम्बन्ध है, इलियट को हम भट्टनायक के निकट पाते हैं । व्यक्तित्व-परिहार पर उन्होंने इतना बल दिया है कि सहृदय की वासना की रसात्मक अभिव्यक्ति पूर्णतया दब गयी है । ऐसा प्रतीत होता है; व्यक्तित्व (पर्सनालिटी) के निरसन के साथ रसिक वासनामुक्त भी हो जाता है और तब यह निर्वैयक्तिक अवस्था आत्मा की एकता के अतिरिक्त क्या बचती है ? इलियट जब दार्शनिक आत्मैक्य से बचना चाहते हुए केवल काव्य-बोध की एकता बताते हैं तब वह वासनाहीन अवस्था नहीं हो सकती, परन्तु इलियट इसका कोई संकेत नहीं देते । भट्टनायक की रसनिष्पत्ति वासनाहीन अवस्था है जिसे इलियट-सम्मत मानने पर समस्या उलझ जाती है क्योंकि भट्टनायक रसनिष्पत्ति को सात्त्विक मनोदशा मानकर चलते हैं, जबकि इलियट त्रिगुण जैसे किसी

सिद्धान्त की चर्चा नहीं करना चाहते। इलियट 'वासना' की बात न कहकर भी काव्य के प्रयोजन का ऐसा विवरण देते हैं जिसमें काव्य द्वारा दी जानेवाली उदात्त संवेदना (Sensibility) का उल्लेख है[१४४] जिससे हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वे मानव-वासना के ही उदात्तीकरण को काव्य की उपलब्धि मानते हैं और तब उन्हें हम अभिनव आदि ध्वनिवादियों के भी अतिसमीप पाते हैं। निर्वैयक्तिकता दो ही प्रकार से समझ में आती है—एक तो भट्टनायक का मार्ग है कि भाव न स्वगत है और न परगत, प्रत्युत काव्य द्वारा ही भावित होता है; दूसरा मार्ग ध्वनिमत का है, जिसके अनुसार सहृदय की वासना अपने आपमें निर्वैयक्तिक ही रहती है और उसी की व्यंजना रस-निष्पत्ति है। इलियट इस विषय में निर्णायकरूप से कुछ कहते नहीं जान पड़ते।

(३) काव्य की परिभाषा और उपयोगिता :

काव्य की उपादेयता अथवा काव्य-प्रयोजन को काव्य की परिभाषा से अलग नहीं रखा जा सकता और न ही काव्य के हेतु का विवेचन किये बिना काव्य का स्वरूप समझा जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने परिभाषा करने के पूर्व ही प्रयोजनों और काव्य-हेतु पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार यशोलाभ, धनलाभ, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गल-निवारण, तत्काल परमानन्द-लाभ और कान्ता-सम्मित उपदेश काव्य के प्रयोजन हैं।[१४५] काव्य का एक ही कारण है जिसके तीन पक्ष मम्मट ने गिनाये हैं—शक्ति या प्रतिभा, लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य आदि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता या व्युत्पत्ति, और काव्य-मनीषियों की शिक्षा से किया हुआ अभ्यास।[१४६] (पण्डितराज ने केवल प्रतिभा को काव्य का कारण माना है।) काव्य-प्रयोजनों में अन्तिम दो महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बाद मम्मट ने काव्य की परिभाषा की है जिसपर विचार हो चुका है। तीनों को मिलाकर काव्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :

> "प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास के त्रिक से उद्भूत परमानन्ददायक तथा कान्ता के समान सुकुमार उपदेश देनेवाले उस शब्दार्थ-साहित्य को काव्य कहते हैं जो स्फुट-दोषों से रहित, गुणों से युक्त हो, जिसमें अलङ्कार हों या कभी न भी हों।"

इस आधार पर इलियट का अभिमत भी विचारणीय है। इलियट समालोचना के विषय में कहते हैं :

> "समालोचना वह चिन्तन-शाखा है जो खोज करती है कि कविता क्या है, उसका उपयोग क्या है, किन इच्छाओं को वह तुष्ट करती है, वह क्यों लिखी या पढ़ी जाती है, अथवा (समालोचना वह चिन्तन-शाखा है) जो कविता का मूल्याङ्कन करती है। हो सकता है कि अच्छी आलोचना की प्रणाली उक्त से भिन्न हो, परन्तु आलोचना को उक्त तथ्यों पर विचार करने का अधिकार है।"[१४७]

इससे स्पष्ट है कि जो प्रश्न मम्मट के समक्ष थे वे ही इलियट को भी विवश करते जान पड़ते हैं। परिभाषा को लेकर इलियट चिन्ता नहीं करते। उनकी मान्यता है कि यदि परिभाषा खोज भी ली जाय तो उसका कोई उपयोग नहीं है।[१४८]

परिभाषा करने से बचना चाहकर भी वे पर्याप्त कुछ कह गये हैं, जब उन्होंने निर्वैयक्तिकता की बात की है। हम कह सकते हैं कि निर्वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति देनेवाले शब्दार्थ को इलियट के अनुसार काव्य कहा जायगा और कवि की निर्वैयक्तिक चेतना (जिसे कल्पना या प्रतिभा कह सकते हैं) काव्य का कारण है। यहाँ तक ध्वनिमत से कोई विरोध नहीं है।

जहाँ तक काव्य-प्रयोजन का सम्बन्ध है, इलियट ने कुछ स्पष्ट चर्चा की है। वे रिचर्ड्स् के भावावेशवाले प्रयोजन से सहमत हैं, परन्तु नैतिक उपदेशवाले प्रयोजन से असहमत हैं। वैयक्तिक मनोविज्ञान के आधार पर काव्य-स्वरूप-निर्धारण के भी वे विरोधी हैं।[१४९] आनन्द के साथ-साथ मनोविनोद को भी इलियट ने काव्य-प्रयोजन माना है और कविगण उपदेशात्मक काव्य भी लिखते हैं, इसे भी वे अस्वीकार नहीं करते, परन्तु प्रयोजनवादी या उपयोगितावादी दृष्टिकोण से वे मूल्याङ्कन नहीं चाहते।[१५०] इलियट का कहना है :

> "वस्तुतः काव्य को उपयोगों के आधार पर परिभाषित नहीं करना चाहिए। यदि लोकगत उत्सव या पर्व या धार्मिक विधि में काव्य उपादेय है, अथवा समूह को मनोरञ्जन देता है, तो बहुत अच्छा है। यह भी हो सकता है कि काव्य हमारे संवेदनों में क्रान्ति ला दे, संभव है वह परम्परागत बोधप्रणाली और मूल्याङ्कन-प्रणाली को भङ्ग कर दे जिससे लोग संसार के विषय में नई दृष्टि पा सकें। यह भी काव्य का प्रयोजन हो सकता है कि समय-समय पर हम उन गम्भीर तथा नामहीन अनुभूतियों के प्रति जागरूक हो जायें जो हमारे अस्तित्व का अधिष्ठान हैं।"[१५१]

इस प्रकार इलियट काव्य की परिभाषा और उसके मूल्याङ्कन को उपयोगितावादी आधार नहीं देना चाहते। यही वह तथ्य है कि हम इलियट को अस्पष्ट पाते हैं। कदाचित् वे काव्य को अपरिभाष्य मानते हैं।

(४) **कल्पना** (Imagination) **और प्रौढ़ोक्ति** (Fancy) :

रिचर्ड्स् के सन्दर्भ में कल्पना पर विचार हो चुका है। कल्पना एक प्रकार का बिम्ब-विधान है जो लोक-प्रसिद्ध भी हो सकता है और केवल कवि-कल्पित भी। बिम्ब वस्तुरूप भी होते हैं और अलंकाररूप भी। 'बिम्ब' शब्द यद्यपि अँग्रेजी के 'इमेज्' का अनुवाद है, फिर भी ध्वनिमत में उसे व्याख्या दी जा सकती है—प्रत्येक व्यंजक शब्द एक प्रतीक है और उससे व्यक्त होनेवाला अर्थ अनुभूति में बिम्ब रूप लेता ही है। ध्वनि-सिद्धान्त में अर्थशक्तिमूलक व्यंग्यार्थ के भेदों पर प्रकाश डाला गया है, यहाँ बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में पुनर्विचार अपेक्षित है। केवल कविकल्पित वस्तु और अलंकार को प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु और अलंकार कहा जाता है और जो कल्पना लोक-प्रचलित भी होती है उसे स्वतःसंभवी कहते हैं। अतः बिम्बों को हम चार प्रकारों में देखते हैं :

- बिम्ब
  - स्वतःसंभवी
    - वस्तुरूप
    - अलंकाररूप
  - प्रौढ़ोक्तिसिद्ध
    - वस्तुरूप
    - अलंकाररूप

इनके उदाहरण यथावसर आ चुके हैं। यहाँ 'कल्पना' और प्रौढ़ोक्ति में अन्तर विचारणीय है।

प्रौढ़ोक्ति वह कवि-कल्पना है जिसका व्यावहारिक आधार नहीं होता जबकि 'कल्पना' व्यापक शब्द है जिसमें स्वतःसंभवी बिम्ब और प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध बिम्ब, दोनों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो अँगरेजी 'फ़ैन्सी' के लिए भारतीय शब्द 'प्रौढ़ोक्ति' हो सकता है जिसे 'प्रौढ़ि' भी कहा जाता है। बढ़ा-चढ़ाकर कहना 'प्रौढ़ि' है (प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की।—मानस)। प्रौढ़ोक्ति अथवा प्रौढ़ि का प्रयोग एक प्रकार की कल्पित उक्ति के अर्थ में होता है जिसका व्यावहारिक आधार चीण रहता है, परन्तु 'फ़ैन्सी' के लिए उसका प्रयोग निरापद् नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'फ़ैन्सी' का अर्थ ही विवादास्पद है—कभी उसे 'कल्पना' का ही पर्याय माना जाता है और कभी कुछ मनीषी दोनों में अस्पष्ट-सा अन्तर कर लेते हैं। इलियट ने अन्तर को अमान्य किया है।

(क) ड्राइडन ने दोनों में अन्तर मानते हुए कहा है :

"कवि की कल्पना का प्रथम सुखद प्रयास उचित आविष्कार है जिसे विचार का अनुसन्धान भी कहते हैं। दूसरा प्रयास 'फ़ैन्सी' है जो विचार की विविध-रूपता अथवा रचना में देखा जाता है और वह रचना विषय के अनुरूप होती है। तीसरा कवि-प्रयास चित्रण, अलंकरण या साज-सज्जा है जो विचारों को रूपायित करती है, जिसे हम समुचित शब्दयोजना में देख सकते हैं। इस प्रकार आविष्कार में कल्पना की शीघ्रता देखी जाती है, फ़ैन्सी में जननशक्ति या उर्वरता होती है और तीसरे भाग 'अभिव्यक्ति' में उपयुक्तता रहती है।" [१५२]

इससे स्पष्ट है कि कल्पना के ही तीन कार्य हैं—विषय का मानस-पटल पर उभरना, उसका विविध रूपों में बिम्बित होना और अलंकृत अभिव्यक्ति। इनमें से दूसरा कार्य 'फ़ैन्सी' है। ड्राइडन का मत मानकर चलें तो 'फ़ैन्सी' को 'प्रौढ़ि' नाम नहीं दे सकते क्योंकि वह तो कल्पना का ही एक भेद है जबकि ड्राइडन 'फ़ैन्सी' को कल्पना की उपज मानता है, साथ ही अभिव्यक्ति के पूर्व उसकी सर्वत्र उपस्थिति अनिवार्य घोषित करता है।

(ख) कालरिज् का कथन है :

"बार-बार चिन्तन से पहले मैं इस संशय पर पहुँचा कि 'फ़ैन्सी' और 'कल्पना' दो भिन्न एवम् अत्यन्त विविक्त शक्तियाँ हैं, वे न तो सामान्य लोकविश्वास के

अनुसार दो शब्द हैं जो एक ही अर्थ देते हैं और न ही एक ही शक्ति की निम्न तथा उच्च भूमिकाएँ हैं। मैं मानता हूँ कि ग्रीक शब्द 'फैन्टेसिया' (जिसका विकास इमैजिनेशन् है) का सर्वथा संगत अनुवाद सोच पाना सरल नहीं है। परन्तु साथ ही यह भी सच है कि लोकसमाज में एक मूलप्रवृत्ति रहती है जिससे अनजाने ही अर्थ-विकास होता चलता है, फलतः दो पर्याय शब्द कभी-कभी भिन्नार्थक हो जाते हैं। मिल्टन को कल्पना-प्रधान और काउले को फ़ैन्सी-प्रधान कहा जाता है।"[१५३]

इससे प्रतीत होता है कि 'फ़ैन्सी' कल्पना के ही समकक्ष एक पृथक् शब्द है जिसका प्रायः वही अर्थ है जो 'प्रौढ़ोक्ति' का।

उदाहरणार्थ :

सुरा-सुरभिमय बदन अरुण वे, नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल थे जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग। (कामायनी)

यहाँ पूर्वार्ध में शुद्ध कल्पना है जो स्वतःसंभवी भी है जबकि उत्तरार्ध में प्रौढ़ोक्ति या 'फ़ैन्सी' है जो केवल कवि-कल्पना पर प्रतिष्ठित है। तात्पर्य यह कि 'फ़ैन्सी' या प्रौढ़ि कल्पना का ही एक प्रकार या भेद है।

(ग) उक्त उद्धरणों पर इलियट को सहमत नहीं पाते। कालरिज् के विषय में वे निर्णय देते हैं कि यह विवाद व्यर्थ का भार है जो पाठक पर डाला जाता है। साथ ही, उनका यह भी अनुमान है कि दोनों कवि-समालोचकों के समय में अन्तर है अतएव अर्थ में अन्तर आ सकता है। वस्तुतः इलियट की धारणा है कि ये कवि मनमाना अर्थ करके अपने काव्य-सिद्धान्त प्रस्तुत करना चाहते हैं।[१५४]

इस विवाद से एक बात तो स्पष्ट है कि 'इमैजिनेशन्' और 'फ़ैन्सी' शब्दों के अर्थ में व्यावहारिक अन्तर रहा है और कभी-कभी वे पर्याय रूप में भी चलते रहे हैं। अच्छा हो कि हम प्रथम को 'कल्पना' और द्वितीय को 'प्रौढ़ि' या 'प्रौढ़ोक्ति' नाम दें जो कल्पना का ही एक रूप है। दोनों में बिम्ब-विधान समान रूप से देखा जाता है।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्याय में कतिपय पाश्चात्य काव्य-मनीषियों के कुछ विचार संकलित किये गये और देखा गया कि भारतीय परम्परा के विचारों के मेल में उन्हें एक सीमा तक लिया जा सकता है। विचार-धाराओं की भिन्नता के कारण पूर्ण साम्य का आग्रह न होना चाहिए। जितनी समानता मिलती है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य-शक्ति को लेकर पश्चिम का मनीषी भी वैसा ही कुछ कहने की खोज कर रहा है जैसा भारतीय शास्त्रों में कहा गया है। जो बातें शास्त्रों में विस्तार से न आने पर भी स्फुट रूप में आयी हैं उनसे हमें संकेत मिलते हैं कि भारतीय विचारक भी वैसा ही कुछ कहना चाहता है जैसा विस्तार से पश्चिम में कहा गया या कहा जा रहा है।

प्लेटो यदि काव्य को अग्राह्य मानते हैं तो भारत में भी कहावत रही है—"काव्यालापांश्च वर्जयेत्।" अर्थात् काव्य के आलाप वर्जनीय हैं। अरस्तू ने काव्य को

उपयोगिता के आधार पर ग्राह्य बताया तो भारतीय परम्परा उसे सदैव ग्राह्य मानती रही है और सदैव उपयोगिता के आधार पर उसे विचारणीय बनाया है। अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अभिनव को भी मान्य है; यह अवश्य है कि अभिनव उसे साध्य न मानकर रसानुभूति का साधन मानते हैं जबकि अरस्तू उसपर इतना बल देते हैं कि विरेचन ही साध्य बन जाता है। अभिनव के अनुसार सम्पूर्ण वैयक्तिक संस्कारों का, रसानुभूति के विघ्नों का निवारण पहले काव्य द्वारा कर दिया जाता है और तभी रसानुभूति होती है। प्लेटो का अनुकृतिवाद पश्चिम में अत्यन्त व्यापक रहा है। प्रायः सभी विचारक कला को अनुकृति मानकर चले हैं। भारत में 'अनुकृतिवाद' न्यायदर्शन-सम्बन्धी काव्य-चिन्तन में अधिक उत्कर्ष ले सका जबकि ध्वनिमत में अभिनव ने उसपर गम्भीर विचार करके उसे भ्रामक शब्द माना और उसे अवैध नहीं बताया।

डेमेट्रियस और स्पेन्सर के शैली-सिद्धान्त यद्यपि अभिव्यक्तिपक्ष पर बल देकर विचार करते हैं, फिर भी ध्वनि-सम्बन्धी अनेक स्फुट विचार वहाँ भी आ जाते हैं। शब्दशक्ति को अमान्य करके काव्य-मनीषा चल ही नहीं सकती। लांजिनस् के उदात्त-सम्बन्धी विचार भी बहुत कुछ ध्वनिमत के निकट हैं, चिन्तन-प्रणाली में अन्तर अवश्य है। औदात्य और औचित्य में बहुत कुछ साम्य है। सच तो यह है कि ध्वनिमत 'उदात्त' का ही पोषक है। यद्यपि उस प्रकार से चिन्तन नहीं किया गया, तथापि व्यंजना का अर्थ उदात्त ही रहता है, जिसपर सदैव बल दिया गया है।

कालरिज़, रिचर्ड्स् और इलियट के चिन्तन में इतनी प्रौढ़ता तथा सूक्ष्मता है कि ध्वनि-सिद्धान्त की विविध मान्यताएँ उनके सन्दर्भ में पुनर्मूल्यांकन पा सकती हैं और उन मनीषियों को ध्वनिमत के आधार पर भी पुनर्मूल्यांकित किया जा सकता है। यह मानना व्यर्थ है कि सभी एक-सा, एक जैसे वर्ग-विभाजन से सोचते। देखना यह चाहिए कि उनमें साम्य क्यों हैं। यदि है तो काव्य-मनीषा की अन्तःसलिला धारा सर्वत्र एक रही है। प्रस्तुत तुलना की यही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

ब्लैकमूर जैसे अनेक विद्वान् हैं जो भाषा में प्रकारान्तर से व्यंजनाशक्ति को आवश्यक मानते हैं। वस्तुतः इंगित-शक्ति भाषा की सहजात शक्ति है जिससे उसे वंचित नहीं किया जा सकता। शब्दों के अर्थ बाद में रूढ़ हो जाते हैं और तब व्यंग्य या चित्रात्मक अर्थ गौण हो चलता है या दब जाता है। काव्य-भाषा उस अर्थ को पुनर्जीवित कर लेती है।

इस प्रकार पूर्व और पश्चिम के चिन्तन में बहुत बड़ा अन्तर मानना आधुनिक परिवेश में असंगत है। जो विचारक प्राच्य चिन्तन की आत्मा नहीं समझते, वे उसे रूढ़िवादी मानकर पश्चिम के उन विचारों को ही गौरव देते हैं जिन्हें पचाना कभी-कभी कठिन रहता है। इलियट देशकालव्यापी काव्य-मात्र को एक कविता मानकर चलते हैं तो हम कह सकते हैं कि देशकाल की व्याप्ति में जितनी भी आलोचना-धाराएँ हैं, उनका समवाय एक ही आलोचना है।

हिन्दी-काव्य-चिन्तन और ध्वनि-सिद्धान्त १४

(क)

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में किसी काव्यशास्त्रीय आग्रह के दर्शन नहीं होते। भक्तिकाल की सम्पन्न रचनाएँ किसी ऐसे शास्त्र को आधार नहीं बनातीं जो हिन्दी में ही उपलब्ध हो। संस्कृत-काव्य-शास्त्र की भी कोई ऐसी अपेक्षा नहीं देखी जाती जिसे शास्त्रीय आग्रह कहा जा सके। गोस्वामी जी जब कहते हैं :

भावभेद रस-भेद अपारा।
कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥

तो इतना ही पता चलता है कि संस्कृत-स्रोत से ये सब तथ्य उनको सुलभ थे परन्तु शास्त्रों की यान्त्रिकता से उन्हें विरक्ति थी अतएव वे अपने को इस विषय में अज्ञानी ही बताना चाहते हैं :

कबित बिबेक एक नहिं मोरें।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥

यह सच है कि कविता के उत्कर्ष-काल में समीक्षा-शास्त्र की गति मन्द पड़ जाती है, और यही भक्तिकाल में हुआ। भक्तिरस की धारा तो बह रही थी, पर कवि केवल शास्त्र पर ध्यान नहीं टिकाता था। इसका अभिप्राय यह नहीं कि शास्त्र-रचना की ओर दृष्टि नहीं गयी। सूरदास की 'साहित्य-लहरी' स्वतः रस-ग्रन्थ है जिसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और कृपाराम ने 'हिततरङ्गिणी' लिखकर एक शास्त्रीय प्रयास किया। परन्तु वे बाद के आचार्य माने जाने लगे हैं। रहीम का 'बरवै नायिका-भेद एक प्रकार का शास्त्रीय ग्रन्थ है। इतना होते हुए भी भक्ति-काव्य की स्वतन्त्रता अव्याहत बनी रही। उस काव्य को रस, अलंकार, रीति-गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि किसी दृष्टि से परखा जा सकता है। अष्टछाप के 'नन्ददास' की 'रसमञ्जरी' महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ है।

भक्तिकाल के अन्तिम चरण में केशवदास की दृष्टि काव्य-शास्त्र-रचना की ओर गयी, परन्तु उनकी सीमाएँ थीं। वे 'कविप्रिया' द्वारा केवल अलंकारों का और 'रसिकप्रिया' द्वारा केवल शृङ्गाररस का सीमित विवेचन कर सके। शास्त्ररचना की परम्परा डालकर हिन्दी में शास्त्रीय दृष्टि का उन्मीलन केशव ने किया, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु वे ध्वनि-सिद्धान्त से दूर ही रहे। वे आलंकारिक चमत्कार पर बल देनेवाले कवि थे :

"उनका कोई मौलिक विचार और सिद्धान्त इस विषय में नहीं बताया जा सकता। अतः उनके मत से सहमति या विरोध की बात नहीं उठती।"

(डॉ० भगीरथ मिश्र—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४४)

ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर चिन्तामणि त्रिपाठी ने विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में 'कवि-कुल-कल्पतरु' ग्रन्थ लिखा जिसपर काव्यप्रकाश का अप्रतिम प्रभाव है। उदाहरणार्थ :

सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होय।
शब्द अर्थ वारौ कबित बिबुध कहत सब कोय ॥

यहाँ मम्मट का ही काव्य-लक्षण अनूदित किया गया है।

तोषनिधि का 'सुधानिधि', मतिराम का 'रसराज', कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'रसविलास', सुखदेव मिश्र के 'रसार्णव' और 'श्रृंगारलता', कालिदास का 'बधू-विनोद', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', करन कवि का 'रसकल्लोल', उदयनाथ कवीन्द्र का 'रस-चंद्रोदय', पद्माकर का 'जगद्विनोद' बेनी प्रबीन का 'नवरस-तरङ्ग' आदि ग्रन्थ केवल रसों का विवरण देते हैं। इनमें प्रायः शब्दशक्ति-परक विवेचना का अभाव है। रीतिकाल के कतिपय ऐसे आचार्य कवि हैं जिन्होंने ध्वनि-सम्मत काव्य-विवेचन को महत्त्व दिया है, उनपर संक्षिप्त विचार अपेक्षित है।

आचार्य कुलपति मिश्र :

कुलपति मिश्र ने 'गुण-रस-रहस्य' और 'रस-रहस्य' ग्रन्थ लिखे हैं। 'रसरहस्य' काव्यप्रकाश के आधार पर लिखा हुआ ग्रन्थ है जिसमें आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा का अनुवाद किया है :

दोष-रहित अरु गुन-सहित कछुक अल्प अलँकार।
सबद-अरथ सो कबित है, ताको करौ बिचार ॥

'कछुक अल्प अलँकार' से कुलपति का आशय यह हो सकता है कि अलंकार का चमत्कार प्रधान न हो जाना चाहिए—यह तथ्य मम्मट में स्पष्ट नहीं है, ध्वनिकार का आशय यही रहा है। कुलपति ने अपनी ओर से काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है :

जग ते अदभुत सुख-सदन सब्दरु अर्थ कबित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥

उन्होंने 'जग ते अद्भुत = लोकोत्तर चमत्कार' अर्थ भी दिया है। शेष बातों में वे ध्वनि-सिद्धान्त का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने शब्दशक्तियों का विवेचन, काव्य के ध्वनि, गुणीभूत आदि भेद, गुण-दोष-विवेचन में मम्मट का अनुसरण किया है। वे व्यङ्ग्य अर्थ को ही 'ध्वनि' मानकर तदनुसार उत्तम, मध्यम तथा अवर काव्यों की व्यवस्था देते हैं :

कबित होत धुनि-भेद तें उत्तम मध्यम और। (अर्थात् अवर)

देवदत्त कवि 'देव' :

काव्य-रसायन में देव ने शब्दशक्ति आदि की विवेचना करते हुए प्रायः ध्वनि-सम्मत सभी तथ्यों का निरूपण किया है, इससे स्पष्ट है कि वे ध्वनिवादी तथा रस-वादी आचार्य थे। देव का एक दोहा बड़े विवाद का विषय बना हुआ है :

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यञ्जना रस बिरस, उलटी कहत नबीन ॥

इसका सीधे अर्थ करें तो लगता है कि 'देव' अपने ही सिद्धान्त के विपरीत बोल रहे हैं। परन्तु ध्वनिमतानुसार इसका अर्थ खण्डों में विभक्त करके देख सकते हैं :

(क) अभिधामूलक व्यंग्यार्थ की प्रधानता में उत्तम काव्य होता है। देखा जा चुका है कि 'विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनि' का सम्पूर्ण प्रसार इसी में आ जाता है। 'रसध्वनि' इसी वर्ग में आती है जिसे 'असंलक्षित-क्रम व्यंग्य' कहते हैं, अतः काव्यात्मा की प्रतिष्ठा इसी व्यंग्यभेद से मिलती है। जिसमें केवल 'रस' की ही व्यञ्जना होती है, उस काव्य में रचना अभिधा द्वारा ही होती है और 'देव' उसी को उत्तम काव्य मानते हैं। उदाहरण भी उन्होंने ऐसा ही दिया है :

पाँवरिन पाँबड़े परे हैं पुर पौरि लागि
धाम-धाम धूपन की धूम धुनियत है।
कस्तूरी अगर-सार चोवा-रस घनसार
दीपक हजारन अँध्यार लुनियत है ॥
मधुर मृदंग राग-रंग के तरंगनि में
अंग-अंग गोपिन के गुन गुनियत है।
'देव' सुख-साज महराज ब्रजराज आज
राधा जू के सदन सिधारे सुनियत है ॥

यही देव का अभिधा-काव्य है जिसे वे उत्तम-काव्य इसलिए मानते हैं कि इससे सीधे-सीधे रस-ध्वनि आती है जो कभी गुणीभूत नहीं होती।

(ख) अभिधा में लक्षणा लीन हो तो मध्यम काव्य होता है। देव का अभिप्राय यह है कि लक्षणामूलक व्यंग्य में रस चारुता गौण हो जाती है, वस्तु-व्यंग्य का चमत्कार विशेष महत्त्व ले लेता है :

साँझ से फूलन सेज बनाइ दुकूलन फूलन फैलि खिलौंगी।
हेली पठाई अकेलियै हौं सुख सेज के पालन पौढ़ि मिलौंगी ॥
सोउँगी लाज के साज निवारि कै साजन सौं सपनेहु हिलौंगी।
कानन मूँदि मिहीचि के आँखिन चित्तहूँ सों चुरि मित्त मिलौंगी ॥

यहाँ 'लज्जा' लक्ष्यार्थ है और सर्वत्र लाक्षणिकता का चमत्कार है अतः रस-व्यञ्जना होने पर भी मुख्यता लक्षणामूला व्यञ्जना की रहती है। देव रसवादी होने के कारण इसे मध्यम श्रेणी का काव्य कह सकते हैं।

(ग) जब व्यञ्जना के बीच व्यञ्जना होती है अर्थात् व्यंग्य अर्थ से दूसरा व्यंग्य निकलता है, वहाँ वस्तु-प्रधान काव्य होता है, रस की प्रधानता न होने से तथा रूढ़ कल्पना करने से देव ने इसे अधम कोटि में लिया है। व्यंजना-मध्य व्यंजना का उन्होंने स्वयं ही उदाहरण दिया है :

बानर बीर बसाये अटा रँग-मंदिर में सुक सारी चिरैया।
भोर लौं ऊथिल भीर अथाहन द्वार न कोई किवार भिरैया॥
कौ लौं घिरे घर में रहौं 'देव' बछा बिछुटे कहौ कौन घिरैया।
भूले न बाग समूले निमूलेऊ सूले खरे उर भूले फिरैया॥

यहाँ पर घर में मिलन नहीं हो सकता, इस व्यंग्यार्थ के मध्य यह व्यंजना है कि बाग में भेंट होगी (हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८८)। स्पष्ट है कि यहाँ वस्तु-व्यंजना प्रधान हो गयी है जिससे रसवादी 'देव' को यहाँ काव्य 'रस-विरस' लगा है।

(घ) 'उलटी कहत नबीन' से देव का आशय यह हो सकता है कि देव के समय में विरस या सरस व्यंग्य-चमत्कार में ही उत्तम काव्य की कसौटी माना जाने लगा था, लाक्षणिक वक्रतावाला काव्य मध्यम और केवल अभिधावाला काव्य अधम कहा जाता था।

(ङ) अभिधा से उत्तम काव्य की स्वीकृति का कारण देव का रसवादी दृष्टि-कोण तो है ही, शब्द-वादी दृष्टिकोण भी है। वे शब्द को काव्य का 'जीव', अर्थ को 'मन', रस को 'शरीर', मात्रा-छन्दों और वर्णवृत्तों को 'चरण' और अलंकार को गम्भीर बताते हैं जो संभवतः काव्य-पुरुष का गम्भीर स्वभाव है—इस 'अलंकार' में शैली पक्ष की सभी विशेषताओं (रीति, गुण) का समावेश हो जाता है। यह भी संभव है कि वामन के सौन्दर्य-परक अलंकार को देव ने लिया हो।

सब्द जीव तेहि, अरथ मन, रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गंभीर॥

आचार्य भामह के समक्ष कुछ विचारक थे जो शब्द को ही काव्य मानते थे। आगे चलकर पण्डितराज ने चमत्कारी अर्थ से युक्त शब्द को काव्य बताया। संभवतः उसी धारा में देव ने अपना मत रखा है। देव के काव्यों में शब्द-चमत्कार की प्रधानता का यही रहस्य जान पड़ता है। शब्द को आत्मा मानने का एक कारण यह भी हो सकता है कि अभिव्यक्ति को ही मुख्यतः काव्य मानने का आग्रह देव को रहा हो। शब्द की अभिधाशक्ति और उसका अभिधेय अर्थ प्रधान होते हैं जिससे होनेवाली रसाभिव्यक्ति ही देव को अभिमत रही है। अतः वे कहते हैं :

सबद-वचन तें अरथ कढ़ि चढ़ैं सामुहे चित्त।
ते दोउ बाचक-बाच्य हैं अभिधा-वृत्ति-निमित्त॥

आचार्य श्रीपति :

श्रीपति ने 'काव्य-सरोज' में काव्यप्रकाश के विषयों का ही निरूपण किया है। वे काव्य में रस और अलंकार दोनों को समान महत्त्व देने के पक्षपाती थे। अलङ्कार को काव्य-परिभाषा में परिगणनीय न मानकर भी वे कहते हैं :

जदपि दोष बिनु, गुन-सहित सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै कबिता बनिता रूप॥

स्पष्ट ही उन्होंने मम्मट के समान अलङ्कार का महत्त्व कम नहीं होने दिया है। उनपर साज-सज्जावाले दरबारी युग का प्रभाव अवश्य रहा है, अतः वे ध्वनिमत में इतना कह सके। वे 'रस' को काव्यात्मा नहीं मानते। बनिता से तुलनीय कविता में 'रस' का अर्थ 'आनन्दभोग' है जो कविता से मिलता है, न कि वह उसकी चेतना का स्थान ले सकता है :

जदपि दोष बिनु गुनसहित अलंकार सों लीन।
कबिता बनिता छबि नहीं रस बिनु तदपि प्रबीन॥

श्रीपति की प्रतिभा थी कि रस को काव्यात्मा न मान सकी। ध्वनिमत जब 'रस' को अनुभूति-रूप मानता है तब वह काव्य में न होकर रसिक में होता है, काव्य तो उसका व्यञ्जक भर है। ऐसी स्थिति में 'रस' को आत्मा मानना उन्हें जँचा नहीं।

आचार्य भिखारीदास 'दास' :

आचार्य भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' काव्य-प्रकाश के सम्पूर्ण सौष्ठव से सम्पन्न ग्रन्थ है :

"ध्वनि-सिद्धान्त को यद्यपि बहुत-से आचार्यों ने लिया है पर उन सबसे अधिक सफलता भिखारीदास को मिली है, यद्यपि उनके उदाहरण और लक्षण बहुत-कुछ मम्मट के आधार पर ही हैं।" (हि० काव्य० का इतिहास, पृ० ११५)

प्रताप साहि :

प्रताप साहि का 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' ग्रन्थ ध्वनिमत के अनुसार लिखा गया है। इसकी विशेषता यह है कि उस समय की तीनों प्रवृत्तियों का समन्वय किया गया है—ध्वनि, नायिका-भेद और अलङ्कार। उनके विभाव का एक उदाहरण लिया जाय तो प्रतीत होगा कि तीनों का समन्वय करके वे काव्य-रचना भी करते थे :

बादरन आदर दै दादुर मचावैं सोर
तैसे गिरि-सृंगन मयूर मान मोरे देत।
पौन झकझोरत दुरेकै चहुँ ओरन तें
धुरवा धुरारे सरि सागर हिलोरे देत॥
कहै परताप निसि छेम बिरही तन को
धरकत ह्यो है चित बिज्जल बिथोरे देत।
छ्वै छ्वै छिति-मंडल उमंडि नभ-मंडल तें
धाराधर धारन धरनि आजु बोरे देत॥

लछिराम :

अयोध्या नरेश के आश्रित कवि लछिराम यद्यपि अलङ्कारवादी कवि थे तथापि 'रावणेश्वर-कल्पतरु' ग्रन्थ से ध्वनिमत के प्रति उनकी रुझान का पता चलता है। वे

वाचक और लाक्षणिक शब्दों को पात्र की उपमा लेकर कहना चाहते हैं कि पात्र की सार्थकता जिस प्रकार जल से है उसी प्रकार शब्द की सार्थकता व्यञ्जना से होती है :

बाचक लच्छक सब्द ये राजत भाजन-रूप ।
व्यञ्जन नीर सुबेस कहि बरनत सुकबि अनूप ॥

× × ×

ऊपर एक संक्षिप्त सर्वेक्षण किया गया है जिसमें रीतिकाल के सभी ध्वनिवादी विचारक नहीं आ पाये हैं । इतना प्रमाणित होता है कि रीतिकाल में जब शृंगारी नायिका-भेद, अलङ्कार और छन्दःशास्त्र को ही माँजकर कविता लिखने का प्रचलन था, तब एक समर्थ धारा उन आचार्य कवियों की भी थी जो ध्वनि-सिद्धान्त के विचारक थे और काव्य का मर्म उसी आधार पर समझते थे ।

(ख)

बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की विचारधारा का भारतीय चेतना में प्रवेश हुआ । यह ऐसी घटना थी जिसके दो परिणाम प्रकट हुए—एक तो काव्य का मूल्याङ्कन पाश्चात्य दृष्टि से करने की जागरूक प्रणाली का उदय हुआ और दूसरी ओर अपनी परम्परा के प्रति उपेक्षा का सूत्रपात हुआ । दूसरी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे सैद्धान्तिक शब्दावली का अर्थ-वृत्त धूमिल होता गया और उसका मनमाने अर्थ में प्रचलन होने लगा । कभी-कभी मौलिकता की झोंक में आकर विद्वानों ने भारतीय काव्यशास्त्र को मरोड़कर पाश्चात्य चिन्तन के साथ 'फ़िट' कर दिया । यह सब उस समय हुआ जब कन्हैयालाल पोद्दार जैसे सजग विद्वान् का 'काव्य-कल्पद्रुप' ग्रन्थ पर्याप्त प्रभावी था । इसका कारण नवीनता का व्यामोह भी कहा जा सकता है, परन्तु बहुत कुछ शास्त्रीय चेतना की क्षीणता भी कारण रही है ।

यह ऐसा युग है जब पाश्चात्य चिन्तन की उपेक्षा करके नहीं चला जा सकता, फिर भी आत्मरक्षा आवश्यक है । इस दृष्टि से कतिपय आधुनिक काव्य-समीक्षकों की मौलिक मान्यताओं पर विचार किया जा रहा है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल :

आचार्य शुक्ल हिन्दी-समीक्षा के प्रवर्तक आचार्य के रूप में आदरणीय हैं । सच तो यह है कि बड़े सौभाग्य से इतना बड़ा विचारक हिन्दी को मिला । उनके रस-मीमांसा ग्रन्थ के परिशिष्ट में साहित्यदर्पण से जो 'टिप्पणियाँ' बनायी गयी हैं उनसे पता चलता है कि शुक्ल जी ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर कोई हिन्दी-काव्य-शास्त्र लिखना चाहते थे । हम यहाँ शुक्ल जी की कतिपय मान्यताओं पर समीक्षात्मक विचार करते हुए ध्वनिमार्ग के परिवेश में मूल्याङ्कन करना चाहेंगे ।

(१) आचार्य शुक्ल भाव के आलम्बन के विषय में कहते हैं :

"जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना

चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं; फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।"
(रसमीमांसा, पृ० १९-२०)

इस कथन में सहज ही कुछ असंगतियों पर दृष्टि जाती है—'आलम्बन भाव को उत्पन्न करता है' कहना न्यायमत, भावकत्वमत और ध्वनिमत तीनों दृष्टियों से असंगत है क्योंकि उन मतों में सहृदयगत भाव की उत्पत्ति नहीं होती। उत्पत्ति तो लौकिक पक्ष में होती है, 'रसात्मक तथ्य' भाव की उत्पत्ति नहीं करते। दूसरी चिन्त्य बात यह है कि शुक्ल जी आलम्बन की उपलब्धि ज्ञानेन्द्रियों से मानते हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्थूल पदार्थ तो आते हैं पर आलम्बन-विभाव की इतनी ही सीमा नहीं है। एक भाव भी दूसरे भाव का आलम्बन होता है, जिसपर विचार हो चुका है। भाव के कारणमात्र को विभाव नाम काव्यशास्त्र में दिया जाता है, वह चाहे स्थूल ऐन्द्रिय तथ्य हो, विचार हो या कोई भाव हो। सभी स्थायी भाव अपने संचारी भावों के कारण होते हैं अतः विभाव श्रेणी में भी आ जाते हैं, कभी-कभी एक संचारी दूसरे का कारण होता है जिसकी सीमा नहीं निर्धारित की जाती। शुक्ल जी दृश्य प्रकृति को आलम्बनरूप देने की दृष्टि से ऐसा कहते हैं अतएव वास्तविक अर्थ न देकर अपने मत की पुष्टि में विचार करते चले जाते हैं। आगे चलकर वे स्वयं मानते हैं :

"कविता केवल वस्तुओं के ही रङ्ग रूप में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।"
(वही, पृ० ३१)

(२) ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढङ्ग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है :

"यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है।" (वही, पृ० ३७)

ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य और चित्रकाव्य के भेदों की स्थापना में ध्वनिकार का भी यही अभिमत रहा है। शुक्ल जी 'चमत्कार' का अर्थ शब्दचित्र या अर्थचित्र लेते हैं जो परम्परानुगत नहीं है।

(३) रसानुभूति को लेकर आचार्य शुक्ल काव्य-सीमा का उल्लङ्घन करके भी रस की स्थापना करना चाहते हैं। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने तीन प्रकार के रूप-विधान स्वीकृत किये हैं—प्रत्यक्ष रूप विधान, स्मृत रूप-विधान और कल्पित रूप-विधान। इन तीनों के द्वारा वे रसानुभूति संभव मानते हैं। काव्य की सीमा में अन्तिम रूप-विधान को ही मान्य करते हुए वे कहते हैं :

"जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं।"

परन्तु शुक्ल जी इस स्थापना द्वारा बड़ी समस्या खड़ी कर लेते हैं। रस-बोध जब इतना व्यापक है तो निश्चय ही काव्य द्वारा कोई लोकोत्तर आनन्द नहीं दिया जा सकता। सामान्य प्रत्यक्ष या स्मृति में मिलनेवाला व्यावहारिक सुख क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि में असम्भव है, उसके लिए तो अनुकूल-वेदनीय आलम्बन ही चाहिए, जबकि काव्य सब कुछ आनन्दमय कर देता है। सहानुभूतिमात्र कोई परमानन्द-दशा नहीं है। मनोविज्ञान के सन्दर्भ में देखा गया है कि काव्यानन्द की लोकोत्तरता के विषय में सभी एकमत रहे हैं। 'लोकोत्तर' शब्द का अभिमत अर्थ इतना ही है कि वह केवल काव्य के शब्दार्थ द्वारा दिया हुआ विशेष आनन्द है। शुक्ल जी उसे व्यावहारिक भूमि पर उतार लाये हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में शुक्ल जी दुःख-वर्ग के भावों में आनन्द-बोध पर शङ्का व्यक्त करते हैं जिससे उनके मन्तव्य का पता चल जाता है कि वे व्यावहारिक सुख (मनोविज्ञान के फोर-प्लेज़र) से बढ़कर कोई परम-सुख (एन्ड-प्लेज़र) मानने को तैयार नहीं हैं और उस दशा में शुक्ल जी का 'रस' वही नहीं है जो भरत से अभिनव तक के विचारकों ने समझा था। डॉ० भगीरथ मिश्र ने इस विषय में ठीक कहा है :

> "रसानुभूति में हम अपने नित्य के जीवन को भूलकर एक काल्पनिक जीवन में तन्मय हो जाते हैं। इसलिए अलौकिक अनुभव के रूप में इसको विद्वानों ने ग्रहण किया है।" (डॉ० मिश्र का अप्रकाशित लेख—रसधारणा का विकास)

आचार्य शुक्ल जब स्वतः रस को मुक्तावस्था मानते हैं, तब लौकिक सुख-दुःख की चर्चा क्यों करते हैं ? माना कि लौकिक सुख-दुःख ही काव्य की रेखाएँ हैं, पर समूचे चित्र को रेखामात्र नहीं कह सकते, अन्यथा उसका कलात्मक प्रभाव क्या होगा ? एक विरोधाभास और भी शुक्ल जी की उक्ति में देखा जा सकता है :

> "(करुण-रस-प्रधान नाटक में) दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"
> (काव्य में रहस्यवाद)

शुक्ल जी जब वास्तव में दुःखात्मक कहते हैं तो 'रसात्मक' और 'हृदय की मुक्त-दशा' क्या अर्थ रखते हैं ? मुक्त-दशा कैसी जब उसमें दुःख से मुक्ति न मिल सकी ? वस्तुतः रस-दशा में लौकिक सुख से भी मुक्ति मिलती है, अन्यथा शृंगार रस का लौकिक स्वाद ही हाथ लगे। विरेचन ही मुक्ति है और रस की वह पहली शर्त भी है।

(४) व्यंजना शब्दशक्ति की मान्यता शुक्ल जी को भी प्रभावित कर गयी है परन्तु उनका एक प्रयोग हैरानी में डाल देता है :

> "व्यंजित भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति या साधारणीकरण....रस की पूर्ण अनुभूति के लिए आवश्यक है।"
> (चिन्तामणि भाग १, संस्क० १९७०, पृ० १७३)

इसका अर्थ हुआ कि काव्य से पहले भाव व्यंजित होते हैं जो सहृदय के वासनात्मक भाव न होकर संभवतः आश्रय के भाव हैं और तब सहृदय का उन भावों के

साथ साधारणीकरण होता है—शुक्ल जी के अनुसार वही सहानुभूति है। इसे स्पष्ट ही तादात्म्य कह सकते हैं जिससे शुक्ल जी साधारणीकरण को एकरूप देखते हैं।

> "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।" (चिन्तामणि भाग १, संस्क० १९७०, पृ० १८५)

यहाँ हम एक और समस्या देखते हैं कि शुक्ल जी आश्रय के आलम्बन का तादात्म्य सहृदय के आलम्बन से मानते हैं और उसे भी साधारणीकरण ही कहते हैं :

> "यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बनरूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आयेगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आयेगी।" (वही, पृ० १८५)

अब और समस्या खड़ी हो गयी। क्या पुरुषों ने ही साधारणीकरण का एकाधिकार पा लिया है ? संभव है, शुक्ल जी यह भी मान लें कि स्त्रियाँ अपने प्रिय पात्र की मूर्ति कल्पित कर लेती हैं। तब प्रश्न उठता है—यदि आश्रय पुरुष है तो स्त्रियों को और स्त्री है तो पुरुषों को रसानुभूति न होगी, और उस दशा में साधारणीकरण सहृदय का नहीं हुआ जो रसानुभूति की पहली सीढ़ी है। इस विषय पर साधारणीकरण-वाले अध्याय में विचार किया जा चुका है।

रही व्यंजना की बात, सो शुक्ल जी आश्रय में ही भाव की व्यंजना मानते हैं :

> "आश्रय की जिस भाव-व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा, उसका ग्रहण केवल शील-वैचित्र्य के रूप में होगा।"
> (वही, पृ० १८७)

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी के मत से सहृदय में भाव की व्यंजना नहीं होती, आश्रय में होती है—आश्रय में तो भाव-स्थिति है ही, व्यंजना कैसी ? आश्रय के भाव का तो रसिक को अनुमान से ज्ञान होता है (दे० काव्यप्रकाश-रस-निरूपण)। शुक्ल जी अनुमान और व्यंजना को एकीभूत कर गये हैं :

> "पात्र की भाव-व्यंजना के साथ श्रोता या दर्शक की पूर्ण सहानुभूति होगी।"
> (चिन्तामणि, वही, पृ० १८७)

से ऐसा ही प्रमाणित होता है। और भी—

> "उसकी भरपूर व्यंजना वचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता।"
> (वही)

से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी व्यंजना का अर्थ ही कुछ और समझे हैं, अतएव "उदात्त वृत्तिवाले आश्रय की भाव-व्यंजना" कहते हैं, अन्यथा रस-बोध सहृदय की भाव-व्यंजना में होता है और यही ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता है।

(५) शुक्ल जी एक ओर तो 'व्यंजना' को प्रायः 'अनुमान' के निकट लाकर न्यायमतवाले शङ्कुक को अनजाने समर्थन देते हैं और दूसरी ओर कहते हैं :

> "साहित्य-शास्त्र में नैयायिकों की बातें ज्यों की त्यों लेने से काव्य के स्वरूप-निर्णय में बाधा पड़ी है, उसका एक उदाहरण शक्तिग्रह का प्रसंग है। उसके अन्तर्गत कहा गया है कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' का नहीं होता है, 'जाति' का होता है।" (वही, पृ० १८५)

खेद है कि न्याय में कहीं नहीं आता कि संकेत-ग्रह व्यक्ति में न होकर जाति में होता है। न्याय तो 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' में संकेत-ग्रह मानता है जिसपर विचार हो चुका है। व्याकरण भी शब्द के अर्थवृत्त में जाति और व्यक्ति दोनों को लेता है। केवल मीमांसा का प्रभाकर-मत है जो 'व्यक्ति' में संकेत-ग्रह मानकर चला है और शुक्ल जी को स्यात् वही मान्य हो—कुमारिल भट्ट तो शुद्ध जातिवादी हैं। विचित्र है कि शुक्ल जी सहृदय को तो व्यक्तित्व से मुक्त कर देते हैं, जो शरीरधारी है, परन्तु अशरीरी (शब्दमात्र में रूपायित) आश्रय और आलम्बन को 'व्यक्ति' के जामे में उतारना चाहते हैं। वे आगे कहते हैं :

> "काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष (Presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिम्ब-ग्रहण होता है—अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खड़ी हो जाती है।"

यह मूर्ति किस व्यक्ति की होती है ? सभी सहृदय एक ही मूर्ति बनाते हैं, या अलग-अलग ? प्रथम पक्ष असंभव है क्योंकि काव्य का चित्रण कोई स्पष्ट आकृति नहीं दे पाता। दूसरे पक्ष में 'व्यक्ति' के अभिमूर्तन की बात खण्डित होती है। बिम्ब कोई स्पष्ट आकृति नहीं देता कि 'व्यक्ति' का रूप खड़ा हो सके। शुक्ल जी इसी व्यक्तिवाद के आग्रहवश सुन्दरी की स्पष्ट कल्पना प्रेयसी के रूप में चाहते हैं और इसी को साधारणीकरण कहते हैं। यह शुक्ल जी का मत तो हो सकता है, परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र में वैसी स्थापना नहीं पायी जाती। कम-से-कम भट्टनायक का साधारणीकरण यह नहीं है जो विभावादि को व्यक्तित्वमुक्त न मानकर व्यक्तिरूप मानता हो। कॉलरिज् ने भी अस्पष्ट बिम्ब की बात की है जिसे पिछले अध्याय में देख चुके हैं।

(६) भावानुभूति की दो कोटियों के ऊपर शुक्ल जी ने विचार किया है :

> "शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है), दो भिन्न कोटि की अनुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।" (वही, पृ० १८७)

द्वितीय कोटि की अनुभूति ही रस है, इस विषय में कोई विवाद नहीं। प्रथम कोटि का भाव शुक्ल जी की दृष्टि में 'श्रद्धा, भक्ति या प्रीति' (वही, पृ० १८८) है। इसे ध्वनिमत में 'रतिभाव' कहा ही गया है और भक्ति-रस-सिद्धान्त में वही भक्ति-रस है

जिसके नायक-नायिका दोनों ही आलम्बन हो जाते हैं। आश्रय रूप में कवि ही आता है या सहृदय ही उसका कार्य करता है। परन्तु 'शील' को शुक्ल जी ने सत्त्वभाव माना है जबकि वह असत् भी हो सकता है और तब 'क्रोध' आदि भाव व्यक्त होंगे। ध्यान रहे कि ऐसे अवसरों पर आश्रय और उसके भाव हमारे भाव के आलम्बन होते हैं। उस दशा में, जिसे सामान्यतया आश्रय कहा जाता है, वही विभाव होता है, अतः उसके साथ तादात्म्य का प्रश्न ही नहीं उठता—तादात्म्य की बात यदि मान्य हो तो समान भाव-वाले आश्रय के साथ होगी, जब राम या रावण सीता के प्रति प्रेम-निवेदन करते हैं तो शृङ्गार भाव की दृष्टि से सीता आलम्बन है और वे दोनों आश्रय हैं परन्तु भक्ति या क्रोध के तो आलम्बन राम और रावण ही क्रमशः ठहरते हैं।

(७) 'बीज-भाव' की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने उसे व्यापक माना है। वे उसे अन्तःसंज्ञा में स्थित भाव मानते हैं। उनके अनुसार यह 'बीज-भाव' प्रेरक भाव है :

> "जिसकी प्रेरणा से घटनाचक्र और अनेक भावों के स्फुरण के लिए जगह निकलती चलती है। इस बीज भाव-को साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायी भाव और अङ्गी भाव, दोनों से भिन्न समझना चाहिए।....ऐसे बीज-भाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है, उसके सब भावों (कोमल या कठोर) के साथ पाठक की सहानुभूति होती है। अर्थात् पाठक या श्रोता भी रसरूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यञ्जना करता है।"
>
> (वही, पृ० १७८-१७९)

'बीज-भाव' की मान्यता निश्चय ही मौलिक है। सत्पात्र में इस बीज-भाव की सत्ता मानी गयी है और वही जब किसी भाव का आश्रय होता है तभी पाठक रसानुभूति करता है। उदाहरणार्थ भरत में अन्याय के प्रति 'क्रोध' बीज-भाव है, अतः वे कैकेयी (माता) तक को कठोर शब्द कहते हैं, फिर भी रसिक की सहानुभूति अक्षुण्ण रहती है। यहाँ कुछ प्रश्न अवश्य उठते हैं—क्या आश्रय की कोई सत्ता काव्य-कृति के बाहर है जिसमें 'बीज-भाव' की प्रतिष्ठा रहती है ? वस्तुतः यह बीज-भाव भी सहृदय के अन्तः-करण की वासना ही है जो काव्य द्वारा व्यक्त की जाती है। भाव की व्यञ्जना आश्रय करता है, यह तो व्यञ्जना-सिद्धान्त के विपरीत है, विभावादि ही भाव की व्यञ्जना करते हैं। कैकेयी हमारे क्रोध का विभाव है, अतः भरत के माध्यम से अपनी ही क्रोध-वासना की हम रसात्मक अनुभूति करते हैं, न कि भरत क्रोध की व्यञ्जना करते हैं। कैकेयी के आचरण से ही क्रोध की व्यञ्जना होती है जो अन्याय के प्रति 'क्रोध' की वासना ही है। जब रावण हनुमान् पर क्रोध करता है तब रौद्ररस इसीलिए नहीं होता कि वह क्रोध अनुचित है, रावण के क्रोध का कारण रसिक की क्रोध-वासना का विभाव नहीं है।

गान्धी जी शत्रु के प्रति भी क्रोध-युक्त नहीं होते थे, पर उनके विरोधी के प्रति सामान्य जन क्रुद्ध ही होते थे। न्यायाचरण की वृत्ति को ही 'बीज-भाव' मान लें तो भी गान्धी जी के भाव के साथ सहानुभूति का प्रश्न नहीं उठता। हममें क्रोध तो अन्याय

जगाता है, न कि आश्रय। यदि 'बीज-भाव' को मान्य भी कर लिया जाय तो भी आश्रय के साथ तादात्म्य की बात नहीं बैठती—हास्य रस में विभाव (आलम्बन) सामने आता है, उसपर हँसनेवाला आश्रय या तो स्वयं रसिक होता है, या कवि। शुक्ल जी कहीं तो आश्रय को पात्र मानकर भाव-व्यञ्जना की बात करते हैं और कहीं आलम्बन को पात्र कहते हैं :

> "हास में भी यही बात होती है कि जहाँ उसका पात्र सामने आया कि मनुष्य अपना सारा सुख-दुःख भूल एक विलक्षण आह्लाद का अनुभव करता है।"
>
> (वही, पृ० २०१)

'हास' के स्थान पर किसी अन्य भाव (रति, क्रोध आदि) को ले सकते हैं; उसका भी पात्र (आलम्बन विभाव) सामने हो तो विलक्षण आह्लाद होगा। यदि रति, क्रोध आदि का 'बीज-भाव' आश्रय में मानकर चलें तो 'हास' का 'बीज-भाव' कहाँ रहेगा ? बीभत्स भी ऐसा ही रस है जिसका आलम्बन ही सामने लाया जाता है। 'बीज-भाव' यदि है तो सहृदय में ही। भाव-वासना से पृथक् बीज-भाव की स्थापना उसी मान्यता के कारण हुई जान पड़ती है जिसमें तादात्म्य को साधारणीकरण कहा जाता है।

(८) शुक्ल जी आनन्द, चमत्कार, लोकोत्तर, अनिर्वचनीय शब्दों से सन्तुष्ट नहीं हैं।

मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित्त। क्या क्रोध, जुगुप्सा, शोक आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते ? ....क्या कोई दुःखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ? ....इस 'आनन्द' शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।

> "आनन्द शब्द ने जिस प्रकार काव्य की नीयत को बदनाम किया है, उसी प्रकार 'चमत्कार' शब्द ने उसके रूप को बहुत-कुछ बिगाड़ा है।"
>
> (रसमीमांसा, प्रथम संस्करण, पृ० १००)

यद्यपि इस प्रश्न पर पहले विचार हो चुका है फिर भी यहाँ कतिपय बातें कहनी अपेक्षित हैं :

(क) चमत्कार शब्द को यदि कोई गलत समझे तो इसका उत्तरदायित्व समझनेवाले पर है। 'प्रेम' जैसे शब्द को भी कुत्सित कर डाला गया है तो कोई क्या करे ? रसानुभूति पर सैकड़ों पृष्ठों में विचार करनेवाले स्वयम् आचार्य शुक्ल ही उसकी विचित्रता मान्य करते हैं, अन्यथा अन्य दृश्यमान वस्तुओं के समान ही उसे समझ लिया जाता।

(ख) जो वस्तु सीधे शब्द द्वारा नहीं कही जा सकती, अनुभूति ही जिसका प्रमाण ठहरता है, उसे वाच्य कैसे बनाया जाय ? तभी तो 'अनिर्वचनीय' कहते हैं । बहुत-से लोग स्वप्न तक को अनिर्वचनीय कहते हैं जब उस सुख या दुःख को कहकर समझाने में असमर्थ रहते हैं । अतएव शुक्ल जी स्वयं कहते हैं :

> "भाषा-शैली को अधिक व्यञ्जक, मार्मिक और चमत्कार-पूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है ।" (चिन्तामणि, पृ० २१५)

(ग) 'लोकोत्तर' शब्द का इतना ही अर्थ है कि काव्य-बोध व्यावहारिक भूमि से विलक्षण चित्तभूमि की वस्तु है—'बीजभाव' आदि की कल्पना, साधारणीकरण, तादात्म्य आदि मानने की फिर क्या आवश्यकता, यदि वह व्यावहारिक तथ्य से भिन्न नहीं है । इसपर पीछे विचार हो चुका है ।

(घ) जब 'आनन्द' नाच-तमाशे की वस्तु है तो ब्रह्मानन्द को भी निम्नकोटि का मानना चाहिए । शुक्ल जी की भाव-मुक्ति को भी वैसा ही अनर्थ-युक्त कहा जा सकता है । प्रत्येक बन्धन दुःखरूप है जिससे मुक्त होने में आनन्द होगा । शुक्ल जी एक ओर तो चित्त की मुक्तावस्था को रस बताते हैं और दूसरी ओर उसे दुःखात्मक भी मानते हैं। जब हृदय ही मुक्त होकर विश्व-हृदय हो गया तो दुःख और सुख दोनों ही (लौकिक रूप में) नहीं रहे । अब इस उपलब्धि को कोई नाम दिया जा सकता है—एक नाम 'हृदयमुक्ति' है तो दूसरा 'आनन्द' और तीसरा 'चमत्कार'; ऐसे ही अन्य शब्द भी हो सकते हैं । पश्चिम के काव्यमनीषी और मनोविद् एक-स्वर से काव्य-बोध को 'प्लेज़र' कहते हैं तो हमें अपने शब्द से घृणा क्यों ?

(ङ) दुःख-वर्ग की वृत्तियों को लेकर बननेवाले रस का प्रश्न शुक्ल जी ने जटिल बना दिया है । दुःखान्त कथा पढ़कर जो खिन्नता आती है वह रस-बोध की दशा नहीं है—रसानुभूतिक्षण में (जब हृदय मुक्त हो जाता है, जो शुक्ल जी को भी मान्य है) खिन्नता नहीं आती । यदि खिन्नता ही हाथ लगे तो देखना चाहिए कि या तो कवि ने रचना में कोई त्रुटि की है, या खिन्न होनेवाला जीव रसिक नहीं है, भले ही वह ऋषि या परमहंस हो । रसास्वाद के बाहर रसिक भी लोक-सामान्य धरातल पर सहानुभूति (हमदर्दी) करता है और पात्र के शोक को लेकर लौकिक दुःख में पड़ जाता है ।

(च) यों, प्रत्येक भाव अपने वासना-रूप में अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी दूसरे भाव से भिन्न होता है, अतः जब नौ रस कहे जाते हैं तब वासनाविशेष के अन्तर को मान्य किया ही जाता है । लोग मिर्च खाते हैं तो उसकी तिक्तता एक प्रकार का आनन्द देती है, कलाकन्द से दूसरे प्रकार का आनन्द मिलता है । 'आनन्द' अपने आपमें एक होकर भी विविधता लेता है जो विषयों और वृत्तियों की विविधता के कारण है । डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी ऐसा ही समाधान दिया है—उन्होंने यह भी माना है कि पूर्ण रसानुभूति की दशा न होने पर लौकिक सुख-दुःख का लगाव बना रह सकता है । आचार्य शुक्ल जब कहते हैं :

"जब तक कोई....सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है, तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता रहता है ।....जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है ।" (रसमीमांसा, पृ० ५)

ऐसी स्थिति में शुक्ल जी के आक्षेपों का अभिप्राय समझ में नहीं आता । सुख-दुःख से परे जाकर मनुष्य की चेतना एक विश्राम पाती है, उसमें उत्तेजनाओं (Nervous tension) का सर्वथा शमन हो जाता है और तब उसे चमत्कार, आनन्द, अनिर्वचनीय अनुभूति आदि भी कह सकते हैं और चाहें तो भाव-योग या हृदयमुक्ति ही कहें । उपनिषद् में तो कहा गया है :

रसं हि एवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।

(९) शुक्ल जी ने साधारणीकरण का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह भी विचारणीय है । डॉ० भगीरथ मिश्र ने अपने निबन्ध 'रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण' में शुक्ल जी की मान्यताओं को इस प्रकार संकलित किया है :

(क) "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती । इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है ।"

यहाँ भाव दो बार आया है जिनमें पहला परगत (विषयगत) भाव है, दूसरा स्वगत या रसिक-गत (विषयिगत) । भट्टनायक स्वगत या परगत भाव को रस नहीं मानते, अतः शुक्ल जी का साधारणीकरण अपना है, भट्टनायक का नहीं । अभिनव के अनुसार भी बात नहीं बनती—वे लौकिक संवेग आदि के रूप में भावोद्बोधन को 'रस' नहीं मानते । अर्थात् वस्तुतः वही क्रोध रौद्र रस नहीं है जो हमें अपने शत्रु के प्रति होता है, प्रत्युत भाव अपने वासना-रूप में रस कहा जाता है । ध्यान रहे कि आश्रयगत भाव भले ही व्यक्तिगत लगता हो, पर वह भी सामान्य ही होता है, और रसिक का वासनात्मक भाव तो सामान्य होता ही है । शुक्ल जी भी तभी हृदय-मुक्ति की दशा सिद्ध कर सकेंगे ।

(ख) "काव्य का विषय सदा विशेष (व्यक्ति) होता है, सामान्य नहीं; वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं ।"

यहाँ समस्या खड़ी होती है कि क्या शृङ्गार रस की शकुन्तला को हम व्यक्ति-रूप में ही लेते हैं, क्या काव्य का आग्रह वस्तुतः व्यक्ति पर रहता है ? क्या ऐसा नहीं है कि व्यक्ति रूप में नाम ही काव्य में आता हो और उसे केवल वाच्य-कथा-वस्तु की विवशतावश रखा जाता हो ? वर्णनीय गुणों से पृथक् वहाँ विशेष व्यक्ति की सत्ता नहीं रहती । उन गुणों से युक्त वस्तुमात्र या व्यक्तिमात्र हमारी वासना के आलम्बन होते हैं, न कि एक ही व्यक्ति । उन गुणों की रेखाओं में जो चित्र उभरता है, वह अनुभूति में असंख्य न होकर भी सामान्य ठहरता है । उदाहरणार्थ, हम किसी पिटते हुए और रोते हुए शिशु को देखकर दया करते हैं तो उस व्यक्ति से हमें क्या लेना-देना, हम तो उस

स्थिति में किसी भी शिशु के प्रति दयार्द्र हो सकते हैं, अतः वैसी परिस्थिति का शिशु मात्र ही व्यवहारतः हमारी दया का आलम्बन है। यदि शिशु हमारा सम्बन्धी है, तो व्यक्तिगत दया होगी जो साधारणीकरण की वस्तु नहीं। चित्रकार जब अनिन्द्य सौन्दर्य का आलेखन करता है तब वह किसी व्यक्ति का फोटो नहीं होता, प्रत्युत सौन्दर्य-सामान्य का रेखांकन रहता है। सौन्दर्य के सामन्य गुण ही चित्र के प्रेरक होते हैं—इस आधार पर 'सामान्य' की बात भरत ने कही है :

एतेभ्यः सामान्य-गुण-योगेन रसा निष्पद्यन्ते।

(ग) "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य-वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों और श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।"

सहृदय का भाव व्यक्ति-सीमा-मुक्त होता है, जो शुक्ल जी की स्थापना है, अतः आश्रय के संवेगात्मक भाव से वह भिन्न है। जब व्यक्ति-विशेष की बात की जाती है तो स्पष्ट नहीं हो पाता कि कौन-सा व्यक्ति। राम या रावण तो नाम से व्यक्ति हैं, जिन गुणों की रेखाओं में वे रूपायित हैं, वे व्यक्तिरूप हो ही नहीं सकते। इसीलिए भट्टनायक विभाव के साधारणीकरण को प्रथम स्थान देते हैं। अभिनव आदि न्याय-विरोधी आचार्य भी 'सामान्येन प्रतीतैः' कहते हैं। कम-से-कम शुक्ल जी का व्यक्तिवाद प्राचीन आचार्यों को मान्य नहीं था।

(घ) "जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यञ्जना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।"

यह कथमपि संभव नहीं। सामान्य-गुण-योग को छोड़कर कोई व्यक्ति काव्य में नहीं होता कि उसकी ज्यों-की-त्यों प्रतिमूर्ति पाठक सुलभ कर सके। तभी तो अभिनव ने 'अनुकृति' पर आक्षेप किए हैं और कहा है कि कोई व्यक्तिरूप तो स्पष्ट रहता है नहीं कि उसे अनुकृत किया जाय—अतः गुण-धर्म-समवाय की अनुकृति ही हो सकती है। अचानक 'गाय' कहने पर विशिष्ट गाय (एक ही व्यक्ति) हजारों श्रोताओं में कैसे उभरेगी, वक्ता चाहे व्यक्ति को ध्यान में रखकर ही कह रहा हो? हाँ, यदि हम वर्ण्य व्यक्ति से परिचित हैं, तो व्यक्ति का भी बिम्ब-ग्रहण संभव है, पर काव्य उस दशा में भी सामान्य-गुण-योगी तथ्य ही प्रस्तुत करना चाहता है।

(ङ) उक्त उदाहरणों का सारांश शुक्ल जी के अनुसार यही है कि "आलम्बनत्व-धर्म का साधारणीकरण होता है।" अर्थात् आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता। सच तो यह है कि धर्म-समवाय ही आलम्बन है, व्यक्ति नहीं, जैसा देखा जा चुका है।

(च) "विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रस-मग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे

का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।''

भट्टनायक की अपेक्षा उलटा क्रम शुक्ल जी ने दिया है। शुक्ल जी साधारणीकरण रस-मग्नता के बाद की घटना मानते हैं, जबकि वस्तुतः साधारणीकरण रसास्वाद के पूर्व की अनिवार्य वस्तु है जिसके बिना रस-भोग संभव ही नहीं। जब मेरा-तेरा का भेद ही मिट जाता है तो प्रेयसी के बिम्बग्रहणवाली शुक्ल जी की मान्यता भी ढह जाती है।

(छ) ''साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ होता है।''

वर्णित पात्र की कोई अनुभूति प्रमाण-सिद्ध नहीं होती, वह तो कवि की ही अनुभूति है जो पात्र के नाम पर प्रस्तुत की जाती है। पात्र तो कवि या नट का छद्मरूप है। यह भी अनिवार्य नहीं कि कवि अनुभूति-मग्न होता ही हो। कुशल कवि विभावादि के सामान्य गुणों का यथावत् अपेक्षित वर्णन कर दे तो रसिक की रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती। डॉ० भगीरथ मिश्र ने शुक्ल जी की मान्यताओं पर महत्त्वपूर्ण विचार दिये हैं :

> ''शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। अर्थात् आलम्बन में जो विशिष्ट या आकर्षक गुण हैं उनका तिरोभाव न होते हुए भी वैयक्तिक सत्ता का सामान्य-सत्ता में परिणत हो जाना ही आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण है, परन्तु यदि इसपर हम ध्यान से विचार करें तो आलम्बनत्व धर्म के साथ-साथ आश्रय की अनुभूति का भी साधारणीकरण हो जाता है क्योंकि जब आश्रय का आलम्बन सबका आलम्बन हुआ तब निष्कर्षतः आश्रय की अनुभूतियाँ भी सभी के द्वारा अनुभूत होती हैं, अतः उनका भी साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण के साथ-साथ निष्कर्षतः आ जाता है।''
>
> ('रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण' निबन्ध)

शुक्ल जी अन्यत्र स्वयं ही स्वीकार करते हैं—'भाव का विषय केवल वह व्यक्ति ही नहीं होता जिसे आलम्बन कहते हैं, उसके रूप, गुण, कर्म आदि भी होते हैं।' (रस-मीमांसा, पृ० १००) वस्तुतः रूप, गुण, कर्म आदि से भिन्न कोई विशिष्ट व्यक्तित्व काव्य में नहीं रहता। रूप आदि आधारहीन नहीं रह सकते अतः एक कल्पित बिम्ब-विधान मात्र आश्रय या आलम्बन का होता है।

(१०) आचार्य शुक्ल का भाव-निरूपण बड़े महत्त्व का है। वे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और काव्य-शास्त्रीय दृष्टियों से विचार करते हुए व्यावहारिक आधार का कहीं परित्याग नहीं करते। कुछ विचार इस प्रकार हैं :

(क) शुक्ल जी वासनात्मक भाव को स्वीकृति देते हैं :

"वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं, और काल में भी बराबर निहित रहता है, पर भाव का विधान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरान्त नहीं रह जाता। पात्र के भाव की ही प्रतीति श्रोता या पाठक को रसरूप में होती है। इसी से प्रतीतिकाल में ही साहित्य-दर्पणकार ने रस की सत्ता मानी है, आगे पीछे नहीं—न तु दीपेन घट इव पूर्व-सिद्धो व्यज्यते।" (रस-मीमांसा, पृ० १६३)

यहाँ वे यह नहीं मानना चाहते कि पूर्वोपस्थित वासना ही जब विभावादि से व्यक्त होती है तो 'रस' कही जाती है। दर्पणकार का ऐसा ही आशय है कि भाव (वासना) पहले से रहता है पर अव्यक्त होता है, विभावादि से व्यक्त होने पर जो विलक्षण परिणाम मिलता है, वह रस है; रस पहले से विद्यमान नहीं रहता परन्तु वासनात्मक भाव की पूर्व-विद्यमानता उन्हें मान्य है। शुक्ल जी वासना से पृथक् संवेगात्मक भाव को ही 'रस' मानते हैं।

(ख) शुक्ल जी ने भाव की तीन स्थितियों का विवरण दिया है (वही, पृ० १६४), जिसके अनुसार एक वह भाग है 'जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में अन्तस्संज्ञा में रहता है (वासना)।' दूसरा भाग 'विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलम्बन आदि की भावना)।' और तीसरा 'वह अङ्ग है जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।' इस प्रकार शुक्ल जी का निष्कर्ष है :

"प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेग-युक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।" (वही, पृ० १६८)

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि रसात्मक भाव में 'वेगयुक्त प्रवृत्ति' नहीं होगी, वह शुद्ध वासनारूप है।

(ग) भाव-कोशों की स्थापना शुक्ल जी का मौलिक प्रयास है। वे असंख्य संवेगादि-रूप भावों की प्रणाली को भावकोशात्मक भाव कहते हैं :

"रति को ही लीजिए। प्रिय का साक्षात्कार होने पर हर्ष, वियोग होने पर विषाद, उसपर कोई विपत्ति आने से उसे खोने की शङ्का, उसे दुःख पहुँचाने-वाले को देख क्रोध आदि अनेक भावों का स्फुरण 'रति' की प्रणाली स्थिर हो जाने से हुआ करता है। इन भावों के अतिरिक्त न तो 'रति' की कोई स्वतन्त्र सत्ता है और न कोई विशेष स्वरूप।" (वही, पृ० १७०)

रति की स्वतन्त्र सत्ता न हो तो उक्त संचारी भाव जन्म ही नहीं ले सकते, अतएव आचार्यों ने रति को उक्त भावों का विभाव (कारण) माना है। इसे ही स्पष्ट करने हेतु आगे शुक्ल जी ने कहा है :

"भावकोश से अभिप्राय भाव-समष्टि नहीं है, बल्कि अन्तःकरण में संघटित एक प्रणालीमात्र है जिसमें कई भिन्न भावों का संचार हुआ करता है। जैसे 'रति'

की प्रणाली के भीतर जो भाव प्रकट होते हुए कहे गये हैं, 'रति' उनसे संयोजित कोई मिश्रभाव नहीं है।"

तब रति भाव एक आन्तरिक प्रणाली या वासना-वृत्ति-धारा है जो विविध संचारी भावों के माध्यम से प्रकट होती है। इसी प्रकार अन्य भावों के विषय में समझना चाहिए।

(घ) स्थायी भाव के स्थायित्व के दो अर्थ हो सकते हैं :

(१) किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों और वह ज्यों-का-त्यों बना रहे।

(२) किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्यों का अभिप्राय प्रथम प्रकार के स्थायित्व से है। (वही, पृ० १७२)

यहाँ विचारणीय है कि 'स्थायी भाव' संज्ञा इसलिए है कि वे भाव रसात्मक रूप लेते हैं, वे अङ्गीरूप में आने की योग्यता रखते हैं यद्यपि अङ्ग रूप लेकर वे भी संचारी भाव हो सकते हैं, भक्ति रसाचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार नौ प्रकार की द्रुतियों से वे बनते हैं। 'एक अवसर पर' तो संचारी भाव भी अन्य भावों को दबा सकता है। कामायनी में 'ईर्ष्या' ने रति को बहुत समय तक दबाए रखा, फिर भी उसे स्थायी भाव नहीं कह सकते।

(ङ) "जिसे 'रति स्थायी' कहते हैं वह तो सचमुच कोई एक 'भाव' नहीं है, पर उसका प्रकृत मूल कोई एक भाव अवश्य है जिसकी स्थायी दशा का नाम है 'रति' या 'प्रीति'।" इस कथन में अन्तर्विरोध स्पष्ट है—'भाव नहीं है' और 'कोई एक भाव अवश्य है' समझ में नहीं बैठता। शुक्ल जी स्यात् कहना चाहते हैं कि संवेगात्मक रूप में रति भाव नहीं है परन्तु अन्तःसंज्ञा में उसकी स्थिति है।

(च) शुक्ल जी ने संचारियों में भी संचारी का आना बताया है (पृ०२०४) जिसे देखा जा चुका है कि उस अवस्था में एक संचारी दूसरे का विभाव कहा जायगा और दूसरा संचारी पहले का अनुभाव भी हो सकता है। जहाँ जैसी स्थिति हो, समझना चाहिए। प्रथम भाव प्रधान हो तो दूसरे को अनुभाव और दूसरे की प्रधानता में प्रथम को विभाव कहा जायगा।

(छ) "भाव की विभाव, अनुभाव और संचारी के मेल से व्यञ्जना ही श्रोता या दर्शक के मन में उस भाव का अनुभव नहीं करा सकती।" (वही)। इसपर भाव-ध्वनि के सन्दर्भ में विस्तृत विचार हो चुका है कि विशेष स्थिति में भाव वस्तुरूप में भी आते हैं।

(ज) शुक्ल जी ने (पृ० २००) संचारी भावों को चार वर्गों में बाँटा है :

सुखात्मक	दु:खात्मक	उभयात्मक	उदासीन
गर्व, औत्सुक्य हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य	लज्जा, असूया अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि ।	आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्त की चञ्चलता	वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध

(झ) शुक्ल जी ठीक विचार करते हैं (पृ० २०६) कि संचारी भाव केवल मनोवेग नहीं हैं, उन्हें हम विविध प्रकार से देखते हैं :

स्वतन्त्र विषययुक्त भाव	मन के वेग	अन्त:करण-वृत्ति	मनोदशा	शारीरिक अवस्था
गर्व लज्जा, असूया ।	आवेग, अमर्ष, अवहित्था, औत्सुक्य, त्रास, हर्ष, विषाद ।	शङ्का, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क (आशा, नैराश्य, विस्मृति) ।	दैन्य, जड़ता, मद, उग्रता, मोह, स्वप्न, अलसता, उन्माद, संतोष, चपलता, निर्वेद, (मृदुलता), धैर्य, असंतोष, ग्लानि ।	श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध, व्याधि ।

शारीरिक अवस्था कहे जानेवाले भावों का भी मानसिक पक्ष होता है। इसे मनोविज्ञान के सन्दर्भ में देखा जा चुका है।

(ञ) शुक्ल जी ने भाव-विरोध (रस-विरोध) पर विस्तृत विचार किया है। ध्वन्यालोक (३।१७-३०) में भी विस्तार से विचार हुआ है। रस-विरोध को ध्वनिमत में बड़ा दोष माना गया है जिसका परिहार न हो तो रसभङ्ग होता है। इस विरोध का शमन कई प्रकार से होता है :

(१) मुख्य रस प्रतिष्ठित हो और विरोधी रस-भाव को दुर्बल बनाकर या अङ्ग बनाकर ला सकते हैं। (२) अविरोधी रसों में से एक को अङ्गी और दूसरे को अङ्ग

बनाकर लाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में अविरोधी और विरोधी रसों को समझ लेना चाहिए :

परस्पर अविरोधी	परस्पर विरोधी
(१) वीर-शृंगार	(१) शृंगार-बीभत्स
(२) शृंगार-हास्य	(२) वीर-भयानक
(३) शृंगार-अद्भुत	(३) शान्त-रौद्र
(४) रौद्र-करुण	(४) शान्त-शृंगार
(५) वीर-रौद्र	
(६) वीर-अद्भुत	
(७) रौद्र-शृंगार (यहाँ नायिका में रौद्र की उग्रता वर्जित है, अन्यथा अमर्ष शृंगार में भी चलता है। —ध्वनि ३।२३)	

यहाँ ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि प्रधान (अङ्गी) रस की अपेक्षा दूसरे रस को पोषित नहीं करना चाहिए। (३) विरोधी रस को कभी एक ही आश्रय में नहीं लाया जा सकता—उन्हें विभिन्न आश्रयों में लाया जाय तो दोष नहीं होता, चाहे विरोधी रस को पुष्ट करके भी लाया जाय। (४) यदि विरोधी रस को एक ही आश्रय में लाना पड़े तो दोनों के मध्य में किसी ऐसे रस को लाना चाहिए कि सीधा विरोध न हो। तृतीय रस से व्यवधान हो जाने पर एक वाक्य में होने पर भी रसों के विरोध की निवृत्ति हो जाती है। (५) शृंगार सुकुमारतम रस है, अतः विरोध-परिहार बड़ी सतर्कता से करना चाहिए। (६) शिक्षा देने हेतु या काव्य-शोभा के लिए विरुद्ध रस का अंग रूप में स्पर्श हो तो दोष नहीं। 'सच है कि सुन्दरियाँ मनोरम हैं, यह भी सच है कि विभूतियाँ रम्य हैं किन्तु प्रमदा की कटाक्ष-भंगी के समान ही जीवन भी तो चञ्चल है।'

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्ग-भङ्ग-लोलं हि जीवितम् ॥

यहाँ कोई दोष नहीं है।

शुक्ल जी ने तीन वर्गों में विरोधों को बाँटा है :

"(क) आश्रय की दृष्टि से,
(ख) आलम्बन की दृष्टि से, और
(ग) श्रोता की दृष्टि से।" (रस-मीमांसा, पृ० २४८-२५६)

विरोधी रसों की निरन्तरता का परिहार श्रोता की दृष्टि से किया जाता है। एक आश्रय में विरोधी रस नहीं रह सकते, जैसे, वीर पुरुष में भय नहीं दिखाया जा सकता। आलम्बन बदलकर एक ही आश्रय में विरोधी रस लाये जा सकते हैं, ऐसा शुक्ल जी का मत है। उन्होंने उदाहरण दिया है :

सीय गौर कपोल पुलकित लखत बारंबार ही।
दनुज कलकल सुनत राघव जटा बाँधि सँभारही ॥

यहाँ श्रृंगार और वीर परस्पर-विरोधी नहीं हैं। श्रृंगार को वीर का अंग बनाकर लाया गया है, जैसा ऊपर देखा गया।

(११) शुक्ल जी के अनुसार :

"भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक सांकेतिक (Symbolic) और दूसरा बिम्बाधायक (Presentative)। एक में नियत संकेत द्वारा अर्थ-बोधमात्र हो जाता है, दूसरे में वस्तु का बिम्ब या चित्र अन्तःकरण में उपस्थित होता है। वर्णनों में सच्चे कवि द्वितीय पक्ष का अवलम्बन करते हैं।"

निश्चय ही द्वितीय पक्ष व्यञ्जना का मार्ग है अतः ध्वनि-सम्मत है। प्रथम पक्ष को प्रतीकात्मक माना गया है। काव्य में उससे भी बिम्ब-विधान होता है जिसे आगे डॉ० भगीरथ मिश्र के सन्दर्भ में देखा जायगा।

× × ×

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे मनीषी की समस्त स्थापनाओं को यहाँ नहीं लिया जा सका है। कुछ समीक्षणीय स्थल ही चुने गये हैं कि अध्येता समझ-बूझकर ही ध्वनि के सन्दर्भ में उनका उपयोग करे। शुक्ल जी के प्रति प्रस्तुत लेखक की श्रद्धा अव्याहत है, परन्तु शास्त्रीय सन्दर्भों में मतों का परीक्षण ग्रन्थ में अनिवार्य था अतएव चपलता क्षम्य मानी जानी चाहिए।

डॉ० श्यामसुन्दर दास :

डॉ० श्यामसुन्दर दास का व्यक्तित्व शिक्षक के गुणों से पूर्ण था अतः वे स्वतन्त्र विचार की अपेक्षा शास्त्रीय चिन्तन अधिक करते थे। यही कारण है कि वे ध्वनिमत के चिन्तन को एक सीमा तक समेटने का प्रयास कर सके। 'भाषाविज्ञान' ग्रन्थ के अर्थ-विचारवाले अध्याय में उन्होंने शब्दशक्तियों पर विस्तृत विचार किया। 'साहित्यालोचन' में रस और साधारणीकरण पर प्रायः वैसा ही चिन्तन किया जैसा कि परम्परानुकूल था। अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति अनपेक्षित है। उन्होंने आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के मत का उल्लेख करते हुए रसानुभूति को योगशास्त्र की 'मधुमती भूमिका' माना है। यह स्थापना बड़ी विवादग्रस्त रही है। विवाद का एक कारण यह भी है कि यौगिक अनुभूति से काव्यानुभूति पृथक् है अतएव मम्मट ने उसे उससे भिन्न बताया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि मधुमती भूमिका योग की सिद्धियों में उच्च धरातल नहीं है, अतः वह काव्य-रस से अपेक्षाकृत हीन है। कुछ भी हो, रसिक होने के साथ-साथ योगी भी हो, वही इसका निर्णय दे सकता है और उस निर्णय को मानने या न मानने का अधिकारी भी वही होगा जो दोनों का ज्ञाता हो।

डॉ० दास की कोई विशेष उपलब्धि ध्वनिमत के सन्दर्भ में नहीं मानी जाती, अतः विस्तार अनपेक्षित है। (दे० आगामी अध्याय, मधुमती)।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी :

आचार्य वाजपेयी छायावाद के समीक्षाचार्य तो थे ही, वे हिन्दी के आलोचना-शास्त्र और शास्त्रीय आलोचना के युगप्रवर्तक भी थे। आचार्य शुक्ल के अनन्तर वाजपेयी जी का नाम इसी दृष्टि से लिया जाता है। उन्हें पश्चिमी समीक्षा का प्रौढ़ ज्ञान था, अतः वे अपने चिन्तन को युगानुरूप प्रतिष्ठा दे सके। वे किसी धारा में बँधकर चलनेवाले परम्परावादी न थे अतएव ध्वनि-सिद्धान्त पर भी उनकी सम्मति का महत्त्व है। यहाँ कतिपय ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डालना अपेक्षित है जिनसे वाजपेयी जी की चिन्तन-पद्धति और ध्वनिमत के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता को एक साथ समझा जा सके।

(१) काव्य-लक्षण :

"काव्य प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्यमात्र में अनुकूल भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।" (नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १८)

वाजपेयी जी काव्यानुभूति को सर्वथा प्रकृत (नार्मल) मानते हैं, फ्रायडीय विचारकों ने उसे अप्रकृत माना है जिसके विरोध में 'प्रकृत' शब्द का प्रयोग है। काव्य की अभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों में सौन्दर्य की स्थापना वाजपेयी जी की विशेषता है, रस और ध्वनि का उन्हीं में समावेश हो जाता है। करुण आदि रसों में जो भावोच्छ्वास होते हैं, वे भी अनुकूलसंवेदनीय रहते हैं, यह भी वाजपेयी जी को अभिमत है। काव्य का कारण कल्पना या प्रतिभा है जो कवि में प्रकृत्या विद्यमान रहती है, अतः नैसर्गिक होती है। उसका प्रयोजन सौन्दर्य-संवेदन है और चित्रात्मक सौन्दर्यमयी अभिव्यञ्जना उसका स्वरूप है। इस प्रकार युग-परिवेश में प्रस्तुत परिभाषा का महत्त्व है। चित्रण-सौन्दर्य में रीति, गुण, अलंकार, दोषाभाव आदि का समावेश हो जाता है और अनुभूति-चमत्कार को संवेदन-सौन्दर्य से लिया गया है।

(२) रसनिष्पत्ति :

"भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भावसत्ता को हृदय-ग्राही बनाता है। ....भाव-विरहित कल्पना कवि-कल्पना नहीं है। मानसिक विश्लेषण और बौद्धिक चेष्टाएँ निरर्थक हैं, यदि वे मुख्य भाव या अनुभूति का पोषण नहीं करतीं।" (आधुनिक साहित्य, पृ० ७२)

इससे स्पष्ट है कि वाजपेयी जी मूलतः रसवादी आलोचक थे। वे भाव का ही कल्पना में व्यापार-प्रधान रूप मानते हैं, वस्तुतः 'कल्पना' भावना या भावन-व्यापार का ही आधुनिक नामान्तर है, अतः भावसत्ता का उसमें अनिवार्य योग होना ही चाहिए। फिर भी वाजपेयी जी रस के शाश्वत रूप में संवेदना की गतिशीलता स्वीकार करते हैं—देश-काल के अन्तर से चित्तवृत्तियों का परिवेश बदलता है, अतः एक-सी रसानुभूति सभी देशों और सभी कालों में सम्भव नहीं होती। अर्थात् रस की समरस-दशा एक होती है पर चित्तवृत्ति परिवर्तित हो सकती है :

"काव्यानुभूति अत्यन्त उच्चतर स्थिति का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस या समरूप हुआ करती है। उसमें देश-काल के अनुसार गतिशीलता का तत्त्व भी रहता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुरूप उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्राएँ रहती हैं।"

(नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १४८)

इस परिप्रेक्ष्य से आचार्य वाजपेयी के रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी अभिमत को समझा जा सकता है। उन्होंने अपने निबन्धों में प्रसिद्ध चार मतों पर अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये हैं। वाजपेयी जी ठीक ही मानते हैं कि भट्टलोल्लट, भट्ट शङ्कुक और भट्टनायक ने अपने ढङ्ग से रसनिष्पत्ति को समझने का प्रयास किया है, अतः अभिनव के सिद्धान्त तक पहुँचने में उन तीनों का अध्ययन आवश्यक है और उनमें आंशिक सत्य है। रस के स्वरूप को लेकर आचार्य वजपेयी के विचार ध्वनिकार के विचारों के मेल में देखे जा सकते हैं :

"रस अन्ततः सामाजिक की अनुभूति है। स्वयं कवि और उसकी काव्य-कृति की निर्माण-प्रक्रिया के विवेचन का आग्रह आधुनिक है। ....भरत मुनि की रस-परिगणना में भी करुण रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृङ्गार और वीर के साथ वह भी प्रधान रस के रूप में स्वीकृत है। आनन्द रसानुभूति का मौलिक लक्षण है।" (राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ० ९१)

(३) ध्वनि-सिद्धान्त :

"ध्वनि-सिद्धान्त का आविर्भाव वास्तव में रस की व्याख्या के लिए किया गया। उसे स्वयं में कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। .... काव्य में रस की निष्पत्ति का विवेचन करते हुए उसने यह प्रतिपत्ति की कि रस ध्वनित होता है अर्थात् अनुभूत होता है। ध्वनिमत के द्वारा रस-सिद्धान्त की जो पुनःप्रतिष्ठा हुई और उसे जो पूर्णता तथा व्याप्ति मिली, उसके कारण भारतीय मानस को उसने सर्वाधिक आकृष्ट किया। परवर्ती समस्त साहित्य-चिन्तन में उसे शीर्ष स्थान मिला है।" (प्रकीर्णिका, पृ० ४९-५०)

इससे वाजपेयी जी की उदार दृष्टि का पता चलता है। उन्होंने उक्त सन्दर्भ में ही पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावाद की अपेक्षा ध्वनिमत को उत्कृष्ट बताया है। "क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद वास्तव में अभिव्यक्तिवाद का ही पर्याय है।"

(४) अलंकार-विचार :

वाजपेयी जी ने ध्वनि अथवा अलंकार के शास्त्रीय विवेचन का कहीं प्रयास नहीं किया। अन्य-विषयक निबन्धों में इनकी चर्चा आयी है जिससे इतना ही ज्ञात होता है कि वे भारतीय चिन्तन-सौन्दर्य से प्रभावित हैं फिर भी आवश्यक नहीं मानते कि उसी धारा में सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करें। उनके मत से :

"अलंकार मूलतः कवि की कल्पना का सिद्धान्त है। कदाचित् यह उस समृद्ध युग की वस्तु है, जब कला एक सौन्दर्य की वस्तु के रूप में सम्मानित हुई।

रस-परम्परा से इस सिद्धान्त की भिन्नता यह है कि रस में जहाँ प्रभाव-पक्ष की सर्वोपरिता है, वहाँ इसमें कवि-कर्म की ओर दृष्टि गयी है तथा काव्य के सौन्दर्य-पक्ष को प्राथमिकता दी गयी है।" (प्रकीर्णिका, पृ० ४९)

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी ध्वनि की महत्ता समझते और मानते थे।

(५) साधारणीकरण :

वाजयेयी जी के निबन्धों में साधारणीकरण पर भी विचार किया गया है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने आचार्य वाजपेयी के मत का सार चार सूत्रों में प्रस्तुत किया है। (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य, पृ० २१८) :

(क) "भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धान्त केवल काव्य की सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है।"

काव्य की व्यञ्जनाशक्ति भी दर्शक की शक्ति के बिना व्यर्थ ठहरती है। ध्वनिकार ने तथा अन्य ध्वनिवादी आचार्यों ने यही माना है कि अभिधा का अर्थ सर्वजन-वेद्य रहता है जबकि व्यंग्य अर्थ कुछ सहृदय ही हृदयंगत करते हैं। भट्टनायक का भावना-व्यापार भी सहृदय की अपेक्षा रखता है।

(ख) "आचार्यों की यह दलील असाहित्यिक ही है कि पूज्य व्यक्तियों या देव के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता। जब मूल प्रणेता ने उस भाव की अनुभूति द्वारा उसे प्रस्तुत किया है तो वैसी ही भाव-सृष्टि प्रेक्षक या पाठक में क्यों न हो सकेगी ?"

यहाँ आचार्य जी कहना चाहते हैं कि यदि कवि ने अपने काव्य की रचना द्वारा उस रति का उपस्थापन इस प्रकार किया है कि सहृदय को शृङ्गार रस का आस्वाद हो तो साधारणीकरण रोका नहीं जा सकता। कालिदास ने कुमारसंभव में शिव-पार्वती का ऐसा ही चित्रण किया है। सूर ने भक्ति रस की दृष्टि से रचना की है अतः पाठक के रतिभाव के आलम्बन राधा-कृष्ण दोनों हो जाते हैं, फलतः भक्ति-शृङ्गार या मधुर रस की परिणति होती है। वहाँ अभिनव के शृङ्गारवाला साधारणीकरण न होना चाहिए। वाजपेयी जी ने कवि-दृष्टि को ठीक ही महत्त्व दिया है। यदि सहृदय भक्तिप्रवण नहीं है तो कवि-दृष्टि की सीमा लाँघकर भी शृङ्गार का उपभोग कर लेगा और तब लौकिक विभाव के समान ही राधा अथवा कृष्ण ग्राह्य होंगे। ध्यान यह रखना है कि भक्तिरस का साधारणीकरण सामान्य शृङ्गार के साधारणीकरण से भिन्न होता है। भक्ति में नायक-नायिका दोनों विभावरूप में साधारणीकृत होते हैं और सहृदय उन्हें भक्ति-रति के विभावन में उपयोगी बनाता है जिससे माधुर्य-रतिभाव का साधारणीकरण परिणत होता है और मधुर भक्ति रस का भोग होता है। शृङ्गारिक आस्वाद उससे भिन्न है—नायक-नायिका में से यथावसर एक आश्रय और दूसरा आलम्बन होता है जिससे आश्रयगत रतिभाव का साधारणीकरण घटित होता है। आचार्य शुक्ल जब पूज्य व्यक्तियों के भाव-साधारणीकरण का निषेध करते हैं तो अंशतः ठीक हैं, परन्तु शृङ्गार

के सर्वथा अभाव की कल्पना तर्कानुगत नहीं है, इसीलिए वाजपेयी जी ने उसे अमान्य ठहराया है।

(ग) "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है।"

साधारणीकरण का नाम ही भावना-व्यापार है। जहाँ कोई कवि-कल्पित पात्र नहीं होता, वहाँ काव्य के माध्यम से रचयिता ही आश्रयरूप लेकर प्रस्तुत होता है। जहाँ आश्रय की योजना होती है, वहाँ कवि आश्रय से तादात्म्य लेकर आता है, जैसे नट या अभिनेता स्वरूपावच्छादन करके तादात्म्य लेता है। रसिक की चेतना उससे एकाकार हो जाती है, यही अभिनव के अनुसार 'अनुकृति' है और वह साधारणीकरण का बीज है, साधारणीकरण नहीं। साधारणीकरण में किसी की चेतना व्यक्ति रूप में नहीं रहती, व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है जिससे तादात्म्य का प्रश्न नहीं उठता। इसको डॉ० त्रिपाठी ने इस प्रकार समझाया है :

> "रचयिता की अनुभूति रचयिता मात्र की अनुभूति न होकर, असाधारण न रहकर, उपभोक्ता या सहृदयमात्र की हो जाय—साधारण हो जाय। ऐसा होने के लिए समस्त कवि-कल्पित या रचयिता द्वारा उपस्थापित रसोपकरण को निर्विशेष हो जाना पड़ेगा।"

वाजपेयी जी के 'तादात्म्य' शब्द ने अटकाव ला दिया था जिसे डॉ० त्रिपाठी ने भट्टनायक के अनुसार व्याख्या दे दी है। लगता यह है कि वाजपेयी जी कहीं-न-कहीं तादात्म्य और साधारणीकरण को एकरूप मान बैठे हैं जो आचार्यों को अभिमत नहीं रहा है।

(घ) "साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है—केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं।"

आचार्य शुक्ल आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य को साधारणीकरण मानते हैं जो वस्तुतः परम्परा से बहिर्भूत है। वाजपेयी जी ने उसी का निराकरण करने हेतु 'समस्त व्यापार' का साधारणीकरण बताया है, परन्तु यह शब्द सन्देह पैदा करता है—साधारणीकरण स्वयं में एक काव्य-व्यापार है तो व्यापार का व्यापार क्या होगा? 'व्यापार' से वाजपेयी जी को सम्पूर्ण रस-सामग्री अभिप्रेत हो सकती है जो कवि अपने काव्य द्वारा उपस्थापित करता है और उस सबका साधारणीकरण होता है जिसमें आश्रय, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव और स्थायी-भाव आ जाते हैं। इस सबके साथ स्वयं रसिक के व्यक्तित्व का परिहार हो जाता है, वह निर्वैयक्तिक चेतना उपलब्ध करता है और तब साधारणीकरण पूरा होता है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने वाजपेयी जी को ऐसी ही व्याख्या दी है :

> "भारतीय आचार्यों ने तो रसोपकरण को ही नहीं, रसयिता की भी संकुचित प्रमातृता का विगलन स्वीकार किया है।"

सारांश यह कि यद्यपि वाजपेयी जी साधारणीकरण को ठीक वैसा ही नहीं समझते जैसा भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त ने समझा था, फिर भी उनके निकट आ जाते

हैं, अतः माना जा सकता है कि बहुत कुछ शास्त्र-सम्मत बात ही उन्होंने कही है। वाजपेयी जी सर्वात्मना शास्त्रों को पचाकर ही विचार नहीं करते थे, अतः स्वाभाविक है कि पश्चिम और पूर्व का मिला-जुला चिन्तन उनके विवेचन में देखा जाय, फिर भी सन्तोष है कि शास्त्र-सम्मति से उसमें अल्प ही अन्तर रह गया है।

(६) कल्पना :

देखा जा चुका है कि कालरिज् ने जो कल्पना का स्वरूप निर्धारित किया था, डॉ० नगेन्द्र ने उसे यथावत् ग्रहण कर लिया और आचार्य शुक्ल ने प्रायः वही बात 'भावना' शब्द के माध्यम से कही है। यह भी देखा गया है कि आचार्य वाजपेयी भारतीय दृष्टि से 'कल्पना' का स्वरूप स्थिर करना चाहते हैं। इस विषय में भी वे ध्वनि-सिद्धान्त के बहुत निकट हैं। वे कहते हैं :

> "भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भावसत्ता को हृदयग्राही बनाता है।" (आधुनिक साहित्य, पृ० ७२)

इससे स्पष्ट है कि वे भट्टनायक की भावना (भावकत्व) में ही कल्पना का स्वरूप निर्धारित पाते हैं; दूसरे शब्द में, वही व्यञ्जनाशक्ति है जिसकी परिव्याप्ति साधारणीकरण से लेकर रसास्वाद-पर्यन्त रहती है। 'कल्पना' कविशक्ति है तो 'भावना' काव्य-शक्ति है परन्तु दोनों मूलतः एक हैं अतः वाजपेयी जी उसे कविशक्ति के रूप में प्रतिष्ठा देते हुए कहते हैं :

> "कवि की कल्पना जितनी ही नैसर्गिक तथा प्रशस्त होगी, उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा।"
>
> (नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० १८)

निश्चय ही वाजपेयी जी कालरिज् के समान ही 'कल्पना' को सर्जनाशक्ति मानते हैं जो कवि की ही भावना या प्रतिभा है, न कि काव्य का भावकत्व (साधारणीकरण) व्यापार, फिर भी 'समुन्नत संवेदन' ही तो साधारणीकृत भाव है और उसकी अवतारणा में कल्पना का योगदान उसे भट्टनायक के निकट ला देता है।

'कल्पना' शब्द अँग्रेजी के 'इमैजिनेशन्' का अनुवाद है और 'इमैजिनेशन्' अपने शाब्दिक अर्थ में 'इमेज्-मेकिङ्' या बिम्ब-विधान है। वाजपेयी जी इसी रूप में 'कल्पना' का स्वरूप-निर्धारण करते हैं :

> "कल्पना का स्वरूप सर्व-सम्मति से रूपात्मक माना गया है। रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अतः साहित्य भी भावाश्रित रूप ही है। इस भावाश्रित रूप से भिन्न साहित्य में कोई दूसरी वस्तु-सत्ता रह ही नहीं सकती।....साहित्य में रूप ही वस्तु है—वस्तु ही रूप है। वस्तु और रूप के इस अनुस्यूत सम्बन्ध को समझना ही सबसे बड़ी साहित्यिक साधना है।" (वही, निकष, पृ० ३)

आचार्य शुक्ल द्वारा गिनाये हुए सभी रूपविधान या बिम्ब—प्रत्यक्ष, स्मृत, कल्पित आदि—वाजपेयी जी को कल्पना में आ गये हैं परन्तु अन्तर यही है कि शुक्ल जी लोक और काव्य-सृष्टि के बिम्बों में कोई भेद नहीं रखना चाहते जबकि वाजपेयी जी ने शुद्ध कवि-कल्पना को रेखांकित किया है जो सर्वथा उचित है। 'भावाश्रित रूप' कहकर उन्होंने कल्पना को भारतीय शास्त्रों का परिवेश दे दिया है। भामह ने 'कल्पना' शब्द का प्राय: यही अभिप्राय रखा था अत: वे उसी के आश्रित काव्यार्थ-योजना मानते हैं। (दे० सन्दर्भ, १।६५)

वाजपेयी जी बिम्ब और कल्पना का अनिवार्य सम्बन्ध मानते हुए कहते हैं :

> "कल्पना तो व्यक्ति करता है, पर रूप बहुजन-संवेद्य होता है। इसी कारण इस रूप-तत्त्व में अङ्ग-संगति, अनुक्रम तथा बौद्धिक ग्राह्यता की बहुमुखी सामग्री रहा करती है। वह सारी सामग्री शब्दों का परिधान धारण कर उपस्थित होती है। अतएव शब्द-रहित रूप की अपेक्षा यह शाब्दिक रूप अपनी विशिष्टताएँ रखने के लिए बाध्य है।" (नया साहित्य : नये प्रश्न)

यही बात भर्तृहरि ने भी कही थी कि काव्य के पात्र शब्दों में रूप लेते हैं, बुद्धि से गृहीत होते हैं और प्रत्यक्षवत् दृश्य बनते हैं। भर्तृहरि की मान्यता से (दे० सन्दर्भ, १।३२) वाजपेयी जी अनजाने ही एकीभाव ले बैठे हैं। रूप या बिम्ब को शब्दों के परिधान में देखना और 'शब्दोपहित रूप लेना' सर्वथा एक ही है। भारतीय बिम्ब-योजना-सिद्धान्त वाजपेयी जी की स्थापनाओं से अनुप्राणित है, इसमें सन्देह नहीं।

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र का कृतिमय व्यक्तित्व अति-विस्तृत है—विविध निबन्धों, 'रीतिकाव्य की भूमिका' से लेकर 'रस-सिद्धान्त' और आजकल के अँगरेजी व्याख्यानों तथा देश-विदेश के सम्पादित ग्रन्थों आदि में उसकी मांसल व्याप्ति है। ऊपर से लगता है कि उनमें वैचारिक परिवर्तन आये हैं, परन्तु उनकी अन्तश्चेतना आज भी दृढ़ एवम् अपरिवर्तित है। ऐसे कृती का सम्पूर्ण लेखा प्रस्तुत करना यहाँ असंभव है परन्तु काव्य-सिद्धान्त के परिवेश में अपेक्षित उनकी स्थापनाओं का दिग्दर्शन ही हमारा लक्ष्य है।

(१) काव्य की मनोवैज्ञानिक धारणा :

डॉ० नगेन्द्र वस्तुत: अन्तश्चेतनावादी काव्य-मनीषी हैं। मनोविज्ञान की सीमाओं में उनके चिन्तन का श्रीगणेश हुआ है। वे फ्रायड, ऐडलर और युङ्ग की अवतारणा इस प्रकार करते हैं :

> "सबसे प्रथम सिद्धान्त फ्रायड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है : हमारा अन्तर्मन, हमारी अतृप्त काम-वासना, जो स्वप्न के छायाचित्रों का सृजन करती है, वही काव्य के भावचित्रों की जननी है।" (विचार और अनुभूति, पृ० ७)

"स्वस्थ रूप में तो काम का उपभोग न कर जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है, और अस्वस्थ रूप में....काम अभुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती भावचित्रों की सृष्टि करता है।" (वही, पृ० ८)

"ऐडलर, जो मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल कीटाणु क्षति-पूर्ति की कामना में खोजता है।....सामयिक जीवन में गो-ब्राह्मण का हनन करनेवाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक दुष्ट-दलन राम की कल्पना की थी। प्रत्यक्ष-जीवन में सौन्दर्य के उपभोग से वञ्चित रहकर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौन्दर्य के चित्र आँके। पलायन का चिरपरिचित सिद्धान्त इसी का एक प्रस्फुटन है।" (वही, पृ० ८-९)

"युङ्ग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए ही होते हैं। पुत्र, वित्त और लोक की एषणाएँ जीवनेच्छा की ही शाखाएँ हैं। साहित्य भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन अथवा अपने अस्तित्व—जीवन की गति—को अक्षुण्ण रखने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी सभी क्रियाएँ हमारी प्राणचेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु साहित्य उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र का अभिव्यञ्जनावादी सिद्धान्त युङ्ग के सिद्धान्त में ही समाहित हो जाता है।" (वही, पृ० ९)

इन्हीं आधारों पर नगेन्द्र जी के समीक्षा-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा है, जिसे वे स्वयं मान्य करते हैं :

"मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धान्तों से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं, और न हो ही सकता है।" (वही)

(२) काव्य का स्वरूप :

उक्त आधारों को सामने रखकर ही डॉ० नगेन्द्र ने जीवन और साहित्य के विषय में मान्यताएँ स्थिर की हैं। वे कहते हैं :

"मैं जीवन को अहं का जगत् से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस रूप की अभिव्यक्ति है। मानस रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस रूप धारण करते-करते अपना दंशन खो देती है।" (वही)

इस स्थापना को तर्क-संगत कैसे कहें? मानस रूप लेने पर भी वैयक्तिक चेतना में दुःखानुभव होता है। घोरतम विफलता तो बहुत बड़ी बात है, साधारण हानि भी

मानस का नासूर बन सकती है । मानस व्यथा न सह पाकर लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं । किसी संघर्ष का मानस रूप लेना ही दंशन-हीन होने की शर्त नहीं हो सकता । जब तक अपना दुःख व्यक्तिगत धरातल पर अनुभूत होगा, कभी सुखात्मक नहीं हो सकता, परन्तु डॉ० नगेन्द्र व्यक्ति-चेतना से परे कुछ भी मानने को तैयार नहीं । वे अपनी समीक्षा-विषयक मान्यताओं का संकलन इस प्रकार करते हैं :

> "साहित्य आत्माभिव्यक्ति है । आत्माभिव्यक्ति आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए । रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है । ....साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं । जब मैं ऐसा कहता हूँ तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नहीं करता ।"
> (वही, पृ० १७-१८)

डॉ० नगेन्द्र इसी वैयक्तिक आधार पर काव्य की व्याख्या भी करते हैं :

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है ।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरङ्ग—अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्‌भूत होती है ।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होनेवाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है; और चूँकि ललित-साहित्य, जो मूलतः-रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असन्दिग्ध है ।" (वही, पृ० १०)

इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र के अनुसार वैयक्तिक संघर्ष से जो काम-वृत्ति-प्रेरित अभिव्यक्ति होती है, वही काव्य है । काव्य न तो निर्वैयक्तिक होता है और न काम-हीन । 'काम' का डॉ० नगेन्द्र जो भी अर्थ लेते हों, वह मनोविज्ञान में जीवनेच्छा का ही नामान्तर है और जीवनेच्छा वैयक्तिक ही न होकर सामूहिक भी होती है, अतः शुद्ध वैयक्तिकतावाद साहित्य का सिद्धान्त नहीं हो सकता ।

(३) साधारणीकरण :

उक्त व्यक्तिवाद को सामने रखकर ही डॉ० नगेन्द्र के साधारणीकरण को समझा जा सकता है । भट्टनायक तथा रसनिष्पत्ति के सन्दर्भों में डॉ० नगेन्द्र की मान्यताओं का दिग्दर्शन हो चुका है । पुनर्विचार की दृष्टि से इतना ही कहना है कि नगेन्द्र जी ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' से 'रससिद्धान्त' तक एक ही बात 'तादात्म्य' की कही है । उनका तादात्म्य चाहे सहृदय का कवि से हो या आश्रय से, व्यक्ति का व्यक्ति से अभेदारोप ही होता है क्योंकि वे सामूहिक चेतना जैसी किसी वस्तु को मान्य नहीं करते । आचार्य विश्वनाथ ने भी साधारणीकरण में तादात्म्य की चर्चा की है, परन्तु डॉ० नगेन्द्र उसे अपने अनुकूल व्याख्या देना चाहते हैं । साहित्य-दर्पण का तादात्म्य साधारणीकरण का अङ्ग है जिसमें यह मान्य होता है कि आश्रय काव्यशब्दों में रूप लेता है, वह रूप वर्णित गुण-धर्म से युक्त साधारण रूप होता है, न कि व्यक्तिरूप, और सहृदय अपनी चेतना को

उसी रूप में विलीन कर एकाकार हो जाता है जिससे उसकी भी वैयक्तिकता तिरोहित हो जाती है—सीमाएँ केवल आश्रय के गुण-धर्म की रहती हैं, जिसका व्यक्तिरूप नहीं होता, व्यक्ति का नाममात्र रहता है। इसी आधार पर समुद्रलङ्घन आदि व्यापारों का रसात्मक बोध सम्भव होता है। परन्तु डॉ० नगेन्द्र व्यक्ति का व्यक्ति से तादात्म्य मानकर कवि और सहृदय के अभेद की चर्चा करना चाहते हैं। डॉ० नगेन्द्र की मान्यता का सारांश डॉ० भगीरथ मिश्र ने इस प्रकार दिया है :

> "काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं, कवि की भावना का बिम्बमात्र है। यह काव्य-प्रसङ्ग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसे प्रकाशित करनेवाली चैतन्य आत्मा है, और चूँकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य-क्रिया है, अतः काव्य-प्रसङ्ग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषय-प्रधान धारणा और अभिनव की विषयि-प्रधान धारणा, दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध-सूत्र है, और वर्तमान-युग में रससिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं।"
>
> (रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण)

केवल मनोविज्ञान के अनुकूल होना कोई प्रमाण नहीं है, यह आत्मसमर्पण है और मनोविज्ञान के सन्दर्भ में देखा गया है कि वहाँ भी चिन्तन की विविध धाराएँ हैं जिनमें समुदित चेतना का सिद्धान्त भी प्रबल होकर उभरा है। भट्टनायक विषय-प्रधान विचारक नहीं हैं क्योंकि वे रस या काव्य-भावित भाव को न परगत (अनुकार्यगत या अनुकारक-गत) मानते हैं और न स्वगत (सहृदयगत)। उनका रस केवल काव्य से भावित होता है और सहृदय द्वारा आस्वादित होता है। भट्टनायक विभावादि-चेतना और रसिक-चेतना को साधारणीकृत रूप देना चाहते हैं जहाँ वैयक्तिक चेतना का सर्वथा परिहार रहता है जबकि डॉ० नगेन्द्र व्यक्तित्व-परिहार के विरोधी हैं। अभिनव की धारणा से भी स्पष्ट विरोध है—कहाँ अभिनव वासना को वैयक्तिक सीमा से परे मानकर रस को 'सकल-सहृदय-संवादी' तत्त्व मानते हैं जिसमें रसात्मक बोध के अतिरिक्त अन्य सबका तिरोभाव हो जाता है (अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्) और कहाँ डॉ० नगेन्द्र का साधारणीकरण व्यक्ति को क्षुद्र परिधि से मुक्त नहीं करता। आचार्य शुक्ल जब हृदय-मुक्ति की बात करते हैं तो व्यक्तिगत सीमाओं का परिहार उन्हें अभीष्ट है, केवल आश्रय की व्यक्तिता उन्हें मान्य है जबकि डॉ० नगेन्द्र कवि और रसिक व्यक्तियों में तथाकथित मनोवैज्ञानिक तादात्म्य खोजते और उसी को साधारणीकरण बताते हैं :

> "कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय-समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता था।"
>
> (रस-सिद्धान्त, पृ० २०७)

इस प्रकार भट्ट तौत को डॉ० नगेन्द्र ने व्याख्या दी है जो साधारणीकरण के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से अमान्य है। इसपर अन्यत्र विचार हो चुका है। वस्तुतः कवि की चेतना व्यक्तिचेतना से उठकर उस कल्पित चेतना का आकार लेती है जो गुण-

धर्म के आधार पर नायक की सामान्य-चेतना है, यह रचना-प्रणाली की बात है। रस-बोध की प्रणाली में सहृदय की चेतना निर्वैयक्तिक होकर नायकीय चेतना (साधारणीकृत) का आकार लेती है। इस प्रकार तीनों चेतनाएँ निर्वैयक्तिक एकत्व प्राप्त करके एक ही हो जाती हैं अतएव भट्टतौत ने 'समान = एक अनुभव' की बात की है। यह अनुभव काव्य की वस्तु है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने तादात्म्य का ऐसा ही अर्थ समझा है :

> "रस की पूर्ण निष्पन्न दशा में तो विभावादि के साधारणीकरण के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है और इसी प्रक्रिया के साथ-साथ श्रोता या दर्शक का भी स्थायी भाव, जो वासना-रूप में स्थित रहता है, जाग्रत् होता है और वह निर्विघ्न रूप में विभावादि-संयुक्त रस-रूप-परिणत स्थायी भाव का आनन्द या आस्वाद प्राप्त करता है। यह स्थिति तीनों (नायक, कवि, श्रोता) की अनुभूतियों की पूर्ण तादात्म्य की अवस्था है।"
>
> (रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण)

यहाँ 'तादात्म्य' शब्द गड़बड़ करता है क्योंकि वह 'आरोप' का पर्याय-सा बन गया है। भट्टतौत का 'समान', जो एक-पर्याय है, नितान्त उचित है। डॉ० मिश्र ने 'निर्विघ्न' शब्द का यदि अभिनव-सम्मत अर्थ में प्रयोग किया है तो व्यक्तित्व-सीमा भी वहाँ एक विघ्न है और उसके परिहार से एक ही अनुभूति का प्रवाह आप्लावित करता है, बूँदें अलग नहीं रहतीं, धारा की यह एकतानता ही अनेकत्व पर एकत्व की विजय है और वही साधारणीकरण है। डॉ० नगेन्द्र यदि अपने मत को आचार्यों के मत में 'गबड़' कर न रखते तो उनकी मान्यता अधिक ग्राही होती और भ्रान्ति को अवकाश न रह जाता।

(४) रससिद्धान्त :

डॉ० नगेन्द्र रससिद्धान्त जैसे महान् राष्ट्र-धर्मी समीक्षा-सिद्धान्त के वास्तविक प्रचारक होने के नाते सम्मान्य हैं। उन्होंने इसी को जीवन समर्पित कर दिया है और आजकल वे अँगरेजी व्याख्यानों और लेखों के माध्यम से उसे समझाते चल रहे हैं। हिन्दी के अध्येता के लिए यह गर्व की बात है। डॉ० नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त में रसानुभूति को लेकर दो मत स्वीकार किये हैं—भरत और भट्ट लोल्लट को भौतिकवादी तथा भट्टनायक और अभिनव आदि को आत्मवादी बताया है। वस्तुतः भरत को भौतिकवादी कहने का कोई कारण नहीं है जब सभी आचार्य भरत-सूत्रों की ही व्याख्या देते हैं। भरत किसी वाद से घिरे हुए नहीं हैं। वे तो शुद्ध विचारक मुनि हैं। अपने-अपने दर्शन के अनुसार आचार्यों ने समझने का प्रयास किया है। रस का आस्वाद-पक्ष केवल देखना मात्र नहीं है, अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध मन से है और मन एक इन्द्रिय है। यहाँ मन और चित्त या अन्तःकरण एकार्थक हैं। अन्तःकरण की अनुभूति-विशेष होने से 'रस' सभी मतों में ऐन्द्रिय है परन्तु चेतना की गम्भीरता के कारण सभी को आध्यात्मिक मानना पड़ा है। भट्ट लोल्लट ने आस्वाद-प्रक्रिया पर कोई विचार नहीं किया है अतः उन्हें भी आत्यन्तिक रूप से भौतिकवादी कहने का कोई कारण नहीं है। वासना-सिद्धान्त को अमान्य करके शुद्ध चेतना की विश्रामदशा माननेवाले भट्टनायक भी सत्त्वगुण की परिधि स्वीकार करते

हैं जो चित्त की ही दशा-विशेष है अतः उन्हें भी रस-बोध की दृष्टि से पूर्णतः आत्मवादी नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि समीक्षक का दर्शन आत्मवादी अथवा अनात्मवादी हो, परन्तु उस आधार पर कोई स्पष्ट भेद करना निर्विवाद नहीं कहा जा सकता।

डॉ० नगेन्द्र की सम्पूर्ण स्थापनाएँ यहाँ नहीं लायी जा सकीं जो ग्रन्थ की सीमा के कारण है। वस्तुतः वे महान् विचारक हैं।

डॉ० भगीरथ मिश्र की काव्य-मनीषा :

काव्य-चिन्तन की भारतीय परम्परा विविध आयामों में प्रसार पाती रही है। मानव-चेतना का सौन्दर्य-पक्ष जब वाणी में अभिव्यक्ति लेता है तब काव्यकला की सृष्टि होती है और उस अभिव्यक्ति का संवेदन भी सौन्दर्यरूप होता है, अतः काव्य का मुख्य प्रयोजन ही सौन्दर्य ठहरता है जिसे वामन ने 'अलंकार' नाम दिया है :

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकारः।

फिर भी प्रश्न शेष रहता है कि सौन्दर्य तो काव्य के मूल प्रेषणीय का गुण-पक्ष है, गुण द्रव्याश्रित तत्त्व है अतः सौन्दर्य जैसे भावात्मक तत्त्व के उल्लेख से 'सुन्दर' तत्त्व का अनुमान होता है। वह सुन्दर क्या है जिसकी गवेषणा ही कवि-व्यापार का साध्य होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर भी दिया जा सकता है कि अनुभूति में सुन्दर और सौन्दर्य का अन्तर समाप्त हो जाता है जिससे भाव-बोध ही काव्य का मूल प्रेरक ठहरता है। इसी आधार पर भरत से अब तक भाव-परक काव्य-चिन्तन प्रसृत रहा है। फिर भी 'भाव' के रसरूप लेने की चर्चा सर्वोपरि रही है और 'रस' को द्रव्यात्मक रूप में ही स्थिर किया गया है। रति, क्रोध, हास आदि भावात्मक पक्ष है जबकि शृङ्गार, रौद्र, हास्य रसरूप में द्रव्यात्मक माने गये हैं। स्पष्ट है कि काव्य-सिद्धान्त के पुरस्कर्ताओं ने अनुभवकर्ता की चेतना का द्रव्य-पक्ष ही रसरूप में मान्य किया है। अतः भावात्मक सौन्दर्य अपने रसात्मक रूप में द्रव्यात्मक होकर 'सुन्दर' की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और चेतन से अभिन्न हो जाता है। यही वह 'भाव-सत्य' है जो वैयक्तिक चेतना से परे मानव-चेतना का सर्वस्व है, जिसे प्रसाद जी ने 'अखिल मानव-भावों का सत्य' कहा है और समरसता के धरातल पर रसरूप बताया है :

सबमें घुलमिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है।

डॉ० भगीरथ मिश्र की स्थापना काव्य का यही मर्म उद्‌घाटित करती है :

"काव्य जीवन और सत्य को संवेद्य बनानेवाली शब्द-रचना है।"

(काव्यमनीषा, पृ० २०)

काव्य की यह परिभाषा चिन्तन को नया आयाम देने में समर्थ है फिर भी पुरातन काव्यचिन्तन से उसका ऐकमत्य अव्याहत है। डाक्टर मिश्र ने इस ऐकमत्य की स्थापना बड़े विस्तार से अपने ग्रन्थों, विशेषतः 'काव्य-मनीषा' में, की है। उनके प्रेरक रूप में प्रसाद के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास रहे हैं—उन्होंने "सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें।" उद्धरण से यह स्वीकार भी किया है।

भावरूप में जो 'सौन्दर्य' है वही रसरूप में 'सत्य' है, यही आशय सौन्दर्य और सत्य में अभेद माननेवाले कीट्स् का भी रहा है—"ब्यूटी इज् ट्रुथ ट्रुथ ब्यूटी, ऐन्ड दैट् इज् आल।" भाव एक गत्यात्मक क्रिया है जबकि रसरूप सत्य ठहराव है। दोनों मूलतः अभिन्न हैं। वैचारिक सत्य में ठहराव प्रधान रहता है, गति गौण हो जाती है जबकि भाव-सत्य में दोनों पक्ष सजग रहते हैं। काव्य एक ऐसी शम-दशा में चेतना को पहुँचा देता है जहाँ 'ऋत' (गति) और 'सत्य' (स्थिति) का अन्तर समाप्त हो जाता है। वेदों में दोनों को प्रज्वलित ज्ञानाग्नि के दो रूपों में मान्य किया गया है :

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। (ऋग्वेद)

हमारे जीवन का साध्य सदैव सत्यरूप रहता है और साधन रूप में अपनाये हुए तत्त्व का क्रियात्मक पक्ष 'ऋत' कहा जाता है। कभी-कभी हम जीवन को साध्य या मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा देते हुए 'जीवन को जीवन के लिए' मानकर चलते हैं तो जीवन ही दोनों रूपों में उभरता है। आगे चलकर यह स्थिति बदल भी सकती है—हम उच्चतर साध्य के लिए यत्नशील देखे जाते हैं। उस दशा में साध्य और साधन में अन्तर आ जाता है और हम जीवन को किसी साध्य (चरम मूल्य) का साधन मानकर चलते हैं। यह क्रम साहित्य के लिए भी मान्य है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए काव्यमनीषाकार का स्पष्ट कथन है :

"साहित्य के साध्य युग-युग में बदलते रहते हैं और उनके विशिष्ट रूपों का युग-युग में बदलना आवश्यक भी है। जिस प्रकार विज्ञान के लिए सिद्धान्ततः एक साध्य है सत्यानुसन्धान, और उसके भीतर युगानुकूल विद्युत्, रेडियो, अणु शक्ति आदि विशिष्ट रूप में आते रहे, उसी प्रकार काव्य का भी सैद्धान्तिक रूप से साध्य एक होता हुआ भी, युगानुकूल उसका साध्य बदलता रह सकता है।"

(काव्यमनीषा, पृ० १०७)

उक्त तथ्य से प्रमाणित होता है कि जब जो साध्य साहित्य के सम्मुख रहता है—चाहे, वह जीवन ही हो, तब वही सत्य रहता है, अतः सत्य ही काव्य का मूल साध्य है। हम इस दृष्टि से जीवन और सत्य में भी अन्तर नहीं कर सकते हैं, केवल सापेक्षता में काव्य की रचना होती है जो निरपेक्ष सत्य की खोज का साधन है। इस दृष्टि से देखें तो जीवन-सापेक्ष काव्य द्वारा शृंगारादि आठ रसों की सृष्टि होती है जो लौकिक आलम्बनों के आधार पर अनुभूतिगम्य होते हैं जबकि निरपेक्ष की उपलब्धि को लक्ष्य बनाने पर शान्त और भक्ति रसों का आविर्भाव होता है। जीवन-सापेक्ष कवि अन्य वस्तुपरक रचनाएँ भी करता है जिनमें आज की घुटनवाली कविताओं का समावेश हो जाता है।

बदलते हुए जीवन-सत्यों में अनुस्यूत एक सत्य-जीवन भी रहता है जो देश-काल-सीमा में परिबद्ध होकर व्यष्टिमय रूप लेता है परन्तु अपने मूल रूप में वह एक ही रहता है। कविवर शेली ने स्पष्ट कहा है कि :

"काव्य के शब्द बिम्बों के द्वारा वस्तुओं के स्थायी सादृश्यों को अनावृत करते हैं और वही सत्य के जीवन के घटक बनते हैं।"[1]

डॉ० मिश्र काव्य के दो प्रयोजनों की ओर भी संकेत करते हैं जिनमें एक आह्लाद है और दूसरा चरित्र-निर्माण। प्रथम प्रयोजन तो 'रस' है ही जिसमें सुख-दुःख मिश्रित होकर आनन्दरूप लेते हैं। दूसरा प्रयोजन भी कम महत्त्व का नहीं है जो हमें समाजोपयोगी बनने की प्रेरणा देता है :

"अपने लौकिक जीवन में जिन करुण, बीभत्स और भयंकर परिस्थितियों की कल्पना से भी हमारा मन सिहर उठता है और शरीर थर्रा जाता है, उन्हीं परिस्थितियों को साहित्य में प्राप्त कर हम बार-बार उनका आस्वादन करना चाहते हैं। यह साहित्य की रासायनिक क्रिया ही है, जो दुःखात्मक और भयावह परिस्थितियों को रमणीय रूपों में बदल देती है। साहित्य की यह क्रिया, जो मुख्यतया जीवन की पुनः रचनाक्रिया है, उसके साध्य का भी संकेत करती है। जीवन की विभीषिकाओं को प्रस्तुत कर वह यह बताती है कि वे भी जीवन के अंग हैं, पर दूसरी ओर सभ्यताओं का चित्रण करके वह स्पष्ट करती है कि जीवन का यह स्वरूप कितना प्यारा और वाञ्छनीय है।"

(काव्यमनीषा, पृ० १०८)

स्पष्ट है कि जीवन और काव्य का परस्पर सम्बन्ध इसी से बनता है कि काव्य जीवन की उपज है और वह जीवन को बदले में सँवारता है। इलियट जैसे क्रान्तिकारी मनीषी, जो स्थूल काव्य-प्रयोजन के विरोधी हैं, इतना अवश्य स्वीकृत करते हैं।[२] डॉ० मिश्र इससे आगे बढ़कर काव्य के उपदेश-पक्ष को भी सौन्दर्य में ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। वस्तुतः मनुष्य सदैव सुन्दर से सुन्दरतर की ओर बढ़ा है और यह मानव-संस्कृति की विकास-धारा रही है। काव्य यदि उसी धारा को सरल-मधुर गति देता है तो स्वाभाविक है क्योंकि काव्य जीवन की अनुभूति ही नहीं, उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति भी है। काव्य की परिभाषा (जो ऊपर आ चुकी है) में जिस सत्य का उल्लेख है, उसका ही एक रूप जीवन भी है जिसे सुन्दर रूप से व्यक्त करना काव्य का साध्य है, और असुन्दर की व्यंजना भी सुन्दर की ओर उन्मुख करने हेतु की जाती है, यही डॉ० मिश्र का अभिमत है। इसी तथ्य को सामने रखकर 'मनीषा' में कहा गया है :

"पहली बात यह है कि साहित्य में वर्णित घटनाएँ जीवन की घटनाओं के समान कटु नहीं होतीं और वे वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त होती हैं। दूसरी बात यह है कि इनके द्वारा सामाजिक संवेदना जाग्रत होती है....। तीसरी बात यह है कि हम ऐसी स्थितियों से सचेत रहते हैं (जो कटु या बीभत्स होती हैं)....। चौथी बात यह है कि इनसे हमारे व्यक्तित्व का विस्तार होता है।" (वही, पृ० १०९)

यदि ऐसी ही काव्य-रचना ग्रीस में होती तो प्लेटो को काव्य का विरोध न करना पड़ता। वह भी जीवन के सुन्दर-पक्ष की अनुकृति में ही काव्य की सार्थकता देखता था, परन्तु उसे भय था कि लोग कुरूपता पर अधिक लुब्ध रहते हैं।[3] वामन ने जिस सौन्दर्य की उपलब्धि को काव्य-प्रयोजन माना था, वह कला का स्वगत सौन्दर्य था, न कि जीवन का सौन्दर्य। ध्वनिमत में काव्य का प्रयोजन जहाँ एक ओर 'रस' को

माना गया वहाँ दूसरी ओर 'कान्ता-सम्मित उपदेश' को महत्त्व दिया गया जिससे 'रामादि के समान आचरण तथा रावणादि-सदृश आचरण का निरसन' काव्य-प्रयोजन कहा गया। अरस्तू अशिव (या असुन्दर) के विरेचन की स्थापना में इसी दृष्टि से प्रेरित हुआ था। टी० सी० इलियट जैसे मनीषी मैथ्यू आर्नाल्ड और रिचर्ड्स् के उपयोगितावाद से सहमत नहीं हुए तो भी उन मनीषियों की मान्यता दब नहीं सकी। 'कविता किसलिए ?' का प्रश्न इलियट कभी न सुलझा सके और आलोचना को प्रयोजनवाद से मुक्त करना चाहते रहे[४], पर कला का प्रयोजन कला ही नहीं हो सकती क्योंकि वह जीवन की प्रसूति है अतः जीवन के प्रति उसका उत्तरदायित्व है :

> "कुछ उठकर देखें, तो....साहित्य का दायित्व इससे बढ़कर है।....आज हमें ही नहीं, विश्व को एक सामाजिक आदर्श चाहिए, जिसमें....विकास की ओर चलने की व्यवस्था हो।" (काव्यमनीषा, पृ० ११२)

वस्तुतः जिस प्रकार साहित्य का विशेष युग होता है जब साहित्य द्वारा जीवन की विशेष प्रवृत्तियों को उभारकर युगान्तर लाया जाता है, उसी प्रकार युग का साहित्य भी होता है जो युग की भावनाओं, आवश्यकताओं आदि को वाणी देता है। यही परस्परापेक्षा साहित्य को सार्थकता देती है। काव्य का दायित्व ही कवि का दायित्व है जिसे न सँभाल पाना कवि की अक्षम्य दुर्बलता है, जैसा डॉ० इकबाल ने कहा था :

> गुनहगार वाँ छूट जायेंगे सारे।
> जहन्नुम में जायेंगे शायर हमारे॥

ऊपर मनीषाकार की काव्य-परिभाषा का उल्लेख हुआ है जिसके आधार पर (क) काव्य शब्दमयी रचना है, (ख) वह रचना संवेदन-प्रधान होती है और (ग) उसके द्वारा जीवन और सत्य संवेद्य बनते हैं। डॉ० मिश्र ने काव्य-समीक्षा के विविध सिद्धान्तों से मुक्त रहकर यह परिभाषा प्रस्तुत की है जिसके प्रत्येक घटक पर विचार अपेक्षित है।

(१) रचना :

काव्य एक प्रकार की रचना है। प्रत्येक कृति, चाहे वह कला (उपयोगी कला अथवा ललित कला) हो या कोई और क्रिया-साध्य वस्तु हो, रचना कही जायगी। रचना प्रकृत न होकर 'कृत' होती है—दूसरे शब्दों में कृत्रिम (अथवा अनुकृत्रिम) होती है।

(२) काव्य :

इस शब्द के दो प्रकार से अर्थ किए जाते हैं "अवश्य-कवनीयं काव्यम्" अर्थात् जिसे शब्दनीय बनाना अनिवार्य हो, वह काव्य है (कु शब्दे + ण्यत्—"ओरावश्यके" पा० सू० ३।१।१२५)। "कवेः कर्म काव्यम्" अर्थात् कवि का कर्म (या कृति) काव्य है और कवि वह है जो शब्दन (शाब्दिक अभिव्यक्ति) करता है अतः शाब्दिक अभिव्यक्ति करनेवाले की कृति ही काव्य है।

(३) शब्द-रचना :

किसी भी कृति को रचना कहा जा सकता है परन्तु शब्दमयी रचना काव्य का लक्षण है जो 'काव्य' शब्द की ही व्याख्या है। 'रचना' अभिव्यक्ति-पक्ष है जिसमें शब्द के अतिरिक्त अर्थतत्त्व भी निहित है।

(४) संवेद्यता :

संवेदन काव्य का भाव-पक्ष है। उक्त शाब्दिक अभिव्यक्ति (या रचना) का अभिव्यंग्य संवेदन है। कोई काव्य संवेदनहीन नहीं हो सकता। इसी आधार पर 'रस' को काव्यात्मा मानने की विशाल परम्परा रही है।

(५) जीवन और सत्य :

संवेदन के आलम्बन जीवन और सत्य हैं अतः उन्हीं को संवेद्य बनाना कविकर्म है।

(६) रचना और संवेदन :

काव्य-कृत संवेदन रचना द्वारा दिया हुआ संवेदन है। रचना शक्ति-सापेक्ष कृति है अतः संवेदन कृत्रिम या अनुकृत रूप होता है। यही कारण है कि उसे लोकोत्तर कहा गया है। रचना प्रजनन-पर्याय भी है जिसमें स्त्रीतत्त्व और पुंस्तत्त्व का योग रहता है जिन्हें सी० जी० युङ्ग ने भारतीय तन्त्रों के आधार पर 'अनिमा' और 'अनिमस्' नामों से प्रतिष्ठित किया है। पुरुष के अचेतन का पक्ष 'अनिमा' या स्त्रीतत्त्व है और स्त्री के अचेतन पक्ष को 'अनिमस्' या पुंस्तत्त्व कहा गया है। पुरुष या स्त्री का व्यक्तित्व दोनों के योग से बनता है, अतः कलात्मक रचना का मूल स्रोत उक्त अचेतन-केन्द्र है जहाँ दोनों तत्त्वों का संगम रहता है। इस संगम में पूर्ण साधारणीकरण रहता है जहाँ स्त्री-पुरुषभेद भी तिरोहित हो जाता है। इस दशा को 'शिशु' के प्रतीक में युंग ने प्रस्तुत किया है और उस दशा को विश्वरूप घोषित किया है।[५] संवेदनीय रचना और रचना के संवेदन का वही धरातल है।

(७) जीवन और सत्य का संवेदन :

यों तो विज्ञान, दर्शन आदि भी शब्द-रचनाएँ कही जा सकती हैं और जीवन तथा सत्य का ज्ञानात्मक बोध दे सकती हैं परन्तु उन्हें संवेदनीय नहीं बना सकतीं। 'संवेदन' के दो मनोवैज्ञानिक अर्थ हो सकते हैं—लौकिक अनुभूति जिसमें सुख-दुःख की वेदनीयता रहती है और लोकोत्तर अनुभूति जो आह्लादमयी होती है। डॉ० मिश्र को दूसरा ही अर्थ अभिप्रेत है जिसे सुविधा के लिए सौन्दर्यानुभूति या कलात्मक अनुभूति कहा जा सकता है। सी० जी० युंग ने जो साधारणीकृत अचेतन धरातल मान्य किया है, वही इस संवेदन की भूमिका है। 'अनिमस्' और 'अनिमा' के धरातलों पर विचार करें तो पुरुष का 'अनिमस्' या चेतनपक्ष निचला धरातल है, इसी प्रकार 'अनिमा' स्त्री का निम्न चेतनपक्ष है। उच्च धरातल पर दोनों का संगम रहता है और वहीं साधारणीकृत संवेदन सुलभ होता है।[६] युंग ने 'अनिमा' का सिद्धान्त शाक्त तन्त्र के माया तत्त्व अथवा मातृ तत्त्व से ग्रहण किया है। वे इसे पश्चिम के लिए दुर्बोध मानते हैं।[७]

यहाँ मनोवैज्ञानिक लोकोत्तर संवेदन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और डॉ० मिश्र ऐसे ही संवेदन को काव्य की परिभाषा का घटक मानते प्रतीत होते हैं। काव्य का सत्य व्याख्येय न होकर संवेद्य होता है, यह तथ्य उक्त तात्पर्य के अनुरूप है। जीवन की संवेद्यता भी संश्लिष्ट प्रत्यय की अपेक्षा रखती है जहाँ सभी लौकिक भेद तिरोभूत रहते हैं।

इस प्रकार डॉ० मिश्र की काव्य-परिभाषा पुरातन और अधुनातन सिद्धान्तों के निष्कर्ष लेकर बनी है। उसमें न दार्शनिक मान्यताओं का विरोध है और न वैज्ञानिक उपलब्धियों का।

× × ×

बिम्ब :

काव्य-मनीषा में ध्वनि-सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना के अनन्तर पाश्चात्य समीक्षा की सरणियों पर अपेक्षित विचार किया गया है। उनपर विचार किया जा चुका है, अतः बिम्ब-सम्बन्धी विवेचन पर प्रकाश डाला जा रहा है। जीवन और सत्य के संवेद्य होने की पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। संवेद्य रूप लेने में जीवन और सत्य के जो रूप मानस प्रत्यक्ष में उभरते हैं उन्हें ही बिम्ब (Image) कहा जाता है। बिम्ब नया शब्द है परन्तु ध्वनि-सिद्धान्त जिस चमत्कारी अर्थ को काव्य का सर्वस्व बताता है, वह बिम्बरूप ही होता है। रेखाओं में उभरे हुए चित्र की तुलना से भट्ट शंकुक ने इसपर पर्याप्त प्रकाश डाला है।[८]

ध्वनिकार ने दीप-प्रकाश की तुलना में लेकर वाच्य और व्यंग्य का जो निरूपण किया है, उससे भी बिम्ब-विधान पर ही प्रकाश पड़ता है।[९] एक अर्थ जब दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है तो स्वयं प्रकाशक होकर उभरता है।[१०] और वही दूसरा प्रकाश्य अर्थ 'बिम्ब' कहा जाता है। इस विषय पर आचार्य महिम भट्ट ने इन्द्रधनुष की उपमा से महत्त्वपूर्ण चर्चा की है। उन्होंने रत्यादि भावों को असत्य प्रतिबिम्ब की तुलना में भी लिया है।[११] प्रतीयमान असत् प्रतिबिम्बात्मक अर्थ की चर्चा ही अपने यहाँ हुई है, विस्तार से 'बिम्ब' नाम देकर विचार नहीं किया गया, परन्तु व्यंग्य अर्थ सदैव बिम्बरूप होता है, इसे लेकर ध्वनिमत को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। डॉ० मिश्र ने इसी कारण ध्वनि-निरूपण के अनन्तर पाश्चात्य काव्य-चिन्तन के सन्दर्भ में बिम्ब-विचार प्रस्तुत किया है :

> "संवेद्यता लाने के लिए काव्य में बिम्ब-योजना आवश्यक है और हम कह सकते हैं कि काव्य का मुख्य व्यापार बिम्ब-रचना है। ....प्रत्यक्षीकरण या अभिव्यक्ति की बिम्बात्मक प्रक्रिया के कारण ही काव्य ज्ञान की अन्य शाखाओं से अपना भिन्न अस्तित्व रखता है।" (वही, पृ० २८५)

काव्य का मुख्य व्यापार (ध्वनिमत में) व्यञ्जना है, इसी को डॉ० मिश्र ने नवीन समीक्षा के परिवेश में कहा है—"काव्य का मुख्य व्यापार बिम्ब-रचना है।" शब्द और वाच्य अर्थ तो सामान्य हैं। परन्तु व्यंग्य अर्थ ही बिम्बात्मक होता है। बिम्ब एक

प्रकार का संश्लिष्ट चित्र है जिसकी व्यञ्जना ही काव्य-व्यापार है। इस तथ्य को समझाने के लिए डॉ० मिश्र ने जो बिम्बों के कार्य गिनाये हैं, उनपर विचार अपेक्षित है।

(१) 'काव्यार्थ को पूर्णतया स्पष्ट करना' बिम्ब-योजना का प्रथम कार्य है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या बिम्ब काव्यार्थ नहीं है। यदि नहीं है तो बिम्ब-योजना ही काव्य का मुख्य व्यापार कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर से ही 'बिम्ब' का स्वरूप स्पष्ट होगा। निश्चय ही बिम्ब भी काव्यार्थ के ही वृत्त में आता है, पर उससे अधिक काव्यार्थ की सीमा है। काव्यार्थ मुख्यतः अनुभूति है, अतः बिम्ब काव्य द्वारा प्रस्तुत वस्तुचित्र है जिसके माध्यम से अनुभूति या संवेदना प्राप्त होती है। बिम्ब एक मानस प्रत्यक्ष की वस्तु है जो वर्ण्य विषय के रूपायन से बनता है, परन्तु दूसरी ओर भाव भी बिम्बात्मक होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे भावरूप में न लेकर वस्तुचित्र के रूप में लिया गया है और काव्यार्थ को उसके द्वारा हृदयंगम होनेवाला तत्त्व माना गया है।

इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। बिम्ब और संवेदन (भाव या रस) दोनों मानस प्रत्यक्ष के विषय हैं। प्रथम द्वारा द्वितीय को व्यक्त किया जाता है। बिम्बदल में विभावादि का मानस रूपायन होगा और उससे भाव का आस्वाद होगा। क्रोचे के अनुसार बिम्ब-विधान ही अभिव्यंजना है जबकि 'बिम्ब' अभिव्यंजना न होकर अभिव्यंग्य है। डॉ० मिश्र का अभिप्राय स्पष्ट करने हेतु उदाहरण द्रष्टव्य है :

तुलसी पावस के समै धरी कोकिला मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं हमैं पूछिहै कौन॥ (काव्यमनीषा, पृ० २८६)

यहाँ वाच्य अर्थ से 'कोकिला' और 'दादुर' के व्यापारों की बिम्बयोजना की गयी है जो कवि की प्रौढ़ि या 'फ़ैन्सी' है[१२], परन्तु उन बिम्बों से व्यक्त होनेवाले बिम्ब भी हैं जिनमें 'गुणी' और 'मूर्ख' के व्यापारों का मानस प्रत्यक्ष होता है। प्रथम प्रकार की बिम्ब-रचना वाच्य है जबकि दूसरे प्रकार की व्यंग्य है और दूसरे प्रकार की बिम्ब-योजना ही मुख्य कवि-व्यापार है जिससे निर्वेद, असूया, विषाद जैसे भावों की अनुभूति होती है। अतः 'बिम्ब' को काव्य-क्षेत्र में केवल वाच्य वस्तु नहीं कह सकते।

(२) "वस्तु या घटना का प्रत्यक्षीकरण" बिम्ब-योजना का द्वितीय कार्य है। काव्य द्वारा होनेवाला प्रत्यक्षीकरण सर्वथा मानस होता है अतः वस्तु या घटना सदैव बिम्ब-रूप में ही प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। बिम्ब से बाहर किसी वाच्य अर्थ का भी अस्तित्व अमान्य है क्योंकि शब्द द्वारा कोई भी प्रत्यय बुद्धि या मन में बिम्ब-बोध ही होता है।[१३]

(३) "रूप और गुण को हृदयंगम कराना" बिम्बयोजना का तीसरा कार्य है। वस्तु या घटना के समान ही रूप और गुण भी बिम्ब रूप ही काव्य-वस्तु बनते हैं। संस्कारों के उभारने का कार्य ही काव्य का होता है।

(४) "भाव को संप्रेषित एवं उत्तेजित करना" बिम्ब-योजना का चतुर्थ कार्य है। इसे रसध्वनि के सन्दर्भ में देखा जा चुका है और वही मनीषाकार को अभिमत रहा है।

डॉ० मिश्र ने बिम्बों के विविध भेद—ऐन्द्रिय, मानस आदि—परिगणित किये हैं जिनके विषय में इतना कहना पर्याप्त है कि जीवन और जगत् में जो कुछ भी है, सब-का-सब काव्य द्वारा बिम्ब रूप में ही भासित या व्यक्त कराया जाता है। बिम्ब-बोध सदैव साधारणीकृत या निर्वैयक्तिक होता है, तभी काव्याह्लाद की निष्पत्ति होती है। व्यक्ति रूप में उभरनेवाला बिम्ब रस-बोध नहीं दे सकता, यही भट्टनायक और ध्वनि-मत को अभिप्रेत मानना चाहिए।

× × ×

प्रतीक :

प्रतीकों पर काव्य-मनीषा में विस्तृत विचार किया गया है। यह शब्द हिन्दी में 'सिम्बल' के अनुवाद में अवतीर्ण हुआ है, यद्यपि अपने-आपमें अतिप्राचीन संस्कृत शब्द है जिसको संज्ञा रूप में लेने पर 'बिम्ब' (इमेज्—आपटे) अर्थ भी होता है। इससे स्पष्ट है कि 'प्रतीक' और 'बिम्ब' प्रतिबद्ध शब्द हैं। प्रतीक वह शब्द है जो 'बिम्ब' को प्रतीति-गम्य बनाता है। फिर भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि क्या सभी बिम्बों के लिए प्रतीक आवश्यक है। 'प्रतीक' एकाकी पद को कहते हैं जबकि 'बिम्ब' संश्लिष्ट अर्थ होता है जो प्रायः वाक्य द्वारा बोधित होता है; कभी-कभी एक ही पद से भी बिम्ब बनता है :

डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ।। (मानस)

इसके 'मृगलोचनि' पद को लें तो हरिण के चकित-चञ्चल लोचनों का एक बिम्ब उभरता है जिससे दूसरा बिम्ब जानकी के भीरु नेत्रों का व्यक्त होता है, परन्तु इस आधार पर हम उक्त पद को प्रतीक नहीं कहते, अन्यथा सभी पद काव्य में 'प्रतीक' कहलाने के अधिकारी हो जायँगे। निश्चय ही, 'प्रतीक' विशिष्ट बिम्ब-विधायक पद है, सामान्य बिम्ब-बोधक पद को 'प्रतीक' नहीं कह सकते।

'प्रतीक' का व्युत्पत्तिगत अर्थ लें तो सर्वप्रथम 'सिम्बल' का अर्थ समझना चाहिए। यह शब्द ग्रीक के 'सिम्बालिया' (Symbalia) से निष्पन्न है जिसका 'अनुमान करना' अर्थ होता है। अतः अनुमित अर्थ देनेवाले शब्द को 'सिम्बल' कहना चाहिए। अँगरेजी में इसका 'विशिष्ट अर्थ-बोधक चिह्न' अर्थ होता है और वह चिह्न सजीव या निर्जीव कुछ भी हो सकता है। भारतीय स्वप्न-दर्शन में 'सिंह' को सफलता का चिह्न माना गया है, अतः वह एक प्रतीक है। फ्रायड ने सर्प को पुरुष-गुप्ताङ्ग का चिह्न या प्रतीक बताया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अनुमापक या लाक्षणिक शब्द को प्रतीक कह सकते हैं। विचारपूर्वक देखें तो 'प्रतीक' शब्द की व्युत्पत्ति भी ऐसा ही अर्थ देती है। प्र+तीक्ृ गतौ+घञ्=प्रतीक। प्रकर्षेण तीक्यते गम्यते अर्थो यस्मात् तत् प्रतीकम्। अर्थात् जिससे विशेष अर्थ की अवगति या अनुमिति हो वह प्रतीक है। तात्पर्य यह कि प्रतीक द्वारा बोधित अर्थ सीधे अभिधा से न आकर अनुमान या लक्षणा या व्यञ्जना से आता है। इतना होने पर भी 'प्रतीक' अस्पष्ट ही रह जाता है, अतः डॉ० मिश्र के उद्धरण से स्पष्टी-करण का प्रयास किया जा रहा है :

"रूपक का ही अत्यधिक रूढ़, सर्वमान्य स्वरूप, जिसमें अप्रस्तुत से ही काम चल जाता है, प्रतीक के रूप में हमारे सामने आता है। सामान्यतया रूप, गुण तथा व्यापार के सादृश्य के कारण जब कोई वस्तु, चरित्र या व्यापार किसी अप्रस्तुत वस्तु, चरित्र या व्यापार के रूप में पहले का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रकट की जाती है, तब यह प्रतीक है।" (काव्यमनीषा, पृ० २९६)

अर्थात् रूपकातिशयोक्ति का शब्द जो साध्यवसाना गौणी लक्षणा द्वारा सदृश-प्रस्तुत लक्ष्यार्थ का बोधक होता है, प्रतीक कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रतीक लाक्षणिक शब्द है और उसकी शब्दशक्ति गौणी साध्यवसाना लक्षणा है जिसपर विस्तृत विचार हो चुका है। ध्वनिमत में प्रतीक का यह स्वरूप व्यञ्जक शब्दों के विविध रूपों के साथ विवेचित होता है, अलग से 'प्रतीक' शीर्षक में विवेचन नहीं हुआ है। सी० जी० युंग जब क्राइस्ट को ईश्वर का प्रतीक मानते हुए मनुष्य को ईश्वर का प्रतीक नहीं मानना चाहते तब उन्होंने उसका आधार गुणों के सादृश्य को ही माना है।[१४] युंग ने क्राइस्ट को ईश्वर का बिम्ब (प्रतिरूप) मानकर चर्चा की है, इससे स्पष्ट है कि वे प्रतीक और बिम्ब को कभी-कभी एकार्थक मानकर चले हैं अतः दोनों का अन्तर जान लेना चाहिए :

"जहाँ बिम्ब में वस्तु के निश्चित स्वरूप का संकेत रहता है वहाँ प्रतीक में अनिश्चित स्थिति की सूचना रहती है।....बिम्ब-विधान में चित्रात्मकता का आधार न होने से उसमें सहज संवेद्यता या प्रत्यक्षीकरण रहता है जबकि प्रतीक में साम्य के आधार पर गुणों का केवल संकेतमात्र। साथ ही साथ बिम्ब अत्यन्त विवरण-पूर्ण रहता है, इसके विपरीत प्रतीक संक्षिप्त होता है। बिम्ब वर्ण्य को स्पष्ट करने और उसके प्रभाव को गम्भीरता से हृदयंगम कराने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जबकि प्रतीक में बौद्धिक संकेत रहता है, उसमें उतनी प्रभाव-क्षमता नहीं।" (वही, पृ० २९७)

(१) स्पष्ट है कि बिम्ब वाक्य से बनता है और उससे जो स्वरूप-संकेत होता है वह व्यञ्जनाशक्ति की देन है, ध्वनिमत के अनुसार यही कहा जा सकता है। पद से भी बिम्ब बन सकता है परन्तु व्यंग्य अर्थ की पकड़ की अनिवार्यता वहाँ भी रहती है।

(२) संवेद्यता और प्रत्यक्षीकरण सहृदय के मानस से सम्बद्ध हैं। मानस-पटल पर काव्य द्वारा व्यक्त चित्रात्मक स्वरूप ही तो बिम्ब है और प्रभाव को हृदयंगम कराना भी व्यञ्जना ही है।

(३) यहाँ अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि बिम्ब एक प्रकार का मानस-चित्र या प्रतिमूर्ति है जबकि प्रतीक शब्दरूप है, अर्थ-रूप बिम्ब से वह इस बात में भी भिन्न है।

(४) प्रतीक द्वारा भी बिम्बन या प्रतिबिम्बन का कार्य होता है। प्रतीक अभि-व्यक्ति-पक्ष की वस्तु है जबकि बिम्ब अभिव्यंग्य या प्रेषणीय पक्ष की। युंग ने इसी आधार पर ईसा को ईश्वर का बिम्ब कहा है—अर्थात् ईसा ईश्वर के प्रतीक हैं, उनके बिम्ब से ईश्वर का बिम्ब उभरता है।

(५) प्रतीक एक प्रकार का लाक्षणिक शब्द है जिसका प्रयोजन गुणों के आधार पर एक अस्पष्ट बिम्ब प्रस्तुत करना है। उदाहरणार्थ :

बन्द मेरी पुतलियों में रात है,
हास बन बिखरा अधर पर प्रात है।
मैं पपीहा, मेघ क्या मेरे लिए
जिन्दगी का नाम ही बरसात है॥

यहाँ रात निराशा का, प्रातः नूतन उत्साह का, पपीहा प्रेमी का, मेघ प्रिय का तथा बरसात करुणा या दुःख का प्रतीक है। (वही, पृ० २९०)। वाच्य अर्थ से आनेवाला बिम्ब जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट लक्षणामूला व्यंजना का बिम्ब नहीं होता, ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार यही अन्तर माना जा सकता है।

(६) 'मिट्टी का तेल' वही तेल नहीं है जो तिल से निकलता है। इस प्रयोग में भी गुणात्मक साध्यवसाना लक्षणा है, पर यहाँ 'तेल' शब्द को प्रतीक नहीं कहा जा सकता। किसी अन्यायी को कंस या रावण कहें तो इन शब्दों को प्रतीक कहा जा सकता है। दोनों में एक ही लक्षणा-वर्ग का काम है। ध्वनिमत इन दोनों में क्या अन्तर मान सकता है? द्रष्टव्य है कि प्रथम उदाहरण में आया हुआ 'तेल' किसी अर्थान्तर की व्यंजना नहीं करता जबकि दूसरे में आये हुए रावण और कंस पद अतिशय अत्याचार की व्यंजना करते हैं और यह व्यंजना उस प्रयोजन की व्यंजना है जिसके लिए लक्षणा का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि 'रूढ़ा साध्यवसाना गौणी लक्षणा' प्रतीक नहीं बनाती जबकि 'प्रयोजनवती-साध्यवसाना गौणी' प्रतीक बनाती है।

(७) उक्त प्रकार से प्रतीक बनानेवाली लक्षणा से प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ की व्यंजना जब प्रधानीभूत होती है तभी हम किसी लाक्षणिक शब्द को प्रतीक कहते हैं, अतः जहाँ वाच्य रूप में ही रूपकातिशयोक्ति अलंकार प्रधान होता है वहाँ 'प्रतीक' कहना अधिक संगत नहीं लगता :

कनक-लतानि इन्दु, इन्दु माँहि अरबिन्द,
झरैं अरबिन्दन ते बिन्दु मकरन्द के। (भूषण)

यहाँ कनकलता से सुन्दरी, इन्दु से मुख, अरविन्द से नेत्र और मकरन्द से अश्रु अर्थ लक्षणा द्वारा आते हैं और 'साध्यवसाना प्रयोजनवती गौणी' लक्षणा है। फिर भी इन शब्दों को सामान्यतः 'प्रतीक' कहने की प्रथा नहीं है।

(८) भारतीय काव्य-शास्त्र में 'प्रतीक' पर विस्तृत विचार ध्वनि-निरूपण के सन्दर्भ में जाना जा सकता है यद्यपि वहाँ लक्ष्यार्थ की विविधता के माध्यम से ही उसे परिगणित किया गया है, 'प्रतीक' नाम कहीं नहीं आया है। 'प्रतीक' शब्द अपने आपमें स्पष्ट भी नहीं है—चिह्न मात्र को भी प्रतीक कहते हैं, किसी सूचक को प्रतीक कह सकते हैं, व्यावहारिक प्रतीकों और काव्य-प्रतीकों में अन्तर भी तब तक स्पष्ट नहीं जब तक शब्द-शक्ति के अनुसार उसे स्पष्ट विवेचित न किया जाय। विज्ञान और काव्य के प्रतीकों में स्पष्ट अन्तर है—विज्ञान के प्रतीक अव्यञ्जक हैं जबकि काव्य के व्यञ्जक होते हैं और व्यंग्यार्थ पर बल रहता है।

(९) प्रतीक की अपेक्षा 'बिम्ब' अधिक विवादग्रस्त शब्द है। जब हम वाच्य-सीमा में भी बिम्बात्मक बोध स्वीकार करते हैं तब प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि व्यावहारिक और काव्यगत बिम्बों में क्या अन्तर है। इस प्रश्न का उत्तर क्रोचे के अनुसार यह होगा कि कवि की सहजानुभूति (इन्ट्यूशन्) जब बिम्ब (इमेज्) का रूप लेती है तो काव्यमयी अभिव्यञ्जना (एक्स्प्रेशन्) होती है—तीनों में तात्त्विक अन्तर नहीं है, फिर भी श्रेणीगत अन्तर है, एक के बाद दूसरी श्रेणी उभरती है। ध्वनिमत के अनुसार कहा जा सकता है कि काव्य की व्यञ्जनाशक्ति से व्यक्त किया हुआ बिम्ब ही रसिक में अनुभूति जगाता है। दोनों मान्यताएँ 'बिम्ब' के विषय में एक-सी हैं—अन्तर इतना ही है कि क्रोचे कवि की अनुभूति से व्यंजना तक विचार करता है जबकि ध्वनिकार व्यंजना से सहृदय की अनुभूति तक की व्याख्या करते हैं। यह बात और है कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' का पृथक् निरूपण नहीं है, परन्तु ध्वनि के सन्दर्भ में जो कुछ विचारणीय बताया गया है, उसमें वह अन्तर्भुक्त हो जाता है।

× × ×

डॉ० मिश्र : रस और मनोविज्ञान :

एक लिखित वक्तव्य द्वारा डॉ० मिश्र ने "रस और मनोविज्ञान" को लेकर स्पष्ट विचार किया है। मैक्डूगल की मूल-प्रवृत्तियों का परिगणन करते हुए रस-सिद्धान्त के सन्दर्भ में उनकी परीक्षा की है जो महत्त्वपूर्ण है।

मूल-वृत्ति	सहगामी मनोभाव
(१) पलायन (आत्मरक्षण, भयनिवारण)	भय (त्रास, आतंक, घबराहट)
(२) युद्ध (संघर्ष, द्वन्द्व)	क्रोध (रोष, कोप, आवेश, कुढ़न)
(३) घृणा (तिरस्कार, विरक्ति, अरुचि)	जुगुप्सा (घृणा, अरुचि)
(४) वात्सल्य (संरक्षण)	कोमल भाव (प्रेम, दुलार आदि)
(५) अनुरोध या विनय	व्यथा, संकट (विवशता), दैन्य, दास्य
(६) संयोग (मिलन, युग्मन, मैथुन)	कामवासना (रति, प्रेम)
(७) जिज्ञासा (अन्वेषण, खोजबीन)	विस्मय (आश्चर्य, रहस्य, वैचित्र्य)
(८) समर्पण (दैन्य)	दैन्य (विनय, नम्रता, अभिमान-शून्यता)
(९) आत्म-विज्ञापन	गौरव-भावना (गर्व, दर्प, उत्साह आदि)
(१०) सामाजिकता या हेलमेल	अकेलेपन की भावना (निर्जनता, बिछोह, सख्य, मैत्री)
(११) भोजन खोजना (शिकार)	बुभुक्षा (तृष्णा, लालसा, मोह)
(१२) अधिकार-भावना या प्रभुत्व (संचय, संग्रह)	प्रभुत्व (अधिकार-भावना, अधिक प्राप्ति की लालसा, गर्व)
(१३) निर्माण	रचना (बनाना, सजाना)
(१४) हास	मनोविनोद (हर्ष, निश्चिन्तता, विश्रान्ति, हास) [५५]

डॉ० मिश्र की स्थापना है कि उक्त भावों में से जो रसात्मक हो सकते हैं, उन्हें भारतीय काव्यशास्त्र में भी ग्रहण किया गया है। खाँसना, छींकना, जमुहाना, लघुशंका करना, शुचिता और विश्रान्ति गौण वृत्तियों में मैक्डूगल ने गिनी हैं जो प्रायः कायिक चेष्टाएँ हैं। आत्मविश्वास, आशा, चिन्ता, अविश्वास, निराशा, हर्ष, पश्चात्ताप, शोक और विषाद व्युत्पन्न वृत्तियाँ हैं।[१६] इनको काव्यशास्त्र में संचारी भावों में किसी-न-किसी प्रकार गिन लिया गया है।

डॉ० मिश्र और रस :

काव्यमनीषा में पृ० ३०५ से ३३७ तक रसों पर विस्तृत विचार किया गया है। डॉ० मिश्र ने रसों की चार क्रियाएँ मान्य की हैं। रसों की स्थिति इस प्रकार मानी है :

(१) चित्त-विस्तार : इस वर्ग में वीर, हास्य और रौद्र रस आते हैं। मान्यता यह है कि इन रसों में हमारी मनोवृत्ति सामान्य की अपेक्षा विस्तार लेती है और तभी रसानुभूति होती है।

(२) चित्त-संकोच : भयानक, बीभत्स और शान्त में चित्त का संकोच घटित होता है—अर्थात् इन रसों की अनुभूति में चित्त-वृत्ति साधारण से संकुचित रहती है।

(३) चित्त-दीप्ति : शृंगार और अद्‌भुत में चित्त उत्तेजना प्राप्त करता है, यही दीप्ति है जिसे चमक या चमत्कार कह सकते हैं।

(४) चित्त-द्रुति : करुणा और वात्सल्य में चित्त द्रवीभूत रहता है। पिघलाहट जैसा चित्त में अनुभव होता है।

(५) भक्ति में दीप्ति और द्रुति दोनों का समावेश रहता है।

विवेचना :

देखा जा चुका है कि आचार्य अभिनव आदि ने जो व्यवस्था दी है वह गुणों के आधार पर है। माधुर्य गुण की द्रुति, ओजस् की दीप्ति और प्रसाद गुण की व्याप्ति क्रिया है। प्रसाद गुण सभी रसों में अनिवार्य है अतः 'व्याप्ति' के बिना कोई रस नहीं होता :

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्केन्धनमिवाग्निना।

शेष दो क्रियाएँ दोनों शेष गुणों से सम्बद्ध हैं और जिस रस में जिस गुण की स्थिति होती है उसमें उसकी क्रिया देखी जाती है; फलतः शृंगार, करुण और शान्त में द्रुति तथा रौद्र, वीर और वीभत्स में दीप्ति की स्थिति रहती है। भय, जुगुप्सा जैसी मनोवृत्तियाँ स्वतः संकोचात्मक हैं अतः आचार्यों ने रसरूप लेने पर उनमें 'विकास' क्रिया को भी मान्य किया है। क्योंकि संकोच-दशा रसदसा नहीं हो सकती अतः इन भावों का संकोच-त्याग ही रस की शर्त है। डॉ० मिश्र की स्थापना सर्वथा अपनी है अतः उनके दृष्टिकोण को परम्परामुक्त होकर समझना चाहिए :

(१) भयानक में 'संकोच' स्वीकार करने का मनोवैज्ञानिक कारण है। हम भय-दशा में आत्मरक्षा हेतु भय-कारण से संकोचन अंगीकार करते हैं। बीभत्स वस्तु से बचने में भी नासिका आदि का संकोचन मानसिक संकोच का ही प्रकटीकरण है। शान्त

रस में मायिक जगत् से निर्वेद रखने में संकोचन रहता है। हम यहाँ यह कहेंगे कि शान्तरस संकोच रूप न होकर पूर्ण विस्तारात्मक है क्योंकि तत्त्वज्ञान से समग्र जगत् एकरूप हो जाता है जिससे चेतना अपने शुद्ध व्यापक रूप में स्थित होती है। संकोचरूप निर्वेद स्थायी भाव न होकर अन्य रसों का व्यभिचारी है। भयानक और बीभत्स में यदि व्यावहारिक 'संकोच' बना रहे तो रसरूपता क्या रहेगी? भय और जुगुप्सा भावों को ही संकोचात्मक कहा जा सकता है। यही कारण है कि संकोच को कहीं भी रस में मान्य नहीं किया गया है।

(२) दीप्ति को डॉ० मिश्र ने अपने ढंग से समझा है। ओजोगुण की क्रिया को दीप्ति माननेवाले आचार्य नाड़ी-संस्थान की उत्तेजना को दीप्ति नहीं समझते थे, वे तो मनोभूमि पर होनेवाले प्रज्वलन को दीप्ति कहते थे। पण्डितराज ने 'दाह' का स्पष्ट प्रयोग किया है और उसे 'अनल' के साथ भी जोड़कर समझाया है। आज भी क्रोध-दशा को आग लगने, भस्म होने, जल उठने के मुहावरों में प्रकट किया जाता है। मनीषाकार ने 'दीप्ति' का अर्थ बदलकर अपना मत रखा है, अतः यदि परम्परा के मेल में नहीं आता तो समझना चाहिए कि यह शब्द अर्थ की दृष्टि से दूसरा ही कुछ है।

हम यदि दोनों दृष्टिकोणों को अपने-अपने स्थान पर समझें तो विरोध नहीं रहता, परन्तु परम्परागत शब्द को परम्परागत अर्थ तथा परम्परागत विवेचन के प्रसङ्ग में लेकर डॉ० मिश्र को समझना असंगत है।

× × ×

डॉ० मिश्र ने भट्टतौत के कथन पर स्वतन्त्र विचार किया है :

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोनुभवस्ततः।

अर्थात् नायक, कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है। तात्पर्य यह है कि इनकी अनुभूतियों में तादात्म्य रहता है। परन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि जब कवि रावण या कंस जैसे पात्रों के कथनों और भावों को प्रकट करता है, तब क्या उससे श्रोता या सहृदय का तादात्म्य संभव है? कदापि नहीं। वहाँ पर हम इन पात्रों के भावों के साथ तादात्म्य नहीं करते, वरन् उनके भावों की प्रतिक्रिया-स्वरूप नये अन्य भावों का अनुभव करते हैं। ....जब कवि इन दुष्ट पात्रों का वर्णन करता है या उनके भाव व्यक्त करता है, तब वह अपने को इन्हीं पात्रों के साथ एकाकार कर लेता है। अतः कवि के इस प्रकार के भावों के साथ हमारा तादात्म्य नहीं होता। पर साधारणीकरण का कार्य तो यहाँ भी चलता है। भट्टतौत की उक्ति को केवल रसानुभूति के प्रसंग में ही क्षण भर के लिए सत्य मानना चाहिए। ऐसी अन्य अनुभूतियाँ रसाभास या भावानुभूति के रूप में आयेंगी जिसके साथ हमारी तन्मयता या तादात्म्य सम्भव नहीं है, परन्तु रस की परिपूर्ण अनुभूति में नायक, श्रोता और कवि का तादात्म्य हम स्वीकार करते हैं। (रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण)।

इस कथन पर सतर्क विचार अपेक्षित है :

(१) भट्टतौत ने 'समानोनुभवः' कहा है जिसका अनुवाद होगा समान अनुभव होता है—अर्थात् तीनों का एक ही अनुभव होता है। 'समान' शब्द यहाँ तुल्य-पर्याय न होकर एक-पर्याय है। इस प्रकार भट्टतौत किसी ऐसे तादात्म्य की बात ही नहीं कर रहे हैं। एकानुभव ही तो साधारणीकरण है जिसमें किसी का कोई व्यक्तित्व नहीं बचा रह जाता कि तादात्म्य का आरोप करना पड़े।

(२) भट्टतौत ने 'नायक' शब्द का प्रयोग किया है, अतः दुष्ट पात्रों के साथ एकानुभव का प्रश्न नहीं उठता। सभी पात्र नायक नहीं होते, कंस या रावण 'प्रतिनायक' रूप में शास्त्रों में बताये गये हैं।

(३) भट्टतौत ने रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में ही अपनी बात रखी है और अभिनवगुप्त ने ऐसे ही अवसर पर उसे उद्धृत किया है।

(४) रसेतर स्थितियों में न भाव का साधारणीकरण होता है, न तादात्म्य का प्रश्न उठता है (दे० अध्याय १६, साधारणीकरण)।

(५) 'तादात्म्य' शब्द यदि साधारणीकरण के अङ्ग रूप में ग्राह्य है तो वैसा अभिनव ने भी कहा है (दे० सन्दर्भ, ८।३६, ४१) और एक आवेशदशा की बात की है। वही आवेशदशा साधारणदशा है जो निर्वैयक्तिक होती है और ऐसा ही तादात्म्य डॉ० मिश्र को अभीष्ट है क्योंकि वे 'तन्मयता' शब्द का भी उसी अर्थ में प्रयोग करते हैं।

(६) राम के चरित्र के साथ जब रावण का दुष्ट चरित्र चित्रित किया जाता है तो कवि-कल्पना में खल पात्र अपने गुण-धर्म के साथ बिम्बावतार लेता है; यह अवतरण 'तादात्म्य' नहीं कहा जा सकता। वैसा बिम्बावतरण तो खलपात्र का सहृदय में भी होता ही है। डॉ० मिश्र का आशय यह लगता है कि कवि यदि दुष्ट के साथ एकात्म न हो जाय तो उसका सफल चित्रण नहीं कर सकता। यही बात सहृदय के लिए भी कही जा सकती है कि यदि वह रावण का अपने में बिम्ब न ले सका तो प्रतिक्रियावाले भाव भी नहीं होंगे। कवि जो भाव सहृदय को देना चाहता है, पात्र को लेकर वही भाव कवि का भी होता है। ऐसा नहीं कि तुलसीदास स्वयं रावणाकार लेकर कह चले हों :

मन्दोदरी आदि सब रानी।
तव अनुचरीं करउँ पन मोरा।
एक बार बिलोकु मम ओरा॥ (मानस)

कवि की इतनी ही कल्पना होती है कि रावण जैसा पात्र सीता से कैसी बात किस प्रसंग में कर सकता है और उसी आधार पर वह काव्य कर चलता है, आवश्यक नहीं कि वह स्वयं रावण बन जाय। मानस बिम्ब उभरना और बात है, तदाकारता-रूप पूर्ण आवेश और बात। रस में आवेश की पूर्णता होती है। कवि यह भी कल्पना कर सकता है कि मैं रावण होता तो क्या करता या कहता,

परन्तु यह भी बिम्ब के अतिरिक्त पूर्ण भावावेशदशा नहीं है कि तादात्म्य कह सकें। सहृदय भी वैसी कल्पना से वैसा ही बिम्ब सुलभ करता है, तभी कैसी भी अनुभूति कर सकता है।

× × ×

साधारणीकरण पर डॉ० मिश्र ने बराबर चिन्तन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खल पात्रों का भी साधारणीकरण होता है, पर तादात्म्य नहीं होता। वे कहते हैं :

"साधारणीकरण प्रत्येक स्थिति में होता है। यदि हम काव्य या नाटक में दुर्भाव प्रकट करनेवाले व्यक्ति को रावण या कंस मानें तो....उनके आतङ्क का भय आदि होगा....ऐसी दशा में निर्विघ्नता नहीं हो पाती। यह विघ्न-नाश पात्रों और विभावादि के साधारणीकरण द्वारा ही होता है जब इनका व्यक्तिगत आतङ्क या भय तिरोहित हो जाता है और ये साधारण पात्र हो जाते हैं।" (वही)

यहाँ अनेक अन्य बातें कही जा सकती हैं :

(१) हमारी प्रतिक्रिया खल पात्रों के प्रति न वाचिक होती है और न प्रत्याक्रमणात्मक, अतः उनसे हमें कोई भय नहीं होता। व्यवहार में भी हम दुष्टों के प्रति मन ही मन रुष्ट रहते हैं और कोई विघ्न नहीं आता।

(२) निश्चय ही खल पात्रों का भी साधारणीकरण होता ही है। विभाव के रूप में ही वे साधारणीकृत होते हैं और हमारे क्रोध, भय, असूया आदि भावों के आलम्बन होते हैं—इसलिए कि नायक (राम) के उन्हीं भावों के आलम्बन रूप में वे चित्रित हैं।

(३) यदि तादात्म्य का आग्रह हो तो नायक के साथ होगा और उसी के अनुरूप भावावेश सहृदय प्राप्त करेगा। सीता के प्रति रावण का व्यवहार साधारणीकृत रूप में हमारे क्रोध का विभाव है क्योंकि राम या सीता, जो नायक-नायिका हैं, उसके प्रति क्रोध ही करते हैं।

× × ×

डॉ० मिश्र का चिन्तन बराबर विकासशील है। उन्होंने ऐसी विविध समस्याओं को सामने रखा है जिनपर निरन्तर विचार अपेक्षित है। सच तो यह है कि वे काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ व्याख्याता और स्वतन्त्र मनीषा के धनी हैं।

प्रस्तुत अध्याय में देखा गया कि किस प्रकार हिन्दी-समीक्षा में ध्वनि-सिद्धान्त ने विविध चिन्तन-धाराओं से मिलकर महाप्रवाह का रूप ग्रहण किया। पश्चिम के विचारकों के प्रभाव से इसे और भी बल मिला है। रामचन्द्र शुक्ल से चिन्तन में एक स्वच्छन्दता चलती है और डॉ० भगीरथ मिश्र तक पहुँचकर वह पुष्ट शास्त्रीय मनीषा का रूप लेती हुई देखी जा सकती है। इस प्रकार ध्वनिमत अपने अनन्त परिवेशों में आज भी विकास लेता चल रहा है।

परिशेष परिशीलन १५

(१)

ध्वनि मत के साथ तुलनीय मतों का यथापेक्ष परिशीलन कर लेने पर भी छोटी-बड़ी असंख्य बातें बच रहती हैं जिनपर इस ग्रन्थ में विचार नहीं किया जा सका है। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि यथाशक्य संक्षेप में शास्त्रीय सार प्रस्तुत किया जाय। इस युग में 'रस' के पक्ष-विपक्ष में जितना विचार हुआ है, उसे भी समेटना ग्रन्थ-सीमा के बाहर ही माना गया। अरविन्द, कुमारस्वामी आदि महामनीषियों के तत्सम्बन्धी विचार भी विवेच्य नहीं बनाये गये। फिर भी हिन्दी क्षेत्र के कतिपय महत्त्वपूर्ण अभिमत बच गये हैं जिनका समावेश ग्रन्थ की उपयोगिता की दृष्टि से आवश्यक प्रतीत होता है। ये ऐसे विचारक हैं जो योगदर्शन की चित्तभूमियों के वृत्त में रसानुभूति की व्याख्या करते हैं। योग की भूमियाँ बहुत हैं जिनमें अस्मिता, विशोका और मधुमती को मतान्तर के साथ विद्वानों ने रसभूमि माना है। इनपर विचार करने में जहाँ एक ओर योग-दर्शन की मान्य भूमियों पर प्रकाश डालना होगा, वहीं दूसरी ओर ध्वनिमत की मान्यता पर दृष्टि रखनी होगी।

यौगिक भूमियों को रस-निष्पत्ति की भूमि माननेवाले विचारक ऐसा समझकर चले हैं कि रसावस्था में हमारे चित्त की वैसी ही कोई स्थिति हो जाती है जैसी योगी को योग-साधना में उपलब्ध होती है। डॉ० भगवानदास 'अस्मिता' योगभूमि को, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय 'विशोका' को और आचार्य केशवप्रसाद मिश्र 'मधुमती' भूमिका को क्रमशः रसभूमि मानकर चले हैं। इन आचार्यों को भट्टनायक की इस उक्ति से प्रेरणा मिली है :

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बाल-तृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥ (दे० सन्दर्भ, ८।२)

अर्थात् वाणी वह धेनु है जो रसिक रूपी बछड़े की पिपासा से प्रस्नुत होकर स्वयं ही रस-दुग्ध दे चलती है जबकि योगी लोग उसी को साधना-श्रम से दुहते हैं, अतः योगियों की उपलब्धि से रसिक की उपलब्धि श्रेष्ठ है क्योंकि वह प्रयास-साध्य न होकर वाणी-व्यापार से स्वतः फलित होती है।

उक्त आचार्य समझते हैं कि रसिक और योगी दोनों को एक ही चित्तदशा मिलती है—अन्तर यही है कि योगी अपने श्रम से वह सिद्धि पाता है जबकि रसिक श्रम न कर

के भी उसे पा लेता है । ग्वाला (योगी) श्रमपूर्वक दुहता है तब रस (दुग्ध) पाता है परन्तु बछड़े (रसिक) को कोई श्रम नहीं करना पड़ता और वही रस प्राप्त करता है, उसके लिए गाय (वाणी) स्वयं ही विगलित हो उठती है । भट्टनायक का ठीक यही अभिप्राय रहा है । वे आनन्द-लाभ को ही तुलना में लेते हैं, चित्तभूमि की चर्चा नहीं करते। बछड़े की और ग्वाले की चित्तभूमि की एकता नहीं होती, रसोपलब्धि में ही दोनों समान कहे जा सकते हैं । फिर भी मान्यताएँ सामने आ चुकी हैं, अतः उनपर विचार आवश्यक है । एतदर्थ पहले योग की भूमियों का लेखा प्रस्तुत करना अपेक्षित है ।

योगदर्शन की चित्तभूमियाँ :

योगदर्शन में दो प्रकार से चित्तभूमियों की व्यवस्था मिलती है । प्रथम वर्ग चित्त-दशाओं से और द्वितीय योग की उपलब्धियों से सम्बद्ध है :

(क) पाँच चित्त-दशाओं को व्यास आदि व्याख्याताओं ने 'चित्तभूमि' नाम दिया है—वे हैं क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ।[१] इनका स्वरूपनिरूपण इस प्रकार किया गया है :

(१) क्षिप्त भूमि :

यह अत्यन्त चञ्चल मनोभूमि है जिसमें रजोगुण प्रधान रहता और विवध विषयों के प्रति चित्त फेंका हुआ-सा प्रतीत होता है ।[२] भोज के अनुसार क्षिप्ति वह दशा है जिसमें रजोगुण का उद्रेक रहता है, अतः मन चञ्चल होता तथा बाह्य सुख-दुःखादि विषयों—समीपस्थ या दूरस्थ भोगों—में प्रेरित रहता है । यह दशा दानवादि में स्वभावतः पायी जाती है ।[३] वस्तुतः यही आसुरी वृत्ति है ।

(२) मूढ़ भूमि :

मूढ़वृत्ति तमोगुण के उद्रेक से होती है जिसमें चित्त निद्रित-सा रहता है ।[४] इसमें कर्तव्य या अकर्तव्य का विवेक नहीं रहता और प्राणी क्रोधादि के वशीभूत होकर विपरीत कार्यों में लग जाता है । यह राक्षसी वृत्ति है ।[५]

(३) विक्षिप्त भूमि :

यह क्षिप्त-दशा की अपेक्षा विशिष्ट चित्तभूमि है क्योंकि इसमें चञ्चलता तो रहती है पर कभी-कभी स्थिरता आ जाती है । इसकी चञ्चलता प्रायः बाह्य कारणों से होती है ।[६] विक्षिप्त भूमि में सत्त्वगुण प्रधान रहता है । उसकी विशेषता यही है कि दुःख-कारणों का निराकरण करके सुखप्रद विषयों में प्रवृत्ति होती है । यह दैवी वृत्ति है ।[७]

(४) एकाग्र भूमि :

विक्षिप्त भूमि सुखानुसार गति लेती है जबकि एकाग्र भूमि में सर्वदा सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है, अतः उत्तम अर्थ प्रकाशित होते हैं, अविद्या आदि क्लेशों का क्षय होता है, कर्मबन्धन शिथिल होते और चित्तनिरोध की ओर गति होती है । इसी भूमि को 'संप्रज्ञात समाधि' कहा जाता है जिसके चार प्रकार हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत

और अस्मितानुगत। इस भूमि में अन्तिम भूमि की अपेक्षा कम, पर विक्षिप्त भूमि की अपेक्षा अधिक सत्त्वोत्कर्षक रहता है। यह भूमि ही और सत्त्वोत्कर्षक लेती है तो 'निरुद्ध' चित्तभूमि का उदय होता है। एकाग्र भूमि में बाह्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है।[८]

(५) निरुद्ध भूमि :

यही पूर्ण योग है जिसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं जिसमें सम्पूर्ण चित्त-व्यापारों का निरोध हो जाता है। यही निर्बीज समाधि है।

उक्त भूमियों में अन्तिम दो ही योगोपयोगी हैं जो साधारण जन में सुलभ नहीं। प्रथम दो भूमियाँ सर्वथा विषयपरायण हैं अतः उनमें एकाग्रता की सम्भावना नहीं रहती। मध्यवर्ती 'विक्षिप्त' भूमि है जो कभी परिस्थितिविशेष में एकाग्र हो सकती है परन्तु यह एकाग्रता 'योग' नहीं है क्योंकि स्थायी नहीं होती।[९] रसानुभूति की दशा भी एकाग्रस्थिति है परन्तु यह विक्षिप्त मन को ही क्षणिक एकाग्रता है जिसे 'योग' मानकर चलना कभी मान्य नहीं रहा है। यथावसर देखा जायगा कि ध्वनिमत में रसदशा को योगभूमि नहीं माना गया है और भट्टनायक के उक्त विचार में भी योग से रस का पार्थक्य स्पष्ट है। फिर भी विद्वानों ने योग की भूमिकाओं के आधार पर रस की व्याख्या की है अतः आगे द्वितीय वर्ग की भूमियाँ द्रष्टव्य हैं।

(ख) व्यास ने समाधि और योग को पर्यायरूप में प्रयुक्त किया है और सभी भूमियों में चित्त का धर्म बताया है—अर्थात् योग वह चित्तधर्म है जो सभी भूमियों में पाया जाता है। निश्चय ही चित्त-दशा रूप सभी भूमियों से व्यास का अभिप्राय नहीं है क्योंकि वे प्रथम तीन को योगानुकूल नहीं मानते। वे केवल अन्तिम दो भूमियों से योग को सम्बद्ध करते हैं जिनमें 'निरुद्ध भूमि' असंप्रज्ञात समाधि है जो योगी का चरम साध्य है और उसकी साधनभूत समाधि एकाग्रभूमि की है जिसे 'संप्रज्ञात समाधि' कहा जाता है। इनके चार प्रकार हैं[१०] :

(१) वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि :

आलम्बन में चित्त का स्थूल साक्षात्कार वितर्क है और इस वितर्क से युक्त संप्रज्ञात समाधि 'सवितर्क' होती है। यह योगी की प्राथमिक भूमिका या आरम्भिक उपलब्धि है। ऐसा योगी 'प्राथम-कल्पिक' कहा गया है।[११] भोजराज ने इसे और स्पष्ट किया है—भाव्य (आलम्बन) को चित्त में इस प्रकार पुनः पुनः लाया जाय कि अन्य विषयों का स्पर्श न रहे तो उसे 'भावना' कहते हैं; यह भावना भाव्य वस्तु (भावनीय) की होती है जो ईश्वर, पुरुष (जीव) और जड़ पदार्थ में से कोई एक हो सकता है। जब जड़ पदार्थों (महाभूत और इन्द्रियों) को भावना का विषय (आलम्बन) बनाकर एकाग्रता प्राप्त की जाती हो तो सवितर्क समाधि होती है। यही समाधि जब सध जाती और पूर्वा-पर क्रमपूर्वक शब्दों में वस्तु-प्रतीति नहीं होती तो निर्वितर्क समाधि बनती है।[१२] इस प्रकार वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि के दो भेद हो जाते हैं—सवितर्क और निर्वितर्क। दोनों ही स्थूल जड़ तत्त्वों को आलम्बित करके बनती हैं। सरलार्थ यह कि किसी स्थूल तत्त्व पर चित्त टिकाने से वितर्कानुगत समाधि (भावना) बनती है जिसमें यदि क्रम

और शब्दोल्लेख का वितर्क बना रहे तो सवितर्क तथा क्रम-शब्दोल्लेख-रहित होने पर निर्वितर्क समाधियाँ होती हैं। इस समाधि में चतुर्भुज मूर्ति आदि की भावना सम्मिलित है।[13]

(२) विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि :

वितर्क स्थूल-विषयक होता है जबकि 'विचार' सूक्ष्म-जड़-विषयक। पञ्चतन्मात्र, अहंकार, बुद्धि और प्रकृति सूक्ष्म तत्त्व हैं। उनकी भावना विचारानुगत समाधि कही जाती है।[14] भोज ने स्पष्ट किया है कि तन्मात्र और अन्तःकरण सूक्ष्म तत्त्व हैं। इनमें से किसी की भावना इस प्रकार की जाय कि देशकालादि का प्रत्यय बना रहे तो 'सविचार समाधि' होती है। यदि देशकाल-परिच्छेद न रहे तो 'निर्विचार समाधि' होती है।[15] इनमें निर्विचार समाधि महत्त्वपूर्ण है। इसमें रजोगुण और तमोगुण का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, स्वच्छ (सात्त्विक) दशा उपलब्ध होती है और एक ऐसा प्रज्ञालोक उदय होता है जिससे आध्यात्मिक निर्मलता आती है और योगी समस्त चराचर जगत् को उच्च भूमिका से ऐसे देखता है जैसे पर्वत पर से नीचे की वस्तुएँ देख रहा हो। यह योगी 'प्राज्ञ' कहा जाता है और उसकी 'प्रज्ञा' का नाम 'ऋतम्भरा' होता है।[16] यह द्वितीय श्रेणी का योगी है जिसे 'ऋतंभर-प्रज्ञ' तथा 'मधुभूमिक' कहते हैं और उसकी योगभूमि 'मधुमती' कही जाती है। यही वह भूमिका है जिसमें योगी को असंख्य योग-बाधाएँ घेरती हैं जिनका व्यास ने वर्णन किया है और डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस प्रकार अनुवाद प्रस्तुत किया है :

> "अर्थात् मधुमती-भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्त्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं—इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिए लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुन्दर कन्या है। यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है। यह आकाश-यान, यह कल्प-वृक्ष, यह पावन मन्दाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सराएँ, ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र-सा शरीर सब आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देव-प्रिय, अक्षय, अजर-अमर स्थान में।" (साहित्यालोचन, संस्करण १६, पृ० २१३)

परन्तु योगी प्रलोभन में नहीं पड़ता। वह समझता है कि बड़ी साधना से मैं देवों का भी स्तुत्य बना हूँ अतः पुनः विषयों के गर्त में नहीं गिर सकता कि जन्म-मरण के बन्धन में आना पड़े।[17]

इससे स्पष्ट है कि मधुमती भूमिका योग-दर्शन में निम्नस्तरीय अवस्था मानी गयी है। इसको एक प्रकार का स्वर्ग कह सकते हैं परन्तु रस-दशा में सहृदय को ऐसी कोई प्रतीति नहीं होती कि उससे बचने या उसमें रमने की प्रवृत्ति से उसका परिचय होता हो। रस की मधुरता से 'मधुमती' को जोड़ लेना और बात है जिसपर आगे विवेचन किया जायगा।

(३) आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि :

इन्द्रियरूप स्थूल आलम्बन में चित्त का आभोग (भावना) ही आनन्द या आह्लाद है। सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न इन्द्रिय सात्त्विक तत्त्व हैं अतः इन्द्रियों की भावना सत्त्वमयी होने से आनन्दमयी होती है। इसे 'सानन्द समाधि' नाम दिया जाता है।[१८] द्रष्टव्य है, यह एकाग्रता की ही तृतीय कोटि है, तभी इसे समाधि-वर्ग में परिगणित किया गया है। भोजराज ने कहा है कि जब किंचित् रजोगुण और तमोगुण से विद्ध अन्तःकरण-सत्त्व की भावना की जाती है तो चैतन्यशक्ति गौण रहती है और सुख-प्रकाश रूप सत्त्वदशा का उद्रेक होता है अतः 'सानन्द' समाधि कही जाती है।[१९] यह योगी मधुभूमिक योगी से कुछ ही आगे होता है। वाचस्पति ने इस भूमिका को ही स्यात् 'मधु-प्रतीका' नाम दिया है।[२०] यदि रसभूमि को किसी योगभूमि में अन्तर्भूत करना है तो मधुप्रतीका अर्थात् सानन्दा भूमि अधिक संगत है क्योंकि मधुमती में प्रलोभनमात्र रहता है जबकि इसमें आनन्द ही मुख्य है जिसका घटक अन्तःकरण का निर्मल रूप है। यों, पूर्णतः सहमत हो पाना कठिन है जिसे आगे देखा जायगा।

(४) अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :

एकात्मक संवेदन को अस्मिता कहते हैं।[२१] इन्द्रियों की उत्पत्ति का स्रोत 'अस्मिता' है अतः वह इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म है। वह आत्मा (प्रमाता) के सहित बुद्धि की एकरूपता का नाम है।[२२] उसी अस्मिता की एकतान भावना 'सास्मित समाधि' है। भोजराज ने और भी स्पष्ट किया है—रजोगुण और तमोगुण के स्पर्श से शून्य शुद्ध सत्त्वगुण को आलम्बन करके जो भावना चलती है (वही 'अस्मिता' है), उसमें सत्त्वगुण भी तिरोभूत हो जाता है और चितिशक्ति के उद्रेक से सत्तामात्र शेष रहती है, अतएव उसे 'सास्मित समाधि' कहते हैं। ध्यान रहे कि 'अस्मिता' और 'अहंकार' एक नहीं है, क्योंकि जहाँ अन्तःकरण 'अहम्' (या 'मैं') के उल्लेख के साथ विषयों का बोध करता है वहाँ 'अहंकार' रहता है परन्तु जहाँ अन्तःकरण अन्तर्मुख होकर प्रकृतिलीन हो जाता है और सत्तामात्र में भासित होता है वहाँ 'अस्मिता' होती है। जो योगी यहीं रुक जाते हैं वे 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं।[२३]

इस भूमिका के योगी को 'भूतेन्द्रियजयी' और 'प्रज्ञाज्योतिः' कहा गया है। यह तृतीय कोटि का योगी है जो पूर्वोक्त तत्त्वों की भावना कर चुका होता है और आगे 'विशोका' से परवैराग्य-पर्यन्त तत्त्वों की भावना करने को तत्पर रहता है।[२४] वस्तुतः यही 'विशोका' स्थिति का अधिकारी योगी है। एक विकल्प भी सामने है कि 'भूतेन्द्रियजयी' योगी सानन्द समाधिवाला भी हो सकता है जबकि 'प्रज्ञाज्योति' चतुर्थ वर्ग में ही आ सकता है, अतः इसी वर्ग में दोनों पर्याय शब्दों को रखा गया है।

व्यास ने 'विशोका वा ज्योतिष्मती' सूत्र (१।३६) पर 'विशोका' और 'ज्योतिष्मती' दो भूमियों की चर्चा की है, यद्यपि दोनों एक ही हैं जिनमें विषय-सम्पृक्त भावना को 'विशोका' और अस्मितामात्र प्रवृत्ति को 'ज्योतिष्मती' कहा गया है।[२५] वाचस्पति

के स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि किंचित् रजस्तमः स्पर्शवाली 'विशोका' है जबकि पूर्ण सत्त्वदशावाली अस्मिता 'ज्योतिष्मती' है।[२६]

इस प्रकार 'विशोका' और 'ज्योतिष्मती' दोनों ही अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि की दो अवान्तर भूमियाँ हैं।

(५) असंप्रज्ञात समाधि :

उक्त समाधियों का चरम साध्य असंप्रज्ञात (निर्बीज) समाधि है। प्रथम चार इसी के अङ्ग हैं। इसमें सभी वृत्तियाँ अस्त हो जाती हैं और संस्कारमात्र शेष रहता है। उक्त समाधियों का सालम्बन अभ्यास करके परम वैराग्य का उदय होने से योगी को यह समाधि उपलब्ध होती है।[२७] इसी भूमिका को 'संस्कारशेषा' कहा गया है। इस भूमिका का योगी 'अतिक्रान्त-भावनीय' कहा जाता है—अर्थात् भावना के आलम्बन (भावनीय) का वह अतिक्रमण कर जाता है। यही 'जीवन-मुक्त' रूप में योगदर्शन को मान्य है।[२८]

इस प्रकार योग-मनोविज्ञान की रूपरेखा हमारे समक्ष आती है जिसका संक्षिप्त आकलन निम्नलिखित है।

योग-मनोविज्ञान :

योग-दर्शन में सांख्य के अनुसार ही त्रिगुण-परक मनोव्याख्या की जाती है। चित्त अथवा अन्तःकरण सात्त्विकी सृष्टि है परन्तु उसमें अन्य गुणों का भी योग रहता है। अतः चित्त (चित्तसत्त्व) की विविध स्थितियाँ योग में गिनायी गयी हैं :

(१) रजोगुण और तमोगुण से संसर्ग रखनेवाला चित्तसत्त्व ऐश्वर्य-विषयों का इच्छुक रहता है। यह क्षिप्त मन है।

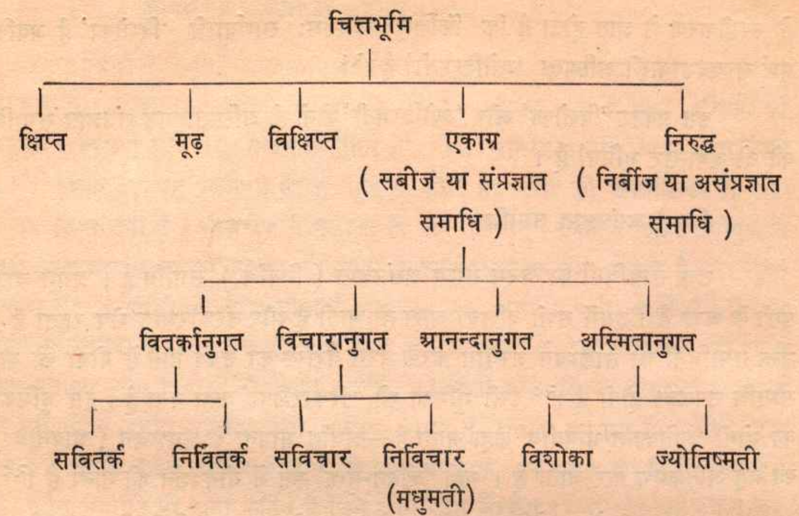
(२) तमोगुण से अनुविद्ध चित्तसत्त्व अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य और अज्ञान में अधोगत रहता है। यह मूढ़ मन है।

(३) तमोगुण-जनित मोहावरण क्षीण होने पर रजोगुण के स्पर्शवाला चित्त-सत्त्व प्रकाशयुक्त होता है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का उपगमन करता है। यह विक्षिप्त मन है।

(४) रजोगुण के स्पर्श से रहित वही चित्तसत्त्व स्वरूप में प्रतिष्ठा पाकर सत्त्व और पुरुष (चेतन) में भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और 'धर्ममेघ' नामक समाधि का भागी बनता है। यह एकाग्र मन है।

(५) जब उक्त भेद-ज्ञानवाली चित्तवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है तब 'निर्बीज समाधि' प्राप्त होती है।[२९] इसी दशा के मन को निरुद्ध मन कहा जाता है।

इन पाँचों को ही क्रमशः क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध भूमियों के रूप में देखा जा चुका है। इस प्रकार योग की मनोवैज्ञानिक व्यवस्था का वृत्त नीचे दिया जा रहा है :



यहाँ सम्प्रज्ञात समाधि के नामों पर पुनर्विचार अपेक्षित है क्योंकि उन्हें 'समापत्ति' नाम भी दिया गया है। 'समापत्ति' प्राप्ति-पर्याय है। चित्तवृत्ति जब तदाकारता प्राप्त करती है तब उसे समापत्ति कहते हैं। कभी वह ग्राह्य विषय से तद्रूपता लेती है, कभी ग्रहण (इन्द्रिय) से और कभी ग्रहीता (पुरुष-चैतन्य) से एकाकार होती है, जैसे निर्मल मणि प्रतिबिम्बित वस्तु से उपरञ्जित हो जाती है।[३०] यदि हम चार संप्रज्ञात समाधियों पर विचार करें तो स्पष्ट होगा :

(१) वितर्कानुगत और विचारानुगत समाधियाँ ग्राह्य विषयों से तद्रूपता प्राप्त करती हैं। अतः 'ग्राह्य-समापत्ति' के वर्ग में आती हैं।

(२) आनन्दानुगत समाधि ग्रहण-साधन (इन्द्रिय) से तद्रूप होकर 'ग्रहण-समापत्ति' बनती है।

(३) ग्रहीता पुरुष है, उससे एकाकार होनेवाली अस्मितानुगत समाधि 'ग्रहीतृ-समापत्ति' है।[३१]

उक्त दृष्टि से समापत्तियाँ इस प्रकार परिगणित की जा सकती हैं :

(१) **सवितर्का समापत्ति**—शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण 'सवितर्क-समापत्ति' या 'सविकल्प समापत्ति' होती है। अर्थात् जब योगी मिथ्याज्ञानरूप विकल्प में ही भावना करता है तब यह समापत्ति होती है जो ग्राह्य-वस्तु-विषयक होती है। शब्द और अर्थ को तथा शब्द और ज्ञान को अभिन्न कर लिया जाता है जबकि तीनों भिन्न होते हैं—गोशब्द से अभिन्न करके ही गोपदार्थ जाना जाता और ज्ञान भी गोरूप में ही होता है, यही विकल्प है। यह समापत्ति विकल्पानुबिद्ध होती है। शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर अध्यास ही इस समापत्ति का मूल है।[३२] इसे सविकल्प समापत्ति भी कहते हैं।

(२) **निर्वितर्का समापत्ति**—जब शब्द में रहनेवाले अर्थ-संकेत की स्मृति नहीं रहती, केवल अर्थ ही भासित होता है तब 'निर्वितर्क समापत्ति' होती है। इसमें योगी की वृत्ति अर्थाकार हो जाती है और उस अर्थ में शब्द-संकेत का स्पर्श नहीं रहता। इसमें पर-प्रत्यक्ष होता है—अनुमान, शब्द जैसे प्रमाणों का संकर नहीं रहता है। यही पर-प्रत्यक्ष 'निर्विकल्प' है।[33]

(३) उक्त प्रकार से ही सूक्ष्मविषयों को लेकर शब्दार्थ-ज्ञान का संकर रखनेवाली समापत्ति 'सविचार' होती है।

(४) निर्वितर्का के समान शब्द संकेत, स्मृति आदि से परिशुद्ध समापत्ति, जो सूक्ष्म तत्त्वों को लेकर बनती है, जिसमें अर्थमात्र भासित होता है, 'सविचार समापत्ति' कही जाती है।[34]

ये ही चार समापत्तियाँ परिगणित की गयी हैं जिन्हें 'सबीज समाधि' कहा जाता है क्योंकि इनमें बाह्य वस्तु बीजरूप में रहती है। ये चारों एक ही समाधि कही जाती हैं।[35] इनमें निर्विचारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें 'ऋतंभरा प्रज्ञा' रहती है और यही योगी की 'मधुमती भूमिका' कही जाती है।

योग में चित्त का स्वरूप :

योग में चित्त को 'संहत' माना गया है क्योंकि वह त्रिगुण-संघातरूप होता है। अतएव चित्त की सत्ता पुरुष के लिए होती है। पुरुष भोक्ता है और चित्त उसका भोग-साधन है। चित्त में असंख्य विषयों की वासनाएँ (संस्कार) रहती हैं अतः वह चित्र-तुल्य रहता है।[36]

उपरञ्जित होना चित्त का स्वभाव है। वह स्फटिक मणि के समान विषयों का प्रतिफलन प्राप्त करके विषयाकार हो जाता है। यही कारण है कि कुछ विचारक चित्त को ही चेतन (आत्मा) मानने की भूल करते हैं।[37]

यह चित्त ही 'प्रतिभा' का अधिष्ठान है। निमित्त या कारण की सत्ता से निरपेक्ष रहकर मनोमात्र से उत्पन्न ऐसा ज्ञान प्रतिभा है जो विसंवादी न हो।[38] इस प्रकार निश्चित मानस प्रत्यय को, जो स्वतःस्फूर्त हो, 'प्रातिभ प्रत्यय' कहते हैं। यही प्रत्यय सहजानुभूति है जिसपर क्रोचे के सन्दर्भ में विचार किया गया है।

मधुमती भूमिका और रसभूमि :

देखा जा चुका है कि मधुमती भूमिका योग की बहुत ऊँची भूमि नहीं है। उसमें विषयों का आकर्षण विद्यमान रहता है जिसपर योगी को विजय पानी होती है। उस भूमि की प्रज्ञा 'ऋतम्भरा' कही जाती है जो सत्य का धारण करती है। 'ऋतम्भरा' नाम की सार्थकता के आधार पर डॉ० भगीरथ मिश्र का भी ऐसा ही मन्तव्य होना चाहिए कि 'मधुमती' में ही रसानुभूति होती है क्योंकि वे सत्य के संवेदन को काव्य का सर्वस्व

मानते हैं—कहना चाहिए कि वहाँ पहुँचकर असत्य छन जाता है और अनुभूति में सत्य-मात्र ठहरता है। डॉ० मिश्र ने इस दृष्टि से विचार नहीं किया है, अतः इसे प्रसंगतः ही यहाँ कहा गया है। वस्तुतः सत्य की उससे अधिक व्याप्ति है।

'मधुमती भूमिका' को ही रसभूमि माननेवाले आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र हैं और डॉ० श्यामसुन्दर दास ने वही मानकर विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य मिश्र को उस वेदमन्त्र से प्रेरणा मिली है जिसमें कहा गया है :

> "वाताली मधु-वर्षा करती है, नदी-नद आदि मधु का क्षरण करते हैं, हमारे लिए ओषधियाँ (वनस्पति) मधुमय हो जायँ। रात्रि और उषा मधुमय हैं, पृथ्वी के रजःकण मधुयुक्त हैं। हमारा पालक अन्तरिक्ष मधुमय हो। वनस्पति और सूर्य हमारे लिए मधुयुक्त बनें। गायें हमारे लिए मधुमती हो उठें।"[३९]

इस मन्त्र में सर्वत्र मधुरिमा की संवेदना के लिए प्रार्थना की गयी है। आचार्य मिश्र इसीलिए ऐसा सोचते हैं कि काव्यानुभूति में सब कुछ—जड़-चेतन जगत्—आनन्द-मय हो जाता है। ऋग्वेद में वाणी के मधुमती होने की भी प्रार्थना है[४०] जिससे सरस काव्य के संकेत मिलते हैं। परन्तु इससे 'मधुमती भूमिका' की स्थापना कहाँ तक संगत है, यह विचारणीय है। पं० केशवप्रसाद मिश्र की स्थापना है :

> "मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में, वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी, इन तीनों के भेद का अनुवाद करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक सम्बन्ध और जनक होने के नाते सम्बन्धी पिता, इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर-प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं—जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेदबुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लायी जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्त्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्रचित्त व्यक्ति अपने पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसीलिए दुःख पाते हैं, क्योंकि 'भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति।" (साहित्यालोचन, संस्करण १६, पृ० २१२ पर उद्धृत)

इस अवतरण को उक्त यौगिक विवेचना के निकष पर कसकर परखना चाहिए :

(१) आचार्य केशवप्रसाद मिश्र 'मधुमती' को निर्वितर्का समापत्ति से एकरूप देखते हैं जिसमें स्थूल विषयों के प्रति एकाग्रता होती है, जबकि इसके विपरीत शास्त्रों में 'निर्विचार-समापत्ति' को मधुमती बताया गया है जो सूक्ष्म-विषयक होती है—अर्थात् उसमें पुत्रादि स्थूल विषय नहीं आते ।

(२) 'निर्वितर्क' कहकर मिश्र जी ने 'मधुमती' को दो सीढ़ी नीचे खींच लिया है जबकि शास्त्रों की मधुमती भी योगी की कोई ऊँची भूमिका नहीं है ।

(३) निर्वितर्क समापत्ति यद्यपि स्थूल-विषयक होती है, तथापि उसमें शब्द, अनुमान, स्मृति आदि का समावेश नहीं रहता । आचार्य मिश्र 'पुत्र' को सम्बन्धादि से मुक्त तो बताते हैं पर उसे शब्दमुक्त नहीं करते जबकि निर्वितर्का में स्वरूपमात्र शेष रहता है क्योंकि उसमें प्रज्ञा अपना स्वरूप शून्य करके वस्तु से एकाकार हो जाती है ।[४१]

(४) साधारणीकरण में प्रज्ञा (व्यक्तिबोध) भले ही 'स्वरूप-शून्यवत्' हो जाती हो, पर आलम्बन आदि शब्दानुवेधशून्य नहीं होते—अर्थात् बालकसामान्य, वृद्धसामान्य, स्त्रीसामान्य, पुरुषसामान्य, पितृसामान्य, पुत्रसामान्य जैसा प्रत्यय होता है, न कि वस्तुमात्र शेष रहता है कि सम्बन्ध-शून्यता आ सके, अन्यथा रति आदि भाव-सामान्य की स्थिति नहीं आ सकती :

"जसोदा हरि पालने झुलावै"

में मातृसामान्य और पुत्रसामान्य की प्रज्ञा अनिवार्य है तथा दोनों का जन्य-जनक भाव-सम्बन्ध भी सामान्य होकर आता ही है—जब सम्बन्धी सामान्य हैं तो सम्बन्ध भी सामान्य हो जाता है और उनका वात्सल्य भी साधारणीकृत हो जाता है । क्या इसे 'पदार्थमात्र-स्वरूपाकारा' प्रज्ञावाली निर्वितर्का समापत्ति कहा जा सकता है जो अखिल शब्द-सम्बन्धादि-शून्य ही होती है ?

(५) सवितर्क-समापत्ति में आचार्य मिश्र मानते हैं कि 'पृथक्-पृथक् प्रतीति' होती है जबकि शास्त्र वैसा नहीं कहते । सवितर्का में शब्द, अर्थ और प्रत्यय में संकर (मिश्रण) हो जाता है, जिससे अर्थ और प्रत्यय भी शब्द रूप ले सकते हैं, अतः भेद होने पर भी अभेद की स्थिति आती है—'पुत्र' अर्थ की 'पुत्र' शब्द से एकाकारता को लेकर एकाग्रता ही सवितर्का समापत्ति है । वितर्क का अर्थ ही योग में ऐसा रखा गया है कि जो स्वरूपशून्य शब्दबोध का अनुपाती हो वह विकल्प है[४२] और उसी को वितर्क कहा जाता है, तभी सवितर्क और सविकल्प को पर्याय रूप में व्यवहृत किया गया है ।[४३] स्पष्ट है कि शब्दादि से संकीर्ण तत्त्व पर किसी एकाग्रता की चर्चा साधारणीकरण के सन्दर्भ में नहीं उठायी जा सकती ।

(६) वसुधा को कुटुम्ब माननेवाले उदार जन क्या सदा 'मधुमती' में रहते हैं ? तब क्या यह योग की ही मधुमती है ? निश्चय ही मिश्र जी ने उसे अपने मत की पुष्टि में अर्थ-विस्तार दिया है और तब क्यों न उदारता की व्यावहारिक चित्तभूमि को

पृथक् नाम दिया जाय ? योगशब्द को व्यभिचरित करके स्वाभिमत अर्थवृत्त पहनाने की क्या अनिवार्यता है ?

(७) देखा जा चुका है, 'मधुमती भूमिका' वही है जिसे 'निर्विचारा समापत्ति' कहा गया है। यदि उसे ही आचार्य केशवप्रसाद मिश्र को अभिमत मान लें तो भी बात बनती नहीं। वह सूक्ष्म-तन्मात्रादि-विषयक होती है, न कि स्थूल-पुत्रादि-विषयिणी। इसके अतिरिक्त भोगों के प्रति अविरल आकर्षण का जो अतिरेक उस भूमिका में देखा जाता है, वह 'रसभूमि' में नहीं देखा जाता।

(८) मधुमती योगी की उपलब्धि भी है और प्रगति में बाधा भी, जबकि 'रस' उपलब्धिमात्र है, परम प्रयोजन है।

(९) दुःख और मोह के दबने की बात करके जिस सात्त्विक वृत्ति का उल्लेख किया गया है, वह कभी-कभी एकाग्र हो जानेवाली सात्त्विक 'विक्षिप्त' वृत्ति ही है जो 'रसभूमि' है, न कि योगी की समापत्ति। विक्षिप्त वृत्ति ही एकाग्र होकर हमारे गणित के प्रश्न हल कराती है, व्यावहारिक प्रेम में एकतानता लाती है और वही रसास्वाद की स्थिति भी लाती है। वह योगी की एकान्त एकाग्र भूमि है, ऐसा मानने का कोई कारण स्पष्ट नहीं दिखता। अधिक-से-अधिक कह सकते हैं कि विक्षिप्त सत्त्व परिस्थिति-विशेष में एकाग्र होकर 'रसभूमि' बनता है। विक्षिप्त दशा की एकाग्रता शास्त्रों में मान्य है। अन्तर यही है कि विक्षिप्त दशा विक्षेपानुकूल रहती है अतः इच्छानुसार एकाग्र नहीं रह सकती, वहाँ एकाग्रता गौण है, विक्षेप ही प्रधान है।[४४]

(१०) अतः रसभूमि योग की चित्तभूमि से भिन्न है। योगी भी रसभूमि प्राप्त कर लेता हो तो बात दूसरी है, पर वह सहृदय-सामान्य की चित्तदशा है और योगी भी उस दशा में मधुमती में न होकर रसस्थिति में ही आ जायगा। रसभूमि व्यावहारिक विश्वभावनाभूमि से भिन्न है, इसपर विचार हो चुका है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास का कहना है :

(क) "साधक और कवि में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है, उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्दशक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यही रस की 'ब्रह्मास्वाद-सहोदरता' है।" (वही, पृ० २१४)

इस कथन पर कुछ प्रश्न सहज ही उभरते हैं :

(१) जब कवि उस दशा में कुछ ही काल ठहर पाता है तब उसे योगी की मधुमती भूमिका क्यों माना जाय ? क्यों न उसे विक्षिप्त भूमि की ही एकाग्रता कहा जाय ? वह एकाग्रता मधुमती, अस्मिता, सानन्दा आदि कोई और क्यों नहीं, मधुमती ही क्यों ? क्या इसीलिए कि वाणी मधुमती (सरस) होती है ? अन्य भूमियाँ तो उससे भी

उत्तम हैं, तो क्या वहाँ सरसता नहीं है ? रस को ब्रह्मरूप बतानेवाले उपनिषद् में रस की व्याप्ति क्या मधुमती तक ही है ? क्या निर्बीज समाधि उससे वञ्चित है ? कवि वहाँ भी जा सकता है या नहीं ? निर्बीज समाधि में पहुँचकर तो और भी मधुमयी वाणी की कल्पना की जा सकती है, 'मधुमती भूमिका' को इतना महत्त्व क्यों ?

(२) ब्रह्मास्वाद-सहोदरता ही प्रमाणित करनी है तो योग की कोई और ऊँची भूमि बतायी जा सकती है जहाँ आत्मा की स्वरूप-प्रतिष्ठा पूर्ण हो, या निकट हो। निरोध-दशा (असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि) में स्वरूप-प्रतिष्ठा होती है, अन्य दशाओं में मनोवृत्तियों की प्रधानता रहती है :

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
वृत्ति-सारूप्यमितरत्र। (योगसूत्र, १।३-४)

(३) कहा जाय कि असंज्ञात भूमि में तो ब्रह्मास्वाद ही होता है, 'सहोदरता' से निचली भूमिका ही लेनी चाहिए। परन्तु 'यथेष्ट काल' तक व्याप्त न रहनेवाली असंप्रज्ञात भूमि भी 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' ही होगी।

(४) कवि के लिए मधुमती भूमिका पर पहुँचना और शब्दशक्ति दो आवश्यक हैं तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि केवल शब्दशक्ति ही ब्रह्मास्वाद-सहोदर चमत्कार लाती हो। सीधा प्रश्न तो सहृदय का रसास्वाद है, कवि चाहे जिस भूमिका पर रहकर शब्दशक्ति का प्रयोग करे। आवश्यक नहीं कि व्यास और कालिदास की चित्त-भूमि एक ही रही हो, पर व्यास के नल-दमयन्ती-वियोग और कालिदास के राम-सीता-वियोग से सहृदय एक-सी भूमि सुलभ कर लेता है, प्रत्युत कालिदास की शब्दशक्ति ही अधिक प्रभावी है।

(५) जो रूप कवि शब्दशक्ति से खड़ा करता है, वह निवितर्क समापत्ति ही है, इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उसे 'रसभूमि' सरलता से कहा जा सकता है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास आगे कहते हैं :

(ख) "बड़े ही गूढ़ अभिप्राय से प्रकाशकार ने 'माधुर्य द्रुतिकारणम्' कहकर मधुमती के पुत्र माधुर्य को चित्तद्रुति का कारण बतलाया है।....माधुर्य से इस (रस) का सम्बन्ध बतलाकर मम्मट ने मधुमती की ओर ही संकेत किया है, पर खुले शब्दों में नहीं।" (वही)

(१) प्रकाशकार ने कोई अभिप्राय गूढ़ नहीं रखा है। संभोग, विप्रलम्भ, करुण और शान्त रसों में हृदय की पिघलाहट अनुभव होती है, उसे 'द्रुति' कहते हैं और उसका कारण माधुर्य गुण है, यही भर उन्होंने कहा है।

(२) माधुर्य यदि मधुमती का इकलौता है तो 'दीप्तिकारण ओजस्' और 'व्याप्तिकारण प्रसाद' गुण किसके पुत्र हैं ? क्या मधुमती भूमि मधुर रसों के ही लिए है ? तब वीर, अद्भुत, रौद्र आदि का रसत्व कहाँ से आयेगा ? क्या इनके लिए कोई अन्य ऊँची-नीची भूमिका योगदर्शन में खोजनी होगी ? तब ऐसा आग्रह क्यों ?

(ग) "कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक-एक कण के साथ बन्धुत्व के बन्धन से बँधा हो।"

(वही, पृ० २१५ पर आचार्य मिश्र का उद्धरण)

(१) सहृदय की सीमा बाँधने की आवश्यकता न थी। बन्धुत्व क्या, एकत्व के बन्धन से ही सब कुछ बँधा है, हृदयहीन भी और सहृदय भी।

(२) बात अनुभव करने की है, सो रसानुभूति कोई बन्धुत्व की भूमि नहीं है, एकत्व की भूमि है जिसमें चित्तवृत्ति की एकता के साथ चेतना का योग रहता है।

(घ) "रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है। मधुमती भूमिका में पर-प्रत्यक्ष होता है। अनुभूति अखण्ड और एकतान रहती है। चित्तवृत्ति की इसी एकतानता का नाम है साधारणीकरण।" (वही, पृ० २१५)

(१) मधुमती की अनुभूति अखण्ड नहीं कही जा सकती क्योंकि उसमें दैवी आकर्षणों की अनेक बाधाओं का समावेश रहता है जिससे साधक को सावधान रहना पड़ता है :

'बच-बच के चलना पाप से, मोहन जाल बिछाया।'

की स्थिति रहती है। रसानुभूति में वैसा कुछ तो नहीं होता।

(२) साधारणीकरण में एकतानता अपेक्षित नहीं, वह तो रस-प्रत्यय की वस्तु है। साधारणीकरण तो विभावादि की सामान्यरूपता भर है। दोनों को एक करके देखना एक अन्य ही निर्वितर्का समापत्ति है।

(ङ) "वह आनन्द (रस) इन्द्रियजन्य नहीं प्रत्युत अलौकिक और अखण्ड होता है।"

(वही, पृ० २१५)

(१) यहाँ विचारणीय है कि 'इन्द्रिय' क्या है। इन्द्रिय का पर्याय 'करण' भी है जो अन्तःकरण और बाह्यकरण वर्गों में विभक्त है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय बाह्यकरण (बाहरी बोधसाधन) हैं तो मन, अहंकार, बुद्धि (चित्त), ये अन्तःकरण (अन्तरिन्द्रिय) हैं। यदि अन्तरिन्द्रिय को इन्द्रियवर्ग से हटा दें तो मानसिक सुख-दुःख-बोध भी अतीन्द्रिय कहे जायेंगे जिससे अतीन्द्रिय बोधों की कोई सीमा न रहेगी।

(२) जो अतीन्द्रिय हो वही अलौकिक हो, ऐसी व्याप्ति कभी मान्य नहीं हो सकती। योगी की निर्बीज भूमि को छोड़कर सभी भूमियाँ इन्द्रिय-जन्य होती हैं, फिर भी वे लौकिक नहीं हैं। अर्थात् चित्त-वृत्ति इन्द्रिय रूप है और निरुद्ध-दशा को छोड़कर सभी योगभूमियों में वृत्तिसारूप्य रहता है, जैसा देखा जा चुका है। इतना अवश्य है कि योगी की वृत्तियाँ 'अक्लिष्ट' होती हैं जबकि लौकिक वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं।[४५] अक्लिष्ट वृत्तियाँ (चित्त-व्यापार) ही समाधि में उपयुक्त होती हैं।[४६] जब तक असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि की उपलब्धि नहीं होती तब तक इन वृत्तियों से मुक्ति नहीं, यह वृत्तिजनित संस्कार-चक्र सदैव घूमता रहता है।[४७]

(३) रसदशा कोई वृत्तिहीन दशा नहीं है, अतः उसे सर्वथा इन्द्रिय-जनित न मानना तर्कसंगत नहीं लगता। रति, क्रोध आदि वृत्तियाँ अक्लिष्ट रूप में रसदशा प्राप्त करती हैं, यही कहा जा सकता है और तब इन्द्रिय-वृत्तियों (अन्तःकरण वृत्तियों) का ही आस्वाद 'रस' कहा जायगा। उस दशा में रस को अतीन्द्रिय लोक की वस्तु नहीं सिद्ध कर सकते।

(४) यदि रस की अलौकिकता अतीन्द्रियता-पर्याय हो तो उसे निर्बीज समाधि की भूमि पर मानना होगा और तब 'मधुमती' जैसी वृत्ति-संवलित भूमि की मान्यता ही खण्डित हो जाती है।

(च) "अपने और पराये की भावना लोकभावना में लीन हो जाती है और आत्मा में आनन्द की अनुभूति (अथवा अभिव्यक्ति) होने लगती है। इसी विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वाद कहते हैं।" (वही)

(१) मधुमती भूमिका का 'लोकभावना' से तो कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा विलीनीकरण तो उसकी परिभाषा में नहीं है।

(२) रसदशा में भी 'लोकभावना' शब्द भ्रामक है। साधारणीकरण को लोकभावना में विलीनीकरण कहना उसे समाजवाद या सामाजिकता के लोकपक्ष की ओर अधिक खींचता है और तब रस को अलौकिक कैसे कहेंगे ?

विशोका और रसभूमि :

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय यह मानकर चले हैं कि 'विशोका' नामक (अस्मितानुगत) समाधिभूमिका ही रसभूमि है। सम्भवतः उनके समक्ष 'विशोका' नाम की सार्थकता अधिक आकर्षक रही है। उसमें शोक नहीं रहता अतः आनन्द ही आनन्द है और यही रस है। 'विशोका' निश्चय ही संप्रज्ञात समाधियों में उच्चतम है अतः रसदशा को इससे महत्त्व मिलता है। परन्तु इस मान्यता पर सहज ही प्रश्न उठते हैं :

(१) विशोका वह भूमिका है जिसमें अन्तःकरण-समेत आत्मा पर ध्यान केन्द्रित रहता है। चित्तवृत्ति आत्म-प्रधान हो उठती है। क्या रसदशा में इस प्रकार चित्तवृत्ति की गौणता मान्य होगी ?

(२) यदि मान लें कि 'विशोका' शब्द उन सभी भूमियों के लिए है जो निरतिशय सुख की स्थितियाँ हैं तो योग-दर्शन की परिधि से बाहर जाना होगा।

(३) मधुमती पर जो आक्षेप हैं, वे ही इस मान्यता पर भी प्रायः आते हैं।

(४) यदि 'विशोका' शोकहीन भूमिका है तो करुण रस में शोक की आनन्दात्मक परिणति कैसे होती है ? कहा जाय कि दुःखवर्ग की वृत्तियाँ भी वहाँ 'विशोक' हो जाती हैं तो रसों में परस्पर अन्तर क्या रह जाता है ? वृत्तियों की सूक्ष्मता ही रस में साधक है न कि स्वरूपहानि। व्यक्ति-सम्बन्ध-रहित साधारणीकृत भाव होने से वैयक्तिक दुःखानुभूति लोक-धरातल पर नहीं होती, इतनी ही रस की लोकोत्तरता है। निर्वैयक्तिक शोक आदि रहते ही हैं।

(५) विशोका भूमि आत्मानुभूति या ब्रह्मास्वाद का पूर्वरूप ही है क्योंकि उसमें अन्तःकरण-वृत्ति का सत्त्वोद्रेक रहता है और वृत्ति का आवरण अत्यन्त झीना होता है। द्रष्टा स्वरूपस्थ होने की पात्रता पा लेता है। इस आधार पर रस को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहना अधिक संगत हो जाता है। परन्तु ठीक योग की भूमि ही रसभूमि है, उससे हट-कर कुछ नहीं, यह सिद्ध करना कठिन है। अनुभूतियों की असंख्य भूमियाँ हो सकती हैं, योगदर्शन ने केवल उन्हीं को वर्गीकृत किया है जो योग-प्रणाली को समझने में सहायक हैं। अतः योगशास्त्रीय नामों में उलझना अधिक संगत नहीं कहा जा सकता।

अस्मिता और रसभूमि :

डॉ० भगवानदास 'अस्मिता' योगभूमि को रसभूमि मानते हैं। अस्मिता और विशोका में तात्त्विक अन्तर नहीं है। देखा जा चुका है कि अस्मिता ही 'विशोका' और 'ज्योतिष्मती', दो रूपों में देखी जाती है। 'ज्योतिष्मती' चैतन्य के स्वरूप के निकटतम है अतः डॉ० दास का अभिप्राय उसी से होना चाहिए। जो तर्क पहले प्रस्तुत किये जा चुके हैं उन्हें यहाँ भी लागू समझना चाहिए। ध्यान यह रखना है कि सहृदय-सामान्य की मनोदशा विक्षिप्त-भूमि की होती है जो रसदशा में एकाग्र हो जाती है। तब उसकी कौन सी भूमि होती है, यह निर्णय करना कठिन है। योग की परिगणित भूमियों में से ही किसी को रसभूमि मानने का आग्रह बहुत महत्त्व नहीं रखता। रसभूमि उन सबसे पृथक् हो सकती है और उसे 'रसभूमि' ही कहा जाय तो अनुचित नहीं।

रस-सन्दर्भ में योगभूमियों का आग्रह क्यों ?

इस प्रश्न का समाधान खोजते हुए हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के युग-परिवेश की ओर लौटना होगा। काव्यचिन्तन में उस समय दो धाराएँ स्पष्ट ही दिखती हैं। एक तो वह धारा जो पश्चिम के विविध प्रभावों से समवेत होकर वस्तुवादी चिन्तन का भारतीय चिन्तन के साथ कोई-न-कोई समन्वय खोज रही थी और फलतः वस्तुवाद के अधिक निकट हो गयी थी। भारतीय तथ्यों को मोड़-माड़कर वस्तुमुखी चिन्तन-माला में पिरो देने का एक वातावरण बनता जा रहा था। इस धारा का प्रतिनिधित्व आचार्य शुक्ल जैसे प्रतिभाशाली समीक्षक ने लिया। आज भी डॉ० रामविलास शर्मा जैसे विचारक शुक्ल जी को वस्तुवाद के नाते ही सम्मान देते देखे जाते हैं। इस प्रवाह ने गति तो दी पर शास्त्रीय रूढ़िवाद के स्थान पर नयी रूढ़ियों से अध्येताओं के मानस को इस प्रकार ग्रस लिया कि परम्परागत चिन्तन को शुक्ल जी की अवधारणाओं के गुम्फन में देखा-समझा जाने लगा। इससे एक नयी जड़ता को जन्म मिला जो स्वतन्त्र चिन्तन के लिए घातक रही है।

दूसरी धारा भारतीय शास्त्रों के समर्थन में जुट गयी। मानों यह आत्मरक्षा का प्रयास था। इस वर्ग के विचारक शास्त्रीय मान्यताओं को नया रङ्ग देने में लग गये जिससे नवीनता के आग्रही लोगों की तुष्टि हो सके। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डॉ० भगवानदास, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, डॉ० श्यामसुन्दर दास जैसे मनीषी इस धारा के प्रतिनिधि हैं। शुक्ल-धारा में रस की लोकोत्तरता का विरोध किया जा रहा था तो ये

विचारक उसे लोकोत्तर सिद्ध करने में लग गये थे। लोकोत्तरता के लिए ही परप्रत्यक्ष, मधुमती, विशोका, अस्मिता आदि योगदर्शन के शब्द चुने गये और 'अपने-अपने मत लगे' हुए सिद्धान्त बनाने लगे। निश्चय ही बौद्धिक उर्वरता की सूचना इससे मिलती है और हम भारतीय मनीषा के इस रूप को देखकर गद्‌गद हुए बिना नहीं रहते परन्तु इस प्रकार की मतवादी रूढ़ियों ने भी चिन्तन को एक प्रकार की जकड़न से ग्रस्त किया जो समीक्षा की स्वस्थ प्रगति में बाधक बनी। योगदर्शन को समझनेवाले लोग उस शब्दावली को घोखकर 'बादि मचावत सोर' की भूमिका पर जा पहुँचे। दोनों प्रकार से त्राण नहीं था। शुद्ध काव्य-शास्त्रीय मर्यादाओं में प्रतिबद्ध चिन्तन कुण्ठित होता गया और पश्चिम की अनुवादित समीक्षा-पद्धति ने हिन्दी-लोक को अपने आलोक से भर दिया।

इस द्वैविध्य में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे कुछ ही विद्वान् स्वरूप सँभाले रह सके जो शास्त्रीय परिवेश में ही विचार करते रहे, किसी धारा में बहे नहीं, यद्यपि किसी की कटु आलोचना से वे अनासक्त रहे जिसका परिणाम हुआ कि कोलाहल अपने पथ पर चलता रहा और शास्त्रीय समीक्षक 'एकला चलो रे' का पथिक बन बैठा। यह तीसरी स्थिति 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' का रूप लेकर बहुत समय तक दबी रही। इधर डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० भोलाशंकर व्यास आदि विद्वान् 'आत्मानं विद्धि' के मन्त्र को फिर उद्‌घोषित करने लगे हैं; यह महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है जिसका स्वागत होना चाहिए।

अब हम एक बार फिर योगभूमियों के आग्रह पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि इस अभियान के मूल प्रेरक वे लोग थे जो दर्शन के विद्वान् होने के साथ स्वतन्त्र विचारक भी थे। उनका सदाग्रह यह था कि योग-मनोविज्ञान सभी अनुभूतियों की व्याख्या के लिए पर्याप्त है, हमें पाश्चात्य मनोविज्ञान की गोद में दत्तक पुत्र बनाकर अपने विवेक को नहीं सौंपना है। यह आत्मसम्मान का राष्ट्रप्रेमी रूप था जिसका स्रोत सामयिक राष्ट्रवाद में खोजा जा सकता है। इतना होते हुए भी विप्रतिपत्तियों के लिए अवसर बचा रहा जिनका दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है। हम इस धारा के अवधारणों पर पुनर्विचार कर सकते हैं।

(१) सबसे बड़ी समस्या यह है कि योग-भूमिकाओं को उस दर्शन के परिवेश से हटाकर अन्यत्र उपयोग में लाने का कार्य निर्विवाद नहीं हो सकता। पारिभाषिक तथ्यों को नया मोड़ देना अपने-आपमें परम्परा के प्रति अनिष्ठा है। परम्परागत शब्दों के द्वारा नयी उपस्थापना से ही परम्परा का सम्मान तुष्ट नहीं होता, उसे यथानिर्दिष्ट परिवेश में सुरक्षित रखना भी आनुवंशिक उत्तरदायित्व या ऋषिऋण है।

(२) हम यदि मधुमती जैसी भूमिका को व्यावहारिक व्याख्या देते हैं तो न केवल परम्परा की पारिभाषिक कठिनाई उपस्थित होती है, एक चुनौती भी सामने आती है कि क्या व्यवहार की सभी चित्तभूमियों की व्याख्या ऐसे ही आधार पर सम्भव है। एक व्यक्ति गुलाब का शौकीन है, बटनहोल में अधखिला फूल टाँके रहता है और दूसरा इतना आसक्त है, तोड़ता नहीं, देखता रह जाता है। दोनों की चित्तभूमियों में अन्तर है और इस अन्तर का स्पष्टीकरण करने के लिए चित्तभूमियों का वर्गविभाग आवश्यक है

और नामकरण भी। क्या योगशास्त्र से या किसी शास्त्र अथवा विज्ञान से ऐसा संभव है ? अनुभूति की विभिन्नताएँ भूमियों में विविधता लाती हैं जिनका नामकरण कहाँ तक होगा ? क्या योग की सभी अनुभूतियाँ परिगणित हो सकी हैं ? क्या परिगणित भूमिकाओं की अन्तराल भूमियाँ संभव नहीं हैं ? क्या सभी लोकोत्तर अनुभूतियों को योग-परिगणन में परिसमाप्त मान लिया जाय ? रसभूमि क्या उन सबसे पृथक् भूमिका नहीं हो सकती जो अपने-आपमें एक तथ्य हो ?

(३) भट्टनायक साधारणीकृत भाव को रस मानकर उसकी भोग-दशा को 'आत्मविश्रान्ति' कहते हैं जो 'अस्मिता' भूमि है या असंप्रज्ञात भूमि, स्पष्ट नहीं। वे प्रकाश, आनन्द, सत्त्वोद्रेक की बात करते हैं तो लगता है कि 'ज्योतिष्मती' भूमिका जैसा कुछ उन्हें अभिप्रेत है परन्तु रसभूमि को वे योगभूमि से एकरूप करने के पक्ष में नहीं जान पड़ते। भोग को काव्य-व्यापार मानकर वे उसे शब्दजनित प्रत्यय के रूप में रखने के पक्षपाती लगते हैं और तब शब्दशून्य प्रत्ययों की भूमिका उनके मत से भी संगत नहीं दिखती।

(४) ऐसा लगता है कि योगदर्शन के अनुसार काव्यचिन्तन की परम्परा न पाकर ये विद्वान् एक मौलिक परिकल्पना करने में लग गये और परस्पर ऐकमत्य न बना सके।

(५) मधुसूदन सरस्वती के विचार भक्तिरस-विवेचन में आ चुके हैं। वे भी ब्रह्म-विद्या की भूमि से भक्तिरस की भूमि पृथक् मानते हैं और सामान्य रसभूमि को भक्तिभूमि से भी अलग बताते हैं। ऐसी स्थिति में योगभूमिका में रसभूमि का अन्तर्भाव विवादास्पद ही बचता है।

(६) आवश्यक यह था कि योग-मनोविज्ञान की स्थापना करके आधुनिक मनोविज्ञान के समानान्तर खड़ा किया जाता और उसके आधार पर संवेदनों की व्याख्या करते हुए रसभूमिका का स्वरूप स्पष्ट किया जाता। परिनिष्ठित भूमिकाओं में काव्य-रसभूमि बनने की क्षमता दिखायी नहीं पड़ती।

ध्वनिमत की स्थापना में योग-भूमियों का उल्लेख तो है पर रसभूमि का पार्थक्य ही मान्य किया गया है जिसपर विचार किया जा रहा है।

रसभूमि और ध्वनि-सिद्धान्त :

रसनिष्पत्ति पर ध्वनिसिद्धान्ताचार्य अभिनवगुप्त ने सर्वाधिक प्रकाश डाला है। वे रस को मानसी प्रतीति मानते हैं जो सर्वथा देशकालादि-विभाग-रहित साक्षात्कार रूपा होती है।[४८] मधुमतीवादी आचार्यों ने भी देशकाल-विभाग-शून्यता की बात की है और अभिनव भी यही मानते हैं :

> "साधारणीकरण परिमित नहीं होता अपितु विस्तृत होता है। जैसे, एक स्थान पर धूम-वह्नि का साहचर्य देखकर हम सर्वत्र उस साहचर्य की सामान्य व्याप्ति सुलभ कर लेते हैं।....लोक में देश, काल, प्रमाता आदि परिसीमन के कारण

होते हैं जबकि वे ही तत्त्व काव्यार्पित होकर साधारणीकरण हो जाते हैं ।....तभी रस-प्रतीति होती है जिसका चमत्कार यह है कि कम्प, पुलक, उल्लास आदि विकार उत्पन्न होते हैं । इस चमत्कार में अतृप्ति नहीं होती और अखण्ड (अविच्छिन्न) भोगावेश होता है । रसचर्वणा के समय जो विलक्षण आस्वाद के स्पन्दन से आविष्ट रसिक की मनोदशा होती है, वही चमत्कार है ।"[४९]

"वह रसास्वाद का चमत्कार विलक्षण साक्षात्कार-रूप होता है जिसे मानस अध्यवसाय, संकल्प या स्मृति भी कहा जा सकता है । यह स्मृति न्यायशास्त्र की वह स्मृति नहीं है जिसमें अनुभूति विषय का प्रत्यय होता है, प्रत्युत वह प्रातिभ ज्ञान या साक्षात्कार-विशेष है ।"[५०]

"यह आस्वादात्मक प्रतीति सर्वथा ऐसी कुछ होती है जिसमें स्थायी भाव ही भासित होता है । अन्य वस्तु-संवेदनों से अवच्छादित न होने के कारण ही वह भाव रसनीय बनता है अतः न वह प्रतीति लौकिक है, न मिथ्या है, न लौकिक-तुल्य है, न आरोपरूप है और न ही अनिर्वचनीय है ।"[५१]

उक्त विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

(१) साधारणीकरण काव्य-निरूपित तथ्यों को व्यापकता देता है जिससे वे सम्बन्ध-विशेष से मर्यादित नहीं रह जाते । धूम और अग्नि के समान व्याप्ति लेकर वे वस्तुमात्र नहीं हो जाते, उनका जातीय रूप बना रहता है ।

(२) देश, काल, प्रमाता, स्व-पर-तटस्थ आदि की सीमाओं से मुक्त सामान्य वस्तु-स्वरूप का उपस्थापन ही साधारणीकरण है ।

(३) रसप्रतीति एक चमत्कारी अनुभव है जिसे मानस प्रत्यय, संकल्प या स्मृति भी कह सकते हैं । यह स्मरण वासना का उद्‌बोधन है जो साक्षात्कार-रूप होता है ।

(४) रसबोध अलौकिक तो है, पर योगियों के प्रत्ययों के समान अनिर्वचनीय नहीं है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनिमत में रस को योगभूमियों से परिबद्ध नहीं किया गया है, प्रत्युत उसका विरोध ही किया जाता रहा है ।

× × ×

अभिनवगुप्तपादाचार्य लौकिक और योगज साक्षात्कारों से रसात्मक साक्षात्कार को पृथक् मानते हैं ।[५२] उनके कथन का सार निम्नलिखित है :

(क) रसचर्वणा लौकिक प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम आदि—से जनित बोध से भिन्न है क्योंकि लौकिक प्रत्ययों में विषयों के अर्जन में विविध विघ्न आते हैं जबकि रसप्रतीति निर्विघ्न होने से अविच्छिन्न रहती है ।

(ख) योगियों का जो पर-प्रत्यक्ष-जनित ज्ञान होता है उसमें तटस्थता रहती है अतः रसास्वाद उससे भी भिन्न है । योगी जब असंप्रज्ञात भूमिका में पर-प्रत्यक्ष करता है तो विषय का आवेश अनिवार्य होता है, वैसी विवशता रस में नहीं होती ।

योगी विषयाविष्ट होने से सौन्दर्यानुभव नहीं कर पाता जबकि रसिक सौन्दर्य का ही आस्वाद करता है। (साधक योगी की चित्तभूमियों में कोई-न-कोई विषय आलम्बन होता है, इसपर विस्तृत विचार हो चुका है)।

(ग) असंप्रज्ञात योगी एक मात्र अपनी चेतना में रत होता है परन्तु रसिक उससे मुक्त हो जाता है, अतः विषयावेश की विवशता रसिक में नहीं होती जबकि योगी की एकाग्रता विषय को आलम्बन बनाकर होती है।

(घ) सम्पूर्ण विषयों के उपरञ्जन से शून्य निर्बीज समाधि का सिद्ध योगी होता है। उसका अनुभव आत्मानन्द-मात्र-परक रहता है। रसिक का अनुभव उससे सर्वथा भिन्न है क्योंकि रसिक रसानुभूतिकाल में अपनी वासना का चर्वण करता है जबकि योगी आत्मलीन हो जाता है।

(ङ) सभी योगियों को विघ्न बाधित करते हैं जबकि रसिक की वासना उद्-बुद्ध हुई कि कोई विघ्न नहीं रहता।

अतः ध्वनिमत में रसभूमि योग की सभी भूमिकाओं से पृथक् है। वह अपने-आपमें ही एक वर्ग है जिसका अन्य वर्गों में अन्तर्भाव खोजना व्यर्थ है।

आचार्यों ने रस-बोध को निर्विकल्पक और सविकल्पक उभयविध प्रत्ययों से विलक्षण बताया है—विभावादि-बोध-पूर्वक ही रसबोध होता है अतः निर्विकल्प नहीं कह सकते, आत्म-संवेदन ही रस है, कोई बाहरी प्रमाण नहीं अतएव उसे सविकल्प नहीं कहा जा सकता। यही रस की विचित्र लोकोत्तरता है।[५३]

रस की लोकोत्तरता सिद्ध करने के लिए योगदर्शन की सीमाओं में उसे परिबद्ध करना परम्परा को अभिमत नहीं रहा है। ध्वनिसम्मत रसरूप की उपेक्षा करके ही अधुनातन विचारकों ने मधुमती आदि भूमियों का उपस्थापन किया। ऐसे मतों को न हम काव्यशास्त्र-सम्मत पा सके और न ही योगशास्त्र की कसौटी पर खरा प्रमाणित कर सके। योगभूमियों की स्वाभिमत व्याख्या करके आचार्यों ने जो कुछ कहा, उसे लेकर हिन्दी जगत् में गतानुगतिकता नहीं आयी, यह हर्ष की बात है।

(२)

जयशंकर प्रसाद का काव्यसिद्धान्त :

जब प्रसाद युग के काव्य-चिन्तन का सन्दर्भ उपस्थित हुआ और विविध विचार-सरणियाँ चलीं तो प्रसाद जी उससे अछूते नहीं रह सकते थे। प्रसाद जी भारतीय परम्परा एवं संस्कृति के अनन्य निष्ठावान् कवि एवं विचारक थे अतः वे अपने समय की विमतियों के द्रष्टा होने के कारण काव्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में भी उतर पड़े थे। वे काव्य-दर्शन को न तो वस्तुवाद का रूप देने से सन्तुष्ट थे और न ही योगभूमियों के आग्रही। उन्होंने विशुद्ध ध्वनिसम्मत काव्य-दर्शन को पुरस्सर करने का प्रयास किया। उन्होंने रसवाद के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात कही है ऽ

"रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की सृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर रस-सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।" (काव्य और कला, पृ० ८५)

इससे प्रसाद जी की विचारधारा का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। उन्होंने और भी कहा है :

"पश्चिम ने कला को अनुकरण ही माना है, उसमें सत्य नहीं। उन लोगों का कहना है कि 'मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है, इसलिए अनुकरणमूलक कला में उसको सुख मिलता है।' किन्तु भारत में रससिद्धान्त के द्वारा साहित्य में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा हुई, क्योंकि भरत ने कहा है—आत्माभिनयनं भावः (२६–३९)—आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्मचैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों में रस की।" (वही, पृ० ८०)

पश्चिम की तीव्र-प्रवाहशील धारा से, जो भारतीय मनीषा को सक्रिय या प्रतिक्रियाशील बना रही थी, प्रसाद जी पूर्ण परिचित थे, परन्तु वे अविचल भाव से आत्मनिष्ठा सँभालकर चले। उनका स्पष्ट कथन है :

"प्लेटो इसलिए अभिनेता में चरित्रहीनता आदि दोष नित्यसिद्ध मानता है, क्योंकि वे क्षण-क्षण में अनुकरणशील होते हैं, सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते।" (वही)

इस प्रकार प्रसाद जी अभिनव के अनुयायी रसवादी विचारक थे जिन्होंने शम अथवा समरसता को मूल भाव मानकर कहा :

वैसे अभेद - सागर में
प्राणों का सृष्टिक्रम है,
सबमें घुल-मिल कर रसमय
रहता यह भाव चरम है। (कामायनी, आनन्द)

उन्होंने कहा है :

"साहित्य में विकल्पात्मक मनन-धारा का प्रभाव इन्हीं अलंकार-वादियों ने उत्पन्न किया तथा अपनी तर्क-प्रणाली से आलोचना-शास्त्र की स्थापना की, किन्तु संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु, रस का प्रलोभन, कदाचित् उन्हें अभिनवगुप्त की ओर से ही मिला।" (काव्य और कला, पृ० ७२)

रस के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त और प्रसाद जी एकमत हैं। दोनों रसभूमि को ब्रह्मानुभव-भूमि मानते हैं। (यद्यपि योग की निर्बीज समाधि से वह भिन्न है, जो देखा जा चुका है।) प्रसाद जी ने इस सम्बन्ध में अभिनव को उद्धृत किया है :

तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्म।

अर्थात् मायिक आवरणों को पार कर जाने पर तो अद्वैत ही रहता है जो ब्रह्म है।

× × ×

प्रसाद जी भारतीय दर्शन, विशेषतः शैवदर्शन के मर्मज्ञ मनीषी थे अतः उन्हें मन के व्यापार 'संकल्प और विकल्प' (पृ० ३०) का स्पष्ट ज्ञान था। संकल्प = संश्लिष्ट कल्पना और विकल्प = विश्लिष्ट कल्पना। विकल्प विश्लेषण-प्रधान मनोव्यापार है जिससे तर्क, विज्ञान आदि की उपज है परन्तु काव्य-साहित्य संश्लेष-प्रधान 'संकल्प' की देन है। अतएव प्रसाद जी का काव्यस्वरूप है :

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मयरूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण—श्रेय और प्रेय दोनों—से परिपूर्ण होती है।"

(वही, पृ० ३७-३८)

प्रसाद जी ने काव्य को संश्लिष्ट परिभाषा देने का यहाँ प्रयास नहीं किया है, फिर भी सहज ही परिभाषा के घटक उभर आये हैं :

(१) काव्य संकल्पात्मक अनुभूति है।

(२) उसकी अभिव्यक्ति वाङ्मयी होती है।

(३) उसमें विकल्प नहीं रहता।

(४) वह श्रेयस् और प्रेयस्—मङ्गल और सौन्दर्य—दोनों से संपृक्त रहती है।

(५) काव्य का प्रधान रूप अनुभूतिमय है, वाणी उसकी अभिव्यक्तिमात्र है। (यहाँ प्रसाद जी पर क्रोचे का भी प्रभाव देखा जा सकता है)।

इस प्रकार प्रसाद-सम्मत काव्य-परिभाषा है :

"वाणी में व्यक्त, विकल्पहीन, श्रेयोमयी प्रेयःप्रधान संकल्पात्मक अनुभूति को काव्य कहते हैं।"

'श्रेय' से प्रसाद का आशय सत्य के उस पक्ष से है जिसमें आनन्द एवं मंगल, शान्ति एवं समरसता की अनुभूति होती है जबकि 'प्रेय' से अभिव्यक्ति के समस्त आकर्षण—गुण, ध्वनि, अलंकार, औचित्य आदि—का अभिप्राय आता है।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त मत-वैविध्य के युग में प्रसाद जी ने शास्त्रीय धारा की पूर्ण रक्षा करनी चाही थी। 'अभिव्यक्त' कहकर जहाँ एक ओर वे ध्वनिसम्मत शक्ति—व्यंजना—का अर्थ देते हैं वहीं दूसरी ओर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भी सहलाते हैं।

यौगिक भूमियों को रसभूमि प्रमाणित करनेवाले युग में प्रसाद जी के अतिरिक्त भी मनीषी रहे हैं जिन्होंने काव्यानुभूति पर गम्भीर विचार दिये हैं। उनमें से अरविन्द और कुमारस्वामी पर विचार प्रसंग-प्राप्त है।

(३)

कुमारस्वामी के काव्य सम्बन्धी विचार :

आनन्द कुमारस्वामी बीसवीं शताब्दी के विश्वविख्यात दार्शनिक थे जिन्होंने भारत-विद्या पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किये। उनका ग्रन्थ "द डान्स् आव् शिव" कला पर विवेचना प्रस्तुत करता है। उस ग्रन्थ की भूमिका में रोमाँ रोलाँ ने पश्चिम और भारत की तुलना करते हुए महत्त्वपूर्ण शब्द कहे हैं :

> "सामान्य योरपवासी वैयक्तिक, वर्गीय, दैशिक अथवा दलीय जीवन की प्राचीरों से बाहर नहीं देख सकता। उस संकुचित दायरे में वह अपने संकल्प और मानवीय आदर्शों की संवेदना को काराबद्ध कर देता है।"
>
> "वस्तुतः आत्माओं और इच्छाओं की विविधता शाश्वत संगीत में समरस बन जाती है। वह संगीत उन सबको एक विशाल लहर में आबद्ध करता है जो एकत्व की ओर निरन्तर गतिशील है।"[५४]

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिन्तन सदैव एकत्व की दिशा में गति लेता रहा है और कला भी इसका अपवाद नहीं। कुमारस्वामी ने योगी और कलाकार की उपलब्धियों को इस सन्दर्भ में तुलनीय ठहराया है :

> "योग का प्रयोजन मानस एकाग्रता है जो वहाँ तक जा सके जहाँ साक्षात्कार के द्रष्टा और दृश्य (विषय) का अन्तर समाप्त हो जाय। चेतना की समरसता या एकता की उपलब्धि का योग साधन है। यह भी मान्य हुआ कि कलाकार की एकाग्रता भी उसी प्रकृति की है।"[५५]

परन्तु इससे यह आशय नहीं लेना चाहिए कि कुमारस्वामी योग-भूमिका को रस-भूमि बताना चाहते हैं। वे अन्यत्र सहजावस्था के विवेचन में साधारणीकरण की चर्चा इस प्रकार करते हैं :

> "यह एक बीजगणितीय समीकरण के समान है, जिसमें समीकरण ही एकमात्र सत्य है, और शब्द चाहे जिस वस्तु के लिए प्रयुक्त हों।"[५६]

कुमारस्वामी ने रसदशा को पूर्णमुक्तावस्था से तुलनीय मानकर 'विरेचन' को इसी अर्थ में लिया है और 'गेटे' की कविता उद्धृत की है कि :

"सौन्दर्य के लिए लोग प्रत्येक युग में गवेषणा करते रहे हैं । जो उसका साक्षात् कर लेता है वह अपने-आपसे मुक्त हो जाता है ।"[५७]

कुमारस्वामी अभिनवगुप्त के समान ही रस का स्वरूप लोकोत्तर मानते हैं क्योंकि अनुभूति के बाहर उसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं रहता । इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति अप्रमेय है जिसे या तो कवि जानता है या रसिक ।[५८] वस्तुतः रस की चैतन्य से एकता होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति सूचक माध्यम से ही होती है अतएव रस व्यंग्य होता है, सीधे-सीधे उसका प्रत्यच्च नहीं हो सकता ।[५९]

कुमारस्वामी दर्शन और काव्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

"प्रेमी द्वारा प्रेम ही सत्य रूप में अनुभूत होता है, दार्शनिक के अनुभव में यथार्थ तत्त्व ही सत्य है, जबकि कलाकार के अनुभव में सौन्दर्य ही सत्य है, और निर-पेक्ष तत्त्व के ये तीन पक्ष हैं ।"[६०]

कुमारस्वामी 'रस-सिद्धान्त' को वेदान्त का सहगामी मानते हैं ।[६१]

वे व्यञ्जना के साथ क्रोचे की अभिव्यञ्जना को जोड़कर कहते हैं—'क्रोचे पूर्णतः ठीक कहता है कि कलाकार कभी अपनी तूलिका को एक बार भी नहीं चलाता जब तक कि अपनी कल्पना में पहले से (अभिव्यंग्य वस्तु को) देख नहीं चुका होता है, और कलाकृति का बहिःप्रकाशन सतर्क संकल्प की अपेक्षा रखता है जो किसी स्वप्न या प्रज्ञा या प्रस्तुतीकरण को नष्ट होने नहीं देता ।'[६२] इसी आधार पर कुमारस्वामी ने कलाकृति के प्रेषण की प्रक्रिया प्रस्तुत की है :

(१) कलाकार में सौन्दर्यानुभूति की प्रज्ञा उदय लेती है ।
(२) फिर सहजानुभूत तत्त्व की आन्तरिक अभिव्यक्ति होती है ।
(३) तदनन्तर भाषा आदि के माध्यम से प्रेषण का कार्य सम्पन्न होता है ।
(४) और तब रसिक उक्त अनुभूति को अपने में सुलभ करता है ।[६३]

"रस आस्वादित होता है—सौन्दर्य अनुभूति-गम्य बनता है—तो केवल साधा-रणीकरण से । तात्पर्य यह कि स्थायी भाव की अनुभूति में रसिक प्रवेश करता है, परन्तु यह स्थायी भाव वही (लौकिक) भाव नहीं होता ।"[६४]

इस प्रकार आनन्द कुमारस्वामी ध्वनिमत के अनुसार ही अपना कलासिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं । उन्होंने योगभूमियों का इस सन्दर्भ में कोई विवरण नहीं दिया है—उसे उन्होंने आवश्यक नहीं माना है ।

(४)

अरविन्द के काव्य-सम्बन्धी विचार :

अरविन्द के भी काव्य-सम्बन्धी विचार कुमारस्वामी के समान ध्वनिमत के ही परिवेश में आते हैं । साधारणीकरण के विषय में उन्होंने प्रायः वही कहा है जो अभिनव को अभिमत रहा है :

"हमारे भीतर निर्वैयक्तिक आस्वादकर्ता ही कला-सौन्दर्य को आस्वादित करता है। कवि में रहनेवाले निर्वैयक्तिक स्रष्टा का वही सहृदय संवादभागी होता है। सत्य और सौन्दर्य की निर्वैयक्तिक आत्मा ही तो अभिव्यक्ति पाना चाहती है।"[६५]

देखा जा चुका है, संप्रज्ञातसमाधिवर्ग की मधुमती आदि भूमिकाएँ साधन हैं, चरम साध्य नहीं। सवितर्क से निर्वितर्क में, निर्वितर्क से सविचार में, सविचार से निर्विचार (मधुमती) में, निर्विचार से सानन्द में, सानन्द से सास्मित में और सास्मित से असंप्रज्ञात समाधि में पहुँचना योगी का लक्ष्य होता है। रसभूमि साधन नहीं है, चरम साध्य है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए अरविन्द का कहना है :

"एक आदर्श एवम् आत्मिक कविता अपनी और वस्तुओं की आत्मा का उद्घाटन करती है। वह आत्मा वही है जो दृश्य में अदृश्य या सर्वोपरि तथा उसके आसपास विद्यमान हैं। कविता सत्ता की उन भूमियों का अनावरण करती है जिन्हें भौतिक अन्तःकरण उपेक्षित मानता रहता है, इस प्रकार प्राणी में विद्यमान ईश्वरत्व की अर्हताओं की ओर मनुष्य को निर्देश देती है। लौकिक धरातल में अनुभूत सत्ता के लोकसामान्य मूल्यों से परे सत्य, सौन्दर्य, शक्ति और आनन्द का द्वार खोलना ही कविता का कार्य है। मानव-मस्तिष्क की कलात्मक तथा सर्जनात्मक शक्तियों की यह चरम महत्ता है।"[६६]

अरविन्द के अनुसार कविता की रसभूमि वैयक्तिक साधना अथवा व्यक्ति-परिमित सिद्धि नहीं है। इस सन्दर्भ में वे अँगरेजी की कविता में वैयक्तिकता की प्रधानता का उल्लेख करते हैं :

"अँगरेजी कविता अधिकाधिक वैयक्तिक है, जैसा कि तुलना में अन्य भाषाओं का साहित्य नहीं है। अतएव उसका लक्ष्य निर्वैयक्तिक तथा विश्वजनीन तथ्यों के प्रति प्रत्यक्षतः अत्यंत अल्प रहता है।"[६७]

अरविन्द के विचारों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता का चरम साध्य परमानन्द है, सबीज समाधियों का सापेक्ष सुख नहीं। बीसवीं शताब्दी के प्रायः तीस-पैंतीस वर्षों में जितना कुछ काव्यचिन्तन हुआ, उसकी प्रमुख धाराओं का इस प्रकार परिचय मिल जाता है। केवल एक समाजवादी यथार्थवाद या वस्तुवाद की धारा बचती है, उसपर प्रासंगिक विचार अपेक्षित है।

(५)

समाजवादी वस्तुवाद :

समाजवादी काव्य-चिन्तन में रसात्मक भाववाद का स्थान नहीं। वहाँ शुद्ध वस्तुवाद को महत्त्व मिलता है, ऐसी धारणा लेकर भारतीय प्रगतिवादी विचारकों का एक दल चल पड़ा है। वह 'रस' की सत्ता से इन्कार तो नहीं कर पाता, परन्तु उसी को प्रधानता नहीं दे सकता। अभिनवगुप्त वस्तु की भी रस में ही परिणति मानते हैं, जबकि

ये विद्वान् रस को भी तभी सार्थक बताते हैं जब उसकी परिणति वस्तु में हो क्योंकि वे काव्य का चरम साध्य लोक जीवन में सामाजिक उत्साह भरना मानते हैं, जो तभी सिद्ध होगा जब रस गौण रहे। काड्वेल जैसे विचारकों को सामने रखकर उत्तेजित रीति में रसवाद पर आक्षेप किये जाने लगे हैं। ये आक्षेप अपने आप ढह जाते हैं जब जनता में मनोभाव उभारने की चर्चा समाजवादियों द्वारा की जाती है। इसके बिना साहित्य अधूरा रहता है, इसे चीन के मनीषी चाऊ यांग् ने स्पष्ट स्वीकार किया है।

चाऊ यांग् यह तो मानते हैं कि साधारणीकरण होना चाहिए, पर वह यथार्थ वस्तुपरक हो, न कि भावपरक। फिर भी वे अपने कलाकारों को कोसते हैं कि लेखकों ने स्वानुभव से साक्षात्कार की स्थिति नहीं पायी है।[६८] वे काव्य-कला में बिम्ब-विधान को अनिवार्य मानते हुए अन्य वाङ्मय से अलगाव बताते हैं।[६९] भला, बिम्बविधान भाव-रहित कैसे होगा ?

विवाद केवल यह बचता है कि भाववाद या रसवाद रस में ही कला की चरम परिणति मानता है जबकि वस्तुवाद काव्य से वस्तु-व्यङ्ग्य की अपेक्षा करता है जिससे समाज को 'प्रगति' की या 'प्राग्गति' की प्रेरणा मिले। रस तो पिनक में डालनेवाला 'डोज़' है जो अपने-आपमें उपादेय नहीं। यहाँ इतना ही निवेदन करना है कि काव्य का क्षेत्र भाव-बिम्बात्मक है। चरित्र-शिक्षा उसकी वस्तुरूप देन है जिसे पाने के लिए ही सहृदय-समाज काव्य का सेवन नहीं करता। वह तो रस लेने जाता है, कोरी शिक्षा नहीं और अपने साथ शिक्षा लेकर लौटता है। यदि काव्य से कोरी शिक्षा मिलने लगे तो लोग कवि को न सुनकर नेता को ही सुनना पसन्द करेंगे। यही कारण है कि रूसी विचारक जीरी खुश्चोव को कहना पड़ा कि :

> "कदाचित् कोई कहे कि खुश्चोव फ़ोटोग्राफ़ी या प्राकृतिकता को कला में लाना चाहता है। नहीं; साथियो, मैं विविक्त कलात्मक प्रयास की बात कर रहा हूँ जिसमें यथार्थ जगत् का सच्चा प्रतिबिम्ब हो। उस चित्र में चाहे जितने रङ्गों की विविधता हो, पर प्रतिबिम्ब सच्चा हो। केवल ऐसी कला लोगों को प्रसन्नता और आनन्द देगी।[७०]

खुश्चोव के कथन से स्पष्ट है कि वे कला में आनन्द या रस को प्रमुख मानते हैं। ऐसी रचनाएँ हो सकती हैं जिनमें वस्तु की व्यञ्जना प्रधान हो, पर काव्यानुभूति में प्रवेश दिलाना उस वस्तु का भी लक्ष्य होता है और तभी 'काव्य' की सार्थकता है। अन्त में हम मार्क्स के शब्दों में कह सकते हैं :

> "न तो सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र और न रासायनिक प्रतिक्रियाएँ ही किसी काम आती हैं, विवेचनशक्ति अथवा निष्कर्ष-शक्ति को इन दोनों का स्थान लेना पड़ेगा।"[७१]

सारांश यह है कि कोरे तर्क की अपेक्षा विवेचनशक्ति का अधिक महत्त्व है और समाजवादी जब विवेचन की निष्पक्ष भूमि पर अपने चरण स्थिर करेगा तब वही सब कहेगा जो पहले कहा जा चुका है। अभी वह प्रतिक्रिया की भूमि पर है और इस चट्टान की ओर बढ़ रहा है।

समाजवादी यदि ध्वनिमत की शब्दावली में बात करे तो उसे कहना होगा कि काव्य वही उत्तम है, जिसमें व्यङ्ग्य वस्तु की इस प्रकार प्रधानता हो कि जनता अपने निर्माण-परक उपदेश प्राप्त कर सके। उसमें रस-व्यंग्य को गौण ही रहना चाहिए, पर रहना अवश्य चाहिए, जिससे केवल आनन्द में लीन होकर न रह जाय और काव्य का आकर्षण बना रहे। तात्पर्य यह कि काव्य सरस किन्तु वस्तुप्रधान हो। प्रश्न यह है कि वस्तु की तो अन्य ज्ञान-शाखाओं में भी प्रधानता रहती है तो काव्य के लिए विभाजक रेखा क्या होगी। निश्चय ही 'रस' काव्य का स्वरूप-निर्धारक है। समाजवादी इतना ही चाहता है कि काव्य अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए केवल रसीला हुआ तो सामाजिक उपयोग का न होगा अतः काव्य वस्तुप्रधान होकर उपयोगी बने।

खुश्चोव महोदय तो रस को महत्त्व यहाँ तक देते हैं :

> When I listen to Glinka's music, tears of joy always appear in my eyes. (सन्दर्भ ७१, पृ० ३१)
>
> (अर्थात् ग्लिङ्का का संगीत सुनकर मेरी आँखों में सदैव आनन्दाश्रु प्रकट हो जाते हैं।)

यह संगीत खुश्चोव की दृष्टि में भी रस-गत चमत्कार की ही प्रधानता रखता है। फिर भी वे कहते हैं :

> "कम्युनिस्ट पार्टी ने भाववाद के विरुद्ध (Against abstractionism) युद्ध छेड़ रखा है और हम लड़ाई जारी रखेंगे। कला में सभी शास्त्रीय उपचारों के हम विरुद्ध हैं। हम तटस्थ नहीं रह सकते।" (वही, पृ० २७)

स्पष्ट ही अन्तर्विरोध लक्षित होता है। हम इसका समाधान यों कर सकते हैं कि समाजवादी दर्शन सूक्ष्म चैतन्य को मूलसत्ता मानकर नहीं सोचना चाहता। वह भौतिक परिधि में ही सभी मानवीय या जैविक क्रियाओं की व्याख्या करना चाहता है :

> "भौतिकवाद का अर्थ है ऐसा दृष्टिकोण जो भौतिक संसार की हर चीज की, जिसमें मानव-जीवन की सभी घटनाएँ शामिल हैं, व्याख्या खुद भौतिक दुनिया के ही आधार पर करता है। इसलिए यह उन सिद्धान्तों का विरोधी है जो भौतिक वस्तुओं को किसी-न-किसी अर्थ में भाव, मस्तिष्क या आत्मा पर निर्भर मानते हैं। ऐसे सिद्धान्तों को भाववादी कहा जा सकता है और 'भाववाद' का उलटा है 'भौतिकवाद'। भाववाद के विपरीत, भौतिकवाद हर मानसिक या आध्यात्मिक वस्तु को पदार्थ अथवा भूत की गतिशीलता की उपज, भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित और भूत से स्वतन्त्र रहकर अस्तित्व में न रहनेवाली मानता है।" (कार्नफ़ोर्थ : मार्क्सवादी दर्शन, भूमिका, पृ० ७)

यह मतभेद दूर तक नहीं ले जाता—कम-से-कम काव्यचिन्तन में। अधिक-से-अधिक रस को भौतिक सूक्ष्म प्रतिक्रिया कह दिया जायगा, पर इससे व्यंग्य अर्थ की सत्ता पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं आता। रस आत्मानन्द न होकर भौतिक तथा ऐन्द्रिय सुख

ही है, मान लेने पर 'इन्द्रिय' की व्याख्या करनी ही होगी और बोध-प्रणाली का दार्शनिक आकलन करना होगा। इससे समाजवादी मुक्त कैसे होगा ?

देखा जा चुका है कि 'इन्द्रिय-बोध' कहकर भी हम छुट्टी नहीं पाते। हमें अन्तरिन्द्रिय पर बल देकर विचार करना होगा जिसकी सीमाएँ निश्चित करनी होंगी; चाहे वह अन्तरिन्द्रिय नाड़ी-संस्थान और मस्तिष्क से भिन्न अमान्य हो। जब कार्नफ़ोर्थ कहते हैं :

> "द्वन्द्ववाद का उद्देश्य है इसका पता लगाना कि बाहरी कारणों का अन्दरूनी कारणों से, स्वरूपों का सारतत्त्व से और प्रकट रूपों का यथार्थ से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है।" (वही, पृ० ३६)

तब 'यथार्थ' को सूक्ष्म ही ठहराते हैं, 'प्रकट रूप' नहीं। यह 'यथार्थ' ही अपने मूल में 'आनन्द' हो सकता है या नहीं, प्रश्न बचा रह जाता है। यदि इन्द्रिय की पहुँच पूर्ण यथार्थ तक है तो यह 'इन्द्रिय' क्या है ? देख चुके हैं कि योग की सूक्ष्मतम 'संप्रज्ञात भूमि' या 'अस्मिता' तक चित्त की पहुँच है। यहाँ समाजवाद और योगवाद में तात्त्विक अन्तर नहीं। रसभूमि को उससे ऊँची माननेवालों से विरोध होना चाहिए। ध्वनिमत में 'अतीन्द्रिय' कहकर रस की व्याख्या नहीं की गयी है।

वस्तु की अपेक्षा आनन्द (रस) को सूक्ष्म न मानना समाजवादी के बूते का नहीं। रसानुभूति आन्तरिक है, उसकी भूमिका वस्तु की उपज हो तो भी आगे है—वस्तुगत घात-प्रतिघात की देन है और वस्तु का गम्य-स्थान है। तब कैसे माना जाय कि वस्तु ही सब कुछ है ? किसी वस्तु का घात-प्रतिघात के बाद स्वरूप मिट जाता है—समाजवाद में सब परिवर्तमान है। अतः वस्तु से जब तक 'रस' की उपज होगी तब तक वस्तु समाप्त हो जायगी, उसकी वासना शेष रहेगी। रसानुभूति के बाद वासनावश पुनः वस्तुस्मरण करके उपदेश ग्रहण किया जाता है—यही तर्कसंगत प्रतीत होता है। 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यम्' का उपदेश ध्वनिमत में भी मान्य रहा है और उसे काव्य-प्रयोजन माना गया है।

अस्तु, ध्वनिमत कोई दार्शनिक मताग्रह नहीं करता अतः समाजवाद के अनुसार रस और वस्तु का जो स्वरूप बनेगा उसी की व्यञ्जना को लेकर काव्य-स्वरूप और काव्य-भेद का निर्धारण किया जायगा।

(६)

विप्रलम्भ शृंगार और करुण (करुण विप्रलम्भ) :

करुण और विप्रलम्भ दोनों इष्टवियोग-जनित होते हैं अतः दोनों में क्या अन्तर है ? यह प्रश्न भरत के समक्ष भी था और उन्होंने दोनों में अन्तर स्पष्ट किया है—करुण की निष्पत्ति के कारण हैं शाप या क्लेश से आगत इष्टजननाश, विभवनाश, वध, बन्धन आदि जिसमें नष्ट वस्तु के प्राप्त करने की अपेक्षा समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत विप्रलम्भ में प्राप्ति की अपेक्षा बनी रहती है अतः उसमें औत्सुक्य, चिन्ता आदि अनिवार्यतः आधारभूत भाव रहते हैं।[७३]

अभिनव ने आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि विप्रलम्भ रस अधम प्रकृतिवाले पात्र में नहीं होता, क्योंकि उसमें रति स्थायी भाव ही वियोग में शून्य हो जाता है, वह इसलिए कि स्थायी भाव की विभाव-सामग्री उसके लिए शून्य हो जाती है और तब करुण ही हो सकता है। इसी प्रकार उत्तम प्रकृति में भी यदि रति के विपरीत शोक का उदय हो तो करुण का स्थायी बन जायगा क्योंकि उसमें 'रति' की अपेक्षा जाती रहती है।[७४]

तात्पर्य यह हुआ कि औत्सुक्य और चिन्ता यदि आलम्बन के प्रति न रहे तो विनाश या आत्यन्तिक वियोग न होने पर भी करुण ही होगा और यदि उक्त दोनों भाव बने रहें तो विनाश की स्थिति में भी करुण न होगा, विप्रलम्भ रहेगा। इस तथ्य को सामने रखकर संस्कृत के दो ग्रन्थों को उदाहरण में लिया जा सकता है—उत्तररामचरित और कादम्बरी। उत्तररामचरित में राम ने सीता के प्रति शोक ही व्यक्त किया है, यद्यपि वे जीवित ही मिल जाती हैं जबकि कादम्बरी की महाश्वेता प्रेमालम्बन के मर जाने पर भी उक्त औत्सुक्य आदि को बनाये हुए तप करती रहती है अतः विप्रलम्भ है। इसी को 'करुण-विप्रलम्भ' नाम दिया गया है।

> '''युवक और युवति में से एक दिवंगत हो जाय और पुनर्मिलन संभव हो तथा विरही व्यक्ति वियोग-विकल रहे तो 'करुण-विप्रलम्भ' होता है।''[७५]

आचार्य विश्वनाथ ने इस विषय में तीन मत प्रस्तुत किये हैं :

(१) कादम्बरी में आकाशवाणी के अनन्तर मिलन की प्रत्याशा होती है, तभी रतिभाव का पुनरुदय होता है, अतः आकाशवाणी से पूर्व करुण ही है। यह पूर्वाचार्यों का मत है। भरत को भी इस वर्ग में ले सकते हैं क्योंकि आकाशवाणी से पहले औत्सुक्य और चिन्ता की संभावना ही नहीं है।

(२) आकाशवाणी के अनन्तर मिलन की आशा का उदय होता है अतएव उस अवस्था में शुद्ध विप्रलम्भ है। (अर्थात् करुण और विप्रलम्भ एक साथ नहीं रह सकते अतः 'करुण-विप्रलम्भ' जैसा कुछ नहीं होता।)

(३) अन्य आचार्य दोनों को मिलाकर एक स्थिति स्वीकार करते हैं और 'करुण-विप्रलम्भ' नाम से व्यवहृत करते हैं।

वस्तुतः दोनों स्थितियाँ पृथक्-पृथक् ही हैं अतः विप्रलम्भ के चतुर्थ भेद की गणना महत्त्व नहीं रखती। हिन्दी में ऐसा कुछ मिलता नहीं और 'कादम्बरी' अकेली ऐसी रचना है जिसमें यह स्थिति देखी जाती है।

(७)

तात्पर्य-वृत्ति का परिशेष :

दशम अध्याय में तात्पर्यवृत्ति और ध्वनिमत की तुलना प्रतिपादित की गयी है। वहाँ एक अंश पर विचार जान बूझकर छोड़ दिया गया था, जो अधिक आवश्यक नहीं था। (परन्तु प्रकाशन से पूर्व ग्रन्थ के समीक्षक का सुझाव है कि उस अंश को भी जोड़

दिया जाय ।) उसे जोड़ने का प्रयोजन यहाँ इतना ही हो सकता है कि 'तात्पर्य' का समुचित अर्थ हृदयंगम हो जाय और ध्वनि-विरोध का निराकरण हो सके । वह मीमांसा-दर्शन का अंश है :

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः । (काव्यप्रकाश, उल्लास ५)

कुछ अभिधावादी (या तात्पर्यवादी) इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार कर लेते हैं कि—जो शब्द का प्रधानीभूत अर्थ होता है, वह वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) होता है । उस दशा में व्यञ्जनावादी जिसे व्यंग्य अर्थ बताता है वही प्रधानीभूत अर्थ ठहरता है अतः वह तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं माना जा सकता । क्योंकि शब्द या वाक्य उसी में तत्पर होता है अतः वह तात्पर्य ही है, ध्वनिवादी व्यञ्जनाशक्ति का शङ्खनाद व्यर्थ ही करता है ।

ध्वनिवादी इस चुनौती से घबराता नहीं । वह जानता है कि उक्त सूत्र का मीमांसा-दर्शन में वही अर्थ नहीं ओ ऊपर लगाया गया है । उसका अर्थ इतना ही है कि वाक्य में जिस पद की प्रधानता होती है, पूरा वाक्य उसी में तत्पर होता है—उसका उसी में तत्परत्व या तात्पर्य रहता है । उदाहरणार्थ हम एक वाक्य को लें :

राम ने रावण को मारा ।

यह वाक्य कई प्रश्नों का उत्तर हो सकता है :

(१) किसने रावण को मारा (राम ने) ।
(२) राम ने किसको मारा (रावण को) ।
(३) राम ने रावण को क्या किया (मारा) ।
(४) किसने किसको मारा (राम ने रावण को) ।
(५) राम ने किसको क्या किया (रावण को मारा) ।
(६) किसने रावण को क्या किया (राम ने मारा) ।
(७) किसने किसको क्या किया (राम ने रावण को मारा) ।

अभिप्राय यह है कि वाक्य का जितना अंश श्रोता के लिए अपूर्व, अज्ञात, साध्य होता है, वाक्य का तात्पर्य उसी अंश में होता है । जो सिद्ध, ज्ञात या पूर्वोपस्थित रहता है उसमें वाक्य की तत्परता नहीं रहती, अतः वह तात्पर्यार्थ नहीं है । वाक्य का प्रथमोक्त अंश ही 'विधेय' कहा जाता है जबकि द्वितीयांश अनुवादमात्र किया जाता है, अतः 'अनूद्य' कहा जाता है । इस प्रकार वाक्य के दो अंश बने :

(१) अनुद्यांश (उद्देश्य भाग) जो पहले से उपस्थित रहता है, केवल वाक्य-पूर्ति में लाया जाता है ।

(२) विधेयांश (साध्य या भव्य) ही तात्पर्य में परिगणित होता है क्योंकि वक्ता का उतने ही से अभिप्राय रहता है ।

उक्त सूत्र का पूरा अभिप्राय दूसरे सूत्र के साथ मिलाकर निकालना चाहिए :

भूत-भव्य-समुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते । (वही)

अर्थात् भूत या अनूद्य अंश, जो पूर्वसिद्ध है, पहले ही ज्ञात हो चुका है, वाक्य में स्वतः महत्त्व नहीं रखता। वह तो भव्य या साध्य या विधेय के लिए प्रयुक्त होता है, जो पूर्व-ज्ञात नहीं है (जिसे लेकर प्रश्न किया जाता है)।

इसे और स्पष्ट करने के लिए आचार्य मम्मट ने 'अदग्ध-दहन न्याय' का सहारा लिया है। जिस प्रकार आग उतने ही को जलाती है जितना जलने से बचा होता है या पहले से जला नहीं रहता, उसी प्रकार वाक्य-प्रयोग उसी अंश के लिए होता है जो पूर्वोपस्थित नहीं रहता। वाक्य के सभी पद अपूर्व (विधेय) हो सकते हैं यदि सभी पहले से अज्ञात रहे हों, अन्यथा जो अज्ञात अंश होगा, वक्ता का उसी में तात्पर्य होगा, वही विधेय है।

सूत्र का यह आशय स्पष्ट हो जाने पर भ्रान्ति नहीं रह जाती कि व्यंग्यार्थ की सीमा में तात्पर्यार्थ का प्रवेश हो सकता है। इसीलिए मम्मट ने आक्षेप किया है कि :

> "तात्पर्य शब्द का ये बेचारे अर्थ तक नहीं समझते और मतस्थापन में पिल पड़ते हैं।"[७६]

इस प्रकार 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव 'तात्पर्य' में करना चाहें तो 'तात्पर्य' को मीमांसावाले अर्थ से हटाकर लाना होगा और तब नाममात्र का विवाद बचेगा क्योंकि ध्वनिमत के सभी प्रश्नों का समाधान तात्पर्यवाद को करना होगा और तब उतने ही वर्ग नाम बदलकर खड़े करने होंगे।

(८)

भक्तिरस और रसाभास :

भक्तिरस के प्रवर्तक चैतन्यमत की दृष्टि से देखा जाय तो लौकिक आलम्बनों के आधार पर बननेवाले सभी रस रसाभास-कोटि में आते हैं क्योंकि लोकोत्तर परमेश्वर की ही आलम्बनता में अलौकिक रस हो सकता है। इस प्रकार एक भक्त सहृदय के लिए विक्षेप-जनक होने से ध्वनिमतवाले परम्परागत रस अनौचित्य-ग्रस्त हो जाते हैं और सरलता से 'रसाभास' कहे जा सकते हैं। ग्राम्यजनों की रति के चित्र जिस प्रकार आभास कोटि में सामान्य सहृदय लेता है, उसी प्रकार भक्त सहृदय की दृष्टि में दुष्यन्तादि-विषयक श्रृङ्गार रसाभास ही है क्योंकि भक्ति-रस में लीन रहने के कारण उसे उससे बाहर सब अनुचित ही दिखेगा।

यह बात भक्त के लिए सही हो सकती है, पर सामान्य सहृदय पूर्ण रसरूप में ही लौकिक कारणवाले विभावादि का ग्रहण करता है, इसमें भी सन्देह नहीं। यह केवल दृष्टिभेद है। अनौचित्य का क्षेत्र मन है और मन की विविधता हो सकती है। जिनको भक्ति में तल्लीनता नहीं होती, वे उसे वस्तुरूप भाव से पृथक् रसरूप में अनुभूतिगम्य नहीं कर सकते। कालिदास ने शिव-पार्वती का जो श्रृंगार-वर्णन किया है, उसे भी समीक्षा-चार्यों ने अनुचित बताया है। इसका कारण यही है कि विभाव-पक्ष के प्रति हम मातृ-पितृ भाव रखते हैं, अतः रसाभास ही हाथ लगता है। जिसके संस्कार वैसे नहीं हैं, उस योरोपियन को उसमें पूर्ण रसनिष्पत्ति होगी, रसाभास जैसा कुछ भी नहीं लगेगा। यदि

हम अनौचित्य का यह अभिप्राय लें तो राधाकृष्ण-विषयक शृङ्गार भी—जो भक्तिरस-वादी की दृष्टि में महारस है—कहीं-कहीं रसाभास ही कहा जायगा। उदाहरणार्थ :

निष्क्रान्ते रति-कुञ्जतः परिजने शय्यामवापय्य मां
स्वैरं गौरि रिरंसया मयि दृशं दीर्घां क्षिपत्यच्युते।
सद्यः - प्रोद्यदुरु - प्रमोद-लहरी - विस्मारितात्मस्थितिः
नाहं तत्र विदांबभूव किमभूत् कृत्यं किलातः परम्॥

(उज्ज्वलनीलमणि, नायिकाभेद, पृ० ४३)

अर्थात् हे सखि, जब केलि-कुञ्ज से परिजनों का निष्क्रमण हो गया तो मुझे सेज पर पहुँचाकर स्वच्छन्द रति की इच्छा से कृष्ण ने मेरे ऊपर बड़ी-बड़ी आँख डाली, फिर तो तत्काल आनन्द-तरंगों में डूबकर मैं अपने आपको ही भूल गयी और उसके बाद क्या कृत्य हुआ, यह कुछ भी मैं न जान सकी।

मधुर-रस में निमग्न भक्त को अलग रखा जाय तो सामान्य सहृदय के लिए यह संयोग-वर्णन एक प्रकार से अनुचित ही है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्म व्यञ्जनावाले स्थलों में संभोग-शृङ्गार अधिक प्राञ्जल प्रतीत होगा :

छूटतीं चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त;
वात-चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश। (कामायनी)

इसे भक्ति-काव्य न होने से ही रसाभास-काव्य कैसे कहा जा सकता है ? उक्त श्लोक को पढ़कर हिन्दू-सहृदय एक संकोच से भर जाता है, उसे राधाकृष्ण का ईश्वरत्व बार-बार स्मरण आता है, अपने को सँभालना पड़ता है, जबकि इस पद्य में वैसा कोई बन्धन नहीं अतः निर्बाध आनन्द ही रहता है।

यही कारण है कि आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरस की उच्चता स्वीकृत करके भी लोकालम्बन रस को रसाभास नहीं बताया है।

(६)

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्याय में ऐसी सामग्री संकलित की गयी है जिसका मुख्य ग्रन्थ में समावेश नहीं हुआ था। हिन्दी में वैचारिक विविधता पायी जाती है अतः इन तथ्यों पर भी विचार आवश्यक प्रतीत हुआ। मुख्य रूप से इस अध्याय में शुक्ल-युग की विभिन्न मान्यताएँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनका आज पुनर्मूल्याङ्कन अपेक्षित था। शास्त्रीय तथ्यों में से जो रह गये थे, उनका भी समाहार कर लिया गया है। समाजवादी चिन्तन पर सरसरी दृष्टि डाली गयी है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को विविध कोणों से देखने और समझने का पथ प्रशस्त होगा।

निर्वहण १६

भारतीय शब्दचिन्तन की यह महती विशेषता रही है कि यहाँ शब्द और अर्थ के साथ-साथ 'शक्ति' का भी दार्शनिक विवेचन होता चला है। मूलतः एक ही तत्त्व के ये तीन रूप हैं। क्रियातत्त्व के आधार पर विचार करें तो 'अर्थ' बाह्य क्रिया-समूह है, 'शब्द' वक्ता के नाड़ी-संस्थानादि का व्यापार-समुच्चय है और 'शक्ति' वक्ता की मानसी क्रिया, जो शब्द को अर्थ से जोड़ती है, अतएव 'शक्ति' को वृत्ति, व्यापार, क्रिया, सम्बन्ध आदि नामों से जाना जाता है। यदि हम आदिम भाषा की कल्पना करें तो यह भी आभास होगा कि मनुष्य ने जब कायिक संकेतों को वाग्यन्त्रीय संकेतों में बदलकर अभिव्यक्ति की नूतन दिशा में प्रस्थान आरम्भ किया होगा तब शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ़ न होकर, चित्रात्मक या सूचनात्मक रहा होगा। इस प्रकार के शब्दार्थ-सम्बन्ध को 'व्यञ्जना' ही कहा जा सकता है। धीरे-धीरे एक शब्द एक अर्थ के साथ प्रतिबद्ध होकर रूढ़ बना होगा और तब उस रूढ़ सम्बन्ध को 'अभिधा' नाम से जाना गया। अभिधा द्वारा बोधित अर्थ को 'वाच्य' अथवा 'शक्य' कहा जाता है। जब कभी अभिधा का अर्थ अनुपपन्न रहता है तब रूढ़िवश या प्रयोजनवश हम ऐसे अर्थ का बोध करते हैं जो वाच्य अर्थ से सम्बद्ध रहता है फिर भी उससे भिन्न होता है, उस दशा में 'लक्षणा' शक्ति मानी गयी। उदाहरणार्थ, दुःख-सहिष्णुता के विचार को चारित्रिक विशालता के साथ सम्बद्ध माना जाता है और हिंसा को दृढ़ता के साथ।[1] अतएव तप, तपस्वी आदि शब्द पात्र को महान् सिद्ध करते हैं और सिंह, व्याघ्र आदि पौरुष को लक्ष्यार्थ बनाते हैं।

अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियाँ अर्थ-परिवर्तन का भी कारण बनती हैं—एक समय का लाक्षणिक अर्थ कालान्तर में वाच्यार्थ बन जाता है। इसका कारण यही है कि कोई शब्द अपने रूढ़ अर्थ के साथ-साथ प्रायोगिक प्रसंग का अर्थ-मण्डल भी सम्मिलित किये रहता है। प्रसङ्ग बदलता है तो रूढ़ अर्थ वही रहता है पर उसके अर्थवृत्त में असंख्य छोटे-बड़े भाव या विचार जुड़ जाते हैं और इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन की भूमि उर्वर हो जाती है क्योंकि अर्थवृत्ति में आनेवाले बहुत से अर्थों में से कोई एक यदि प्रयोगों में अभ्यास पाता जाता है तो शब्द का नये अर्थ से सम्बन्ध जुड़ जाता है और इस क्रिया में मानव-मस्तिष्क ही उत्तरदायी ठहरता है।[2]

इस सन्दर्भ में जे० वेन्ड्रीस् की अवधारणा भारतीय चिन्तन के अनुरूप ही है :

"यद्यपि क्षण-विशेष में जब शब्द प्रयुक्त होता है तो उसका पूर्णतः क्षणिक मूल्य रहता है और वह उन अर्थों से बचा रह जाता है, जिनके लिए अन्य अव-

स्थाओं में वह प्रयुक्त हो सकता है। यह तथ्य है कि शब्दों में अर्थ-वैविध्य रहता है, जो निरन्तर यत्न-शील रहता है, जिससे शब्द के अर्थ का समय-समय पर महत्त्व भी प्रभावित होता रहता है।"[३]

अर्थ के स्थिरत्व के आधार पर अभिधा शक्ति की प्रतिष्ठा है और अभिधेयार्थ-सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा स्थित है। जहाँ ये दोनों शक्तियाँ कृतकार्य नहीं हो सकतीं वहाँ व्यञ्जना शक्ति अर्थ-बोध कराती है। यही वह निष्कर्ष है जिसपर ध्वनिवादी काव्य-चिन्तन का दायित्व रहा है। ध्वनिमत में मान्य किया गया है कि व्यञ्जना द्वारा बोधित व्यंग्य अर्थ ही काव्य का सर्वस्व है जो शाश्वत एवं चिरन्तन विचारों तथा भावों के बिम्ब-रूप में प्रस्तुत होता है। ए० सी० ब्रैडले ने 'शेली की काव्यदृष्टि' निबन्ध में ठीक ही कहा है :

> "यह (कविता) उन शाश्वत तथ्यों का उद्घाटन है, जो विविध रङ्ग-रूप-वाले, सतत परिवर्तमान अवगुण्ठन के पीछे छिपे रहते हैं। इस अवगुण्ठन को हम यथार्थ या जीवन कहते हैं। अथवा अपेक्षाकृत अधिक सत्य यह है कि कविता बहुत्व में एकत्व का उद्घाटन है।....कवि रचयिता है, परन्तु यह रचना केवल उसी की कल्पना-प्रसूति नहीं है; प्रत्युत वह उन रूपों को प्रस्तुत करती है जो विश्व-जनीन प्रकृति के प्रति सामान्य होते हैं; फलतः कविता शाश्वत सत्य के रूप में अभिव्यक्त जीवन-बिम्ब है।"[४]

यथार्थ लोकव्यवहार का अवगुण्ठन दुःख-मोहात्मक रहता है; भट्टनायक ने उसी के हटने की बात की है जब उन्होंने रजोगुण और तमोगुण के तिरोभाव तथा सत्त्वगुण के आविर्भाव को रस-भोग बताया। उक्त उद्धरण का 'शाश्वत तथ्य' ही निर्वैयक्तिक भाव-वासना है जिसकी व्यञ्जना ही रस है, यही ध्वनिमत की स्थापना है। 'सामान्य रूपों का प्रस्तुतीकरण' ही साधारणीकरण है जिसपर इस शताब्दी में गहन विचार होने लगा है।

काव्य-बोध : सौन्दर्य :

व्यावहारिक सौन्दर्य से भिन्न काव्य के विलक्षण सौन्दर्य की सर्वत्र चर्चा है। आचार्य वामन सौन्दर्य को ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं और गुण-रीति, अलंकार तथा दोषाभाव द्वारा सौन्दर्य की निष्पत्ति बताते हैं, परन्तु यह स्पष्ट नहीं करते कि सौन्दर्य कहाँ रहता है—वह काव्यगत है या आत्मगत। आत्मगत मानने पर ही उसे अनुभूतिरूप में लिया जा सकता है। एक पक्ष यह भी हो सकता है कि सौन्दर्य विषयगत है; अर्थात् उसकी सत्ता वर्ण्य विषय में होती है जिससे सहृदय आह्लादित होता है। न्यायमत सौन्दर्य को विषयगत ही मानता है—भट्टशंकुक अनुकृत विभावादि से अनुमित स्थायीभाव में एक विलक्षण सौन्दर्य मानते हैं और व्यावहारिक तथ्यों से उसे पृथक् घोषित करते हैं। इसके विपरीत भट्टनायक साधारणीकृत भाव को काव्य में ही स्थित मानते हैं जिससे प्रमाणित होता है कि न तो विषयगत और न ही विषयिगत सौन्दर्य को वे मान्य कर सकते हैं। इन सबसे पृथक् ध्वनिमत की स्थापना है कि वस्तुतः सहृदय (विषयी) में ही सौन्दर्य

की सत्ता है—वासनात्मक भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार रहता है और वही सौन्दर्य है। वासनात्मक भाव की निर्वैयक्तिकता सौन्दर्य का कारण है क्योंकि उसमें दुःखात्मक वैयक्तिकता का स्पर्श नहीं रहता। वह निर्वैयक्तिक भावना या कल्पना का सौन्दर्य है जिसे कवि सहृदय के प्रति प्रेषित करता है। ब्रैडले की भी ऐसी ही धारणा है :

> "काव्य हमारी कल्पना को कमनीय निर्वैयक्तिकता से परिपूर्ण कर देता है—और यह निर्वैयक्तिकता उस सबकी होती है, जो कुछ हम होना चाहते हैं।"[५]

यह सौन्दर्य या रसबोध एकमात्र आनन्दरूप क्यों होता है ? इसीलिए कि उसमें वैयक्तिकता का समावेश नहीं रहता। पूर्णता में आनन्द ही आनन्द है, अल्पता या सीमा ही दुःख का कारण है :

भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति।

इसी तथ्य को ब्रैडले ने स्पष्ट किया है :

> "काव्य के भाव कल्पना-प्रवण आत्मा को क्यों आनन्दित करते हैं ? इसलिए कि वे भाव वस्तुतः आत्मा की पूर्णता का बिम्ब होते हैं—पूर्णताप्राप्त आत्मरूप की प्रतिच्छवि होते हैं। यह पूर्णता हमारी अन्तरात्मा के विविध पक्षों या रूपों की होती है और बाह्य जगत् की भी होती है। इसलिए काव्य का भाव हमारे संकल्पों और अनुभूतियों का पूर्ण सामरस्य हो सकता है जिसे धर्म कहते हैं; या हमारे सामाजिक सम्बन्धों तथा शक्तियों की पूर्ण व्यवस्था का हो सकता है जिसे विधान या संस्था कह सकते हैं; अथवा यह भाव हमारे वैचारिक तथ्यों के पूर्ण सामञ्जस्य का हो सकता है जिसे सत्य कहा जाता है; अथवा आत्मा का आत्मा से मिलन हो सकता है जिसे प्रेम कहते हैं। विस्तृत अर्थ में कविता का कार्य उक्त भाव को रूपायित करना और व्यक्त करना है।"[६]

इन तथ्यों से प्रकट है कि हमारी आन्तरिक पूर्णता की अभिव्यक्ति ही काव्य है और वह पूर्णता ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य अपने बाह्य रूप में विषयगत कहा जाकर काव्य का वर्ण्य बनता है परन्तु अनुभूति में उतरकर वह विषयिगत ही होता है।

काव्य की व्यञ्जनाशक्ति :

काव्य में अप्रत्यक्ष कथन का ही महत्त्व रहता है। इसके लिए व्यञ्जनाशक्ति मान्य की गयी है। ध्वनि-सिद्धान्त व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर काव्य-भेदों की स्थापना करता है। व्यञ्जना कभी सीधे अभिधा के माध्यम से, कभी लक्षणा और कभी व्यञ्जना के माध्यम से होती है। प्रथम प्रकार की व्यञ्जना में काव्य के अधिकतर अर्थ आ जाते हैं जिनमें रसादि, वस्तु और अलंकारध्वनि सम्मिलित हैं। शेष दो प्रकारों में अप्रत्यक्ष व्यञ्जना होती है। इस तथ्य को ब्रैडले ने इस प्रकार कहा है :

> "मैं विश्वास करता हूँ....और मुझे साग्रह मानना चाहिए कि काव्य का तत्त्व केवल तथ्य (वाच्यार्थमात्र) कभी नहीं होता, प्रत्युत सदैव आदर्शरूप (भावात्मक)

होता है; यद्यपि उसके प्रस्तुतीकरण की रीति कभी अधिक प्रत्यक्ष, और कभी अधिक अप्रत्यक्ष होती है।"[७]

ध्वनिकार का कथन 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इसी तथ्य पर अवलम्बित है। वस्तुतः काव्य की परिभाषा भाषा की समस्या है, अतः भाषा की शक्तियों के आधार पर ही उसका निर्धारण उचित भी है। भारतीय विचारकों में भावकत्ववाद, तात्पर्यवाद और वक्रोक्तिवाद भी प्रकारान्तर से काव्य में अप्रत्यक्ष-कथन की ही बात करते हैं। व्यञ्जना-शक्ति को वे भले ही अमान्य करते हों परन्तु शब्दशक्ति के सन्दर्भ में विवेचना का अन्य मार्ग युक्तियुक्त नहीं रहा है। अनुमानवाद भी काव्य के अप्रत्यक्ष-कथन की ही व्याख्या करता है। भाषाविज्ञान में तो 'व्यञ्जना' ही काव्य-बोध की व्याख्या का एकमात्र मार्ग है। चार्ल्स् एफ़्० हाकेट् जैसे अधुनातन भाषाशास्त्री का कथन बड़े महत्त्व का है :

> "संभवतः अधिक उत्तम आधारभूत परिभाषा, जो काव्य-भाषा की हो सकती है, यही है कि यथासम्भव उसमें पदों द्वारा प्रस्तुत आकृतियों के संगुम्फनों का महत्त्व द्वितीय श्रेणी का होता है; अर्थात् शब्दों के वाच्य अर्थ को नयी शक्ति देने के वे साधन हो जाते हैं।"[८]

स्पष्ट है कि हाकेट् के अनुसार काव्य के शब्द नयी शक्ति के साथ अवतीर्ण होते हैं जिनका वाच्यार्थ गौण हो जाता है। यह नयी शक्ति ही 'व्यञ्जना' है। पाश्चात्य चिन्तन में जो बात स्पष्ट नहीं कही जा सकी है, उसे विस्तार से ध्वनिमत में प्रतिपादित किया गया है। वस्तु और अलंकार वाच्यरूप में भी आते हैं, परन्तु रस और भाव तो केवल व्यङ्ग्य रहते हैं—उन्हें सीधे अभिधा द्वारा अनुभूति में नहीं लाया जा सकता। ध्वनिमत में रस पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है और उसे 'काव्यात्मा' की संज्ञा दी गयी है :

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्च-द्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ (ध्वन्यालोक)

रस :

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति। (तैत्तिरीय)

अर्थात् आत्मा रसरूप है क्योंकि रस प्राप्त करके ही पुरुष आनन्दित होता है (रस ही आनन्द है और आनन्द ही आत्मा है)। इस दृष्टि से विचार करें तो आत्मानन्द, आत्म-विश्रान्ति और रस एकार्थक ही ठहरते हैं, अतएव पण्डितराज ने कहा है :

भग्नावरणा चिदेव रसः।

अर्थात् जागतिक आवरणों के हटने पर जो शुद्ध चैतन्य का स्वरूप प्रकट होता है, वही रस है। इससे 'रस' का निरपेक्ष रूप तो ज्ञात हो जाता है, परन्तु काव्य के शृङ्गारादि रस निरपेक्ष न होकर भाव-सापेक्ष होते हैं और भाव चित्तवृत्ति को कहते हैं। चेतना और चित्तवृत्ति का मिश्ररूप ही काव्य का रस है। ध्वनिकार के मत का उपस्थापन करते हुए पण्डितराज ने कहा है :

भग्नावरण-चिद्-विशिष्ट-भाव एव रसः।

ब्रैडले ने भी ऐसा ही मत दिया है :

"अनेक रङ्गोंवाले दर्पण के समान, उज्ज्वल शाश्वत की शिला पर जीवन के रंग विरंगे चिह्न प्रकट होते हैं।"[९]

सुख-दुःखात्मक भावों से रँगकर जो चेतना का वासना-सम्पृक्त स्वरूप काव्य से व्यक्त होता है, वही 'रस' है। ध्वनिमत के अतिरिक्त भट्टनायक को भी यही अभिमत है क्योंकि वे सत्त्वगुण से युक्त चैतन्य की विश्रामदशा को रसास्वाद मानते हैं। अन्तर इतना अवश्य है कि ध्वनिमत में 'आस्वाद' से पृथक् रस की सत्ता नहीं है जबकि भट्टनायक साधारणीकृत भाव को रस कहते हैं और उसके आस्वाद या भोग को पृथक् मानते हैं। भट्टलोल्लट और भट्टशङ्कुक सर्वथा विषय-प्रधान विचारक हैं जो रस की परिभाषा में आत्मा या चेतना का योग नहीं स्वीकार करते।

ध्वनिमत में कहा जायगा कि वासना-सम्पृक्त चेतना ही रस है जो काव्य के विभावादि द्वारा व्यक्त होती है। अव्यक्त से व्यक्त रूप में आना ही रसनिष्पत्ति है। चेतना आनन्दरूप है, अतः दुःखात्मक भाव की सूक्ष्म वासना की परिधि रहने पर भी रस आनन्दरूप ही रहता है। इस सन्दर्भ में ब्रैडले ने शेली का मत उद्धृत किया है :

"वह (शेली) स्वयं मानता है कि यद्यपि काव्यानन्द प्रायः अमिश्रित होता है, परन्तु 'हमारी चेतना के उच्चतम भाग का आनन्द अविरत रूप में निम्न चेतना-स्तर की पीड़ा से सम्पृक्त रहता है।' अर्थात् 'शोक में जो आनन्द होता है वह सुख के आनन्द से अधिक मधुर होता है।' शोक ही नहीं, 'भय, मनोव्यथा, अवसाद आदि भी प्रायः उच्चतम आनन्द के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं'।"[१०]

साधारणीकरण :

भरत के बाद आचार्य भट्टनायक साधारणीकरण के प्रवर्तक आचार्य हैं। वे काव्य में भावकत्व व्यापार मानते हैं और उससे साधारणीकरण का सम्पन्न होना बताते हैं। पहले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का साधारणीकरण होता है और फिर स्थायी भाव साधारणीकृत होकर 'रस' संज्ञा प्राप्त करता है। यहाँ ध्यान यह रखना चाहिए कि स्थायी भाव ही रस है और वह प्रधान पात्र (नायक-नायिका) से सम्बद्ध होता है। उसी के कारण-कार्य-सहकारी साधारणीकृत होकर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव बनते हैं। प्रतिनायक या खल पात्र का स्थायी भाव साधारणीकृत नहीं होता—वह भाव अधिक-से-अधिक उस वर्ग के दुष्ट पात्रों का सामान्य भाव हो सकता है, पर सामान्य लोक का भाव नहीं हो सकता। जब यह भाव साधारणीकृत नहीं है तो उसका कारण साधारणीकृत न होगा कि विभाव बन सके। उदाहरणार्थ, रावण जब सीता के प्रति प्रेम प्रकट करता है तो वह प्रेम लोक-सामान्य का स्थायी भाव बनने में अक्षम है, अतः सीता भी साधारणीकृत आलम्बन विभाव नहीं है। अस्वाभाविकता या अनौचित्य साधारणीकरण में बाधक है। रावण स्वयं नायक के क्रोध भाव का साधारणी-

कृत विभाव है, अतः प्रबन्ध में वही प्रधान बना रहता है। रसाभास का स्थायी भाव भी अनौचित्य-वश साधारणीकृत नहीं होता।

ऊपर भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया, अब ध्वनिमत का पुनर्विचार अपेक्षित है। अभिनवगुप्त सहृदय के वासनात्मक स्थायी भाव को सामान्यरूप में ही मानकर अलग से भावकत्व व्यापार को अमान्य करते हैं। तात्पर्य यह है कि सहृदय का स्थायी भाव जब काव्य की व्यञ्जना शक्ति से व्यक्त होता है, तब साथ ही सहृदय आश्रय, कवि अथवा नट के साथ तद्रूपता का अनुसन्धान कर लेता है; इसी को उन्होंने 'तदावेशता' भी कहा है और आचार्य विश्वनाथ ने 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार रसिक, नायक और कवि (या नट) का भाव एकत्व प्राप्त करता है और विभावादि भी सामान्य हो जाते हैं क्योंकि व्यक्त हुई वासना सामान्य (निर्वैयक्तिक) होती है। आश्रय के साथ तादात्म्य की बात तभी आती है जब सहृदय का वही भाव व्यक्त हो जो आश्रय का है। सीता के प्रति रावण के रति भाव को लेकर रसिक उदासीन रहता है, अतः न तदावेशता ही संभव है और न ही उस भाव को साधारणीकरण की कोटि में लाया जा सकता है; फलतः उस भाव के कारण (सीता), कार्य (रावण आदि की चेष्टाएँ) और सहकारी भाव (रावण में अमर्ष, असूया, चिन्ता आदि) सामान्यरूप नहीं ले पाते।

इस प्रकार ध्वनिमत में साधारणीकरण से बाहर तादात्म्य जैसी कोई वस्तु नहीं है। तादात्म्य साधारणीकरण का नामान्तर भी नहीं है। वह तो साधारणीकरण का एक अङ्ग है जो आवेशात्मक अनुभूतिमात्र है। यह भी कह सकते हैं कि इस आवेश के बिना साधारणीकरण संभव ही नहीं।

अरस्तू ने विरेचन के प्रसङ्ग में जिस साधारणीकरण की चर्चा की है उसमें भी नायक के साथ ही तादात्म्य का समावेश माना गया है। अतः प्रतिनायक, खलनायक या रसाभास जैसे स्थलों में तादात्म्य और साधारणीकरण का प्रश्न नहीं उठता। किसी भाव का आश्रय होने से ही कोई पात्र सहृदय के भाव का न आश्रय होता है, न आलम्बन। उसके लिए तो काव्य का सन्दर्भ ही उत्तरदायी है जो कवि की देन है।

आचार्य शुक्ल ने तादात्म्य और साधारणीकरण पर थोड़ा हटकर विचार किया है। वे आश्रय के साथ सहृदय का तादात्म्य मानते हैं और आलम्बन का साधारणीकरण चाहते हैं। साधारणीकरण का वे इतना ही अर्थ लेते हैं कि आलम्बन में ऐसे गुण-धर्म हों कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, आश्रय के जिस भाव का वह आलम्बन है। वे आलम्बन या आश्रय के व्यक्तित्व की मुक्ति नहीं स्वीकार करते। आलम्बन के रूप, गुण आदि सर्वसाधारण में प्रस्तुत भाव जगा सकें, इतना ही पर्याप्त है। इस प्रकार की मान्यता भट्टनायक की नहीं रही है।

डॉ० नगेन्द्र सहृदय के भी व्यक्तित्व का परिहार नहीं मानते। वे कवि के साथ होनेवाले सहृदय के तादात्म्य को साधारणीकरण कहते हैं जो परम्परा से मान्य नहीं रहा है। यों तो अभिनवगुप्त ने भी तदावेशता का सिद्धान्त स्वीकृत किया है, परन्तु उसे

उन्होंने साधारणीकरण कभी नहीं कहा है। व्यक्तित्व-परिहार को साधारणीकरण कहा जाता है जिसे टी० सी० इलियट ने भली भाँति समझा है और वही साधारणीकरण है, तन्मयता या ताद्रूप्य या तादात्म्य या तदावेशता उसका अङ्ग है। डॉ० नगेन्द्र की मान्यता भी परम्परा से हटकर है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० भगीरथ मिश्र सम्पूर्ण रस-सामग्री का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं जो परम्परा-मान्य है। ध्वनिमत के अनुसार साधारणीकरण का स्वरूप समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए :

(१) काव्य द्वारा कवि सहृदय में किसी भाव-वासना को व्यक्त करना चाहता है। वही वासना आश्रय पात्र में वर्णित होती है। इस प्रकार कवि, आश्रय और सहृदय एक ही वासनात्मक भाव का अनुभव करते हैं।

(२) उक्त भाव का कारण ही साधारणीकृत रूप में विभाव कहा जाता है जो काव्य-क्षेत्र का पारिभाषिक शब्द है।

(३) आश्रयगत चेष्टाएँ ही उक्त भाव के कार्य हैं जो सहृदय की वासना को व्यक्त करने के कारण अनुभाव कही जाती हैं। उनका स्वरूप भी वैयक्तिक न होकर साधारणीकृत ही रहता है।

(४) स्थायी भाव के सहकारी भाव आश्रय में रहते हैं। वे साधारणीकृत रूप में सहृदय की वासना को व्यक्त करते हैं और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।

(५) सहृदय की चेतना भी वैयक्तिक न रहकर साधारणीकृत हो जाती है तभी वह निर्वैयक्तिक वासना को आस्वादित करता है जो रस है।

(६) ऐसी दशा में कवि अथवा आश्रय भी निर्वैयक्तिक या सामान्य रहता है। वस्तुतः कवि या नट से भिन्न न आश्रय की सत्ता है और न ही रसिक के हृदय से बाहर उन दोनों की विद्यमानता है। यह एकरूपता ही तादात्म्य है।

(७) मान लीजिए कि आश्रय में जो भाव है, उसके संवाद में सहृदय की भाव-व्यञ्जना नहीं होती, तो सहृदय में किसी अन्य भाव की व्यञ्जना कवि को अपेक्षित है। उस दशा में वह आश्रय सहृदय के व्यञ्जित भाव का कारण (आलम्बन विभाव) होगा—आश्रय के भाव का आलम्बन सहृदय के भाव का विभाव न होगा और तब आश्रयगत भाव रसाभासमात्र रहेगा। उदाहरण में रावण को लिया जाय तो सीता के प्रति उसका रतिभाव रसाभास-मात्र है जबकि सहृदय का भाव रावण के प्रति क्रोध है। ऐसी स्थिति में साधारणीकरण और तादात्म्य का प्रश्न नहीं उठता, वहाँ तो राम के साथ तादात्म्य घटित होता है।

(८) ऐसी स्थिति भी हो सकती है कि वर्णित आश्रय में रतिभाव आदि हो जो शृङ्गारादि का स्थायी है, परन्तु सहृदय उसका आस्वाद उस रूप में न करके आश्रय और आलम्बन के प्रति श्रद्धावान् हो। जैसे, रामचरितमानस में राम और सीता सहृदयों की श्रद्धा या भक्ति के ही कारण होते हैं, अतः कभी-कभी उनकी शृङ्गार-चेष्टाएँ हममें

भक्ति ही व्यक्त करती हैं, शुद्ध श्रृङ्गार नहीं । उस दशा में कवि भी भक्ति ही को प्रधान व्यङ्ग्य मानकर चलता है । कवि उसका आश्रय होता है जबकि राम और सीता उस भक्ति के विभाव होते हैं और भक्तिरूप रतिभाव ही वहाँ व्यक्त होता है । विभावगत चेष्टाएँ और भाव—सब-के-सब—आलम्बन-वर्ग में परिगणित होते हैं । उसी रूप में उनका साधारणीकरण होता है ।

(९) वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य का प्रश्न उठाकर एक बाधा खड़ी कर दी गयी है । आश्रय का वर्णन प्रायः नहीं होता—प्रेमगीत, हास्यमुक्तक, बीभत्सकाव्य आदि ऐसे ही होते हैं । हास्य और बीभत्स में तो अनुभावों का भी प्रायः समावेश नहीं पाया जाता, आलम्बन-विभाव का ही चित्रण रहता है । फिर भी साधारणीकरण और रसानुभूति में बाधा नहीं आती । ऐसी दशा में विभाव के साथ अनुभाव और व्यभिचारी भाव आक्षिप्त रहते हैं । आश्रय का स्थान या तो स्वयं सहृदय लेता है या कवि ।

(१०) साधारणीकरण का केन्द्र-बिन्दु वही भाव होता है जो रसिक के लिए आस्वादनीय हो । उस भाव के कारण-कार्य-सहकारी को ही यथावसर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव मानना चाहिए ।

(११) लौकिक संवेगात्मक भाव और साधारणीकृत भाववासना यद्यपि परस्पर 'गुणात्मक-ससम्बन्धिक' (Qualitative relative) होते हैं, तथापि प्रभावगत अन्तर रहता है अतएव साधारणीकृत भाव, जो 'सकल-सहृदय-संवादी' होता है, लोकोत्तर कहा जाता है और इसीलिए विभावादि भी अलौकिक संज्ञाएँ हैं ।

वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्त के मनीषियों ने साधारणीकरण पर बहुत विस्तार नहीं किया है । हिन्दी-समीक्षा में उसे लेकर बड़ा विवाद है अतएव स्पष्ट कर दिया गया है ।

रसनिष्पत्ति :

ध्वनिमत में वासनात्मक भाव की सहृदयगत अभिव्यक्ति ही 'रसनिष्पत्ति' है और अभिव्यक्त भाव ही 'रस' है । अभिव्यक्ति के पूर्व और पश्चात् वैसा बोध नहीं होता, अतः अभिव्यक्त दशा में ही 'भाव' को रस नाम दिया जाता है । इस अवस्था का बोध ही चर्वणा, आस्वाद, भोग आदि नामों से भी जाना जाता है । जब हम 'रस-बोध' या 'रसास्वाद' या 'रस-चर्वणा' आदि कहते हैं तो 'रस' को 'बोध' से पृथक् कर लेते हैं, जो लाक्षणिक प्रयोग है, क्योंकि चर्वणा से बाहर 'रस' की सत्ता नहीं होती । चर्वणा ही व्यञ्जना है । इसका अर्थ हुआ कि 'रस' एक विशेष काव्यानन्द है जिसे शुद्ध आत्मानन्द नहीं कह सकते और न ही वह शुद्ध भाव की संवेग-दशा कही जा सकती है, प्रत्युत भाव-वासनात्मक चित्तवृत्ति से सम्पृक्त आत्मा (चेतना) का जो रूप व्यक्त होता है, वही रस है । विज्ञान या मनोविज्ञान में यदि आत्मा की सत्ता अमान्य हो तो भी ध्वनिमत में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वह वासना के ही निर्वैयक्तिक रूप की अभिव्यक्ति को रस-निष्पत्ति कहेंगे ।

विभावादि के प्रत्यय के साथ ही रसात्मक प्रत्यय की सत्ता है और विभावादि-बोध के हटते ही रस-बोध भी नहीं रहता क्योंकि विभावादि ही उस भाव के व्यञ्जक

होते हैं जो रसरूप लेता है । 'आत्मा' का पर्याय 'रस' भले ही नित्यतत्त्व है परन्तु ध्वनि-मत का 'रस' भावरूप है अतः भाव-व्यञ्जना ही रस-निष्पत्ति है ।

भट्टनायक के अनुसार साधारणीकृत भाव ही 'रस' है । भोग या चर्वणा की दशा सहृदय में आ भी सकती है, नहीं भी । भोग-दशा सत्त्वोद्रेक की दशा है जो तब आती है जब साधारणीभूत भाव रसरूप ले चुकता है । वह काव्य द्वारा भावित भाव है, न कि सहृदय की वासना । इस प्रकार भट्टनायक बोध से बाहर भी रस की सत्ता मान्य करते हैं जो आनन्दमयी विश्रान्ति से पृथक् उस विश्रान्ति का कारण है; रस ही विश्रान्ति नहीं है; रस-भोग विश्रान्ति है । इसका अर्थ हुआ कि भोग विश्रान्तिरूप है, भोग के अभाव में रस रह सकता है क्योंकि वह तो काव्य की भावकत्वशक्ति से भावित भाव है, सहृदय में व्यक्त होनेवाला भाव नहीं कि चर्वणा से बाहर उसका अस्तित्व अमान्य किया जा सके । यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि आस्वाद से पृथक् 'रस' की सत्ता का क्या प्रमाण है, वहाँ तो साधारणीकृत भावमात्र रह सकता है, रस तो आनन्द-रूप होता है और आनन्द की सत्ता आस्वाद से बाहर क्या है । इसका उत्तर भट्टनायक के पास यही हो सकता है कि जिस प्रकार मधुर आदि रस वस्तुनिष्ठ होते हैं और उनकी सत्ता आस्वाद न होने पर भी मान्य रहती है, उसी प्रकार काव्यनिष्ठ रस अनास्वादित भी रह सकता है । ध्वनिमत की ओर से प्रश्न हो सकता है कि मधुर आदि रसों की सत्ता के लिए इक्षु, फल आदि वस्तुएँ होती हैं जबकि काव्य-रस कहाँ ठहरता है । इसका उत्तर यही है कि काव्य-रस अनास्वादित-दशा में भी काव्य में ठहरता है ।

अस्तु, काव्य में 'रस' की सत्ता का कोई आनुभविक प्रमाण नहीं है । यही कहा जा सकता है कि काव्य में रस न होता तो उसका आस्वाद क्यों और कैसे हो पाता । अब प्रश्न हो सकता है कि दुःखात्मक भावों का सुखात्मक आस्वाद क्यों होता है । इसका उत्तर यही है कि दुःखात्मक भाव निर्वैयक्तिक (साधारणीकृत) होकर सुखात्मक हो जाते हैं अतः उनका आस्वाद आनन्दात्मक होता है। ध्वनिमत में भी दुःखात्मक भावों की वासना को दुःखात्मक नहीं माना जाता और तभी रसास्वाद संभव होता है । ध्वनिमत में दुःख का स्पर्श पूर्णतः वर्जित नहीं है, तभी विविध रसों की सत्ता है । भले ही दुःखात्मक भाव की वासना सूक्ष्म तथा निर्वैयक्तिक होने से दुःखात्मक न रहती हो, परन्तु पूर्ण-सुखात्मक भी नहीं हो सकती—अतः करुण आदि रस का परमानन्द कुछ-न-कुछ सूक्ष्म दुःख-वृत्ति का सम्पर्क लिए रहता है, परन्तु सुखातिरेक में वह सुखमय हो जाता है; इसकी तुलना दाम्पत्य-सुख से की गयी है जिसमें दुःखात्मक क्षत आदि आनन्द के पोषक हो जाते हैं अथवा क्षत आदि के बिना पूर्ण आनन्द ही असम्भव रहता है ।

न्याय-मत में अनुकृत विभावादि द्वारा अनुमित भाव ही रस है । ध्यान रहे कि ध्वनि में सहृदय का ही व्यञ्जित भाव और भट्टनायक के अनुसार काव्य द्वारा भावित भाव रस है । ध्वनिमत रसात्मक भाव की सत्ता सहृदय में मानता है जबकि भट्टनायक उसकी सत्ता काव्य से बाहर कहीं नहीं मानते । इस तुलना में न्यायमत रसात्मक भाव को परगत मानता है—अर्थात् भाव का नट में अनुमान होता है, नट अनुकारक है जो

अनुकार्य से तद्रूप हो जाता है जिससे सहृदय अनुकारक को अनुकार्य-रूप मानकर उसमें भाव का अनुमान करता है। अनुमित भाव ही रस है और भावानुमिति ही रस-निष्पत्ति है। न्यायमत में साधारणीकरण जैसी कोई वस्तु नहीं है; वहाँ भावानुमिति का आधार विभावादि की अनुकृति है जिससे अनुकार्य और अनुकारक में सहृदय अन्तर नहीं करता, दोनों को एकरूप मानता है अथवा अनुकारक द्वारा अनुकृत तथ्यों को उसी प्रकार विभावादि मानकर चलता है जिस प्रकार रेखाओं में अनुकृत तथ्यों के समुदाय को (चित्र में) अश्व आदि कह दिया जाता है। अनुकृत भाव परगत होकर भी जब अनुमित होता है तब उसमें अलौकिक सौन्दर्य आ जाता है जिससे सहृदय आनन्दित होता है। दूसरे शब्दों में, अनुकृतिपूर्वक अनुमित भाव का आह्लादमय बोध होता है। अनुमिति से बाहर कोई रस की सत्ता नहीं है। नट द्वारा अनुकृत विभावादि से रसिक नट में ही (अपने में नहीं) भाव का अनुमान करता और आह्लादित होता है।

न्यायमत में अनुकार्य के व्यक्तित्व पर कोई बल नहीं है, वह तो गुण-धर्म के आधार पर कल्पित चेष्टाओं द्वारा ही अनुकृत होता है, जैसे रेखाओं में कोई अश्व-व्यक्ति ही चित्रित हो, यह आवश्यक नहीं। इस प्रकार साधारणीकरण का कुछ-न-कुछ आभास न्यायमत में आ जाता है। अनुकरण का इतना ही अर्थ है कि अनुकर्ता अपने वैयक्तिक गुण-धर्मों का आच्छादन करके कल्पित गुण-धर्मों का प्रदर्शन करता है जिससे भावानुमिति होती है। अभिनव ने स्वरूपाच्छादन को ही अनुकरण माना है।

भट्टलोल्लट न्यायमत के समान अनुकृतिवादी तो हैं, पर अनुमितिवादी नहीं। वे अनुकार्य में ही भाव की उत्पत्ति मानते हुए उसी को रसोत्पत्ति कहते हैं और उनके अनुसार रसोत्पत्ति ही रस-निष्पत्ति है। अनुकारक (नट या कवि) उसी रस का उपस्थापन करता है तो माध्यम द्वारा सहृदय को अनुकार्य में उत्पन्न रस का बोध होता है जिससे वह आह्लादित होता है। भट्टलोल्लट की व्याख्या में कहा जा सकता है कि अनुकार्य कोई व्यक्ति न होकर गुण-धर्म आदि का रेखाङ्कित स्वरूपमात्र होता है। वह रेखाङ्कन नट (या कवि) करता है, अतः लौकिक भाव से यह भाव पृथक् हो जाता है; क्योंकि रेखाङ्कन के माध्यम से प्रेषित होता है, अतएव वह 'रस' कहा जाता है। अनुकारक और अनुकार्य को एकरूप मानने पर सहृदय को उस रस का बोध हो जाता है। प्रश्न यह शेष रहता है कि अन्ततः सहृदय को उसकी प्रतीति कैसे होती है। मान लें कि अनुकार्य में रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) हुई, जो कल्पित है, और अनुकारक ने उसे उपस्थापित किया, तो सहृदय को प्रत्यक्ष-बोध हो नहीं सकता (क्योंकि वह उसका अपना भाव नहीं है); स्मृत बोध मानने पर भी सहृदय को अपना ही भाव-बोध होगा जो भट्टलोल्लट को अमान्य है; अनुमित बोध ही शेष रहता है और इस प्रकार भट्टलोल्लट को अनुमितिवाद से बहुत दूर नहीं पाते। यही अन्तर है कि अनुमितिवादी अनुकरण में भावानुमिति को रसनिष्पत्ति मानता है जबकि भट्टलोल्लट अनुकार्य में भावोत्पत्ति को रसनिष्पत्ति की संज्ञा देते हैं—सहृदय के लिए तो अनुमिति ही शेष रहती है जो अनुकृत भाव की होती है।

रस स्वगत है, परगत है या केवल काव्यगत है ? इस प्रश्न के उत्तर में कह सकते हैं कि ध्वनि के अनुसार रस स्वगत (सहृदयगत) है क्योंकि उसी की भाव-वासना रसरूप में व्यक्त होती है । भट्टलोल्लट और भट्टशङ्कुक (न्यायमत) परगतत्ववादी हैं—लोल्लट रस को अनुकार्यगत और शङ्कुक अनुकारकगत मानते हैं । दोनों में तात्त्विक अन्तर नहीं है क्योंकि अनुकारक का अपना भाव तो होता ही नहीं, वह तो अनुकार्य का होता है, परन्तु लोल्लट अनुकार्य के ही भाव को 'रस' नाम दे देते हैं जबकि शङ्कुक के अनुसार अनुकारक द्वारा अनुकृत होने पर अनुमित होकर ही कोई भाव 'रस' संज्ञा का अधिकारी होता है । भट्टनायक रस को काव्यगत मानते हैं (केवल निष्पत्ति या भुक्ति को सहृदयगत बताते हैं) । उनके अनुसार काव्य में ही विभावादि द्वारा भावित (साधारणीकृत) भाव 'रस' कहलाता है—वह स्वगत या परगत नहीं हो सकता, अन्यथा लज्जा, द्वेष, संकोच, घृणा आदि विरोधी भावों का उदय होगा और रसानुभूति न होगी ।

सारांश यह कि—(क) भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकृत भाव ही रस है और अनुकार्य में उसकी उत्पत्ति ही रसनिष्पत्ति है; (ख) भट्टशङ्कुक अनुकृत भाव को रस मानते हैं और उसकी अनुकारक में सहृदय द्वारा अनुमिति को निष्पत्ति बताते हैं; (ग) भट्टनायक कहते हैं कि काव्य में विभावादि द्वारा भावित भाव ही रस है जबकि उसकी सहृदयगत भुक्ति ही निष्पत्ति है; (घ) अभिनव सहृदय के ही व्यञ्जित भाव को रस नाम देते हैं और विभावादि द्वारा उसकी व्यञ्जना ही चर्वणा या निष्पत्ति है ।

उक्त तथ्यों को समझ लेने पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को समझा जा सकता है । वे जब हास्यरस के सन्दर्भ में पात्र द्वारा भाव-व्यञ्जना की बात करते हैं तब उनका पात्र से तात्पर्य विभाव का होता है । निश्चय ही विभाव सहृदय के भाव का व्यञ्जक है, अतः शुक्ल जी ध्वनिमत के समर्थक ही प्रतीत होते हैं, परन्तु जब वे आश्रय द्वारा सहृदय के भाव की व्यञ्जना कहते हैं तब मार्गान्तरित हो जाते हैं । जब वे आश्रय और सहृदय में तादात्म्य स्वीकार करते हैं तो उन दोनों की एकरूपता मानते हैं—अर्थात् सहृदय ही आविष्ट होकर आश्रय बन जाता है । अब अपने आप ही अपनी भाव-व्यञ्जना कैसे होगी ? व्यञ्जक तो सहृदय से बाहर होना चाहिए । ध्वनिमत में विभावादि व्यञ्जक होते हैं, आश्रय नहीं, अतः कोई विरोध नहीं रहता ।

× × ×

तात्पर्यवादी आचार्य रसास्वाद को एक प्रकार का आभिमानिक सुख मानते हैं । साधारणीकृत भाव रस है परन्तु उसके आस्वाद की प्रक्रिया भिन्न है । आस्वाद सहृदय अपने ही अभिमान का करता है, जैसे, बालक खिलौनों में अपने ही उत्साह का आस्वाद करता है । यह अभिमान कहीं चित्त में द्रुति लाता है, जैसे करुण आदि में, कहीं दीप्ति लाता है, जैसे रौद्र आदि में, कहीं विकास लाता है, जैसे अद्भुत आदि में और कहीं क्षोभ लाता है, जैसे बीभत्स आदि में ।

× × ×

भक्ति रस की निष्पत्ति उपर्युक्त निरूपण में अन्तर्भूत नहीं होती क्योंकि उसका क्षेत्र ही भिन्न है। एक उदारहण लें :

नेम ब्रत संजम कें पींजरें परै को, जब
लाज कुलकानि प्रतिबन्धहिं निवारि चुकीं।
कौन गुन गौरव कौ लंगर लगावै, जब
सुधि-बुधि ही कौ भार टेक करि टारि चुकीं ॥
जोग - रतनाकर मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन,
ऊधौ, यह सूधौ हम बानक बिचारि चुकीं।
मुक्ति मुकता कौ मोल - माल ही कहा है, जब
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकीं ॥ (उद्धवशतक)

इसे यदि विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण मानकर चलें तो गोपियाँ आश्रय हैं जिनमें कृष्ण-विषयक विप्रलम्भ-रति है; कृष्ण आलम्बन विभाव हैं; गोपियों की वर्णित चेष्टाएँ अनुभाव हैं; चिन्ता, स्मृति, विषाद, वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं जिनसे सहृदय में विप्रलम्भ-रति की वासना व्यक्त होकर शृङ्गार-रस के रूप में आस्वादित होती है। परन्तु यही भक्तिरस नहीं है।

यदि इसे भक्तिरस के अन्तर्गत मधुर-विप्रलम्भ-शृङ्गार मानकर व्याख्या करें तो कृष्ण और गोपियाँ, उनकी सभी चेष्टाएँ आदि सम्मिलित रूप में विभाव के अन्तर्गत आएँगी। यहाँ आश्रय के रूप में कवि या सहृदय स्वयं ही है अथवा उद्धव को आश्रयरूप में लिया जा सकता है और आश्रय के अश्रुपात, रोमाञ्च आदि अनुभाव कल्पित करने होंगे; इसी प्रकार विस्मय, हर्ष आदि संचारी भावों की कल्पना करनी होगी जो भक्त सहृदय में उदित होते हैं। इस सामग्री से जो भक्तिरूप रतिभाव सहृदय में व्यक्त होगा उसे ही भक्तिरस कहेंगे। जहाँ भक्तिरस का आश्रय स्पष्ट वर्णित होता है, वहाँ अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी स्पष्ट देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ :

आँसुनि के भार औ उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकीनि के तनक टरि लैन देहु।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रंच,
भावनि के बिषम प्रपंच सरि लैन देहु ॥
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ,
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लैन देहु।
कहत अबै हैं, कहि आवत जहाँ लौं, सबै,
नैंकु थिर कढ़त करेजौ करि लैन देहु ॥ (वही)

यहाँ उद्धव आश्रय हैं, गोपी-गोपाल आलम्बन हैं, उनके प्रति भक्तिरति से जो सात्त्विक तथा वाचिक चेष्टाएँ उद्धव में उत्पन्न हुई हैं वे अनुभाव हैं, विषाद, व्यग्रता, आवेग आदि संचारी हैं, उनसे सहृदयभक्त में जो भक्ति-रति व्यक्त होती है, वह विप्रलम्भ-मधुर-भक्ति-रस है।

वस्तु और अलङ्कार :

'वस्तु' से वर्ण्य विषयमात्र का ग्रहण होता है, जिसमें अलङ्कार और रस-भाव आदि भी आते हैं, परन्तु यहाँ उनसे भिन्न वस्तुमात्र का अर्थ लेना चाहिए। ध्वनिमत से पूर्व आचार्यों ने उसे अभिव्यक्ति की दृष्टि से ठीक समझा न था, अतः स्वभावोक्ति अलंकार वहाँ माना गया जहाँ अन्य कोई आलंकारिक चमत्कार न हो और विषय का यथार्थ चित्र दिया गया हो। कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना। उन्होंने सम्पूर्ण काव्योक्ति को स्वभावोक्ति, रसोक्ति और वक्रोक्ति में विभक्त किया। ध्वनिमत में स्वाभाविक उक्ति के भी दो भेद मान्य किये गये—वाच्य और व्यङ्ग्य। व्यङ्ग्य वस्तु की प्रधानता में 'वस्तुध्वनि' काव्य की मान्यता ध्वनिमत की महती उपलब्धि है।

ध्वनिमत ने अलंकार को उसी रूप में नहीं लिया जिसमें लेने की परम्परा थी। अलंकारवादी विचारक काव्य में अलंकार को ही प्रमुख मानते थे जबकि ध्वनिमत में उसका स्थान दो रूपों में मान्य हुआ—एक वाच्यरूप, जो अभिव्यक्ति-प्रणाली मात्र है और दूसरा व्यंग्य रूप, जो काव्य में प्रधानीभूत चमत्कार-कारी तत्त्व है। प्रथम प्रकार का अलंकार काव्य का सर्वस्व नहीं माना गया, उसका स्थान सौन्दर्य-पोषक के रूप में गौण ठहराया गया जबकि द्वितीय प्रकार का अलंकार प्रधानीभूत हो तो 'अलंकार-ध्वनि' काव्य कहा गया। प्रथम प्रकार का ही अलंकार काव्य में प्रधान हो और व्यंग्य-चमत्कार न हो तो चित्रकाव्य या अवरकाव्य की स्थापना की गयी। इस प्रकार अलंकार के विषय में ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार करता है।

यों तो आचार्य वामन ने भी वाच्य और प्रतीयमान अलंकारों की व्यवस्था दी है, परन्तु वे शब्दशक्ति-परक विवेचन नहीं कर सके जिससे दोनों प्रकार के अलंकारों में चमत्कार-गत अन्तर अस्पष्ट था। साथ ही, यह विविक्त नहीं था कि अलंकार का अलंकार्य कौन होता है। अलंकारवादी स्यात् यह मानकर चलते थे कि शब्द और अर्थ ही अलंकार्य हैं—शब्दालंकार का अलंकार्य शब्द और अर्थालंकार का अलंकार्य अर्थ। यही बात कुन्तक ने कही भी है :

उभावेतावलंकार्यौ, तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते॥ (वक्रोक्तिजीवित)

कौन अर्थ अलंकार्य होता है ? इस विषय में कुन्तक कहीं स्वभाव (वस्तु) को और कहीं रस को अलंकार्य बताते हैं। ध्वनिमत यह स्पष्ट करता है कि अलंकार्य वर्ग में वस्तु और रस के अतिरिक्त वह व्यंग्य (प्रतीयमान) अलंकार भी आता है जो काव्य का प्रधान चमत्कारी हो। इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट अन्तर ध्वनिमत में ही विविक्त किया जा सका।

अलंकार जहाँ अलंकार्य-चमत्कार का पोषण करता है वहीं 'अलंकार' कहा जाता जाता है, अन्यथा वह कथनमात्र रहता है। उदाहरणार्थ—'पान पानी में डालो' उक्ति-मात्र है, इसमें आया हुआ 'छेकानुप्रास' अलंकार नहीं है। इसी प्रकार 'राम श्याम के समान लम्बा है' में उपमा तो है पर वह अलंकार नहीं है। दोनों उदाहरणों में अलंकार्य न होने से अलंकार की सत्ता अमान्य है। किसी काव्य में आये हुए शब्दचित्र यदि वस्तुतः प्रधान अर्थ को अलंकृत नहीं करते तो वे अलंकार नहीं हो सकते।

इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त में अलंकार्य तीन हुए—व्यंग्यरूप में आये हुए वस्तु, अलंकार और रस। क्या रसहीन वस्तु और अलंकार प्रधान व्यंग्य हो सकते हैं ? ध्वनि-मत के अनुसार वस्तु और अलंकार प्रधानीभूत व्यंग्य तो हो सकते हैं, पर रस-हीन नहीं हो सकते क्योंकि उनकी चरम परिणति किसी-न-किसी भाव-संवेदन में होती है। जहाँ वे दोनों प्रधान कहे जाते हैं वहाँ रसतत्त्व गौण हो जाता है अतएव काव्य-भेद की व्यवस्था में वस्तु और अलंकार को महत्त्व देकर वस्तुध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि नाम दिया जाता है। ध्वनिमत को छोड़कर रस-निष्पत्ति के अन्य मतों में 'रस' को ही काव्य का सर्वस्व माना जाता है, उसकी गौणता नहीं मानी जाती। न्यायमत के महिम भट्ट ने वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि के स्थलों में 'अन्तरित रस' माना है और उसी की प्रधानता स्वीकार भी है।

रीति और गुण :

आचार्य वामन ने गुणों के आधार पर रीतियों की व्यवस्था की और उन्हें काव्य का सर्वस्व घोषित किया। रीति के आधार पर चली हुई यह समीक्षा-पद्धति अलंकारवाद के समक्ष दबी रही, परन्तु रीतियों और गुणों का विवेचन चलता रहा। ध्वनिमत में दस के स्थान पर तीन गुणों की रस के आधार पर व्यवस्था हुई और रीतियों को केवल वर्ण-योजना तक सीमित करके व्यवस्थित किया गया। सरस काव्य में ही वस्तुतः गुणों की सत्ता मान्य हुई और रीतियों को गुणों का व्यञ्जक तत्त्व माना गया। ध्वनिमत में यह स्पष्ट किया गया कि जहाँ रस की प्रधानता नहीं होती वहाँ भी रीति होती है; भले ही वह जिस गुण की व्यञ्जना करती है, वह गुण रस के आधार पर विद्यमान न हो। वैसी दशा में गुण की सत्ता रचनामात्र के अधीन रहती है, वास्तविक नहीं होती है।

कहना चाहिए कि व्यञ्जना शब्दशक्ति के आधार पर काव्य-विवेचना का ध्वनि-वादी पद्धति में रीतियों और गुणों का पुनर्मूल्याङ्कन किया गया। ध्वनिवाद ने विवेचना की जड़ता का निरास करके काव्याङ्गों की वैज्ञानिक प्रतिष्ठा की।

वक्रोक्ति :

एक अलंकार का भी 'वक्रोक्ति' नाम दिया गया है, यहाँ उससे अभिप्राय नहीं। यहाँ 'वक्रोक्ति' शब्द अतिशयोक्ति-पर्याय है जिसे भामह ने अलंकारों का आधारभूत व्यापक तत्त्व माना है। ध्वनिकार ने अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) को भामह के आधार पर ही विचार-णीय ठहराया है और उसके दो रूप निर्धारित किये हैं—एक वह जिसमें अतिशयोक्ति स्वतन्त्र अलंकार के रूप में उभरती है और दूसरा वह जो अन्य अलंकारों में व्याप्त रहती है। प्रथम रूप में वह वाच्य रहती है, जबकि व्यंग्य वक्रोक्ति गुणीभूत हो जाती है, अन्य अलंकार ही उसकी अपेक्षा प्रधान हो जाता है, अतः उसे 'गुणीभूत-व्यंग्य' के अन्तर्गत लिया जाता है। ध्वनिमत में वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) का एक तीसरा रूप वह होता है जब वह प्रधानीभूत व्यंग्य होती है और ध्वनिकाव्य का कारण होती है। उदाहरणार्थ :

> जाके या बियोग-दुखहू में सुख ऐसौ कछू
> जाहि पाइ ब्रह्म-सुखहू में दुख मानैं हम। (उद्धवशतक)

यहाँ ब्रह्मानन्द की अपेक्षा प्रेम-वियोग-दुःख को बढ़कर बताया गया है और यह

अतिशयोक्ति प्रधानीभूत व्यंग्य है। इस प्रकार ध्वनिकार ने वक्रोक्ति का काव्य में उचित स्थान निर्धारित किया है जिसका आधार काव्य की व्यञ्जना शक्ति है।

वक्रोक्तिमत के प्रतिष्ठापक कुन्तक ने व्यञ्जना को अमान्य करके उसके स्थान पर वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा की और ध्वनिमत द्वारा उठाये हुए सभी प्रश्नों का समाधान वक्रोक्ति-भेदों के आधार पर करने का प्रयास किया। परन्तु एक तो वे सभी संगत समाधान न दे सके और दूसरे नाममात्र का भेद रहने से वे ध्वनि-सिद्धान्त का ही समर्थन कर चले।

आज ध्वनिमत को छोड़कर सभी काव्य-सिद्धान्त, जो अपने समय में जीवित थे, इतिहास के पन्नों में जड़ तथ्य बनकर रह गये हैं। एडोल्फ हक्स्ले ने जो बात चासर के विषय में कही थी, वह यहाँ भी यथावत् लागू है :

> "प्रत्येक भावी पीढ़ी के लिए यह अधिकाधिक कठिन हो जाता है कि वह स्मरण रख सके कि जो कथा-विषय आज संग्रहालय की मञ्जूषाओं को सुशोभित कर रहे हैं, कभी जीवित थे।"[११]

मनोविज्ञान :

आधुनिक मनोविज्ञान विविध धाराओं में विभक्त है, परन्तु भावों के चिन्तन में विशेष मौलिक अन्तर नहीं देखा जाता है और काव्य-समीक्षा में उतना ही अपेक्षित माना जा सकता है। चाहे मैक्डूगल के अनुसार विविध सहजात वृत्तियों, अनुभूतियों, संवेगों, प्रभावों आदि के आधार पर चला जाय या फ्रायड की जीवनेच्छा और मरणवृत्तियों को लेकर उक्त मनोदशाओं का वर्गविभाजन किया जाय, अथवा युङ्ग के अनुसार स्त्रीतत्त्व तथा पुरुषतत्त्व के आधार पर अचेतन की व्याख्या अपनायी जाय, या व्यवहारवाद के आधार पर मस्तिष्क तथा नाड़ी-संस्थान की प्रतिक्रिया के रूप में उन्हें लिया जाय—कोई विशेष अन्तर नहीं आता। ध्वनि-सिद्धान्त जिस वासना की व्यञ्जना पर विचार करता है, उसे सभी दृष्टियों से मान्य किया जा सकता है।

फ्रायड स्वयं कवि की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत आनेवाली अनुभूति का विवरण देने में मनोविज्ञान को अक्षम बताता है अतः दमित वासना का सिद्धान्त हमें दुराग्रह तक नहीं ले जा सकता। वह काव्यानन्द को निरपेक्ष-सुख (End-pleasure) की संज्ञा देता है और उससे बाहर किसी प्रयोजन को अमान्य करता है, इसे ध्वनिमत की 'पर-निर्वृति' ही कहा जायगा जो काव्य का निरपेक्ष प्रयोजन है। फ्रायड यहाँ तक कहता है कि नग्न चित्र के अङ्गों पर ही जो अटक जाते हैं, वे कला का आनन्द नहीं पाते—ऐसे भोग-लिप्सु जन भोगपूर्ति न होने पर दुःखी होते हैं जो कला की वस्तु नहीं।

उक्त दृष्टि से सहृदय की निर्वैयक्तिक अन्तश्चेतना ही काव्यानन्द के प्रति उत्तर-दायी है जिसे मनोविज्ञान में सामूहिक अचेतन (Collective Unconscious) नाम दिया गया है। इस प्रकार मनोविज्ञान में भी निर्वैयक्तिकता अथवा साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रकारान्तर से मान्य किया जाता है।

रिचर्ड्स् ने अनुभूति के अन्तर्गत सभी मानस व्यापारों का समाहार किया है, उसी प्रकार भारतीय चिन्तन में भाव के भीतर सभी का समावेश कर लिया गया है जिसका रसात्मक विनियोग संभव है, अतः मनोविज्ञान के वर्ग-विभाजन को भाव के स्वरूप-

निर्धारण में बाधा बनाकर लाना हठमात्र है। सेन्टिमेन्ट, इमोशन्, एफेक्ट, इन्स्टिङ्क्ट, फीलिङ् आदि जो भी रसोपयोगी तत्त्व हैं, सब 'भाव' हैं, यही ध्वनिमत अथवा भरत-परम्परा का अभिमत रहा है।

केवल वैयक्तिक भावनाओं का अनुरञ्जन रस कभी नहीं है, यह मानकर ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या देनी चाहिए। शास्त्रीय अभिमत का साक्षी सहृदय है, मनोविज्ञान के अधूरे तथ्य नहीं, यह भी ध्यान में रखना चाहिए।

हिन्दी-समीक्षक :

हिन्दी-समीक्षकों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—परम्परा-प्रभावित और स्वतन्त्र। प्रथम वर्ग में प्राच्य अथवा पाश्चात्य परम्परा से अथवा दोनों से प्रभावित आलोचक आ जाते हैं जबकि द्वितीय वर्ग में ऐसे समीक्षक आते हैं जो अपना मार्ग स्वयं बनाना चाहते हैं। पूर्णतया परम्परा-मुक्त होना सर्वथा असम्भव है, अतः ये आलोचक परम्परागत तथ्यों को मरोड़कर कुछ-का-कुछ कह चलते हैं। परिणाम यह होता है कि हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा कोई पद्धति नहीं अपना पाती। सर वाल्टर रैले के अनुसार :

> "संसार ऐसी प्रतिभाओं का विरोध करता है जो अपने सिद्धान्तों के अनुसार उसे ढालना चाहते हैं; ऐसे लोग अपने सिद्धान्तों को भूलकर आत्म-मोह में पड़े रहते हैं।"[१२]

यह आत्म-मोह सिद्धान्त समझने में बाधा है। काव्य का अपना दर्शन होता है, परन्तु वह दर्शन जीवन के तथ्य-दर्शन से उदासीन रहकर नहीं खड़ा होता। काव्य-दर्शन प्रतिष्ठित करने हेतु स्वतन्त्र दर्शन की पूर्व-प्रतिष्ठा आवश्यक होती है। ध्वनिमत को शब्दशक्ति-सम्बन्धी व्याकरण-दर्शन की महती परम्परा सुलभ थी अतएव वह काव्य-दर्शन की प्रतिष्ठा कर सका जो हिन्दी के रीतिकाल तक के आलोचकों को यथावत् मान्य रहा। बीसवीं शताब्दी बाहरी प्रभाव लेकर सामने आयी जिसने हमें चौंका दिया। उस चका-चौंध में हम अपना वैभव देखने में असमर्थ हो गये। जब आँखें खोलीं तो कुछ-का-कुछ दिखायी पड़ने लगा। जो लोग पाश्चात्य प्रणाली अपनाकर चले थे, उसे किस सीमा तक समझ सके, वे ही जानें, पर हिन्दी समीक्षा पूर्णतया परतन्त्र होने लगी। जिन्होंने शास्त्रीय परम्परा सँभाली वे अपनी वरासत का सही मूल्य न पहचानकर 'निज कबित्त' वाली धारा में बह गये।

हिन्दी में कुछ सिद्धान्तवादी आलोचक आज भी हैं परन्तु सैद्धान्तिक मान्यताओं का समादर करनेवाले चुकते जा रहे हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में ध्वनिमत की अप्रतिम भूमिका रही है जिसे समझकर समीक्षा को पूर्णतः आधुनिक परिवेश दिया जा सकता है।

कवि, सहृदय और समीक्षक :

कोई व्यक्ति अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के नाते कवि कहा जाता है, वही रचना की नियमावली का अनुसन्धान करता हुआ समीक्षक हो जाता है और जब अपनी ही कृति के अनुभूतिपक्ष पर मुग्ध होता है तो सहृदयमात्र रह जाता है। सर वाल्टर रैले ने एक में तीनों का समावेश ठीक ही दिखाया है।[१३]

परन्तु कवि का व्यक्तित्व काव्य में इस प्रकार तिरोहित हो जाता है कि शुद्ध सहृदय को काव्य के अतिरिक्त कवि नहीं दिखायी पड़ता। यदि कवि ही दिख जाय तो कविता क्या रही ? ध्वनि-सिद्धान्त में इसीलिए काव्य पर बल है, अभिव्यक्ति की व्याख्या, कवि के व्यक्तित्व और उसकी प्रणाली का संग्रह नहीं है। इलियट तो कवि को व्यक्तिरूप में स्वीकार ही नहीं करता। समीक्षक जब कवि के व्यक्तिगत इतिवृत्त की खोज में चला जाता है, तब वह ध्वनिवादी समीक्षक नहीं रह जाता—वह कवि-व्यक्ति का चरित्र बता रहा होता है, काव्यालोचन नहीं करता होता है। यों तो व्यक्ति न हो तो कवि की सत्ता ही क्या रहे, और व्यक्ति होता है तो उसकी रचना के घटक व्यापार भी रहते ही हैं; परन्तु कवि वही है जो अपना सब कुछ काव्यमय कर देता है :

मैं इन अपलक नयनों से
देखा करता उस छवि को;
प्रतिभा डाली भर लाता,
कर देता दान सुकवि को। (आँसू)

यह विचित्र विरोधाभास है कि व्यक्ति ही कवि होता है पर कवि रूप में वह व्यक्ति नहीं होता। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा इसी सूत्र पर होने के कारण वहाँ कवि के प्रशिक्षण का प्रयास तो है, पर उसके व्यक्तित्व पर कहीं बल नहीं है।

ध्वनि-सिद्धान्त की सीमाएँ :

उपर्युक्त दृष्टि से ध्वनिमत की ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय समीक्षा की सीमाओं का पता लग जाता है। जीवन-दर्शन-सम्बन्धी असंख्य मान्यताओं को लेकर काव्य की व्याख्या का वह मार्ग नहीं है। काव्य से कोई जीवन-दर्शन—भाववादी, अध्यात्मवादी, मार्क्सवादी आदि—व्यक्त होता हो तो उसे वस्तु-व्यंग्य मानकर ध्वनि-सिद्धान्त व्याख्या दे देगा। उसे तो काव्य को केन्द्र बनाकर चलना होता है, अतः शब्दशक्ति (व्यञ्जना) से जो कुछ आता होगा, सब कहा जायगा पर उसके बाहर जाकर किसी दर्शन की व्याख्या करना उसका कार्य नहीं। इसी प्रकार कवि के व्यक्तित्व से भी उसे लेना-देना नहीं है।

इधर अरविन्द-दर्शन, मार्क्स-दर्शन, मनोविश्लेषण आदि के उदाहरण रूप में बहुत से काव्य लिखे गये। ध्वनि-सिद्धान्त उसकी व्यञ्जना-परक व्याख्या भर कर सकता है, तत्त्वदर्शन की बात नहीं उठा सकता। समाजवादी, मनोवैज्ञानिक आदि समीक्षा-पद्धतियाँ काव्य की समीक्षा न करके उसके आधारभूत दर्शन की समीक्षा करती हैं जो ध्वनिमत से उपेक्षणीय कहा जायगा। इन समीक्षा-पद्धतियों को ध्वनि के सन्दर्भ में वहीं तक लिया जा सकता है जहाँ तक काव्य से होनेवाली वस्तु-व्यञ्जना का सम्बन्ध है, शेष में वे स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं।

उपसंहार :

भारतवर्ष में विविध दार्शनिक सिद्धान्त चलते रहे हैं। उनके आधार पर काव्य-दर्शन में भी वैविध्य रहा है। यह वैविध्य ध्वनिमत में समाहित हो जाता है क्योंकि उसका आधार व्याकरण-दर्शन या भाषाशास्त्र है। किसी भी अन्य दर्शन के परिवेश में काव्य की भाषाशास्त्रीय विवेचना की जा सकती है जो ध्वनिकार के द्वारा प्रतिष्ठित की

गयी। काव्य की व्यञ्जनाशक्ति के स्थान पर अनुमान, भावकत्व, तात्पर्यशक्ति या वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा करनेवाले मतवाद अपनी सफलता हेतु उन्हीं सब तथ्यों की वर्गीकृत व्याख्या के लिए विवश देखे जाते हैं जिनकी पूर्णता ध्वनि-सिद्धान्त में देखी गयी है। यही कारण है कि उससे बड़ा काव्य-समीक्षा-सिद्धान्त भारत में सुलभ नहीं हो सका।

पश्चिम के समीक्षा-सिद्धान्त यद्यपि स्वतन्त्र विचारधाराओं का परिचय देते हैं, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनमें उन सब तथ्यों का प्रकारान्तर से समावेश अनिवार्य देखा जाता है जिनको ध्वनिमत ने पुरःस्थापित किया। कोई कारण नहीं कि हम अपने सिद्धान्तों के वर्गों में उन मान्यताओं का समुचित संकलन करके अथवा उन मान्यताओं के वर्गों में अपनी अवधारणाओं का विनियोग करके एक अभिनव समीक्षा-पद्धति पुरस्कृत न कर सकें। इसके लिए अपने सिद्धान्तों का परिज्ञान पहले आवश्यक है, तभी हममें समन्वयन की क्षमता आ सकती है। यह समन्वयन आज हिन्दी-समीक्षा की अनिवार्यता है।

विज्ञान और साहित्य चिन्तन के दो छोर हैं। एक बुद्धि-प्रधान है तो दूसरा हृदय-प्रधान। साहित्य की विवेचना में विज्ञान का सदुपयोग भी युग-सम्मत आवश्यकता है, परन्तु हम कहीं वैज्ञानिक मान्यताओं के मोह में परम्परा को न भूल जायँ, यह भी विचारणीय प्रश्न है। पश्चिम का मनीषी विज्ञान के प्रलोभन में आकर एकाङ्गी नहीं हुआ है—क्रोचे, कालरिज, रिचर्ड्स् और इलियट इसी वैज्ञानिक विकास-युग के विचारक हैं, पर अपने निरीक्षणों से जो स्थापनाएँ उन्होंने कीं उनमें वैज्ञानिक आधार के रहते हुए भी स्व-संवेदन-विमुखता नहीं है। आज का वैज्ञानिक मनीषी भी जानता है कि मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरों की व्याख्या में वह अपर्याप्त है, वहाँ तक पहुँचने में विज्ञान को समय लगेगा। विज्ञान अभी जीवन-तत्त्व की समग्र विवेचना की ओर मुड़ा नहीं है, अतः साहित्य-चिन्तन के लिए वह अपर्याप्त है तो कोई आश्चर्य नहीं।

मनोविज्ञान भावभूमियों के अध्ययन में सहायक हो सकता है, परन्तु प्रायोगिक आधार उसे उन गहराइयों से वञ्चित रख रहे हैं जो साहित्य और दर्शन में बड़े विश्वास के साथ विवेचित हैं। ऐसी स्थिति में केवल शरीर-विज्ञान या जन्तु-विज्ञान पर प्रतिष्ठित स्थूल मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों को एकमात्र आधार बनाकर हम काव्य का मर्म नहीं समझ सकते। यों तो मनोविज्ञान के प्रवर्तकों ने भी काव्यानन्द की यथाशक्य व्याख्या की है, परन्तु वे न तो यह दावा कर सकते हैं कि उनकी स्थापनाएँ पर्याप्त हैं और न ही यह कह सकते हैं कि उनके निष्कर्ष पूर्णतया प्रयोगों की कसौटी ले सकते हैं। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर भारतीय मनीषा ने जो विभूति प्रस्तुत की उसका पूर्ण समादर अपेक्षित है, तभी हम कालान्तर में स्वतन्त्र मनोविज्ञान का भी सूत्रपात कर सकेंगे, जब आधुनिक कहा जानेवाला मनोविज्ञान अपना वैज्ञानिक आकर्षण समाप्त कर चुकेगा।

पुरःसहस्र वर्षों के चिन्तन के वृत्त में ध्वनि-सिद्धान्त का प्रकाशोदय साहित्य-समीक्षा की भूमि को भास्वर करने में पर्याप्त रहा है। उसकी आभा से हम वञ्चित नहीं हो सकते, वह हमारे लिए सहज प्राप्य है, पैतृक विभूति है और नैसर्गिक वरदान है।

चतुर्थ खण्ड

सन्दर्भ

सन्दर्भ

(१)

१. उक्थेभिः कवयो गृणन्ति । (ऋग्० ३।१४।७)
'कवयः स्तोतारः ।' उक्त पर सायण ।
कवयः क्रान्तदर्शिनः । (सायण, ऋग्० २।२४।७; ३।५४।१०; ७।८६।३)
२. येऽनूचानास्ते कवयः । (ऐतरेय ब्राह्मण, २।२।३८)
ये विद्वांसस्ते कवयः । (शतपथ, ७।२।२४)
एते वै कवयो यदृषयः । (शतपथ, १।४।२।८)
३. कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः
याथातथ्योऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः । (ईशोपनिषद्, ८)
४. विश्वानि काव्यानि विद्वान् । (ऋग्० ३।१।१७)
अस्मा इत् काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम् । (ऋग्० ३।९।५)
वत्सो वां मधुमद् वचोऽशंसीत् काव्यः कविः । (ऋग्० ८।८।११)
५. त्रयी वै विद्या, काव्यं छन्दः । (शतपथ, ८।५।२।४)
६. काव्येन कवीनां मेधाविनां सम्बन्धिना कर्मणा कौशलेन । (सायण, ऋग्०)
काव्यं कवेः स्तोतुः सम्बन्धि । यद्वा—कु शब्दे ।
शब्दनीयं वचो वाग्रूपम् (सायण, ऋग्० ५।३९।५)
७. ओरावश्यके । (पा० सू०, ३।१।१२५)
८. तव त्ये पितो रसा रजांस्यनु विष्ठिताः ।
दिवि वाता इव श्रिताः । (ऋग्०, १।१८७।४)

× × ×

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च विश्वा ओषधयो रसाच्च
येनैष भूतस्तिष्ठत्यन्तरात्मा ॥ (तैत्तिरीयारण्यक, १०।१२, परिशिष्ट)
९. सा ते कामदुहिता धेनुरुच्यते ।
यामाहुर्वाचं कवयो विराजम् ॥ (अथर्व, ९।२।५)
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु । (अथर्व, ५।७।४)

१०. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र, १।१७)

११. वृत्तैरेवं सुविविधैर्नाना-छन्दः-समुद्भवैः ।
काव्य-बन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः ॥ (वही, १५।२२७)
छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति, नच्छन्दः शब्दवर्जितम् । (वही, १४।४५)
वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।
अङ्ग-नेपथ्य-सत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥ (वही, १४।२)

१२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा । (काव्यालङ्कार, १।१६)

१३. रसैः श्रृङ्गार-करुण-हास्य-रौद्र-भयानकैः ।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ (रामायण, १।४।९)
उदार-वृत्तार्थ-पदैर्मनोरमै-
स्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो
यशस्करं काव्यमुदार-दर्शनः ॥ (वही, १।४।४२)

१४. फ़्यूचर् पोएट्री, पृ० १० ।

१५. 'डॉ० आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड' की भूमिका, पृ० ४ पर आइन्स्टीन का उद्धरण।

१६. दे० सन्दर्भ ११ ।

१७. षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि
प्रोक्तानि वै भूषण-संमितानि ।
काव्येषु भावार्थ-गतानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु ॥ (नाट्यशास्त्र, १६।४)

१८. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः ।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्य-लक्षणाः ॥ (वही, १६।९५)

१९. श्लेषः प्रसादः समता समाधि-
र्माधुर्यमोजः पद-सौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥ (वही, १६।९६)

२०. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ (वही, १६।४०)

२१. त्रिविधं ह्यक्षरं कार्यं कविभिर्नाटकाश्रयम् ।
ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं चैव पद-बन्ध-समाश्रयम् ॥ (वही, १६।१२२)

२२. दे० सन्दर्भ १७ ।

२३. नाना-भावार्थ-सम्पन्नाः स्थायि-सत्त्वाभिचारिणः ।
पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः ॥ (वही, ७।१२०)

२४. अप्रस्तुतप्रशंसात्वेऽपि हि यदप्रस्तुतस्य शरीर-वैचित्र्यं, तल्लक्षणकृतमेव । लक्षणं हि शरीरमित्युक्तम् । कटकाद्यैरपि यद् वैचित्र्यं कुशल-सुवर्णकारोत्प्रेक्षितं

तल्लक्षण-महिम्नैव। तत् तेनोपमान-शरीरस्य उपमेय-शरीरस्य वा वैचित्र्यं लक्षणानामेव व्यापारः। इत्येवमुपमा-रूपक-दीपकानां त्रयाणामलङ्कारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षणयोगात् लक्षणानामपि चैक-द्वि-त्र्याद्यवान्तर-विभाग-भेदादानन्त्यं केन गणयितुं शक्यम्! इदानीं शत-सहस्राणि वैचित्र्याण्यपि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम्॥ (अभिनवभारती, १६।३४)

२५. एतद्-दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता।
गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणाव्यभिचारीत्युक्तम्॥
(अभिनवभारती, १६।९५)

२६. दे० सन्दर्भ १६।

२७. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ (नाट्यशास्त्र, ६।१७)

२८. निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथाऽसूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः॥ (वही, ६।१८-२१)

२९. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥ (वही, ६।२२)

३०. विभावा इति कस्मात्? उच्यते। विभावो विज्ञानार्थः।
विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन
वागङ्ग-सत्त्वाभिनया इत्यतो विभावाः। यथा विभावितं
विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। अत्र श्लोकः—
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ (वही, ७।४)

३१. वही—अभिनवभारती।

३२. शब्दोपहित-रूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥ (वाक्यपदीयम्)

३३. अनुभाव इति कस्मात्? उच्यते। अनुभाव्यतेऽनेन
वागङ्ग-सत्त्व-कृतोऽभिनय इति। अत्र श्लोकः—
वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्ग-संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ (नाट्यशास्त्र, ७।५)

३४. लोकस्वभावानुगतत्वाच्च तयोर्लक्षणं नोच्यते....
लोकस्वभाव-संसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः ।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ॥ (वही, ७।६)

३५. नानाभावाभिनय-व्यञ्जितान् वागङ्ग-सत्त्वोपेतान् स्थायिभावान्
आस्वादयन्ति........
यथा बहु - द्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥
भावाभिनय-सम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाटचे-रसाः स्मृताः ॥ (वही, ६।३२-३३)

३६. व्यज्यते इति व्यञ्जनं चानुपानादि-रसोऽत्राभिप्रेतः । (अभिनवभारती, ६।३३)

३७. एवमेते काव्य-रसाभिव्यक्ति-हेतव एकोनपञ्चाशद् भावाः
प्रत्यवगन्तव्याः । एभ्यश्च सामान्य-गुण-योगेन रसा
निष्पद्यन्ते । .... काव्यार्थ-संश्रितैर्विभावानुभाव-व्यञ्जितैः
एकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुण-योगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसाः.... ।
(नाट्यशास्त्र, ७।७-८)

३८. योऽर्थो हृदय-संवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ (वही, ७।७)

३९. विभावानुभाव-व्यभिचारि-परिवृतः स्थायिभावो रसो नाम । (वही, ७।७-८)

४०. नानाभिनय-सम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्य-योक्तृभिः ॥ (वही, ६।३४)

४१. (वही, ६।३५)

४२. न भाव-हीनोऽस्ति रसो, न भावो रसवर्जितः ।
परस्पर-कृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ (वही, ३।३६)

४३. (वही, ६।४२-४५)

४४. तेषामुत्पत्ति-हेतवश्चत्वारो रसाः । तद् यथा—शृङ्गारो
रौद्रो वीरो बीभत्स इति । अत्र—
शृङ्गाराद् हि भवेद् हास्यो, रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति र्बीभत्साच्च भयानकः ॥ (वही, ६।३९)

४५. ये चात्रोत्पत्ति-हेतव उक्तास्ते यथास्वं पुरुषार्थ-
चतुष्क-व्याप्ताः । तद् हि सौन्दर्यातिशय-जननरूपम् ।
रञ्जका हासादयः तदनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीयाः ।
(अभिनवभारती, ६।३९)

४६. (नाट्यशास्त्र, ६।४०-४१)

४७. भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥ (वही, अध्याय ६)

४८. स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एवोपलीयते ॥ (वही, अध्याय ६)

४९. अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥
(अभिनवभारती, पृ० ३३२-३४१)

५०. किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः ? उच्यते ।
वागङ्ग-सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः ।
(नाट्यशास्त्र, पृ० ३४२)

५१. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते । (वही, ७।२०३)
(दे० सन्दर्भ, ४०)

५२. भू इति करणे धातुः । तथा च भावितं वासितं कृतम्
इत्यनर्थान्तरम् । लोकेऽपि च प्रसिद्धम्—अहो
अनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् । तच्च
व्याप्त्यर्थम् ।........
विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्ग-सत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥ (वही, ७।१)

५३. दे० सन्दर्भ ३८ ।

५४. दे० सन्दर्भ ३० ।

५५. दे० सन्दर्भ ३३ ।

५६. वही, पृ० ३४९ ।

५७. ×

५८. रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥ (काव्यालङ्कार, १।१३)

५९. रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥ (वही, १।१४)

६०. शब्दाभिधेयालङ्कार-भेदादिष्टं द्वयं तु नः । (वही, १।१५)

६१. युक्तं लोकस्वभावैश्च रसैश्च सकलैः पृथक् । (वही, १।२१)

६२. रसवद् दर्शित-स्पष्ट-शृंगारादि-रसं यथा । (वही, ३।६)

६३. स्वादु-काव्य-रसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते ।
प्रथमालीढ-मधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ (वही, ५।३)

६४. गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायाद् नानाख्येयममेधसाम् ॥ (वही, १।३२)

६५. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन ।
कल्पनां नाम जात्यादि-योजनां प्रतिचक्षते ॥
समारोपः किलैतावान् सदर्थालम्बनं च तत् ।
जात्याद्यपोहे वृत्तिः क्व क्व विशेषः कुतश्च सः ॥ (वही, ५।६–७)

६६. न नितान्तादि-मात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥ (वही, १।३६)

६७. सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ (वही, २।८४-८५)

६८. करण-व्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते ।
(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।१।२)

६९. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार-संस्कृतयोः शब्दार्थयो-
र्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्र-वचनोऽत्र गृह्यते । (वही, १।१।१)

७०. दे० ६९, तथा
काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । सौन्दर्यमलङ्कारः ।
स दोष-गुणालङ्कार-हानोपादानाभ्याम् । (वही, सूत्र १।१।१-३)

७१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । (काव्यप्रकाश, उल्लास १)

७२. विशिष्टा पदरचना रीतिः ।
विशेषो गुणात्मा । (काव्यालङ्कारसूत्र, १।२।७-८)

७३. समग्रगुणा वैदर्भी । (वही, १।२।११)

७४. ओजःकान्तिमती गौडीया । (वही, १।२।१२)

७५. माधुर्य-सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । (वही, १।२।१३)

७६. काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः । ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्य-शोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजःप्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्य-शोभा-करत्वात् । ओजःप्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्य-शोभा-करत्वम् । (वही, ३।१।१)
गुण-निर्वर्त्या काव्यशोभा । तस्याश्चातिशय-हेतवोऽलङ्काराः । (वही, ४।१)

७७. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष-हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (काव्यप्रकाश, ८।६६–६७)

७८. करुण-प्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुख-दुःखयोः ।
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः ॥ (काव्यालङ्कारसूत्र, ३।१।९)

७९. पदार्थे वाक्य-वचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्यास-समासौ च साभिप्रायत्वमेव च ॥ (वही, ३।२।२)

८०. गुण-स्फुटत्व-साकल्यं काव्य-पाकं प्रचक्षते ।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥
सुप्-तिङ्-संस्कार-सारं यत् क्लिष्ट-वस्तु-गुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताक-पाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥
गुणानां दशता-मुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचार-क्षमं वचः ॥ (वही, ३।२।१५)

१. ध्वनतीति वा, ध्वन्यते इति वा, ध्वननमिति वा—ध्वनिः ।
(ध्वन्यालोक-लोचन, १।१)

२. तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा । संमिश्र्यते विभावानुभाव-संवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यते इति कृत्वा । शब्दनं शब्दः = शब्द-व्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि (व्यञ्जनाव्यापारः) ध्वननं ध्वनिः । काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्त-प्रकार-ध्वनि-चतुष्टयमयत्वात् ॥ (वही, १।१३)

३. 'सूरिभिः कथितः' इति
विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथा-कथंचित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरण-मूलत्वात् सर्व-विद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैः तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्य-तत्त्वार्थ-दर्शिभिः वाच्य-वाचक-संमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्व-साम्याद् ध्वनिरित्युक्तः ।
(ध्वन्यालोक, १।१३)

४. बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूत-स्फोटरूप-व्यङ्ग्य-व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावित-वाच्य-व्यङ्ग्य-व्यञ्जन-क्षमस्य शब्दार्थ-युगलस्य । (काव्यप्रकाश, १।४)

५. परश्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा 'मध्यमा वाग्' इत्युच्यते । स्वयं तु कर्णपिधाने सूक्ष्मतर-वाय्वभिघातेन उपांशु-शब्द-प्रयोगे च श्रूयमाणा सा इत्याहुः ।........ तत्तत्स्थानेषु अभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्रहण-योग्या....'वैखरी वाग्' इत्युच्यते ।
(लघुमञ्जूषा-शक्त्याश्रय०)

६. शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ (वाक्यपदीयम्)

७. श्रोत्र-शष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्ते इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणन-रूपत्वं तावदस्ति; ते च ध्वनि-शब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् भर्तृहरिः—
यः संयोग-वियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ (लोचन, १।१३)

८. प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनि-प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ (वाक्यपदीयम्)

९. दे० सन्दर्भ, १।११ ।

१०. दे० सन्दर्भ, १।३५-३६ ।

११. दे० सन्दर्भ, १।३७ ।

१२. दे० सन्दर्भ, १।४० ।

१३. दे० सन्दर्भ, १।६५ ।

१४. दे० सन्दर्भ, १।६६, ६७ ।

१५. यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्य-साधने ।
तमाहुः शुद्ध-दृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा ॥
भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः ।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः ॥
कथमेकपदेनैव व्यज्येरन् अस्य ते गुणाः ।
इति प्रयुञ्जते सन्तः केचिद् विस्तर-भीरवः ॥ (काव्यालंकार, ५।५८-६०)

१६. विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सता ।
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यः प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ ॥ (वही, ६।१५)

१७. यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्य-निराकृतौ ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥ (वही, ६।१७)

१८. के शब्दाः किं च तद्-वाच्यमित्यहो वर्त्म दुस्तरम् । (वही, ६।२०)

१९. क्रमागतं श्रुति-सुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत् ।
अतिशेते ह्यलंकारमन्यं व्यञ्जन-चारुता ॥ (वही, ६।२८)

२०. लक्षणाशब्दाश्च ॥ लक्षणाशब्दाश्चातिप्रयुक्ताः प्रयोक्तव्याः ॥ न तद्बाहुल्यमेकत्र ॥ तेषां लक्षणा-शब्दानां बाहुल्यमेकस्मिन् वाक्ये न प्रयोक्तव्यम् । शक्यते हि एकस्या-वाचकस्य वाचकवद्भावः कर्तुम्, न बहूनामिति ॥
(काव्यालंकारसूत्र, ५।१।१५-१६)

२१. पुष्पमाला-शब्दे मालाशब्देनैव गतार्थं पुष्पपदं प्रयुज्यते,
उत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थम् । उत्कृष्टानां पुष्पाणां मालेति ।
.... ननु मालाशब्दोऽन्यत्रापि दृश्यते, यथा रत्नमाला,
शब्दमालेति । सत्यम् । स तावदुपचरितस्य प्रयोगः ।
निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्प-रचना-विशेषमेवाभिधत्ते ॥ (वही, २।२।१६)

२२. वही, २।२।१३-१८ ।

२३. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम् । (वही, १।२।१३)

२४. वही, १।२।२१ ।

२५. वही, ३।२।२ ।

२६. वही, ३।२।१० ।

२७. दीप्ता रसाः श्रृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः । (वही, ३।२।१५)

२८. अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते ।
अन्यापोहश्च नामान्य-पदार्थापाकृतिः किल ॥ (काव्यालंकार, ६।१६)

२९. वही, २।१७ ।

३०. पुरा गौरिति विज्ञानं गोशब्द-श्रवणाद् भवेत् ।
येनागो-प्रतिबोधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥ (वही, ६।१९)

३१. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ।
आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि-वशाद्....पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेष-वपुर-पदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति इति अभिहितान्वयवादिनां मतम् ।
(काव्यप्रकाश, २।६)

३२. वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः । (वही)

३३. दे० काव्यप्रकाश । (वामनी टीका अथवा प्रदीप, २।६)

३४. दे० न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड ।

३५. दे० वही ।

३६. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वैयाकरणभूषणसार, स्फोट०)

३७. तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तयैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेन अक्षतिः । स च यद्यपि एकोऽखण्ड एकैक-वर्णेन अभिव्यज्यते तथापि अन्त्य-वर्णाभिव्यक्तो बोध-हेतुः ।.... तत्र च व्यञ्जक-रूप-प्रतिबिम्बनात् तद्रूप-रुषितैवाभिव्यक्तिः....।
(वैयाकरणसिद्धान्त-लघुमञ्जूषा, पृ० १५१)

३८. सर्व-शक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेक-धर्मणः ।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपचर्यते ॥ (वाक्यपदीय, २।२५५)
गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते ।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥ (वही, २।२५७)

३९. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ (काव्यप्रकाश, २।८-९)

४०. दे० वैयाकरणभूषणसार-नामार्थनिर्णय १-२ ।

४१. अत्यन्तासत्यपि स्वार्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि ।
(वाक्यपदीय; वैयाकरणमञ्जूषा, पृ० ३५८)

४२. शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । (योगसूत्र, १।९)

४३. सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे (वार्तिक) (महाभाष्य, पस्पशा०)

४४. संकेतस्तु पद-पदार्थयोः इतरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः ।
योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः इति ।
(महाभाष्य, वैया० सि० लघुमञ्जूषा, पृ० २५)

४५. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ (काव्यप्रकाश, २।७-८)

४६. मुख्यार्थ-बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ (वही, २।९)

४७. वही, द्वितीय उल्लास ।

४८. लघुमञ्जूषा, लक्षणानिरूपण ।

४९. काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, व्यञ्जनानिरूपण ।

५०. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थ-धी-कृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ (वही, २।१९)

५१. योगरूढ़स्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते ।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥ (रसगंगाधर, पृ० १४७)

५२. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात-पूर्वः,
तस्याभावं जगदुरपरे, भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदय-मनः-प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ (ध्वन्यालोक, १।१)

५३. यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति,
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥ (वही, १।३)

५४. श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां
समवाये पारदौर्बल्यमर्थ-विप्रकर्षात् । (मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १२४)

५५. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ (ध्वन्यालोक, १।१६)
निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् । (उक्त पर लोचन)

५६. तत्सामीप्यात् तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम् । .... अथ यत्र यत्रैवं शब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम् । तस्यापि व्याप्ति-ग्रहण-काले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम् ॥ (लोचन, १।४)

५७. शब्दार्थ-शासन-ज्ञान-मात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थ-तत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ (ध्वन्यालोक, १।७)

५८. सोऽर्थस्तद्-व्यक्ति-सामर्थ्य-योगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ (वही, १।८)

५९. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वत् अर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ (वही, १।९)

६०. वही, १।१०–११ ।

६१. तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थ-विमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थ-दर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ (वही, १।१२)

६२. यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादान-कारणानां न पृथगुपलम्भः, तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पद-तदर्थानां तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थ-बुद्धिरेव दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्य-व्यंग्ययोर्न्यायः । न हि व्यंग्ये प्रतीयमाने वाच्य-बुद्धिर्दूरीभवति, वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्माद् घट-प्रदीप-न्यायस्तयोः । यथैव हि प्रदीप-द्वारेण घट-प्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीप-प्रकाशो निवर्तते, तद्वद् व्यंग्य-प्रतीतौ वाच्यावभासः । (वही, ३।३४)

१. न चालङ्कार-निष्पत्त्यै रस-बन्धोद्यतः कविः।
यतते, ते हि तत्सिद्धि-नान्तरीयक-सिद्धयः ॥ (व्यक्तिविवेक, पृ० ३४२)

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ (ध्वन्यालोक, १।५)

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ (वही, १।४)

४. योऽर्थः सहृदय-श्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥
काव्यस्य हि ललितोचित-सन्निवेश-चारुणः शरीरस्येवात्मा सारारूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यः.....। (वही, १।२)

५. वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्कार-रीतयः ॥ (साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद)

६. दे० सन्दर्भ २।
शब्द-समर्प्यमाण-हृदय-संवाद-सुन्दर-विभावानुभाव-समुचित-प्राग्-विनिविष्ट-रत्यादि-वासनानुराग-सुकुमार-स्वसंविदानन्द-चर्वणा-व्यापार-रसनीय-रूपो रसः। स काव्य-व्यापारैक-गोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति। स एव मुख्यतया-त्मेति। (ध्वन्यालोक-लोचन, १।४)

७. यदूचे भट्टनायकेन—अंशत्वं न रूपतेति, तद् वस्त्वलङ्कार-ध्वन्योरेव नामोपालम्भः। रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः। रसचर्वणात्मनः तृतीयांशस्य अभिधा-भावनांश-द्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्। वस्त्वलङ्कार-ध्वन्यो रसध्वनि-पर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामः। (वही)

८. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
(व्यक्तिविवेक, पृ० १०५)
कवि-व्यापारे हि विभावादि-संयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यभिचारी काव्यमुच्यते।
(वही, पृ० ९५)

दे० संदर्भ १।

९. मार्गानुगुण्य-सुभगो माधुर्यादि-गुणोदयः।
अलङ्करण-विन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥
वृत्त्यौचित्य-मनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥

सा काव्यवस्थितिस्तद्विदानन्द-स्पन्द-सुन्दरा ।
पदादि-वाक्-परिस्पन्द-सारः साहित्यमुच्यते ॥ (वक्रोक्तिजीवित, १।१७)

१०. देखिए—रसगङ्गाधर, १।१, तथा उसपर नागेशभट्ट की टीका ।

११. गुण-वृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता । (काव्यप्रकाश, ८।९५)
गुणानां रसैक-निष्ठत्वेऽपि परम्परया तदभिव्यञ्जक-शब्दार्थ-निष्ठत्वम् ।
(वही, १।१ पर झलकीकर की टीका)

१२. यद्यपि अविवक्षित-वाच्ये शब्द एव व्यञ्जकः, तथापि अर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् । विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्ट-शब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्या-व्यञ्जकत्वात्, इति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः ।
(ध्वन्यालोक-लोचन, १।१३)

१३. यच्चोक्तं चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात् इति, तदङ्गीकुर्म एव । नाम्नि खल्वयं विवादः । यच्चोक्तं चारुणः प्रतीतिर्यदि काव्यात्मा, प्रत्यक्षादि-प्रमाणादपि सा भवन्ती तथा स्यादिति । तत्र शब्दार्थमय-काव्यात्माभिधान-प्रस्तावे क एष प्रसङ्गः । (वही)

१४. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत-स्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः, काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (ध्वन्यालोक, १।१३)

१५ इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
(काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास)

१६. कहा जाता है कि सीतापुर (उ० प्र०) जिले में मल्लापुर के तअल्लुकेदार राजा श्रीप्रकाश सिंह ने ब्रजेश जी को 'चन्दमुखीन के' समस्या पूरी करने को दी थी और दो बन्धन लगा दिये थे—एक तो यह कि शान्तरस में रचना होनी चाहिए और दूसरी कि चरणों का अन्त्यानुप्रास (तुक) उत्तम कोटि का आना चाहिए—अर्थात् 'उखीन के' भाग की चारों चरणों में आवृत्ति चाहिए। ब्रजेश जी ने न केवल शर्तों की पूर्ति की, अपितु राजा साहब के ऊपर भी एक प्रकार का व्यंग्य कर दिया ।

१७. व्यंग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध-निबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेत्वन्तःपातिता कुतः ॥ (ध्वन्यालोक, १।१३)

१८. व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः ॥ (वही)

१९. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥ (वही, १।१५)

२०. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ (वही, १।१६)

२१. प्रकारोऽयं गुणीभूत-व्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादि-तात्पर्य-पर्यालोचनया पुनः ॥ (वही, ३।४०)

२२. प्रकारोऽन्यो गुणीभूत-व्यंग्यं काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य-चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥ (वही, ३।३४)

२३. अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् । (काव्यप्रकाश, १।३)

२४. प्रसन्न-गम्भीर-पदाः काव्य-बन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥ (ध्वन्यालोक, ३।३५)

२५. वाच्यालङ्कार-वर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ (वही, ३।३६)

२६. दे० सन्दर्भ, १।६७ ।

२७. ध्वन्यालोक, ३।३६ ।

२८. संकीर्णो हि कश्चिद् ध्वनेर्गुणीभूतव्यंग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः । तत्र यस्य युक्ति-सहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः । न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम् ॥ (वही, ३।३९)

२९. प्रधान-गुण-भावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे, ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥
चित्रं शब्दार्थ-भेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्य-चित्रमतः परम् ॥ (वही, ३।४१-४२)

३०. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम् ।
चित्रमिति गुणालङ्कार-युक्तम् । अव्यंग्यमिति स्फुट-प्रतीयमानार्थरहितम् । अवरम् अधमम् । (काव्यप्रकाश, १।४)

३१. यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्य-प्रकारो न सम्भवत्येव । यस्मादवस्तु-संस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यतेऽन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च तदस्ति वस्तु किंचिद् यन्न चित्तवृत्ति-विशेषमुपजनयति । .... किन्तु यदा रसभावादि-विवक्षा-शून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रस-शून्यतार्थस्य परिकल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्य-सामर्थ्य-वशेन च कवि-विवक्षा-विरहेऽपि तथाविधे विषये रसादि-प्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । .... एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खल-गिरां रसादि-तात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य-प्रवृत्ति-दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम् । .... रसादि-तात्पर्ये च नास्त्येव तद् वस्तु यदभिमत-रसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति । अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचित-रस-विभावतया चेतन-वृत्तान्त-योजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम् । .... तदेवमिदानीन्तन-कवि-काव्य-नयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः । (ध्वन्यालोक, ३।४२)

३२. दे० साहित्यदर्पण, ४।१४ तथा सन्दर्भ ३।२९ ।

३३. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थं व्यंक्तस्तदाद्यम् ।
(रसगङ्गाधर, प्रथम आनन)

३४. यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सत् चमत्कार-कारणं तद् द्वितीयम् । (वही)

३५. यत्र व्यंग्य-चमत्कारासमानाधिकरणो वाच्य-चमत्कारस्तत् तृतीयम् । (वही)

३६. यथार्थ-चमत्कृत्युपस्कृता शब्द-चमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम् । अत्रार्थ-चमत्कृतिः शब्द-चमत्कृतौ लीना । (वही)

१. शब्दोपहित-रूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥ (वाक्यपदीय)

२. विभावैर्ललनोद्यानादिभिः आलम्बनोद्दीपन-कारणै रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्ष-भुजाक्षेप-प्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः इति भट्टलोल्लट-प्रभृतयः ।
(काव्यप्रकाश, रसनिष्पत्ति)

३. दे० अभिनवभारती, ६, रससूत्र ।

४. रतिः शृङ्गारतां गता । रूपबाहुल्य-योगेन (काव्यादर्श, २।२८१)
अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः । (वही, २।२८३)

५. दे० अभिनवभारती, ६, रससूत्र ।

६. प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्ध-बुद्धि-संभेदादविवेचित-संप्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥ (वही)

७. तस्माद् हेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारि-रूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्य-रामादि-गत-स्थाय्यनुकरण-रूपः । अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः । (वही)

८. दे० काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, रसनिरूपण ।

९. न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव । किन्तु तत्सदृशः समूह-विशेषो निर्वर्त्यते । अत एव हि सिन्दूरादयो गवावयव-सन्निवेश-सदृशेन सन्निवेश-विशेषेणावस्थिता गो-सदृगिति प्रतिभासस्य विषयः । नैवं विभावादि-समूहो रति-सदृशता-प्रतिपत्ति-ग्राह्यः । तस्माद् भावानुकरणं रसा इत्यसत् ।
(अभिनवभारती, ६, रससूत्र)

१०. संवेदनाख्यया व्यङ्ग्य-पर-संवित्ति-गोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥
तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते । अनुभवेन च तद्विषयः । (वही)

११. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ (काव्यप्रकाश, ४।४३)

१२. प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचन-गोचरतां गमितः ।

यदुक्तम्—

कविशक्त्यार्पिता भावास्तन्मयीभाव-युक्तितः ।

यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥ इति ।

सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते, यथा तैरेवानुमेयतां नीत इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति । तदुक्तम्—

नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः ।

न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा ॥ (व्यक्तिविवेक, पृ० ७३-७४)

१३. दे० काव्यप्रकाश, ४, रसनिष्पत्तिप्रकरण ।

१४. Senses, limited by crudely practical needs, have only a narrow meaning. (डॉ० रामविलास शर्मा : साहित्य के स्थायी मूल्य, मार्क्स का उद्धरण)

१५. Only through the objectively unfolding richness of the human being is the richness of subjective human sensuousness, such as a musical ear, an eye for beauty of form, in short, senses capable of human enjoyment and which prove to be essentially human powers, partly developed and partly created.

(वही)

१६. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ (दशरूपक)

१७. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥

(कालिदास : शाकुन्तल, ५)

१८. रसगङ्गाधर—पृ० ९३ ।

१९. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ (नाट्यशास्त्र, ७।९४)

२०. इह हि सत्त्वं नाम मनः-प्रभवम् । तच्च समाहित-मनस्त्वादुच्यते । मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति । तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रु-वैवर्ण्यादिलक्षणो यथा-भावोपगतः, स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति । लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम् । को दृष्टान्तः इह हि नाट्यधर्मि-प्रवृत्ताः सुख-दुःख कृता भावास्तथा सत्त्व-विशुद्धाः कार्याः, यथा सरूपा भवन्ति । तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकं तत्कथ-मदुःखितेन, सुखं च प्रहर्षात्मकसुखितेन वाभिनेयम् । एतदेवास्य सत्त्वं यद् दुःखि-तेन सुखितेन वाश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावाः । (वही)

२१. तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

(तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः)

विकाराः सत्त्व-संभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥
सत्त्वमात्रोद्भवत्वात् ते भिन्ना अप्यनुभावतः ।
(साहित्यदर्पण, ३।१३४-१३५)

२२. रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः । तथा हि शृङ्गारेऽनुच्छिद्यमानतया-वस्थानाद् रतिरेव स्थायिशब्दवाच्या । हासः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचार्येव । व्यभिचारि-लक्षण-योगात् । तदुक्तम्—
रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ॥ (साहित्यदर्पण, ३।१७२)

२३. शृंगार-वीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥
शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ।
एवमन्यत् समुन्नेयं तथा भावित-बुद्धिभिः ॥
अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुर-कन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥
(स्रक्सूत्र-वृत्त्यान्येषां भावानामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥)
(वही, ३।१७२–१७४)

२४. रसगङ्गाधर, पृ० ११९ ।
२५. वही ।
२६. दे० काव्यप्रकाश, झलकीकर टीका, ४।४९ ।
२७. दे० सन्दर्भ २।५८ ।
२८. आत्ममाने खश्च (चाणिनिः) । (पा० सू० ३।२।८३)
२९. ध्वन्यालोक, ३।३–४ ।
३०. अंग्रेजी शब्दकोश—अनन्देल ।
३१. डॉ० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ ।
३२. अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ (ध्वन्यालोक, ३।३५)
३३. दे० काव्य में रहस्यवाद, पृ० १७१–१७६ ।
३४. सन्धि-सन्ध्यङ्ग-घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्र-स्थिति-सम्पादनेच्छया ॥

× × ×

अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ (ध्वन्यालोक, ३।१२–१४)

३५. वही, ३।३१–३५ ।
३६. वाच्यालङ्कार-वर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥
मुख्या महाकविगिरामलंकृति-भृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ (वही, ३।३६–३७)

(५)

१. अगूढमपरस्याङ्ग वाच्य - सिद्धचङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्ध-तुल्य-प्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूत-व्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः । (काव्यप्रकाश, ५।६६)

(६)

१. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ (काव्यादर्श, १।५१)

२. अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव । (वही, २।१५)

३. काव्य-शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यति ॥ (वही, २।१)

४. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः-कान्ति-समाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः । (वही, १।४१–४२)

५. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे स्थिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिद्, न ततो दश ॥ (काव्यप्रकाश, ८।७२)

६. दे० वही, ८।६८–७१ ।

७. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥ (ध्वन्यालोक, ३।५)

८. दे० वही, ३।६ ।

९. दे० काव्यप्रकाश, उल्लास ९ ।

१०. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्न-वृत्तं विसन्धिकम् ॥
देश-काल-कला-लोक-न्यायागम-विरोधि च ।
इति दोषा दशैवेते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥ (काव्यादर्श, ३।१२५–१२६)

११. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥ (ध्वन्यालोक, २।११)

१२. नाट्यशास्त्र, १६।८८ ।

१३. हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दु-कलादयः ।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोक-लोचन-चन्द्रिका ॥ (साहित्यदर्पण, ७।१२)

१४. 'घोरो वारिमुचां रवः ।' अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् । (वही)

१५. ....तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृ-वाच्ययोः ॥
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।
काव्य-प्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥
एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्य-बन्धेऽपिच्छन्दो-नियम-वर्जिते ॥

रस-बन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ॥ (ध्वन्यालोक, ३।६–९)

१६. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादि-विषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥
रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थ-शब्दयोः । औचित्यवान्.... (वही, ३।३२–३३)

१७. अनौचित्यादृते नान्यद् रस-भङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्य-बन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ (वही, ३।१४)

१८. एतस्य (अनौचित्यस्य) विवक्षित-रसादि-प्रतीति-विघ्नविधायित्वं नाम सामान्य-लक्षणम् । (व्यक्तिविवेक, पृ० १५२)
तस्य (औचित्यस्य) काव्य-स्वरूप-निरूपण-सामर्थ्य-सिद्धस्य पृथगुपादान-वैयर्थ्यात् । (वही, पृ० १२६)

१९. औचित्यस्य चमत्कार-कारिणश्चारुचर्वणे ।
रस-जीवित-भूतस्य विचारः क्रियतेऽधुना ॥ (औचित्य-विचार-चर्चा, ३)

२०. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य-क्रियो भवेत् ।
अपृथग्-यत्न-निर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ (ध्वन्यालोक, २।१७)

२१. A figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure. (On the Sublime, Ch. 17)

२२. Somehow or other figures naturally light on the side of sublimity and in turn receive a wonderful re-inforcement from it. (Ibid)

२३. He (poet) will devise what is appropriate, and be least likely to overlook incongruities. One must mind, however, that the episodes are appropriate. (Poetics, p. 61–62.)

२४. प्रस्तुतौचित्य-शोभिनः । प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु, तस्य यदौचित्यम्, तेन शोभन्ते ये ते तथोक्ताः । न पुनर्वर्ण-सावर्ण्य-व्यसनिता-मात्रेण उपनिबद्धाः प्रस्तुतौचित्य-म्लानि-कारिणः । (वक्रोक्तिजीवित, २।२)

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ३९ ।

२. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि-हेतुः ।
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । (प्रत्यभिज्ञाहृदय)

३. व्यक्तिविवेक, पृ० ४०-५२ ।

४. वही, पृ० ५३ ।

५. वही, पृ० ५४-६४ ।

६. वही, पृ० ८३-८७ ।

७. वही, पृ० ६६-६७ ।

८. वही, पृ० ६८-६९ ।

९. वही ।

१०. तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्य-लोक-विषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सति एकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भाविषु रत्या-दिषु असत्येषु एव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्त्योपपद्यन्ते एव । तत्प्रतीति-परामर्श एव च रसा-स्वादः स्वाभाविकः । (वही, पृ० ७३)

११. वही, पृ० ७७-८१ ।

१२. कवि-शक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभाव-युक्तितः ।
तथा स्फुरन्त्यमी काव्याद् न तथाध्यक्षतः किल ॥ (वही, पृ० ७३, उद्धरण)
मणि-प्रदीप-प्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्या-ज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ (वही, पृ० ७४, उद्धरण)

१३. एष एव लोकतः काव्यादावतिशयः इत्युपपद्यते एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वाद-प्रयोजनो व्यंग्यत्वोपचार इति । मुख्य-वृत्त्या द्विविध एवार्थो वाच्यो गम्यश्चेति । उपचारतस्तु व्यंग्यस्तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम् । (वही, पृ० ७५)

१४. वही, पृ० ९५-१०३ ।

१५. Art does not spring from, nor appeal to, any normal capacity in its normal form, but only to perversion or indiscriminate pleasure-seeking or weakness. He (Plato) thinks that artists put their intelligence at the service of their imagination and make it an instrument for the realisation of their fantacies. (The Interpretation of Plato's Republic. p. 227)

१६. Ibid.

१७. शब्दोपहित-रूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ।।

१८. चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् । (दशरूपक, १।७)

१९. अरिस्टाटिल्स् थ्योरी आव् पोएट्री ऐन्ड फ़ाइन् आर्ट, पृ० ११८ ।

२०. But perhaps aesthetic activity may be less dangerously described as creative than as representative; as we see, for example, in music or, by contrast, in a picture where the representative element is large and the creative small.

(The Interpretation of Plato's Republic, p. 231.)

२१. In a very famous passage he tells us that tragic poetry is 'more philosophical and more serious than History.'

(Ibid, p. 228)

२२. डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० ४५ ।

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत-स्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ (ध्वन्यालोक, १।१३)
"व्यङ्क्तः द्योतयतः ।....तेन यद् (भट्टनायकेन) द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकैव । अर्थः शब्दो वेति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण ।" (लोचन)

२. वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बाल-तृष्णया ।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः ॥
(ध्वन्यालोक, लोचन, १।१६)

३. शब्द-प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः ।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापार-प्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥ (वही, १।५)

४. अभिधा-भावना-रसचर्वणात्मकत्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवित-भूता ॥
(वही, १।१)

५. ध्वनिर्नामापरो यो हि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥ (वही, १।१)

६. काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् । (वही, १।१)

७. अत्ता एत्थ णिमज्जइ, एत्थ अहं, दिअसए पलोएहि ।
मा पहिअ रति-अंधिअ, सेज्जाए गह णिमज्जिहिसि ॥
(ध्वन्यालोक, १।४ पर उदाहरण)

८. यत्त्वाह भट्टनायकः—अहमित्यभिनय-विशेषणात्मदशावेदनात् शाब्दमेतदपीति ।
(लोचन, १।४)

९. भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोला-णई-कुडंग-वासिणा दरिअ सीहेण ।
यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्त-सिंहादि-पद-प्रयोगे च धार्मिकपद-प्रयोगे च भयानकरसावेश-कृतैव निषेधावगतिः । तदीय-भीरु-वीरत्व-प्रकृति-नियमावगममन्तरेण एकान्ततो निषेधावगत्यसंभवात् । (लोचन, १।४)

१०. भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावक-व्यापार-विशेषः ।
(मीमांसा-न्याय-प्रकाश, पृ० २५)

११. दे० वही, पृ० ४६९ ।
ननु केयं शाब्दी भावना ? उच्यते । पुरुष-प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः ।
(वही, ४७०)

१२. प्रयत्न-व्यतिरिक्तार्थी भावना तु न शक्यते । (वही, ४८२)

१३. विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्ग-सत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥
वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्ग-संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ (नाट्यशास्त्र, ६।१–५)

१४. काव्यं च रसान् प्रति भावकम् इति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनाद् उत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः । न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात् । न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणे तदयोगात् । द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम् ।····तस्माद् इतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति ।
(लोचन, २१४)

१५. रसो न प्रतीयते (अनुमीयते), नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते ।····तस्मात् काव्ये···· विभावादि-साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसः । (अभिनवभारती, रसलक्षणसूत्र, अ० ६)

१६. तस्मात् काव्ये दोषाभाव-गुणालंकारमयत्व-लक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविड-निज-मोह-संकट-कारिणा विभावादि-साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसः अनुभव-स्मृत्यादि-विलक्षणेन रजस्तमोनुवेध-वैचित्र्य-बलाद् द्रुति-विस्तार-विकास-लक्षणेन सत्त्वोद्रेक-प्रकाशा-नन्दमय-निज-संविद्-विश्रान्ति-लक्षणेन परब्रह्मास्वाद-सविधेन भोगेन परं भुज्यते ।
(अभिनवभारती, ६, रससूत्र)

१७. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ (सांख्यकारिका)

१८. अभिधा भावना चान्या तदभोगीकृतमेव च ।
अभिधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः ॥
भावना-भाव्य एषोऽपि शृंगारादि-गणो हि यत् ।
तद्भोगीकृत-रूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः ॥
(अभिनवभारती, ६, रससूत्र)

१९. रसो न प्रतीयते । नोत्पद्यते । नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता । सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्ता-स्मृत्यसंवेदनात् । देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसाधा-रण्यात् । न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः । अनुपलब्धत्वात् । न च नायक-युगलकाव-भासे हि प्रत्युत लज्जा-जुगुप्सा-स्पृहादि-स्वोचित-चित्तवृत्त्यन्तरोदय-व्यग्रतया अनेक-रसत्वमथापि स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभव-स्मृत्यादिरूपता रसस्य युक्ता । उत्पत्ता-वपि तुल्यमेतद् दूषणम् । शक्ति-रूपत्वेन पूर्व-स्थितस्य पश्चाद् अभिव्यक्तौ विषया-र्जन-तारतम्यापत्तिः । स्वगतत्व-परगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम् । (वही)

२०. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि-साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमय-संविद्-विश्रान्ति-सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः। (काव्यप्रकाश, ४, रसनिष्पत्ति)

२१. दे०, सन्दर्भ १९, २०।

२२. दे०, शेखर की भूमिका।

२३. इच्छादि-त्रि-समष्टिः शक्तिः शान्तास्य संकुचद्रूपा।
संकलितेच्छाद्यात्मक-सत्त्वादिक-साम्यरूपिणी तु सती॥
बुद्ध्यादि-सामरस्य-स्वरूप-चित्तात्मिका मता प्रकृतिः।
इच्छास्य रजोरूपाऽहंकृतिरासीदहं-प्रतीतिकरी॥
ज्ञातापि सत्त्वरूपा निर्णय-बोधस्य कारणं बुद्धिः।
तस्य क्रिया तमोमय-मूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी॥
(षट्त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोह, १३-१५)

२४. तत्र सर्व-रसानां शान्त-प्राय एवास्वादो न विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या। तन्मुख्यता-लाभात् केवलं वासनान्तरोपहितः। (अभिनवभारती, ६, शान्तरस, पृ० ३३९)

२५. स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते॥ (वही, ३४०)

२६. दे०, सन्दर्भ १९।

२७. अन्येन भोजकत्व-व्यापारेण तु उक्तरीत्या साधारणीकृत-विभावादिसहकृतेन सा रतिः सहृदयैरास्वाद्यते (अत एव असत्या अपि रतेरास्वादः अलौकिकत्वादुपपन्नः इति रतेरास्वाद एव रसनिष्पत्तिरिति विवरणादौ स्पष्टम्)।
(काव्यप्रकाश, झलकीकर टीका, पृ० ९१)

२८. भोगोऽपि न काव्य-शब्देन क्रियते, अपितु घन-मोहान्ध्य-संकटता-निवृत्तिद्वारेण आस्वादापर-नाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तार-विकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरे ध्वनन-व्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तत्रेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवासिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति।
(लोचन, २।४, पृ० १८८-१९०)

२९. दशरूपक, ४।२।

३०. The ideal is that which is raised above the trivial and accidental; by virtue of a universal element which answers to the true idea of the object, it transcends the limitations of the individual. (Poetry and Fine Art, p. 370.)

३१. सर्वथा रसनात्मक-वीत-विघ्न-प्रतीति-ग्राह्यो भाव एव रसः।
(अभिनवभारती, पृ० २८०)

३२. वही, पृ० १८०–२८१।

३३. (a) The representation of an object in its permanent and essential aspects, in a form that answers to its true idea, disengaged from the passing accidents that cling to individuality and from disturbing influences that obscure the type.

(b) An idealised representation implies (also) a positive accession of what is beautiful.

(Poetry and Fine Art, p. 370)

३४. सर्वेभी सुख-प्रधानाः । स्व-संविच्चर्वण-रूपस्यैक-घनस्य प्रकाशस्य आनन्द-सार-त्वात् । तथा हि—एक-घन-शोक-संविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदय-विश्रान्तिः। अन्तराय-शून्य-विश्रान्ति-शरीरत्वात् सुखस्य । अविश्रान्ति-रूपतैव दुःखम् । तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम्, रजोवृत्तितां वदद्भिः इति आनन्द-रूपता सर्व-रसानाम् । (अभिनवभारती, पृ० २८२)

३५. All great poetry and art fulfil this law of universality ... In real life woman is less individual than man ...

(Poetry and Fine Art, p. 399.)

३६. किंच नटः शिक्षा-वशात् स्व-विभाव-स्मरणात् चित्तवृत्ति-साधारणीभावेन हृदयसंवादात् केवलमनुभावान् प्रदर्शयन् काव्यमुपचित-काकु-प्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टते । (अभिनवभारती, पृ० २७४–२७५)

३७. Moreover, the great ideas of Hellenism disengage themselves from local and accidental influences, and make their appeal to a universal human sentiment. (Poetry and Fine Art.)

३८. There are two forms of impersonality; that which is natural to the mere skilful craftsman, and that which is more achieved by the maturing artist.

The second impersonality is that of the poet who, out of intense and personal experience, is able to express a general truth; retaining all the personality of his experience, to make of it a general symbol.

(T. S. Eliot : On Poetry and Poets, p. 255.)

३९. Poetry is not a turning loose of emotion; but an escape from emotion, it is not expression of personality, but an escape from personality. (Ibid, p. 30.)

४०. The end of enjoyment of poetry is a pure contemplation from which all the accidents of personal emotions are removed. (Ibid, p. 14–15.)

४१. सरस्वती स्वादु तदर्थ-वस्तु
निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोक-सामान्यमभिव्यनक्ति
परिस्फुरन्तं प्रतिभा-विशेषम् ॥ (ध्वन्यालोक, १।६)

प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना, अपितु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः । यदुक्तमस्मदुपाध्यायेन भट्टतौतेन—

"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः ।"

प्रतिभा अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा; तस्या विशेषो रसावेश-वैशद्य-सौन्दर्यं काव्य-निर्माण-क्षमत्वम् । यदाह मुनिः—कवेरन्तर्गतं भावं (भावयन् भाव उच्यते) इति । (लोचन)

४२. So much human nature must there be in him that we are able in some sense to identify ourselves with him, to make his misfortunes our own. (Poetry and Fine Art, p. 261.)

४३. Pity and fear ... become universalised emotions. What is purely personal and self-regarding drops away.
(Ibid, p. 269.)

४४. The end, then, of fine art, according to Aristotle's doctrine, is a certain pleasurable impression produced upon the mind of the hearer or the spectator. (Ibid, p. 206.)

४५. Tragic art predicates the special universality of man's capacity for greatness of soul and mind, inspite of his 'hamartia' or the flaw in his nature.
(John Gassner : Aristotle's Literary Criticism, p. 66.)

४६. कवि-गत-साधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्य-पुरस्सरो नट-व्यापारः । सैव च संवित् परमार्थतो रसः । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धार-बुद्धया विभावादि-प्रतीतिः इति प्रयोजनं काव्ये नाट्ये सामाजिक-धियि च । तदेवं मूलं = बीजस्थानीयः कविगतो रसः । कविर्हि सामाजिक-तुल्य एव ।····ततो वृक्ष-स्थानीयं काव्यम् । तत्र पुष्प-स्थानीयोऽभिनयादि-नट-व्यापारः । तत्र फल-स्थानीयः सामाजिक-रसास्वादः । तेन रसमयमेव विश्वम् ।
(अभिनवभारती, स० २, पृ० २९४)

४७. काव्यप्रकाश, ४, रसनिरूपण ।

४८. रसगङ्गाधर, रससूत्र ।

४९. साहित्यदर्पण, ३।९–१३ ।

१. शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कवि-व्यापार-शालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद-कारिणि ॥ (वक्रोक्तिजीवित, १।७)

२. वही ।

३. अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥ (वही, १।६)

४. स्वभाव-व्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्-रहितं यस्माद् निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥ (वही, १।१२)

५. अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतेरपि ॥ (वही, ३।११)

६. शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवितां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥ (वही, १।५३)

७. गुणः सौभाग्यमुच्यते—
अलौकिक-चमत्कार-कारि काव्यस्य जीवितम् ॥ (वही, १।५५-५६)

८. प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान-जीवितम् । (वही, १।५३)

९. रस-स्वभावालंकाराणां कवि-कौशलमेव जीवितम् । (वही)

१०. प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालङ्कार-करणम् । (वही, १।१)

११. काव्यालङ्कार, २।८१-८५ ।

१२. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी-भणितिरुच्यते ॥ (वक्रोक्तिजीवित, १।१०)

१३. ध्वन्यालोक, पृ० २०८ ।

१४. शास्त्रादि-प्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्ध-व्यतिरेकि यद् वैचित्र्यं तन्मात्र-लक्षणं वक्रत्वं नाम काव्यस्य जीवितमिति सहृदयमानिनः केचिदाचक्षते, तदप्यसमीचीनम् । यतः प्रसिद्धोपनिबन्धन-व्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोः औचित्यमात्र-पर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेय-व्यतिरेकि प्रतीयमानाभिव्यक्ति-परं वा स्यात् । प्रसिद्ध-प्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धन-वैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासंभवात् ।

तत्राद्यस्तावत् पक्षो न शङ्कनीय एव, तस्य काव्य-स्वरूप-निरूपण-सामर्थ्य-सिद्धस्य पृथगुपादान-वैयर्थ्यात् । विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कवि-व्यापारो नापरः । ते च यथाशास्त्रमुपनिबध्यमाना रसाभिव्यक्तेः निबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा । रसात्मकं च काव्यम् इति कुतस्तत्र अनौचित्य-संस्पर्शः संभाव्यते, यन्निरासार्थमित्थं काव्य-लक्षणमाचक्षीरन् विचक्षणम्मन्याः ।

द्वितीय-पक्ष-परिग्रहे पुनः ध्वनेरेवेदं लक्षणमन्यया भङ्ग्या अभिहितं भवति, अभिन्नत्वाद् वस्तुनः । अत एव चास्य त एव प्रभेदाः तान्येवोदाहरणानि तैरुपदर्शितानि । (व्यक्तिविवेक, पृ० १२५-१२६)

१५. विषमः शर-दृष्टान्तोपन्यासः । न हि यथा सायकः स्वभावत एव छेद्य-भेद्याद्यर्थ-विषयमेकयैव वृत्त्या तत्तत्कार्यं करोति, तथा शब्दः । स हि संकेत-सापेक्षः स्व-व्यापारमारभते, न स्वभावत एवेति यत्रैवास्य संकेतः तत्रैव व्याप्रियते । ततश्चा-भिधेयार्थ-विषय एवास्य व्यापारो युक्तो नार्थान्तर-विषयः, तत्र संकेताभावात् । तदभावेऽपि तत्र तत्परिकल्पने सर्वः कुतश्चिद् अभिधेयार्थवद् अर्थान्तरमपि प्रतीयात् । (वही, पृ० १२३-१२४)

१. ध्वन्यालोक, पृ० १९७ (चौखम्बा)।
२. वही, ३।४०।
३. वही, पृ० ४९७।
४. वही, ३।४२।
५. अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थ-निष्ठिता।
तेषां तात्पर्य-शक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ॥ (शृंगारप्रकाश, ८, पृ० २६६)
६. एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत्कार्य-प्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्। (दशरूपक, ४।३७।४)
७. पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा-परतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेत-तात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ (वही, ४।३७।७)
८. तत्तत्कक्ष्या-विभेदेऽपि बहुधा प्रसृता सती।
तात्पर्य-वृत्तिरुद्देश्यं यावन्न प्रतिहन्यते ॥
एतावतैव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्-कार्य-प्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुला-धृतम् ॥
(सागरिका, मार्च, १९७०, पृ० १३ पर उद्धृत साहित्यमीमांसा, ६।१७)
९. दशरूपक, ४।३६ की टीका (धनिक)।
१०. शृंगारप्रकाश, पृ० २४६।
११. दशरूपक, ४।३७ की टीका।
१२. वही, ४।३८-४७।
१३. तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेव गुण-सम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
शृंगार एव हृदि मानवतो जनस्य ॥ (शृंगारप्रकाश, मंगलाचरण)
१४. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासित-दर्शनैः।
ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति-भेदवानिव लक्ष्यते ॥
ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य-माया-पथ-परिच्युताम्।
नमामः परमानन्द-ज्योतीरूपां सरस्वतीम् ॥ (वही, ६, पृ० २११ पर उद्धरण)

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे । (शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र)
स त्वस्मिन् परम-प्रेम-रूपा । (नारदभक्तिसूत्र)

२. द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

अथवा

द्रवीभाव-पूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्प-वृत्तिः भक्तिः ।
भक्तिरसायन (मधुसूदन सरस्वती)

३. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ॥
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्ति-रसो भवेत् ॥
(भक्तिरसामृत-सिन्धु, १।५–६)

४. काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे ।
उपायैः शास्त्र-निर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः ॥ (मधुसूदन-भक्तिरसायन)

५. भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोध-सुखात्मकम् ।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते ॥ (वही)

६. भगवान् परमानन्द-स्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥ (वही, १।१०)

७. तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्ति-शब्दार्थोऽस्माकं दर्शने । (वही)

८. आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
स्वयंप्रकाशरूपा हि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥ (भक्तिरसामृत०)

९. विषयावच्छिन्न-चैतन्यमेव द्रवावस्थ-मनोवृत्त्यारूढतया भावत्वं प्राप्य रसतां प्राप्नोतीति न लौकिक-रसस्यापि परमानन्द-रूपत्वानुपपत्तिः। अत एव अनवच्छिन्न-चिदानन्द-घनस्य भगवतः स्फुरणाद् भक्तिरसेऽत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य । लौकिक-रसे तु विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दस्य स्फुरणात् तत्रानन्दस्य न्यूनतैव ॥
(वही, १।१३)

१०. द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तस्त्वाकारो यस्तु वस्तुनः ।
संस्कार-वासना-भाव-भावना-शब्दभागसौ ॥ (वही, १।६)

११. यस्यैकदा द्रुते चित्ते भगवदाकारता प्रविष्टा, स सर्वदा तद्-भानात् कृतकृत्यो भवति । (वही, १।८)

१२. स्थायिभाव-गिरातोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते ।
व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः ॥ (वही, १।९)

१३. कान्तादि-विषयेऽप्यस्ति कारणं सुखचिद्वनम् । (वही, १।११)

१४. वही, २।१-२४ ।

१५. यावत्यो द्रुतयश्चित्ते भावास्तावन्त एव हि ।
स्थायिनो, रसतां यान्ति विभावादि-समाश्रयात् ॥ (वही, २।२६)

१६. वही, २।९-११ ।

१७. द्रवीभाव-पूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्प-वृत्ति-रूपा भक्तिः, द्रवीभावानुपेता अद्वितीयात्म-मात्र-गोचरा निर्विकल्प-मनोवृत्तिर्ब्रह्मविद्या ।····भगवद्विषयक-प्रेमप्रकर्षो भक्तिफलम्, सर्वानर्थ-मूलाज्ञान-निवृत्तिर्ब्रह्मविद्या-फलम् । (वही)

१८. दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते ।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥
(उज्ज्वलनीलमणि, पृ० २७ टीका)

(१२)

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध-पूर्वं भाव-स्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥
(शाकुन्तल, ५)

२. दे० सन्दर्भ, ८।२३ ।

३. दे० सन्दर्भ, ११।१८ ।

४. दे० सन्दर्भ, ११।१७ ।

५. दे० सन्दर्भ, ८।२ ।

६. वस्तु-सतां काव्यार्पितानां च देश-काल-प्रमात्रादीनां नियमहेतूनाम् अन्योन्य-प्रतिबन्ध-बलाद् अत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति । अतएव सर्वसामाजिकानाम् एक-घनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रस-परिपोषाय । सर्वेषाम् अनादि-वासना-चित्रीकृत-चेतसां वासना-संवादात् ।
(अभिनवभारती, पृ० २७६)

७. बुद्धि-तत्स्थ-चिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत् ॥
(वेदान्तसार में पञ्चदशी का उद्धरण)

८. दे० सन्दर्भ, ८।२३ ।

९. We no longer think of the relations between brain function and intelligence in so naive a way, but rather in terms of patterns of organisation. That these patterns must at times seem ill-defined and difficult to interpret is perhaps not to be wondered at, as it is a field of study where actual experiment is impossible and in which the task of correlating human mental function and human brain activity remains infinitely complex. (Science Survey, Vol. 2, pp. 261-262)

१०. While molecular genetics has taught us the proper way to reconcile the characteristics of the living world, generation, development toward a goal, and decay, with the contrasting incorruptibility and planlessness of the physical world, it has not resolved our uncertainty about the proper way to relate

this language to the notions of "consciousness", "mind", "cognition", "logical", "thought", "truth" all these notions, too, elements of our "world".

What is language ? How does a child come to associate meaning with a word ? The ability to form ***abstractions*** is undoubtedly ***inherent in our brain, this marvel*** of a computor. The study of the brain's connectivity, the study of the development of this network in the growing animal, the study of its functions and potencies, all of these studies are aspects of the neurobiology of the next decade and they are very appealing ones to many of my colleagues and to many of the new generation of graduate students.

(Science and Culture, Artist and Science, Sept. 1970, p. 504)

११. The brain may be described as being roughly divided into three main parts; first, the most ancient portion, called the autonomic nervous system, which governs the basic rhythmical activities of the body; second, the midbrain which is the seat of feeling, a centre of communications, and the controller of the autonomic system; and third, the cortex, which serves the highest functions of thought, movement, and sensation. (Ibid, p. 265)

१२. See Ibid, Chemistry of Mind.

१३. This process demands in its turn some superior governing centre—a conductor as it were of the whole vital orchestra. This superior controlling mechanism may be described as a physiological clock, a device with an in-built mechanism for self-regulation. (Ibid, p. 269)

१४. Perhaps these misterious "qualities of mind" can indeed be measured; this grudging acceptance has not, however, been extended to the measurement of qualities of temperament and personality. Hence, it is said, science has little to contribute, and we have to rely exclusively on the insights and abilities of human beings to judge one another.

(Ibid, p. 246)

१५. Scientific Psychology., p. 297.

१६. The self may function when the personality does not, but the personality cannot function when the self does not.

(Ibid, p. 297, quotation)

१७. Ibid, pp. 299-300.

१८. Ibid, pp. 300-302.

The basic conclusion emerging from these investigations is that what a person knows and perceives will be a function of the degree and nature of his self-involvement.

(Ibid, p. 304)

१९. Instinctive and drive theories, for all their difficulties, did manage to account for continuity in change. (Ibid, p. 307)

२०. It seems, on the whole, sounder to regard the appropriate function of wanting, striving, willing as interlocked within the total personality structure. (Ibid, p. 310)

२१. Ibid, p. 313.

२२. The only possible inference from these two facts is, I think, that I—I in the widest meaning of the word, that is to say, every conscious mind that has ever said or felt 'I'—am the person, if any, who controls the 'motion of the atoms' according to the laws of Nature. (What is Life, p. 88)

२३. Ibid, p. 91.

२४. The Problem of Aesthetics, p. 163.

२५. The Forms of Things Unknown, pp. 84-85.

२६. Suggestion is a process of communication resulting in the acceptance with conviction of the communicated proposition in the absence of logically adequate grounds of its acceptance. (Mcdougal : An Introduction to Social Psychology, p. 83)

२७. We may define suggestion as a form of symbol, communication by words, pictures or some similar medium inducing acceptance of the symbol without any self-evident or logical ground. (K. Young : Hand-book of Social Psychology, p. 10)

२८. The word 'suggestion' is now commonly used for the process by which an attitude towards a system of ideas is communicated from one person to another, by a process other than that of rational persuation.

(R. H. Thouless : General and Social Psychology, p. 247)

२९. दे० सन्दर्भ, ७।१५ ।

३०. दे० सन्दर्भ, ७।१५ ।

३१. नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जना-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादि-रतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पित-दुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजत-खण्ड: समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीय: साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादिरेव रस: । अयं च कार्यो दोषविशेषस्य । नाश्यश्च तन्नाशस्य । (रसगङ्गाधर, पृ० ३०)

३२. दे० मनोविज्ञान के आधार, पृ० ७०१ ।

३३. वही, पृ० ७०५ ।

३४. वही, पृ० ७१८-७२७ ।

३५. वही, पृ० ७२७-७३५ ।

३६. It is unfortunate that Science still adheres to an ... impossible contrast between mental and physical ... Mind ... is a sufficiently organised living being in action; and not a peculiar form of mind stuff.

(The Role of the Mental Factors in Psychiatry, pp. 39-56; मनोविज्ञान के आधार, पृ० ७३६)

३७. It is always the whole person who reacts ... It is a biological and psychological impossibility for the organism to act unless it acts as a whole. (मनोविज्ञान के आधार, पृ० ७४३)

३८. दे० मनोविज्ञान के आधार, पृ० ७४३, पाद-टिप्पणी ।

३९. The conscious self of each one of us ... is immediately experienced as possessed of at least four fundamental characters. I immediately experience myself as (1) relatively persistent–in other words, I am in some sense the same as my childhood self; as (2) complex–I am a perceiving, remembering, feeling, willing self; as (3) a unique; an irreplaceable self–I am closely like my father, brother or friend, but I am, after all, only myself; there is only one of me. I experience myself; (4) as related to (or conscious of) objects either personal or impersonal. (A First Book in Psychology, p. 3)

४०. Historical Introduction to Modern Psychology, p. 296.

४१. Ibid, p. 284.

४२. Ibid, p. 285.

४३. Ibid, p. 285.

४४. Ibid. p. 285.

४५. Ibid, p. 288.

४६. The Gestalt Psychology, The Psychology of Form.

(Ibid, p. 287)

४७. Emotion came to be viewed ... as a response involving the entire living system, rather than as a local response of the mid-brain ... ... And impulse, instinct and will were treated ultimately as processes involving the entire community ...

(Ibid, p. 290)

४८. Ibid, p. 286.

४९. दे० सन्दर्भ, ३१३ ।

५०. मनोविज्ञान के आधार, पृ० ७४९ ।

५१. वही, पृ० ७५३ ।

५२. Encyclopedia of Psychoanalysis, p. 197, pootnote.

५३. Ibid, p. 198.

५४. According to Fenichel (1945) the term 'instinct of self-assertion' is synonymous with self-esteem, which he defines as "the awareness of how close the individual is to the original omnipotence". This equation is extremely questionable, as self-esteem and self-assertion—although interdependent and very closely connected psychologically—appear to be two separate entities, the former being a feeling one holds toward oneself, and the latter being an out-bound force.

(Ibid, p. 198)

५५. Ibid, p. 200.

५६. Impulse denotes a sudden inclination or desire; the psychological presentation of an instinctual drive (Triab).

(Ibid, p. 189)

५७. Ibid, p. 125.

५८. Primary emotions are essentially indicators of the working of the instinctive impulses.

(Outline of Psychology, Chapter on Emotion))

५९. Psychology, p. 338.

६०. Kulpe regards emotions as a fusion of feeling and organic sensation. (Instincts in Man, p. 158)

६१. Encyclopedia of Psychoanalysis, p. 19.

६२. According to Eidelberg (1954) shame may be described as an emotional signal warning us of exhibitionistic wishes and the possible dangers of gratifying them. (Ibid, p. 404) (दे० कामायनी, लज्जासर्ग)

६३. Social Psychology, p. 134.

६४. Psychology, p. 354.

६५. Manual of Psychology, pp. 134 and 701.

६६. मनोविज्ञान के आधार, पृ० १७० ।

६७. Psychological Studies in Rasa, pp. 83–84.

६८. Ibid, pp. 84–85.

६९. Ibid, pp. 85–86.

७०. Ibid, pp. 86–87.

७१. Ibid, pp. 87–88.

७२. Ibid, p. 88.

७३. Ibid, pp. 88–89.

७४. Aesthetic pleasure is characterized by the gratification of aim-inhibited instincts. Consequently, although it does not require possession of the object to be enjoyed, it has all the characteristics of end-pleasure. This enjoyment—this kind of ideation—is a purely aesthetic one, which lies only in itself, which has its aim only in itself and which fulfils none of the other ends of life. (Encyclopedia of Psychoanalysis, p. 18)

७५. Ibid, p. 126.

७६. Ibid, p. 313.

७७. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त, पृ० १७–१८ ।

७८. वही, पृ० ४८ ।

७९. Psychological Studies in Rasa, pp. 131–145.

८०. Encyclopedia of Psychoanalysis, p. 211.

८१. Ibid, p. 10.

८२. Ibid, p. 36.

८३. Ibid, p. 37.

८४. Ibid, p. 39.

८५. Ibid, p. 82.
८६. Ibid, p. 404.
८७. Ibid, p. 104.
८८. Ibid, pp. 109, 406.
८९. Ibid, p. 327.
९०. Ibid, pp. 125, 173.
९१. Ibid, pp. 129, 209.
९२. Ibid, p. 130.
९३. Ibid, pp. 224–225.
९४. Ibid, p. 173.
९५. Ibid, p. 167.
९६. Ibid, pp. 175, 211, 218.
९७. Ibid, p. 252.
९८. Ibid, pp. 313–314.
९९. Ibid, p. 150.
१००. Ibid, pp. 18–19.
१०१. Ibid, pp. 395–396.
१०२. Ibid, p. 409.
१०३. Ibid, p. 75.
१०४. Ibid, pp. 457–459, 361.
१०५. Creativity is the capacity to produce something new and original. It results from the ability to inhibit an original gratification and to sublimate an instinctual wish. To this must be added the distinction which separates everyday creativity from that of the artist or scientist.

(Ibid, p. 87)

१०६. Ibid, pp. 425–426.

१. Plato : Republic, p. 394.

२. We have the opposite form to this when the words of the poet between the speeches are omitted, and only the dialogue is left.

Whether we shall let our poets tell their stories solely in the form of imitation, or partly so and partly not, and in either case what sort of things they may, what sort of things they may not, imitate, or shall not let them imitate at all.

(Ibid.)

३. Whether we shall admit tragedy and comedy into our state or not ... I am not sure myself; but wherever the wind of reason may bear us, thither we must go.

(Ibid, pp. 394, 397)

४. Ibid, p. 398.

५. Ibid, pp. 597-598.

६. Ibid, p. 606.

७. Ibid.

८. Ibid.

९. Ibid, p. 607.

१०. Plato : Laws, p. 669.

११. Because tragedy is an imitation, not of men, but of actions of life, of happiness and unhappiness; for happiness consists in action, and supreme good itself, the very end of life, is action of a certain kind, not quality. (Poetics, III)

१२. And since the pleasure which the poet should afford is that which comes from pity and fear through imitation, it is evident that this quality must be impressed upon the incidents.

(Ibid, Butcher, XIV)

१३. Poetry, therefore, is a more philosophical and a higher thing than history; or poetry tends to express the universal, history

the particular. By the universal I mean how a person of a certain type will on occasion speak or act, according to the law of probability or necessity; and it is this universality at which poetry aims in the names she attaches to the personages. Particular is, for example, what Alcibiades did or sufferd.

(Ibid, IX.)

१४. नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम् । (तर्कसंग्रह)

१५. दे० सन्दर्भ, ८।३०-३१ ।

१६. The artist may imitate things as they ought to be, he may place before him an unrealized ideal. We see at once that there is no question here of bare imitation, of literal transcript of the world of reality. (Poetry and Fine Art, p. 122)

१७. The instinctive movements of the limbs, the changes of colour produced on the surface of the body, are something more than arbitrary symbols; they imply that the body is of itself responsive to the animating soul, which leaves its trace on the visible organism. (Ibid, p. 135)

१८. Ibid, p. 137.

१९. Ibid, p. 138.

२०. 'Imitation' in the sense in which Aristotle applies the word to poetry, is thus seen to be equivalent to 'producing' or creating according to true idea which forms part of the definition of art in general. ....There is an ideal form which is present in each individual phenomenon but imperfectly manifested. This form impresses itself as a sensuous appearance on the mind of the artist; he seeks to give it a more complete expression, to bring to light the ideal which is only half-revealed in the world of reality. His distinctive work as an artist consists in stamping the given material with the impress of the form which is universal. (Ibid, p. 153)

२१. Ibid, p. 163.

२२. Ibid, p. 189.

२३. The capacity of poetry is so far limited that it expresses the universal not as it is in itself; but as seen through the medium of sensuous imagery. (Ibid, p. 161.)

२४. He (poet) seizes and reproduces a concrete fact, but transfigures it so that the higher truth, the idea of the universal shines through it. (Ibid, p. 197.)

२५. Ibid, p. 245.

२६. Ibid, p. 246.

२७. In poetics, after explaining the action of the musical Katharsis, he adds that those who are liable to pity and fear, and, in general, persons of emotional temperament pass through a like experience; ... they all undergo a Katharsis of some kind and feel a pleasurable relief. (Ibid, p. 251.)

२८. Ibid, pp. 252–253.

२९. Ibid, pp. 254–255.

३०. Ibid, pp. 257–259.

३१. This fear, unlike the fear of common reality, is based on an imaginative union with another's life. The spectator is lifted out of himself. He becomes one with the tragic sufferer, and through him with humanity at large ... He identifies himself with the fate of mankind.

(Ibid, p. 266.)

३२. The surprising is necessary in tragedy ... The wonderful always pleases, as is evident from the addition, which men always make in relating anything in order to gratify the hearers. (Poetics, Part 3/IV.)

३३. Versification would be an easy business if it were permitted to lengthen words at pleasure. (Ibid, 2/26, Euclid quoted)

३४. Ibid, 2/17.

३५. Poetry and Fine Art, pp. 266-267.

३६. Ibid, p. 268.

३७. Ibid, p. 269.

३८. Let us define pleasure as a certain motion of the soul and a sudden and perceptible settling of the soul into its normal condition. (Plato : Rhetoric, 1/XI)

३९. Ibid.

४०. Demetrius : On Style, p. 14.

४१. Ibid, pp. 187, 188 etc.

४२. Ibid, p. 302.

४३. Ibid, p. 36.

४४. Apart from the opposite kinds of style mentioned, we see all mingled together. (Ibid, p. 37)

४५. First should be those words that are not very brilliant, second and last the more brilliant words ... Otherwise we shall seem to have become tame, and, as it were, to have fallen from strength to weakness. (Ibid, p. 50)

४६. Ibid, pp. 75-92.

४७. Ibid, pp. 92-97.

४८. The figures used should not be numerous. This shows lack of taste and an unevenness of style. However, the early writers employed many figures in their compositions, and yet were more natural than those who avoid them altogether, because they introduce them in an artistic way. (Ibid, pp. 67, 287)

४९. And in truth ambiguity may often add strength. An idea suggested is more weighty : simplicity of statement excites contempt. (Ibid, p. 254)

५०. That the Sublime, wherever it occurs, consists in a certain loftiness and excellence of language; and it is by this, and this only, that the greatest poets and prose-writers have gained eminence, and won themselves a lasting place in the Temple of Fame. (On the Sublime, p. 1)

५१. Ibid, p. 8.

५२. Ibid, p. 15.

५३. Somehow or other figures naturally fight on the side of sublimity, and in turn receive a wonderful reinforce from it. (Ibid, p. 17)

वाच्यालंकार-वर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥ (ध्वन्यालोक, ३।३६)

५४. A figure looks best when it escapes one's notice that it is figure. (Ibid.)

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य-क्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्न-निर्वत्यः सोऽलंकारो ध्वनेर्मतः ॥ (वही, २।१७)

५५. The Romantic poet ... and the theologian and Chritian philosopher ... are not two, and disparate, people ... Both are total world views. One is based on the emphatic and unitive iden-

tification in the self of the qualities of the external universe of things and persons. The other is based on the imitation by the individual person in himself of that perfect commitment to god. (Col. Philosophy of Literature, p. 9.)

५६. I feel too intensely the omnipresence of all in each ... and though it perceives the difference of things, yet is eternally pursuing the likeness, or rather that which is common. (Ibid, p. 11)

५७. 'Tis the sublime of man,
Our noon-tide Majesty, to know ourselves
Parts and proportions of one wonderous whole !
This fraternises man, this constitutes
Our charities and bearings. But 'tis God
Diffused through all, that doth make all one whole.
(Quotation, Ibid, p. 44)

५८. From himself he flies,
Stands in the sun, and with no partial gage
Views all creation; and he loves it all,
And blesses it, and calls it very good :
This is indeed to dwell with the Most High ! (Ibid)

५९. I may not hope from outward forms to win
The passion and the life, whose fountains are within.
(Quoted, Coleridge : A Collection of Critical Essays, p. 172)

६०. Ibid, p. 170.

६१. Ibid, p. 166.

६२. The natural language of excitement formed into metre artificiality, by a voluntary act, with the design and for the purpose of blending delight with emotion. (Ibid, p. 128)

६३. Ibid, p. 127.

६४. Mr. Coleridge talks of himself, without being an egotist, for in him the individual is always merged in the abstract and the general. (Ibid, p. 80)

६५. Poetry gives most pleasure when only generally and not perfectly understood ... From this cause it is that what I call metaphysical poetry gives me so much delight.
(Quotation from Anima Poetae : Coleridge's Philosophy of Literature, p. 87)

६६. Ibid, p. 87.

६७. "The creative human mind", says Miss Coburn, "brings what is dim and unrealised into clarity." (Ibid, p. 88)

६८. Ibid.

६९. Ibid, p. 129.

७०. The immediate object of science was the communication and acquirement of truth; the immediate object of poetry is the communication of pleasure. (Ibid, p. 131)

७१. Ibid, pp. 161-163.

७२. Ibid, p. 89.

७३. Ibid, pp. 80-81.

७४. Ibid, pp. 86-87.

७५. "You behold", says Coleridge, "The sun the sovereign of the world, the elation of the high mountain flattered by a glance of his beams, and the activity of the poet's mind, which, in one image, has merged so many associations. You feel him to be a poet, in as-much-as, for a time, he has made you one—an active creative being." (Ibid, p. 136)

७६. Ibid, p. 89.

७७. Coleridge : A Collection of Critical Essays, p. 112.

७८. Ibid, p. 128.

७९. Every symbol opens up a level of reality for which non-symbolic speaking is inadequate ... But in order to do this, something else must be opened up, namely, levels of the soul, levels of our interior reality. And they must correspond to the levels in exterior reality which are opened up by a symbol. So every symbol is two-edged. It opens up reality and it opens up the soul. (Quoted, Ibid, p. 118)

८०. Essays on Rhetoric, pp. 147-172.

८१. Ibid, p. 148.

८२. Ibid, p. 151.

८३. Ibid, p. 159.

८४. The division of Simile from Metaphor is by no means definite. Between the one extreme in which the two elements of the comparision are detailed at full length and the analogy pointed out, and the other extreme in which the comparision

is implied instead of stated, come intermediate forms, in which the comparision is partly stated and partly implied.

(Ibid, p. 162)

८५. Ibid, p. 163.

८६. A statement may be used for the sake of the reference, true or false, which it causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of effects in emotion and attitude produced by the reference it occasions. This is the emotive use of language.

(Principles of Literary Criticism, p. 267)

Poetry affords the clearest examples of this subordination of reference to attitude. It is the supreme form of emotive language. But there can be no doubt that originally all language was emotive; its scientific use is a latter development, and most language is still emotive. Yet the late development has come to seem the natural and the normal use, largely because the only people who have reflected upon language were at the moment of reflection using it scientifically.

(Ibid, p. 273)

८७. Ibid, Chapter 16.

८८. Under 'Feeling' I group for convenience the whole conative affective aspect of life–emotion, emotional attitudes, the will, desire, pleasure-unpleasure, and the rest. Feeling is short-hand for any or all of this. (Practical Criticism, p. 181)

८९. Ibid, p. 354.

९०. Tone, as a distinct character in a poem, is less easy to discuss than the others, and its importance may easily be overlooked. (Ibid, p. 206)

९१. A feeling is thus an innocent and unfallacious thing in comparision with thoughts and intentions. It may arise through immediate stimulation without the intervention of either thought or intention. (Ibid, p. 331)

९२. Ibid, Appendix A, p. 353.

९३. Ibid, p. 354.

९४. Taking now the converse case—when Function 2 (feeling) is subordinated to Function 1 (sense). Whatever noble,

elevated, moral or otherwise admirable sentiments may be explicitly stated by the poet, they are clearly not to be taken as proof of his lofty poetic structure. (Ibid, p. 355)

९५. Principles of Literary Criticism, Chapter 32, pp. 239–253.

९६. "That synthetic and magical power, to which we have exclusively appropriated the name of imagination ... reveals itself in the balance or reconcilation of opposite or discordant qualities ... the sense of novelty and freshness, with old and familiar objects; a more than usual state of emotion, with more than usual order; judgement ever awake and steady self-possession with enthusiasm and feeling profound or vehement." "The sense of musical delight ... with the power of reducing multitude into unity of effect, and modifying a series of thoughts by some one predominant thought or feeling."

(Biographia Literaria, 2, pp. 12, 14, Quoted, Ibid, p. 242.)

९७. तस्य (काव्यस्य) च कारणं केवला प्रतिभा। सा च काव्य-घटनानुकूल-शब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्य-कारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वाऽखण्डम्। (रसगङ्गाधर, पृ० ९, सूत्र १)

९८. प्रतिभा अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा। तस्या विशेषो रसावेश-वैशद्य-सौन्दर्यं काव्यनिर्माण-क्षमत्वम्। (ध्वन्यालोकलोचन, १।६)

९९. शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्य-ज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥
(काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास)

१००. ध्वन्यालोक, १।६।

१०१. विवक्षिते रसे लब्ध-प्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥ (वही, ३।२०)

१०२. अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वियत्यपि॥ (वही, ४।२)

१०३. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस-परिग्रहात्।
सर्वे नवत्वमायान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ (वही, ४।४)

१०४. ध्वनेरित्थं गुणीभूत-व्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थ-विरामोस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः॥ (वही, ४।६)

१०५. व्यंग्य-व्यञ्जक-भावेस्मिन् विविधे संभवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ (वही, ४।५)

१०६. सोर्थस्तद्व्यक्ति-सामर्थ्य-योगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ (वही, १।८)

१०७. तद्वत् सचेतसां सोर्थो वाच्यार्थ-विमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थ-दर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥ (वही, १।१२)

१०८. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ० ८२ ।

१०९. Speech is unity, not multiplicity of images, and multiplicity does not explain, but indeed presupposes the expression to be explained. (Benedetto Croce : Aesthetic, p. 144)

११०. The grammatical and logical articulations of intellectualised language are no more fundamental to language as such than the articulations of bone and limb are fundamental to living tissue. (R. G. Collingwood : The Principles of Art, p. 236)

१११. नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ० ९३ ।

११२. Speech is after all only a system of gestures.
(The Principles of Art, p. 243)

११३. The English tongue will only express English emotions; to talk French you must adopt emotions of a Frenchman.
(Ibid, p. 245)

११४. कवि-चेतसि प्रथमं च प्रतिभा-प्रतिभासमानम् अघटित-पाषाण-शकल-कल्प-मणि-प्रख्यमेव वस्तु विदग्ध-कवि-विरचित-वक्र-वाक्योपारूढं शाणोल्लीढ-मणि-मनोहर-तया तद्विदाह्लाद-कारि काव्यत्वमधिरोहति । (वक्रोक्तिजीवितम्)

११५. The expression of emotion is not, as it were, a dress made to fit an emotion already existing, but is an activity, without which the experience of that emotion cannot exist. Take away the language, and you take away what it expressed, there is nothing left but crude feeling at the merely psychic level. (The Principles of Art, p. 244)

११६. न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड)

११७. दे० सन्दर्भ, ८।४१ ।

११८. दे० सन्दर्भ, ८।२ ।

११९. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
(ध्वन्यालोक, १।४)

१२०. नया साहित्य, नये प्रश्न, पृ० ८३ ।

१२१. काव्यप्रकाश, उल्लास १ तथा रसगङ्गाधर, आनन १ ।

१२२. Either the poem will appear in terms so conventional that every body will understand it—when it will be flat and no

poem at all; or it will appear in language so far distorted from convention as to be inapprehensible except by lucky guess. In neither instance will the poem be genuinely complete. (R. P. Blackmur : Language as Gesture, p. 320)

१२३. Language is made of words, and gesture is made of motion … …It is the same statement put the other way round. Words are made of motion, made of action or response, at whatever remove; and gesture is made of the language beneath or beyond or alongside of the language of words. When the language of words fails, we resort to the language of gesture. … …the language of poetry may be regarded as symbolic action. (Ibid, p. 3)

१२४. I do not propose this language as itself a gesture, but it is proposed as a fair example of the situation in which language gains the force of gesture. (Ibid, p. 4)

१२५. For gesture is native to language, and if you cut it out, you cut roots and get a sapling and gradually a rotting, if indeed not a petrifying, language. But gesture is not only native to language, it comes before it in a still richer sense, and must be, as it were, carried into it wherever the context is imaginative. (Ibid, pp. 4-5)

१२६. Ibid, p. 6.

१२७. Ibid, Chapter I.

१२८. So with gesture in the six arts of which poetry is surely the natural child, as it shows variously the stigmata of all six and yet makes a fiery gesture all its own. It is the gesture, I like to think, of poetic judgment, the judgment of all the gestures, all the play of meaning, which makes up full being. Poetry is the meaning of meaning, or at least prophecy of it. (Ibid, p. 12)

१२९. Ibid, p. 24.

१३०. American Tradition in Literature, p. 1293.

१३१. Language as Gesture, p. 168.

१३२. If we seek not Blue-book knowledge but the enjoyment of poetry, and ask for a poem, we shall seldom find lt. I have

tried to point out the importance of the relation of the poems to other poems by other authors, and suggested the conception of poetry as a living whole of all the poetry that has ever been written.

(American Tradition in Literature, p. 1298)

१३३. Ibid, pp. 1298-99.

१३४. The effect of a work of art upon the person who enjoys it, is an experience different in kind from any experience, not of art. It may be formed out of one emotion, or may be a combination of several; and various feelings, inhearing for the writer in particular words or phrases or images, may be added to compose the final result. (Ibid, p. 1299)

१३५. Honest criticism and sensitive appreciation is directed not upon the poet, but upon the poetry. (Ibid, p. 1298)

१३६. नियति-कृत-नियम-रहितां ह्लादैकमयीमनन्य-परतन्त्राम् ।
नव-रस-रुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।। (काव्यप्रकाश, १।१)

१३७. The actual, for poetry, or for Mr. Eliot's poetry, resides perhaps among "the deeper, un-named feelings which form the subsratum of our being, to which we rarely penetrate."

(Language as Gesture, p. 164)

१३८. Ibid, p. 173.

१३९. This may not be the class for which Mr. Eliot or any poet writes, but it includes that very small sub-class of readers of "greater sensitiveness and understanding" for whom the meaning of a poem reveals itself gradually. (Ibid, p. 174)

१४०. Ibid, p. 181, footnote.

१४१. The point of view which I am struggling to attack is perhaps related to the metaphysical theory of the substantial unity of the soul; for my meaning is, that the poet has, not a 'personality' to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality; in which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways. Impressions and experiences which are important for the man may take no place in poetry, and those which become

important in the poetry may play quite a negligible part in the man, the personality.

(American Tradition in Literature, p. 1300)

१४२. Ibid, p. 1301.

१४३. Ibid, p. 1301.

१४४. The poetry of a people takes its life from the people's speech and in turn gives life to it; and represents its highest point of consciousness, its greatest power and its most delicate sensibility. (The Use of Poetry, p. 15)

१४५. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर-क्षतये ।
सद्यः पर-निर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेश-युजे ॥ (काव्यप्रकाश ,१।२)

१४६. शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ (वही, १।३)

१४७. Use of Poetry and the Use of Criticism, p. 16.

१४८. Criticism, of course, never does find out what poetry is, in the sense of arriving at an adequate definition; but I do not know of what use such a definition would be if it were found.

(Ibid, p. 16.)

१४९. Ibid, p. 17.

१५०. And while theories of poetry may be tested by their power of refining our sensibity by increasing our understanding, we must not ask that they serve even that purpose of adding to our enjoyment of poetry : any more than we ask of ethical theory that it shall have a direet application to and influence upon human behaviour. (Ibid, pp. 143, 31 and 151 also.)

१५१. The Use of Poetry, p. 155.

१५२. Ibid, p. 28, quotation.

१५३. Ibid, pp. 28–29, quotation.

१५४. Ibid, p. 29, footnote also.

१. Words unveil the permanent analogies of things by images which participate in the life of truth.

(Quoted, Language as Gesture, p. 217)

२. दे० सन्दर्भ, १३।१४४।

३. दे० सन्दर्भ, १३।२।

४. The Use of Poetry, pp. 30–31.

५. The symbol is thus a living body, 'corpus et anima'; hence the "Child" is such an apt formula for the symbol. The uniqueness of the psyche is something that can never be made real, it can only be realised approximately, though it still remains the absolute basis of all consciousness. The deeper "layers" of the psyche lose their individual uniqueness as they retreat further and further into darkness. ... ... as they approach the autonomous functional systems. They become increasingly collective until they are universalised ... Hence "at bottom" the psyche is simply "world".

(Psyche and Symbol, p. 138)

६. On a low level, the 'animus' is an inferior logos, a caricature of the differenciated masculine mind, just as the 'anima', on a low level, is a caricature of the feminine eros ... ... the 'anima' is nothing but a representation of the personal nature of the autonomous system in question. What the nature of this autonomous system is, in a transcendental sense, that is to say, beyond the boundaries of experience, we cannot know.

(Ibid, p. 336)

७. Ibid, pp. 233–237.

८. दे० सन्दर्भ, ४।६।

९. दे० सन्दर्भ, २।५९, ६१, ६२।

१०. व्यञ्जकत्व-मार्गे तु यदाऽर्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेव असावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते, प्रदीपवत्। (ध्वन्यालोक, ३।३४)

११. कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैः असन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्ब-कल्पाः स्थायिभाव-व्यपदेश-भाजः ....हृदय-संवादाद् आस्वाद्यत्वम् उपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। अवासद्-ग्रहणं न करिष्यत इति तर्हि अर्कालोकेन्द्रचापादौ अव्याप्तिः; इन्द्रचापादेरसत्त्वात्। (व्यक्तिविवेक, पृ० ७९-८१)

१२. दे० अनन्देल का अंगरेजी शब्दकोश, इमेज्।

१३. शक्योऽर्थोऽपि बुद्धि-सत्ता-समाविष्ट एव, न तु बाह्य-सत्ताविष्टः।....बुद्धि-सतो बाह्य-सत्ता-तदभाव-बोधनाय 'अस्ति' 'नास्ति' इति प्रयोगः।

(वैयाकरण-सिद्धान्त-लघु-मञ्जूषा, पृ० २०३)

बहिर्न किंचिदप्यस्ति खाद्यब्ध्युर्वी-दिगादिकम्।
एतत् स्वचित्त एवास्ति पत्र-पुष्पमिवाङ्कुरे॥
फलादि स्फारतामेति यथैव बहिरङ्कुरात्।
बहिः प्रकटतां याति तथा पृथ्व्यादि चेतसः॥
सत्यं पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिस्थं कदाचन।
आबालमेतत् पुरुषैः सर्वैरेवानुभूयते।
स्वप्न - भ्रम - मदावेग - राग-रोगादि-दृष्टिषु॥ (योगवासिष्ठ, ५।४८।४९-५३)

१४. The image Dei imprinted on the soul, not on the body, is an image of an image, for my soul is not directly the image of God, but is made after the likeness of the former image. Christ, on the other hand, is the true image of God.

(Psyche and Symbol, p. 36)

१५.

Name of Instincts	**Name of Emotional Qualities**
(1) Instinct of escape (of self-preservation, of avoidance, danger instinct)	Fear (terror, fright, alarm, trepidation)
(2) Instinct of combat (aggression, pugnacity)	Anger (rage, fury, annoyance, irritation, displeasure)
(3) Repulsion (repugnance)	Disgust (nausea, loathing, repugnance)
(4) Parental (protective)	Tender emotion (love, tenderness, tender feelings)
(5) Appeal	Distress (feeling of helplessness)
(6) Pairing (mating, reproduction, sexual)	Lust (sexual emotion or excitement–sometimes called love–an unfortunate and confusing usage)

(7) Curiosity (inquiry, discovery, investigation)	Curiosity (feeling of mystery, of strangeness, of the unknown wonder)
(8) Submission (self-abasement)	Feeling of subjection (of inferiority, of devotion, of humility, of attachment, of submission, negative self-feeling)
(9) Assertion (self display)	Elation (feeling of superiority, of masterfulness, of pride, of domination, positive self-feeling)
(10) Social or gregarious instinct	Feeling of loneliness, of isolation, nostalgia.
(11) Food-seeking (hunting)	Appetite or craving in narrower sense (quoto)
(12) Acquisition (hoarding instinct)	Feeling of ownership, of possession (protective feeling)
(13) Construction	Feeling of creativeness, of making, of productivity.
(14) Laughter	Amusement (jollity, carelessness, relaxation)
(15) The Derived Emotions	(1) Confidence (2) Hope (3) Anxiety (4) Despondency (5) Despair (6) Joy (7) Regret (8) Sorrow (9) Remorse.

(An Introduction to Social Psychology by Mcdougall)

१. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः । (योगभाष्य, १।१)
ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयश्चित्तस्यावस्थाविशेषाः।
(योगसूत्र, भोजवृत्ति, १।२)

२. क्षिप्तं सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम् ।
(उक्त योगभाष्य पर वाचस्पति)

३. तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम् । (भोजवृत्ति, १।२)

४. मूढं तु तमः-समुद्रेकाद् निद्रावृत्तिमत् । (उक्त भाष्य पर वाचस्पति)

५. मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्य-विभागमगणयत् क्रोधादिभिर्विरुद्ध-कृत्येष्वेव नियमितम् । तच्च सदैव रक्षः-पिशाचादीनाम् । (भोज, १।२)

६. क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम् । विशेषो स्थेमबहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा । सा चास्यास्थेम-बहुलता सांसिद्धिकी वा वक्ष्यमाण-व्याधि-स्त्यानाद्यन्तरायजनिता वा ।
(उक्त भाष्य पर वाचस्पति)

७. विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकाद् वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तम् । तच्च सदैव देवानाम् । (भोजवृत्ति, १।२)

८. अनयोर्द्वयोरेकाग्र-निरुद्धयोर्भूम्योश्चित्तस्यैकाग्रता परिणामः स योग इत्युक्तं भवति। एकाग्रे बहिर्वृत्ति-निरोधः । (भोजवृत्ति, १।२)
यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगतः । (योगसूत्र, व्यासभाष्य, १।१)

९. तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते ।
(योगभाष्य, १।१)

१०. वितर्क-विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः । (योगसूत्र, १।१७)

११. वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः । (व्यासभाष्य, १।१७)
स्वरूप-साक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः । (वाचस्पति)
तथा दे० व्यासभाष्य, ३।५७ ।

१२. समाधिर्भावना-विशेषः ।........भावना भाव्यस्य विषयान्तर-परिहारेण चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम् । भाव्यं च द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च । तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात् । जडानि चतुर्विंशतिः । अजडः पुरुषः । तत्र यदा महाभूतेन्द्रियाणि

स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेख-संभेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः । अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धान-शब्दोल्लेख-शून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । (भोजवृत्ति, १।१७)

१३. यथा हि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति....एवं प्राथमिको योगी स्थूलमेव पाञ्चभौतिकं चतुर्भुजादि ध्येयं साक्षात्करोति । (वाचस्पति, १।१७)

१४. एवं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्म आभोगः स्थूल-कारणभूत-सूक्ष्म-पञ्च-तन्मात्र-लिङ्गा-लिङ्गविषयो विचारः । (वही)

१५. तन्मात्रान्तःकरण-लक्षणं सूक्ष्म-विषयमालम्ब्य तस्य देशकाल-धर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः तस्मिन्नेवालम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मि-मात्रभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते । (भोजवृत्ति, १।१७)

१६. निर्विचार-वैशारद्येऽध्यात्म-प्रसादः । अशुद्ध्यावरण-मलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धि-सत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थिति-प्रवाहो वैशारद्यम् । यदा निर्वि-चारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्म-प्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्—

प्रज्ञा-प्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।

तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति, न च तत्र विपर्यास-ज्ञान-गन्धोऽप्यस्ति ।

(योगसूत्र, व्यासभाष्य, १।४७, ४८)

१७. तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वविशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते । भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसो, दिव्ये श्रोत्र-चक्षुषी, वज्रो-पमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितम्, इदम् अक्षयमजरामर-स्थानं देवानां प्रियमिति । एवमभिधीयमानः सङ्ग-दोषान् भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्य-मानेन मया जनन-मरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथंचिदासादितः क्लेश-तिमिर-विनाशी योगप्रदीपः तस्य चैते तृष्णायोनयो विषय-वायवः प्रतिपक्षाः । स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषय-मृगतृष्णया वञ्चितस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्ने-रात्मानमिन्धनीकुर्यामिति । (व्यासभाष्य, ३।५१)

१८. इन्द्रिये स्थूल आलम्बने चित्तस्याभोगो ह्लाद आनन्दः । प्रकाश-शीलतया खलु सत्त्वप्रधानादहंकारादिन्द्रियाणि उत्पन्नानि । सत्त्वं सुखमिति तान्यपि सुखानीति तस्मिन्नाभोगो ह्लाद इति । (वाचस्पति, १।१७)

१९. यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरण-सत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुख-प्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति ।

(भोजवृत्ति, १।१७)

२०. भूमयोऽस्य वक्ष्यमाणा मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा ताश्चित्तस्य ।
(वाचस्पति, १।१)

२१. एकात्मिका संविदस्मिता । (व्यासभाष्य, १।१७)

२२. अस्मिता-प्रभवाणीन्द्रियाणि । तेनैषामस्मिता सूक्ष्मं रूपम् । सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित् । (वाचस्पति)

२३. ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्ध-सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेः उद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते । न चाहंकारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः । यतो यत्रान्तःकरणम् 'अहम्' इत्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहंकारः । यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति सास्मिता । अस्मिन्नेव समाधौ चेत्कृत-परितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपगते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते । (भोजवृत्ति, १।१७)

२४. प्रज्ञाज्योतिः····भूतेन्द्रिय-जयी तृतीयः सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान् । (व्यासभाष्य, १।५१)
तेन हि स्थूलादि-संयमेन ग्रहणादिसंयमेन च भूतेन्द्रियाणि जितानि····भावनीयेषु निष्पादनीयेषु विशोकादिषु परवैराग्य-पर्यन्तेषु कर्तव्य-साधनवान्····।
(वाचस्पति)

२५. हृदय-पुण्डरीके धारयतो या बुद्धि-संवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थिति-वैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दु-ग्रह-मणि-प्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथास्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधि-कल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति ।····एषा द्वयी विशोकविषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मती इत्युच्यते ।
(व्यासभाष्य, १।३६)

२६. विधूत-रजस्तमोमलास्मितैव सत्त्वमयी ज्योतिरिति भावः ।
(उक्त पर वाचस्पति)

२७. योगसूत्र, १।१८, व्यासभाष्य, वाचस्पति, भोजवृत्ति ।

२८. योगसूत्र ३।५१, व्यास, वाचस्पति ।

२९. योगसूत्र, व्यासभाष्य, १।२ ।

३०. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः ।
(योगसूत्र, १।४१)

३१. ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते ।···· ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहण-स्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा ग्रहीतृ-पुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृ-पुरुष-समापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते ।···· ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु पुरुषेन्द्रिय-भूतेषु या तत्स्थ-तदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते । (व्यासभाष्य)

३२. तत्र शब्दार्थज्ञान-विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः । (योगसूत्र, १।४२)

३३. स्मृति-परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का । (वही, १।४३)

३४. प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदि भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते तत्र महद्वस्तु-विषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मवस्तु-विषया सविचारा निर्विचारा च। एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्याता। (वही, १।४४, व्यास)

३५. ता एव सबीजः समाधिः। (योगसूत्र, १।४६)

३६. तदसंख्येय-वासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहृत्य-कारित्वात्। (योगसूत्र, ४।२३)

३७. तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृ-दृश्योपरक्तं विषय-विषयि-निर्भासं चेतनाचेतन-स्वरूपापन्नं विषयात्मकमपि अविषयात्मकमिव, अचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थ-मित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः।

(व्यासभाष्य, ४।२३)

३८. निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिभा। (भोजवृत्ति, ३।३३)

३९. मधु वाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्त-मुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान् नो वनस्पतिः। मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। (ऋग्वेद, १।९०।६)

४०. देखिए सन्दर्भ, १।४।

४१. या शब्द-संकेत-श्रुतानुमान-ज्ञान-विकल्प-स्मृति-परिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्र-स्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः। (व्यासभाष्य, योगसूत्र, १।४३)

४२. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। (योगसूत्र, १।९)

४३. तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधि-प्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थ-ज्ञान-विकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते।

(व्यासभाष्य, १।४२)

४४. विक्षिप्ते चेतसि समाधिः कादाचित्क-सद्भूत-विषयस्य चित्तस्य स्थेमा न योग-पक्षे वर्तते। कस्मात्। यतस्तद्-विपक्ष-विक्षेपोपसर्जनीभूतः।

(व्यासभाष्य, सूत्र १।१ पर वाचस्पति)

विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। (व्यासभाष्य)

४५. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। (योगसूत्र, १।५)

४६. क्लेश-हेतुकाः कर्माशय-प्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः।
ख्याति-विषया गुणाधिकार-विरोधिन्योऽक्लिष्टाः॥ (उक्त पर व्यास)

४७. तदिदं वृत्ति-संस्कार-चक्रमनिशमावर्तते, आ विरोध-समाधेः।

(उक्त पर वाचस्पति)

४८. वाक्यार्थ-प्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकापहस्तित-तत्तद्वाक्योपात्त-कालादि-विभागा तावत् प्रतीतिरुपजायते। (अभिनवभारती, रससूत्र, अध्याय ६)

४९. न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः।.... वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देश-काल-प्रमात्रादीनां नियमहेतूनाम् अन्योन्य-प्रतिबन्ध-बलाद् अत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्णाति। अत एव सर्व-सामाजिकानाम् एक-घनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रस-परिपोषाय। सर्वेषामनादि-

वासना-चित्रीकृत-चेतसां वासना-संवादात् । सा चाविघ्ना संवित् । चमत्कार-स्तज्जोऽपि कम्प-पुलकोल्लसनादिविकारः ।····स चातृप्ति-व्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते भुञ्जानस्याद्भुत-भोगस्पन्दाविष्टस्य च मनःकरणं चमत्कार इति । (वही)

५०. स च (चमत्कारः) साक्षात्कार-स्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा संकल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरति । यदाह—
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥ इत्यादि ।
अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किक-प्रसिद्धा । पूर्वमेतस्यार्थस्यान-नुभूतत्वात् । अपितु प्रतिभानापर-पर्यायसाक्षात्कार-स्वभावेयम् । (वही)

५१. सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्त-रानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिक-तुल्या, न तदारोपादिरूपा । (वही)

५२. अलौकिक-विभावादि-संयोग-बलोपनतैवेयं चर्वणा । सा च प्रत्यक्षानुमानागमो-पमानादि-लौकिक-प्रमाण-जनित-रत्यादि-बोधतः, तथा योगि-प्रत्यक्ष-जनित-तटस्थ-परसंवित्ति-ज्ञानात्, सकल-वैषयिकोपराग-शून्य-शुद्ध-परयोगि-गत-स्वात्मानन्दैक-घनानुभवाच्च विशिष्यते । एतेषां यथायोगम् अर्जनादि-विघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्ये स्फुटत्व-विषयावेश-वैवश्य-कृत-सौन्दर्य-विरहात् । अत्र तु स्वात्मैक-गतत्व-नियमा-संभवात् (न विषयावेश-वैवश्यम्), स्वानुप्रवेशात् परगतत्व-नियमाभावात् (न ताटस्थ्यास्फुटत्वम्), तद्विभावादि-साधारण्यवश-संप्रबुद्धोचित-निज-रत्यादि-वासनावेश-वशाच्च न विघ्नान्तरादीनां संभवः । (वही)

५३. तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादि-परामर्श-प्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदन-सिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभ-यात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न विरोधम् ।
(काव्यप्रकाश, उल्लास ४, रस)

५४. The average European cannot see beyond the boundaries of his individual life, or of the life of his class, of his country, or of his party. Within that narrow pale he imprisons on his own will, the realisation of the human ideal.
(The Dance of Shiva, Foreward, p. 9.)

Thus the infinite diversity of souls and of desires is brought into accord with the eternal rhythm which holds them in the one great current which travels on to Unity. (Ibid, p. 10)

५५. The purpose of Yoga is mental concentration, carried so far as the overlooking of all distinction between the subject and

the object of contemplations. It was soon recognised that the concentration of the artist was of this very nature.

(The Dance of Shiva, p. 43)

५६. Ibid, p. 141.

५७. For beauty they have sought in every age, He, who perceives it, is from himself free. (Ibid, p. 113)

५८. Beauty can never be thus measured, for it does not exist apart from the artist himself and the Rasika who enters into his experience. (Ibid, p. 66.)

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यात् । युक्तं भवितुमर्हति । रस्यतैक-प्राणो ह्यसौ न प्रमेयादि-स्वभावः ।""स्वयं तु नाप्रामाणिकः स्वसंवेदन-सिद्धत्वात् । रसना च बोधरूपैव ।

(अभिनवभारती, रससूत्र)

५९. The world of Beauty, like the Absolute, cannot be known objectively...The artist reveals this beauty wherever the mind attaches itself; and the mind attaches itself not directly to the Absolute, but to objects of choice. (Ibid, p. 59.)

६०. Precisely as love is reality as experienced by the lover, and truth is reality as experienced by the philosopher, so beauty is reality as experienced by the artist; and these are three phases of the Absolute. (Ibid, pp. 58–59.)

६१. The theory of Rasa...belongs to totalistic monism; it marches with the Vedanta. (Ibid, p. 60.)

६२. Croce is entirely correct when he speaks of "the artist, who never makes a stroke with his brush without having previously seen it with his imagination" and remarks that the externalisation of a work of art "implies a vigilant will, which persists in not allowing certain visions, intuitions, or representations to be lost.

(Ibid, p. 45; Aesthetic, pp. 162–168.)

६३. Ibid, p. 65.

६४. Ras is tasted, beauty is felt, only by empathy, "Einfiihlung" (Sadharana) that is to say, by entering into feeling, the permanent motif; but it is not the same as the permanent motif itself, for, from this point of view, it matters not with which of the permanent motifs we have to do. (Ibid, p. 54.)

६५. It is, we may say, the impersonal enjoyer of creative beauty in us, responding to the impersonal creator and interpreter of beauty in the poet; for it is the impersonal spirit of Truth and Beauty that is speaking to express itself through his personality. (Future Poetry, p. 54.)

६६. An idea and spiritual poetry, revealing the spirit in itself and in things, the unseen in the seen or above and behind it, unveiling ranges of existence which the physical mind ignores, pointing man himself to capacities of God-head in being, truth, beauty, power, joy which are beyond the highest of his common or his yet realised values of existence; is the last potentiality of this creative, interpretative power of the human mind. (Ibid, p. 126.)

६७. Ibid, p. 77.

६८. Literature and art must portray personalities, their thoughts and emotions... Generally speaking, our new literature and art are still young and in the process of maturing.
(China's New Literature and Art, Peking, 1954, p. 18.)

६९. Ibid, pp. 14–15.

७०. The fundamental difference between literature and art on the one hand, and other forms of expressing ideas on the other, is, the literature and art use images to express thought; without images there can be no art, and images can only be taken from life. (Ibid, p. 16.)

७१. Perhaps some will say, Khruschov is calling for photography, for naturalism in art. No. Comrades ! we call for vivid artistic endeavour, for a truthful reflection of the real world in all the diversity of its colours. Only such art will bring joy and delight to people.

(High Idealogy and Artistry—Great Force of Soviet Literature and Art. A speech of N. S. Khruschov at Meeting of Party and Govt. Leaders with Men of Letters and Art, March 8, 1963.)

७२. कार्नफ़ोर्थ की 'मार्क्सवादी दर्शन' पुस्तक के पृ० ७७ पर 'कैपिटल' से उद्धृत ।

७३. करुणस्तु शाप-क्लेश-विनिपतितेष्टजन-विभव-नाश-वध-बन्ध-समुत्थो निरपेक्ष-भावः । औत्सुक्य-चिन्ता-समुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भ-कृतः ।
(नाट्यशास्त्र, ६, पृ० ३०९)

७४. अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः । स्थाय्यभावात् । तदभावो विभाव-सामग्री-वैकल्यादिति । तत्र तावत् करुणः पृथक् लब्ध-प्रतिष्ठः । एवम् उत्तमप्रकृतावपि रति-विपरीतः शोकः करुणे स्थायी । अत एवाह निरपेक्षः बन्धुजनादि-विषये यापेक्षा रताविवालम्बनम् । (उक्त पर अभिनवभारती)

७५. यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ।। (साहित्यदर्पण, ३।२०९)

७६. तेऽपि अतात्पर्यज्ञाः तात्पर्य-वाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः । तथा हि 'भूतभव्य-समुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारक-पदार्थाः क्रिया-पदार्थेनान्वीयमानाः प्रधान-क्रिया-निर्वर्तक-स्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्च अदग्ध-दहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधीयते । यथा ऋत्विक्-प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम् । हवनस्यान्यतः सिद्धे 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् ।
क्वचिदुभयविधिः क्वचित् त्रिविधिरपि । यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधि-र्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा । ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्' इत्युपात्तस्यैव शब्द-स्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे । एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादौ अपराद्यर्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं स्यात् । (काव्यप्रकाश, उल्लास ५ ।)

१. The idea of sorrow is readily associated with that of greatness, as the idea of violence with that of strength.

(J. Vendryes : Language, p. 206.)

२. The brain, working unconsciously, limits the words to special meanings and prepares them, in the rough, for the various uses to which they are destined. (Ibid, p. 197.)

३. Although at the moment each word is used, it is completely invested with a momentary value, excluding the sense in which it may otherwise be used, the very fact, that words have such a variety of senses, causes their use to exert a continual effect upon their signification. (Ibid, p. 197.)

४. It is the revelation of those eternal ideas which lie behind the many-coloured, ever-shifting veil that we call reality or life. Or rather, it is one such revelation among many.... The poet creates, but this creation is no mere fancy of his; it represents "those forms which are common to universal nature and existence", and "a poem is the very image of life expressed in its eternal truth."

(Modern Essays in Criticism, p. 149.)

५. It also fills the imagination with beautiful impersonations of all that we should wish to be. (Ibid, p. 167.)

६. The reason, why such ideas delight the imagining soul, is that they are, in fact, images or foreboding of its own perfection—of itself become perfect—in one aspect or another. There aspects are as various as the elements and forms of own inner life and outward existence; and so the idea may be that of the perfect harmony of will and feeling (a virtue), or of the perfect union of soul with soul (love), or of the perfect order of certain social relations, or forces (a law or

institution), or of the perfect adjustment of intellectual element (a truth); and so on. The formation and expression of any such idea is thus the work of poetry in widest sense.

(Modern Essays in Criticism, pp. 151–152.)

७. I believe ... and must hold that the substance of poetry is never mere fact, but is always ideal, though its method of representation is sometimes more direct, sometimes more indirect. (Ibid, p. 161.)

८. Probably a better basic definition of poetic discourse is that in it, as much as possible, is made of the secondary associations of the shapes which represent morphemes, as a means of reinforcing the obvious literal meaning of the words.
(Charles F. Hockett : A Course in Modern Linguistics, p. 559.)

९. Life, like a dome of many-coloured glass, stains the white radiance of eternity.

(Quoted in Modern Essays in Criticism, p. 163.)

१०. He (Shelley) himself observes that, though the joy of poetry is often unalloyed, yet the pleasure of the "highest portions of our being is frequently connected with the pain of the inferior" that "the pleasure that is in sorrow, is sweeter than the pleasure of pleasure itself", and that not sorrow only, but "terror, anguish, despair itself are often the chosen expressions of an approximation to the highest good. (Ibid, p. 160.)

११. It becomes increasingly difficult for the members of each succeeding generation to remember that the story-objects which fill the museum cases, were once aliv . (Ibid, p. 1.)

१२. The world avenges on those men of genius who try to convert it to their doctrine, by forgetting their doctrines and falling in love with themselves. (Ibid, p. 220.)

१३. What he (poet) makes by rule, he can explain by rule; but this, the vital and essential part of his work, is as surprising to him as it is to others. He laughs at his own wit and weeps at his own pathos.

(Quoted in Modern Essays in Criticism, p. 216.)

परिशिष्ट

ग्रन्थ-सूची

[illegible]

চিঠি-পত্র

सहायक-ग्रन्थ-सूची

यहाँ केवल कुछ ही ग्रन्थों की सूची दी जा रही है जिनका प्रस्तुत पुस्तक की रचना में विशेष उपयोग रहा है। बहुत से साहित्यिक ग्रन्थ छूट गये हैं। ध्वनि-सिद्धान्त को समझने में और बहुत-से ग्रन्थों का उपयोग है परन्तु सबका संग्रह अनावश्यक रहा है।

संस्कृत-ग्रन्थ

१. अथर्ववेद

२. ऋग्वेद

३. महाभारत

४. रामायण

५. मीमांसा-न्याय-प्रकाश : आपदेव रचित (चौखम्भा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, १९२१ ई०)

६. काव्यालङ्कार : आचार्य भामह

७. काव्यालङ्कारसूत्र : आचार्य वामन

८. काव्यादर्श : आचार्य दण्डी

९. वक्रोक्तिजीवित : आचार्य कुन्तक

१०. ध्वन्यालोक : आचार्य आनन्दवर्धन
लोचन-टीका : आचार्य अभिनवगुप्तपाद (चौखम्भा, वाराणसी, १९४० ई०)

११. वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमञ्जूषा : नागेश भट्ट

१२. दशरूपक : धनञ्जय तथा धनिक

१३. काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट (वामन झलकीकर टीका, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५० ई०)

१४. साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ
टीकाकार : रामचरण तर्कवागीश (निर्णयसागर, बम्बई, १९१५ ई०)

१५. नाट्यशास्त्र : आचार्य भरतमुनि (अभिनवभारती टीका, गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, बड़ोदा)

१६. रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ (निर्णयसागर, बम्बई, १९४७ ई०)

१७. औचित्य-विचार-चर्चा : आचार्य क्षेमेन्द्र

१८. सरस्वती-कण्ठाभरण : भोजदेव

१९. श्रृंगार-प्रकाश : भोजदेव (ज्यौशेर संस्करण)

२०. भावप्रकाशन : शारदातनय (बड़ोदा संस्करण)

२१. प्रतापरुद्र-यशोभूषण : विद्यानाथ (कुमारस्वामि टीका)

२२. भक्तिरसामृत-सिन्धु : रूपगोस्वामी
अनुवादक : आचार्य विश्वेश्वर (दिल्ली विश्वविद्यालय)

२३. उज्ज्वल-नीलमणि : रूपगोस्वामी (निर्णयसागर, बम्बई)

२४. भक्तिरसायन : मधुसूदन सरस्वती (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी)

२५. वाक्यपदीय : भर्तृहरि

२६. सागरिका (संस्कृत पत्रिका) : सागर विश्वविद्यालय, वर्ष ९, अङ्क १ सं० २०२७, डा० रेवाप्रसाद के लेख।

२७. योगसूत्र, व्यासभाष्य : वाचस्पति की टीका

२८. योगसूत्र, भोजवृत्ति

हिन्दी-ग्रन्थ

१. रामचरितमानस : गोस्वामी तुलसीदास

२. बिहारी सतसई : कविवर बिहारी

३. उद्धवशतक : जगन्नाथदास रत्नाकर

४. कामायनी : जयशङ्कर प्रसाद

५. आँसू : ,,

६. काव्य-मनीषा : डॉ० भगीरथ मिश्र (प्रथम संस्करण)

७. काव्यशास्त्र : डॉ० भगीरथ मिश्र (द्वितीय संस्करण)

८. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ० भगीरथ मिश्र (लखनऊ विश्वविद्यालय-प्रकाशन, १९६७)

९. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र

१०. रससिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र

११. अरस्तू का काव्यशास्त्र : डॉ० नगेन्द्र

१२. विचार और अनुभूति : डॉ० नगेन्द्र

१३. विचारणा : डॉ० नगेन्द्र

१४. रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१५. चिन्तामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१६. काव्य-दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र
१७. वाङ्मय-विमर्श : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१८. साहित्यालोचन : डॉ० श्यामसुन्दर दास
१९. औचित्य विमर्श : डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
२०. रसविमर्श : डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
२१. आलोचना के सिद्धान्त : डॉ० शिवदानसिंह चौहान
२२. मनोविज्ञान के आधार : डॉ० रामनाथ शर्मा, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ
२३. आधुनिक साहित्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
२४. नया साहित्य : नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
२५. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (प्रकाशक–विद्यामन्दिर, वाराणसी, १९६५)
२६. आधुनिक काव्य : रचना और विचार : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (साथी प्रकाशन, सागर, १९६९)
२७. प्रकीर्णिका : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर, १९६५)
२८. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य : अनुसन्धान प्रकाशन, कानपुर
२९. काव्य में रहस्यवाद : डॉ० बच्चूलाल अवस्थी (ग्रन्थम्, कानपुर, प्रथम संस्करण)
३०. आचार्य भिखारीदास : डॉ० नारायणदास खन्ना (लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६७)
३१. काव्यनिर्णय : आचार्य भिखारीदास
३२. काव्यरसायन : देव कवि
३३. कविप्रिया : आचार्य केशवदास
३४. रसिकप्रिया : आचार्य केशवदास
३५. व्यंग्यार्थ-कौमुदी : प्रतापसाहि
३६. डॉ० नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध : राजपाल ऐन्ड सन्स्, दिल्ली।
३७. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद (भारती भण्डार, इलाहाबाद, संस्करण ५)

English Books

1. Plato : Lane Cooper (Cornel University Press, New York, 1948)
2. Plato's Republic : N. R. Murphy, (Oxford Clarendon Press, 1951)
3. Aristotle's Poetics and Rhetoric, Demetrius on the Style, Longinus on the Sublime : (J. M. Dent and Sons Ltd., London, 1953)
4. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art : S. H. Butcher
5. Biographia Literaria : S. T. Coleridge
6. Coleridge : A Collection of Critical Essays : Kathleen Coburn
7. Coleridge's Philosophy of Literature : J.A. Appleyard (Harvard University Press, 1965)
8. Essays on Rhetoric : Edtd. by Dudley Bailey (Oxford University Press, 1965)
9. Literature as Experience : Wallace A. Bacon (Mcgraw Hill Book Company, New York, 1959)
10. Practical Criticism : I. A. Richards, 1956
11. Principles of Literary Criticism : I. A. Richards, 1955
12. Aesthetic : Benedetto Croce
13. The Principles of Art : R. G. Collingwood
14. American Tradition in Literature : W.W. Norton and Co., New York (Shorter Edition)
15. Psyche and Symbol : C. G. Jung, 1958
16. The Use of Poetry and the Use of Criticism : T. S. Eliot
17. Language as Gesture : R. P. Blackmur, 1954
18. Modern Essays in Criticism : Macmillan and Co., London, 1959
19. Language : J. Vendryes, 1959

20. A Course in Modern Linguistics : Charles F. Hockett

21. An Outline of Psychology : Mcdougall

22. An Outline of Psycho-analysis : Freud

23. Beyond the Pleasure : Freud

24. Group Psychology and the Analysis of the Ego. : Freud

25. Literature and Psychology : F. L. Lucas

26. Mind on the Problem of Analitical Psychology and Poetic Art : C. G. Jung

27. The Expression of Emotion : R. C. Collingwood

28. On Poetry and Poets : T. S. Eliot

29. Aristotelian Literary Criticism : John Gassner

30. Comparative Aesthetics : Dr. K. C. Pandey

31. Republic : Plato

32. Psychological Studies in Rasa : Dr. Rakesh Gupta

33. Selected Essays : T. S. Eliot

34. The Making of Literature : A. A. Scott James

35. Western Aesthetics : Dr. K. C. Pandey

36. An Introduction to Social Psychology : Mcdougall

37. A Handbook of Social Psychology : K. Young

38. General and Social Psychology : R. H. Thouless

39. Historical Introduction to Modern Psychology : Gardenor Murphy, 1960

40. A First Book in Psychology : M. W. Chalkins, Macmillan, New York, 1914

41. Encyclopedia of Psycho-analysis : Ludwig Eidelberg, Macmillan, London

42. Scientific Psychology : Benjamin B. Wolman

43. Psychology : Woodworth

44. Science Survey : A. W. Hazlitt, Vista Books, London, Ed. II

45. What is Life : Erwin Schrodinger (Cambridge University Press, 1945)

46. The Dance of Shiva : Ananda Coomaraswami (Asia Publishing House, Bombay, 1948)

47. Future Poetry : Aurobindo

शुद्धिपत्र

(क) पञ्चमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का मुद्रण हिन्दी भाग में ही नहीं, संस्कृत के उद्धरणों में भी हो गया है जिसे विद्वज्जन सुधार लेंगे।

(ख) तत्त्व, महत्त्व जैसे प्रयोग एकात्मक तकार के साथ कई स्थानों पर छपे हैं, उन्हें भी शुद्धिपत्र में नहीं लाया गया है।

(ग) कई स्थलों में समास-चिह्न आदि विराम छूट गये हैं जिन्हें अर्थानुसार समझा जा सकता है।

(घ) प्रस्तुत शुद्धिपत्र में उन्हीं अशुद्धियों का शोधन किया गया है जिनके रहते अर्थान्तर का संशय हो सकता है।

पृष्ठ	पैरा	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	४	३	एक **सरल** रूप चला आ रहा था।	एक **तरल** रूप चला आ रहा था।
५	४	३	याञ्चा	याच्ञा
८	५	४	**अँखियाँ** मखियान सों	**मखियाँ** मखियान सों
८	५	७	**उनि देवी** सी देव	**ठनि दैवी** सी देव
१४	२	१-२	याञ्चा	याच्ञा
१५	२	८	तौलने	तोलने
२१	२	६	पद्माकर	पदुमाकर
२२	१	५	अबहीं **मिलबौ**	अबहीं **मिलिबौ**
२६	३	६	व्याजवश, अपराधवश और **विश्रामवश**	व्याजवश, अपराधवश और **वित्रास-वश**
३२	५	२	**स्थायिभाव** रसत्वमाप्नुवन्ति	**स्थायिभावा** रसत्वमाप्नुवन्ति
३३	२	६	भावास्त्रयवस्था	भावास्त्र्यवस्था
३३	३	५	पथाश्चिह्नों	पथश्चिह्नों
५१	२	२२	सौन्दर्य का कारण	सौन्दर्य का कारक कारण
५४	७	५	सर्वे सर्वार्थ-वाचका	सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः
५६	२	५	शब्द की वाह्य उपस्थिति	शब्द के अर्थ की वाह्य उपस्थिति
५६	२	८	वस्तु का भी **शब्दबोध**	वस्तु का भी **शाब्दबोध**
५८	३	४	घुरजिया	थुरजिया
६५	४	४-५	प्रगतिकरण	प्रगतिकारण
७०	२	१	**साहचर्य** विरोधिता	**साहचर्यं** विरोधिता
७४	३	३	**दुःख** मानैं हम	**दुख** मानैं हम
७४	३	५	वियोग-दुःख **में**	वियोग-दुःख **से**
७५	४	पद्य ४	घनश्याम	घनस्याम
७९	२	५	तृप्त होकर **प्राण**	तृप्त हो कर **घ्राण**
८०	२	३	हिएँ लगायी **बाल**	हिएँ लगायी **बाम**
८२	२	६	सोयमिद्योरिव	सोयमिषोरिव
८७	१	५	(**धूप** और अग्नि)	(**धूम** और अग्नि)

पृष्ठ	पैरा	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१	२	१०	भारतीय नाट्शास्त्र	भारतीय नाट्यशास्त्र
९१	४	अन्तिम	सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसंतु	सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु
१११	१	१०	जहाँ भावनापेक्ष रचना	जहाँ भाव-निरपेक्ष रचना
११८	३	२	भाव के रस का	भाव से रस का
१२१	३	४	रसचर्वणकर्ता का पर्याय	रसचर्वणकर्ता का पर्याय है।
१२१	३	८	(अनुमिति) अनुकार्यगत	(अनुमिति) अनुकारकगत
१२१	३	१२	प्रत्युत अनुमिति-स्थायि	प्रत्युत अनुमित-स्थायि
१२२	३	३	तदरूपता	तद्रूपता
१२५	१	१०	जब उसे रस-	तब उसे रस-
१२८	३	३	न उन का भोग ही	न उस का भोग ही
१३२	१	१	(१)	
१३२	९	४	अतः उसके उदाहरण	अतः उन के उदाहरण
१३६	१	४	जीत न कहुँ	जीतन कहुँ
१३६	३	५-६	विभावादि के साधारणरूप	विभावादि से साधारणरूप
१४१	५	४	शुद्ध तत्त्वदशा	शुद्ध सत्त्वदशा
१५०	२	५	निगूढ-गर्वता निहित है	निगूढगर्वता विहित है
१५२	७	नीचे	२४. इष्ट की अप्राप्ति	२४. विषादः-इष्ट की अप्राप्ति
१५४	३	१२-१३	आत्म-धिक्कार-वाचन	आत्म-धिक्कार-वचन
१६७	४	३	पृथक् प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्य हैं :-	पृथक् प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्य हैं। ध्वनि-संकर को तीन प्रकारों में देखा जाता है :-
१७०	–	१९-२०	दुःख	दुख
१८०	–	२६	रसरास	रस रोस
१८२	१	४-५	अलंकृत न किया जा रहा हो	अलंकृत किया जा रहा हो
१९२	५	३	मलोऽस्यां कविना	यत्नोऽस्यां कविना
१९३	–	६	(ग) प्रत्येक अलंकार का	(ग) प्रत्येक अलंकार के
१९५	नीचे पद्य	२	सुकन हजार की	सुफन हजार की
२०८	३	२-३	विशिष्टिता	विशिष्टता
२१३	६	३	व्यञ्जन की दृष्टि से	व्यञ्जना की दृष्टि से
२१५	–	१	छूते थे मनु तब और	छूते थे मनु और
२२७	१	३	अर्थ का हो चलता है	अर्थ का बोध हो चलता है।
२२८	३	१	इन औचित्य-भेदों को	जिन औचित्य-भेदों को
२२८	३	२	समझाया है। उनका	समझाया है, उनका
२३५	१	६	चिन्तन परःसर किया	चिन्तन पुरःसर किया
२४१	३	२	जैसे, धूप से अग्नि	जैसे, धूम से अग्नि
२४५	–	२५	(फैलेटिक)	(फ़ैलेसस)

शुद्ध	पैरा	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६३	२	६	(शब्दबोध)	(शाब्दबोध)
२६६	३	४	अथवा अप्रकृत**मात्र** का	अथवा अप्रकृत पात्र का
२६९	३	६	न कि रसिक की चित्तवृत्ति **के** साधारणीकरण	न कि रसिक की चित्तवृत्ति। साधारणीकरण
२८६	३	३	सुदरसनु देइ।	सुदरसनु देहु।
२८८	५	४	मरुस्थल	मरुथल
३०२	५	३	स्थिति पदांश	स्थिति को पदांश
३०५	१	६	कामवासना से **अनुभूत**	कामवासना से **अभिभूत**
३०८	१	२	प्रथम	प्रमथ
३१८	नीचे	नीचे	प्रत्युत भाव के सहकार से	प्रत्युत वह भाव के सहकार से
३२०	(क)	१	माया के सूक्ष्म व्यापक रूप **ते**	माया के सूक्ष्म व्यापक रूप **से**
३२४	नीचे से	२	काव्य-बोध के **प्ररिप्रेक्ष्य** से	काव्य-बोध के **परिप्रेक्ष्य** से
३३२	६	४	आप में निरर्थक होते हैं।	आप में निरर्थक होते हैं, कोई वाच्य अर्थ नहीं रखते, जबकि ध्वनि-प्रतीक सार्थक होते हैं।
३३८	१	१२	सामाजिक दबाव से **योग्य** नहीं होतीं	सामाजिक दबाव से **भोग्य** नहीं होतीं
३४३	४	४	जो सामान्यत: अर्थों से	जो सामान्य अर्थों से
३४८	३	१०	जब कि **स्थिर प्रभाव**	जबकि स्थिर-भाव
३४८	नीचे से	३	**सहृय** के साथ	सहृदय के साथ
३५१	३	१४	रस कला-**निर्मित**	रस कला-**निर्मिति**
३५३	४	२	मुख नीचे **करता**	मुख नीचे **करना**
३५४	२	८	**विक्षाम** की इच्छा	**विश्राम** की इच्छा
३५६	१	५	**भिन्नता**, सहानुभूति	**मित्रता**, सहानुभूति
३६०	४	३	(Memory-geres)	(Memory-genes)
३६१	४	२	**आलकन** करते हुए	**आकलन** करते हुए
३६७	२	४	निर्वैक्तिक	निर्वैयक्तिक
३७९	४	३	अथवा''''अनुभूति होती।	अथवा''''अनुभूति होती है।
३८०	६	२	वही विचार रखता।	वही विचार रखता है।
३८४	६	२	**सुछ** ऐसे तथ्य	**कुछ** ऐसे तथ्य
३८५	श्लोक	२	व्यंक्त:	व्यङ्क्त:
३८९	नीचे	३	ग्रहण **करती** हैं कि	ग्रहण **करते** हैं कि
३९०	३	३	विरोधी रसों से मुख्य रस शेष को	विरोधी रसों को मुख्य-रस-विशेष से
३९७	नीचे की दोनों		काव्य केवल शब्दप्रधान रचनाएँ हैं—	काव्य केवल शब्दप्रधान नहीं है, वेद आदि शब्द-प्रधान रचनाएँ हैं—

पृष्ठ	पैरा	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३१	४	३	हृदयंगत करते हैं।	हृदयंगम करते हैं।
४५४	श्लोक	२	योगिभिर्हियः	योगिभिर्हि यः
४५५	४	२	क्षिप्ति वह दशा है—	क्षिप्त वह दशा है—
४६५	६ (ख)	१	'माधुर्य द्रुतिकारणम्'	'माधुर्यं द्रुतिकारणम्'
४६९	१	६	योगदर्शन को समझने वाले	योगदर्शन को न समझने वाले
४७१	१	१	साधारणीकरण हो जाते हैं	साधारणीकृत हो जाते हैं
४७१	२	३	जिस में अनुभूति विषय का	जिसमें अनुभूत विषय का
४७१	नीचे से	२	असंप्रज्ञात भूमिका	संप्रज्ञात भूमिका
४८२	नीचे	नीचे	भव्याथोपदिश्यते	भव्यायोपदिश्यते
४८५	२	६	अर्थबृत्ति	अर्थवृत्त
४९२	नीचे से	४	क्योंकि वह वासना के	क्योंकि तब वासना के
४९९	नीचे	नीचे	जिस का रसात्मक	जिन का रसात्मक
५०२	नीचे से	३	पुरःसहस्र	परःसहस्र
५०६	११	५	वाक्यार्थ व्यञ्जयन्ति	वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति
५०६	२४	१	तत्लक्षण-कृतमेव	तल्लक्षण-कृतमेव
५०७	२५	१	यदि भववति तावता	यदि भवति तावता
५१२	२१	१	गतार्थ	गतार्थं
५१३	३७	३	तद्रूप-रुषितैवा—	तद्रूप-रूषितैवा—
५१८	३८	१	यथार्थ	यत्रार्थ
५२०	२०	६	प्रहर्षात्मकसुखितेन	प्रहर्षात्मकमसुखितेन
५२२	१	१	अगूढमपरस्याङ्ग	अगूढमपरस्याङ्गं
५२८	१८	२	अभिधामतां	अभिधा-धामतां
५२९	२३	५	ज्ञातापि	ज्ञानापि
५२९	२८	४	दैवासिद्धम्	दैव-सिद्धम्
५३०	३४	१	सर्वेभी	सर्वेऽमी
५३५	५	१	पूर्ण	पूर्णं
५४०	३१	२	सहृदयोल्लासितस्य	सहृदयतोल्लासितस्य
५४१	५२	१	Poot note	Foot note
५४७	५४	४	अपृथग्यत्न-निर्बत्यः	अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यः
५५१	१०२	२	पूर्वार्थान्वियत्यपि	पूर्वार्थान्वियवत्यपि
५५३	१२५	२	Sapling	Sapless
५५७	११	३	अवासद्-ग्रहणं	अथासद्-ग्रहणं
५५९	६	१	विशेषो स्थेमबहुलस्य	विशेषोऽस्थेमबहुलस्य
५६२	४७	१	आ विरोध-समाधेः	आ निरोध-समाधेः
५६८	११	३	were once aliv.	were once alive.